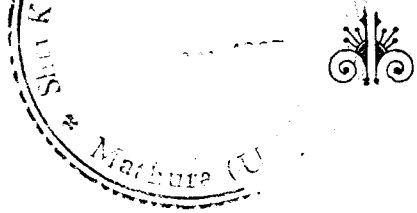
ग्रन्थमाला—मणि ५

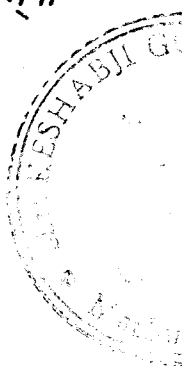
शुक विल्वमंगल कृत—

कृष्णकर्णामृत

रसिका-टीका-सहित



प्रेमदस्त्वमे कामदस्त्वमे, वेदनस्त्वमे वैभवस्त्वमे।
जीवनस्त्वमे जीवितस्त्वमे दैवतस्त्वमे देवनापरम्॥



श्रीरामदास शास्त्री

प्रकाशक :
रामदास शास्त्री
प्रकाशन-संस्थान
चार संप्रदाय आश्रम
वृन्दावन

पद्यार्थ :
सूर्यकान्त गोस्वामी

प्रथम संस्करण ३०००
मई १९५०

द्वितीय संस्करण १२५०

श्रावण—झूलनतृतीया २०२६

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मूल्य : ११.५०

16-001

मुद्रक :
प्रीतमलाल गोस्वामी
रतन प्रेस, वृन्दावन



Shri Kesh... Mathura (U...

समर्पण

आभार



यह प्रकाशन

स्वनाम धन्य परम भगवदीय श्रीनन्दकिशोरजी झाझरिया, शनि-पार्क, कलकत्ता की शुभ प्रेरणा से ही हुआ है, श्रीझाझरियाजी की वृन्दावन धाम के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा और श्रीकृष्ण की मधुर ललित-लीला कथाओं में आस्था और प्रीति स्वाभाविकी है, भक्ति ग्रन्थों को प्रचार-प्रसार में उनकी रुचि उल्लासपूर्ण है, पीयूषवर्षी इस रसग्रन्थ में उनका सर्वाधिक सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके लिये उन्हीं के अभीष्ट सर्वमङ्गल प्रदाता श्रीकृष्ण की कृपा कामना एवं हृदय से उनके सर्वोन्मुखी माङ्गल्य की प्रार्थना करते हैं।

—श्रीरामदास शास्त्री

प्रथम संस्करण की भूमिका का संक्षिप्त

अपनी पुरानी

जिस प्रेम की प्राप्ति का एक मात्र साधन रोना, सिसकना, तड़पना और बिलखना ही हो जिस भाव-राज्य में सदा ही मर्मान्तिक पीड़ा और बेदना की सुसज्जित डाली हृदय-पटल पर संजोकर प्रेम देवता के चरणों में अर्पित करनी पड़ती हो ? जहाँ प्राण-प्रियतम से मिलने की उल्लासमयी भावना नयन पुट के द्वारा अश्रु-कण बनकर अपने साध्य-प्रणय-पथ पर निरन्तर बिखेरते रहना ही एक व्यापार बन गया हो ? उस प्रेमदेवता का चित्ताकर्षक, अलङ्कार मय चित्रण तो वही कर सकता है—जिसके हृदय में गहरी चोट लगी हो, घाव हो, कसक हो—और उठती हो अन्तर्नाद की हूक। अपने प्राण जीवन धन, हृदय-सर्वस्व, प्रेमनिधि के प्रेमास्पद पाद-पद्मों में समर्पित होने के लिये मचलती हुई लालसा लेकर जिसकी आत्मा शरीर के रोम-रोम को फाड़कर निकल भागना चाहती हो ? बस, वही धन्य है।

प्रेम का स्वरूप तो प्रेम ही जाने,—अथवा जिस पर उस प्रेमदेव की कृपा का अभिवर्षण हो जाय ? जिसे उस प्रेम-पराग का आस्वादन मिल जाय ? वह जाने। जिसको कुछ मिलता है, उसे अपने अन्दर अन्तस्तल में क्या-कुछ लगता है, वही जाने। वह भी महान् कृपण की भाँति उसे अपने में ही सिमेटे रखता है, उसमें कुछ कहा-कही और लिखा-लिखी नहीं बनती—

"सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर-पिरैबो करै"

× × ×

"दिल जानै की दिलवर जानै दिल की दरद लगीरी"

गूँगे के गुड़ के समान यह अनिर्वचनीय है, मन और वाणी का विषय नहीं, बड़े-बड़े सुजान भी इसमें गोता लगा कर अपनपा भूल गये—

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरौ प्रेम समुद्र कोउ, डूबै चतुर सुजान॥

प्रेम के उन्माद से पागल हुए प्रेमी की दशा विचित्र होती है—कभी तो वह अपने प्राणवल्लभ के चिन्तन से क्षुब्ध हो उठता है—कभी वियोगजन्य

स्मरण से डहार मार कर रोने लगता है, कभी प्रफुल्लित चित्त से प्रियतम की रूप-सुधा का पान करते-करते हँसने लगता है. कभी जोरों से नाम का, गुणों का गान करने लगता है, कभी उत्कण्ठा से हुँकार मारने लगता है, कभी निर्लज्ज होकर नाचने लगता है और कभी प्राण-जीवन के चिन्तन में लव-लीन होकर तन्मयता को प्राप्त हो जाता है :—

क्वचिद् रुदति वैकुण्ठ चिन्ता शवल चेतनः,
क्वचिद्हसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्,
क्वचित् तद्भावना युक्तस्तन्मयोऽनु चकार हः ।।

बस, ऐसे ही पुरुष प्रेम तत्व के अधिकारी होते हैं, 'रसो वै सः' के रस सीकर का आस्वादन करने की क्षमता इन्हीं महापुरुषों में होती है। "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः" के सर्वोच्च पद पर बैठने वाले इन प्रेमी पागलों के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है ?

रसिकवर्य्य लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल के नाम स्मरण से ही हृदय स्पन्दित होने लगता है, उन्हें साधारण जीव नहीं मानना चाहिये, वे इन मोह-ममता के मद में उन्मत्त हुए प्राणियों को पावन पवित्र दिव्य प्रेम का, पाठ पढ़ाने को प्रकट हुए थे। 'कृष्णकर्णामृत' संसार में आसक्त लोगों की वस्तु नहीं—यह तो उन दिव्य भाव प्राप्त महानुभावों के एकान्त शान्त हृदयस्तल का अनुभवगम्य पदार्थ है—जो रस रसिक, और रसशेखर के मध्यवर्त्ती पथ पर विचरण करते रहते हैं।

श्रीलीलाशुक विल्वमङ्गल अथवा उनकी इस रसमयी रचना के सम्बन्ध में तो जो कुछ भी जानना हो—वह इस ग्रंथ की प्रस्तावना में मिलेगा—यहाँ तो केवल यह बतलाना है कि उन रसिक शेखर प्रभु ने मुझ शुष्क हृदय व्यक्ति को इस रस-सागर में गोते लगाने को कैसे प्रेरित किया ?

सन् १९३५ की बात है, मैं काशी में ठहरा था, माध्वगौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित होने के नाते मेरा बङ्गवासी महानुभावों से अधिक सम्पर्क था, काशी में भी अनेक प्रेमीजन थे, गोस्वामी शैलेन्द्रकुमार मेरे सहाध्यायी थे, इनके पिता बङ्गाल में भक्ति-साहित्य के उद्भट विद्वान माने जाते थे, एक दिन जब कि शैलेन्द्र के पिता "चैतन्य चरितामृत" का व्याख्यान हिन्दी में कर रहे थे—मैं भी पहुँच गया, दक्षिण यात्रा से कलिपावनावतार श्री-महाप्रभु द्वारा "कृष्णकर्णामृत" के आनयन की कथा हो रही थी, मधुर वक्ता के द्वारा 'कृष्णकर्णामृत' के अनेक मधुर श्लोकों की रसमयी भाव पूर्ण व्याख्या

सुनकर मैं गद्‌गद हो उठा, उनके शब्द आज तक मेरे कानों में गूँज रहे हैं, "कर्णामृत" की रस-कथा सुनने का मेरा यह प्रथम दिन था।

उन दिनों मैं, कर्वी (चित्रकूट) संस्कृत कालेज में पढ़ता था, कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल श्रीछेदी झा शास्त्री मेरे ऊपर अनुग्रह रखते थे, वे व्रज भावना के उपासक थे, उन्होंने मुझे नागरी अक्षर की "कृष्णकर्णामृत" की एक छोटी पुस्तक दी, इसका प्रतिदिन मैं पाठ करने लगा,—थोड़े दिन पश्चात् मैं कर्वी छोड़ कर वृन्दावन आगया, श्रीगुरुदेव की चरण-सन्निधि को प्राप्त कर हृदय को सुख मिला, पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय सकल शास्त्र निष्णात, विद्यावारिधि दार्शनिक सार्वभौम, सख्य रस उपासक श्रील श्री १००८ गुरुदेव स्वामि श्रीकृष्णानन्द दास जी महाराज के सम्बन्ध में कुछ कहना अपराध का भागी बनना है, उनकी महत्ता, विद्वत्ता, भक्ति-परायणता, भावुकता, रसिकता के सम्बन्ध में मुझ जैसे जीव क्या कह सकते हैं, एक दिन व्रज के एक गाँव में नहर के किनारे मैं कुछ विमना-सा होकर विल्वमङ्गल के कृपा-कण का लाभ करने की—जैसी इच्छा से 'कृष्णकर्णामृत' के एक श्लोक को उच्च स्वर से बोल रहा था, वह श्लोक मेरे स्वर का भूषण बन चुका था, प्रायः हर समय ही मैं उसे रटता रहता, वह श्लोक यह है—

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो ! हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे ।।

श्लोक का उच्चारण पूरा भी नहीं हुआ था—अचानक पीछे खड़े हुए गुरुदेव के दर्शन हुए, मैं संकोच में पड़ गया और नीची गर्दन किये खड़ा रह गया, श्रीमहाराजजी ने कहा—हाँ ? बोलो, क्या गा रहे थे ? बोलो-बोलो; फिर से बोलो ? ज्यों-ज्यों गुरुदेव कहते—मैं तो शर्म-संकोच से पृथ्वी में धँसा जाता, पुनः प्रसन्नता से बोले—'यह श्लोक कहाँ से याद किया है ?' बस—मैंने अपनी सब कहानी सुनादी, मीठी-मीठी दृष्टि से मुझे भर्त्सना देते हुए बोले—'देखो ! कृष्णकर्णामृत शृङ्गार भाव का सागर है ? कहीं डूब मत जाना।' मैंने नीचे नजर करके ही कहा—'श्रीमहाराजजी ! शृंगार तो मैं जानता नहीं पर इस ग्रन्थ के विरह-भाव को जागृत करने वाले कुछ श्लोक मुझे बहुत ही प्रिय हैं।' तब वे बोले—'अच्छा, इस ग्रंथ को हम तुझे पढ़ायेंगे, तब तेरी समझ में आयेगा।' इसके कुछ दिन पश्चात् ही बङ्गला भाषा के कृष्ण-कर्णामृत को एक बार गुरुमुख से श्रवण कर लिया।

गुरुदेव सख्य रस के उपासक थे और हम व्रजवासियों को तो सख्य-रस में स्वाभाविक रुचि होती ही है, गुरुदेव से दीक्षा भी सख्य-रस की प्राप्त

हुई थी—अतएव अपने हृदय के भाव, शृङ्गार की ओर न जाकर केवल विरहपूर्ण करुणा का ही आस्वादन करते रहे, दिन-प्रतिदिन रुचि बढ़ती गयी। बङ्गाक्षरों का ज्ञान गुरुदेव ने बचपन में ही करा दिया था, 'कृष्ण-कर्णामृत' की टीकाओं को भी देखा, स्वयं गुरुदेव ने भी इस ग्रन्थ पर संस्कृत में टीका लिखी है, उससे ग्रन्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती, हृदय में यह इच्छा रहती कि किसी प्रकार इस ग्रंथ का हिन्दी में प्रकाशन हो जाय, गुरुदेव भगवान तो केवल संस्कृत व्याख्या लिखकर ही नित्य धाम प्राप्त हो चुके थे। वृन्दावन में श्यामकुटी पर रहते समय ही 'कृष्णकर्णामृत' की दो बार में दो कापी हिन्दी व्याख्या के रूप में लिखीं। दूसरी कापी जो बहुत अंशों में उपादेय थी— यमुना की बाढ़ के कारण स्थानान्तरित होने के समय बहुत-सी पुस्तकों के साथ न जाने कहाँ अस्त हो गई, पहले की कापी कुछ असम्बद्ध और रुचिकर भाषा न होने के कारण चुपचाप रखदी, इधर जीवन-क्षेत्र भी कुछ विस्तृत-सा हो गया और वह वस्तु, वह भाव, वह उद्वेग भी हृदय से शान्त होता गया।

कभी कभी जब चित्त अशान्त होता—तो कृष्णकर्णामृत के पाठ की सूझ आती, पाठ होता, शान्ति मिलती और फिर भूल हो जाती। किन्तु यह एक स्वप्न-जिज्ञासा फिर भी हृदय में गुप्त रूप से नृत्य करती—रहती कि कृष्णकर्णामृत की विस्तृत व्याख्या हिन्दी में होनी चाहिये।

समय तेजी से बीतता गया, बङ्गला साहित्य का और भी अध्ययन प्राप्त हुआ, समय आया और अनेक महानुभावों की प्रेरणा से 'भक्त-भारत' मासिक-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बड़ी कठिनाइयों से प्रथम वर्ष पूरा हुआ अब दूसरे वर्ष का भार-वहन कौन करे? चिन्ता पैदा हुई? किन्तु व्यसनी का व्यसन क्या ऐसे ही छूट जाता है? वह तो सब कुछ बलिदान करके भी अपने व्यसन को पूरा करता है—यही बात मेरे साथ भी हुई। 'भक्त-भारत' का प्रकाशन होता रहा, इसी मध्य "कृष्णकर्णामृत" की हिन्दी-व्याख्या 'भक्त-भारत' के विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित करने की बलवती इच्छा जागृत हो उठी, परन्तु अर्थ संकट सामने मुँहबाये खड़ा था, किन्तु ईश्वरीय कार्यों में विघ्न तो आते हैं पर, वे रुकते नहीं, मैंने लगन के साथ प्रयत्न किया और कार्य में सफलता मिली, बड़ौदा गुजरात में मालसर—सत्यनारायण मन्दिर के अध्यक्ष माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य श्रीमहन्त श्रीरासविहारीदासजी महाराज जो मेरे ऊपर अनुज की भाँति स्नेह रखते और मेरी हर माँग को स्वीकार करते थे, उन्होंने मुझे अर्थ चिन्ता से मुक्त कर दिया, हिन्दी व्याख्या के लेखन में मुझे सबसे बड़ा सहयोग स्वामी

प्रेमानन्दजी का मिला, कार्य प्रारम्भ हुआ, प्रेस, प्रूफ और उसकी व्यवस्था में जो कठिनाइयाँ आईं—उनके कहने से कोई लाभ नहीं, जैसे तैसे 'भक्त-भारत' का विशेषाङ्क "कृष्ण-कर्णामृत-अङ्क" प्रकाशित होगया।

मैं उन सभी महानुभावों का आभारी हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ प्रकाशन तथा सम्पादन में सहयोग किया है, सबसे अधिक ऋण का भार उन 'प्रेम' देव का है जिन्होंने कृपा कर रसिक जनों के स्वान्त: सुख के लिये ग्रन्थ का व्याख्यान किया, रस के प्रेमी जन जब इस रस-सागर में गोते लगायेंगे–तो अवश्य ही लेखक का हृदय भी तरङ्गित हो उठेगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में, सम्पादन में, आयोजन में—एकमात्र गुरुदेव की ही प्रेरणा थी। उन परम कृपालु श्री महाराजजी के मंगलमय शुभाशीर्वाद से ही यह दु:साध्य कार्य पूर्ण हो सका है। रसिकवर्य्य परम भावुक श्री गुरुदेव के पावन-कर-कमलों में इस रस-कलश को समर्पित करते हुए आज प्रसन्नता हो रही है। नि:सन्देह इस कृति से उनके रसिक हृदय को परम आनन्द प्राप्त होगा और तब वे अपने ही शिशु को अन्यान्य भक्ति-ग्रंथों के प्रकाशन की शक्ति अवश्य प्रदान करेंगे।

अपने कृपालु पाठकों को यह भी बता देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में जो भी भूलें रही हैं—वे सब मेरी ही असावधानी से रह गई हैं—अत: प्रेमी-जन उन सभी गलतियों को ध्यान में रख कर भी अबोध बालक की भाँति मुझे अवश्य क्षमा करेंगे। अन्त में—मैं प्रेमी भक्तों से एक भीख और माँग कर चुप हो जाता हूँ–बस एक ही याचना है, एक ही लालसा है और सब बखेड़ा भी इसीलिये रचा गया है, लोग कुछ भी कहें, कुछ भी समझें पर मुझे तो एक ही अभिलाषा है—और वह यह है, भावुक-जन समझलें—

कदा वृन्दारण्ये विमल यमुना तीर पुलिने,
चरन्तं गोविन्दं हलधर सुदामादि सहितम्।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुर मुरली वादनपटो,
प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥

यही मन की कामना है, चित्त की चाहना भी है, अन्त:करण की अभिलाषा भी यही है, इन्द्रियों की पुकार है, और जीवन की साधना भी यही है।

चार सम्प्रदाय-आश्रम
आषाढ़-पुरुषोत्तम मास
शुक्ला एकादशी–२००७

भक्तों का चरणकिङ्कर—
रामदास शास्त्री

एक झलक

सामने जा रही थी जिन दृगों में वह मधुर मन हरण झाँकी।
और उस 'बांकेविहारी' की—त्रिभंगी ललित बाँकी॥

कर न सकते थे नयन वे, लोक-विषयी-चित्र-गोचर।
परम प्रियतम को बुलाने की निराली साध, खोकर॥

श्याम-पुतरी ने सतत, सर्वत्र वह घनश्याम देखा।
और उस छवि को बसाने, आँज ली, दृग-कंज, रेखा॥

चाह उत्कट थी—लगन, लोचन छलकते ही रहे।
श्याम सुन्दर के विरह, छिन-छिन बरसते ही रहे॥

धार अविरल थी विमल, उन्माद-रस जिसने चखा।
पोंछते दृग, पीत-पट, से—प्रकट थे जीवन-सखा॥

सोचा, कि, अब क्या इन नयन से, कामिनी-कञ्चन लखूँगा?
त्रिगुण-कंटक की व्यथा जग, व्यर्थ ही क्यों कर सहूंगा?

नाथ! अब तुम आज से, इस हृदय-मन्दिर में विराजो।
चक्षु से माया-जगत का, रूप मुझको दिख रहा जो॥

छेद कर यह नेत्र, छल—अब दूर मुझ से हो सका।
लीलाविहारी! शरण तेरे, आज किङ्कर हो सका॥

चितचोर! तुम उर की गुहा में, भी न छिप जाना कहीं?
आश्रित इसे अपना बना कर, फिर न भटकाना कहीं?॥

प्रभो! तुम ही ध्येय हो, आराध्य, तुम ही गेह हो।
'विल्वमंगल' के तुम्हीं—हृदयेश! केवल श्रेय हो॥

सदा 'लीलाशुक' तुम्हारा, नाम रटता ही रहे।
रसिक जन को सरस-घट से, रस सदा रिसता रहे॥

यह रचना

व्रजरस-रसिकों के कर-कमलों में "कृष्णकर्णामृत" को समर्पित करते आज मुझे अपार हर्ष है, ग्रन्थ के लेखन, सम्पादन और प्रकाशन की अकथ-कथा को इस सुखद अवसर पर छेड़ना अच्छा नहीं, फिर भी इस चिर-प्रतीक्षित प्रकाशन में जो कठिनाइयाँ सामने आईं—उन्हें दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता।

अठारह वर्ष पहले "कृष्णकर्णामृत" के एक कण-सीकर का जिह्वा को स्पर्श प्राप्त हुआ था, उस रस-कण के स्पर्श से ही मेरे हृदय पटल पर एक प्रकार की मादकता ने अधिकार कर लिया, बस—उसी धुन में ग्रन्थ का प्रकाशन 'भक्तभारत' मासिक के विशेषाङ्क के रूप में सामने आया—और उसकी ढाई हजार प्रतियाँ एक वर्ष के अन्दर ही देश-देशान्तर में पहुँच गयीं। प्रकाशन के दो साल बाद ही अनेक संस्थानों, विश्वविद्यालयों और सार्व-जनिक पुस्तकालयों से ग्रन्थ की माँग पुनः प्रारम्भ होगई थी, परन्तु मेरा चित्त उन दिनों स्वतन्त्र भारत की मधुर कल्पनाओं के सागर में गोता लगाने लगा था, और मैं सक्रियरूप से राजनीति के अखाड़े का एक पहलवान बन बैठा, पर यह राजनीति ? वास्तव में यह कितनी गन्दी है ? कितनी बदबू है इसमें ? इसीलिये तो अनुभवी लोगों ने कहा था—"राजनीति वराङ्गना" छी ! छी !! बड़ी घृणास्पद है यह ? मेरे चित्त को एक झटका लगा, मैं सोचता ? क्या स्वतन्त्र भारत के नागरिक इसी राजनीति के सहारे अपना कल्याण कर सकेंगे ? गांधीजी के स्वप्नों का "रामराज्य" क्या इसी मापदण्ड के ऊपर टिक सकेगा ? इसी ऊहा-पोह में स्वराज्य के बारह वर्ष व्यतीत हो गये, चित्त अशान्त होता गया और कुछ दिन पश्चात् अकस्मात ही चित्त की धारा पुनः अपने स्थान पर प्रवाहित होने लगी, भक्ति-साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ होगया, 'कृष्णकर्णामृत" के पुराने संस्करण का पाठ करता रहता, उसी समय भक्ति-साहित्य के कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये, जो समय पर प्रकाशित होंगे।

सन् ५८ में पूना यूनिवर्सिटी में 'कृष्णकर्णामृत' पर शोध-ग्रन्थ लिखने हेतु अमेरिका की केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी की एक छात्रा मेरे पास वृन्दावन में आई, मेरे आश्चर्य का उस समय ठिकाना नहीं रहा—जब मैंने उस अमे-रिकन छात्रा को अपने साथ संस्कृत में बातें करते पाया। मेरे आश्रम पर

वह लगभग एक माह तक रही, इस बीच में उसने वृन्दावन और व्रज के तीर्थों का दर्शन किया, मैं उसकी कृष्ण-भक्ति पर भी चकित था, एक विदेशी छात्रा, वह भी अमेरिका जैसे भोगविलासपूर्ण जीवन में रहने की अभ्यासी—के हृदय में श्रीकृष्णभक्ति का उदय ? छात्रा को कृष्णकर्णामृत के अनेक श्लोक कण्ठस्थ थे। उसने मुझे प्रेरणा दी कि 'कर्णामृत' का पुनः प्रकाशन अच्छे रूप में होना चाहिये। उसके पश्चात् ही मैंने 'कृष्णकर्णामृत' को नवीन रूप दिया, उसकी व्याख्या में अनेक संशोधन, परिवर्द्धन, परिवर्त्तन किये और तब वह प्रेसकापी के रूप में तैयार हो सका, छपाई की समस्या जो सबके सामने आती है, मेरे पास भी आ खड़ी हुई, छः हजार की लागत से प्रकाशित होने वाले ग्रंथ के लिये कुछ भी तो संग्रह नहीं था, एक दिन अकस्मात ही कलकत्ता निवासी श्रीनन्दकिशोरजी झाझरिया के साथ सत्सङ्ग-चर्चा में मैं उनसे कह बैठा कि—"कर्णामृत" की कथा मैंने आपके पितृचरण स्वनाम धन्य स्वर्गीय श्री रामधन जी झाझरिया को उनके वृन्दावन वास के समय में सुनाई थी। मेरी बात सुनकर नन्दोबाबू के नेत्र भर आये, गला रुँध गया, वे आगे कुछ भी नहीं कह सके, वे मेरे पैरों में पड़ने लगे तो मैंने उन्हें हृदय से लगा लिया। बाबू नन्दकिशोरजी हृदयवान् पुरुष हैं, व्रज-रस के रसिक हैं, उनका चित्त वृन्दावन छोड़ना नहीं चाहता—पर संसृति के थपेड़े किसे नहीं भ्रमाते। उन्होंने उसी समय मुझसे कहा—शास्त्रीजी ! आप 'कृष्णकर्णामृत' का प्रकाशन कीजिये, विहारीजी आपकी सहायता करेंगे ? और मैं उसी दिन से ग्रन्थ के प्रकाशन-प्रबन्ध में जुट गया।

श्रीजयदयालजी डालमिया, सिंधिया हाउस, नई दिल्ली का स्मरण भी मुझे इस समय आ रहा है, भगवान की असीम कृपा जब होती है, तभी ऐसा कुछ स्वभाव मिलता है, श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में उनकी अनन्य निष्ठा है, दैन्यभाव से युक्त भक्तिपूर्ण हृदय, सीधे सच्चे सरल हृदय के श्री डालमिया जी से जब मैंने 'कृष्णकर्णामृत' के प्रकाशन की चर्चा की तो उन्होंने कहा—यह ग्रंथ तो बहुत पहिले ही प्रकाश में आना चाहिये था।

सकल शास्त्रनिष्णात, भारत विख्यात विद्वान्, साधुसमाज के शिरोमणि अनंत श्रीविभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज से भी मुझे इस प्रकाशन में प्रेरणा मिली है, स्वामीजी मेरे ऊपर अनुज की भाँति स्नेह रखते हैं, उनका वरदहस्त सदा ही मार्गदर्शक रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका के सम्बन्ध में डाक्टर श्रीशरणविहारी गोस्वामी का स्मरण किये बिना तो आत्मा को सुख ही नहीं मिलेगा, दिल्ली यूनिवर्सिटी

के पद को त्याग कर व्रजवासियों की सेवा के लिये अभी हाल में ही उन्होंने श्रीमाध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य श्री बी० एच० वनमहाराज के 'इन्स्टीट्यूट ऑफ ओरियण्टल फिलोसफी' कालेज का प्रधानाचार्य पद स्वीकार किया है, डाक्टर गोस्वामी मेरे अभिन्न मित्रों में से एक हैं, उनकी विद्वत्ता, प्रतिभा और विचारपूर्ण लेखनशैली हिन्दी जगत में स्थान रखती है, 'कृष्णकर्णामृत' का परिचय आप आगे के पृष्ठों में उनकी भूमिका में पायेंगे, उन्होंने अपने अति व्यस्त समय में से मेरे आग्रह पर ही भूमिका लिखना स्वीकार किया है।

इस प्रकाशन को धार्मिक जगत केहृदय-सम्राट परम तपस्वी वीतराग सन्त श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीका शुभाशीर्वाद भी प्राप्त है, आप बाल्यावस्था से ही मेरे मार्गदर्शक रहे हैं, उनका वरदहस्त मेरे जीवन को प्रेरणा देता रहा है।

मेरे एक और मित्र श्रीसूर्यकान्तजी गोस्वामी का तो मैं सदा ही आभारी रहूँगा, 'कृष्णकर्णामृत' के मूलश्लोकों का हिन्दी पद्यान्तर उन्हीं के सौजन्य से हुआ है, उनके सरल सुबोध छन्दों ने ग्रन्थ की भूषा को चौगुना सजा दिया है।

'कृष्णकर्णामृत' की 'रसिका टीका' कैसी बन पाई है—इसका सही निर्णय तो लीलारस के मर्मज्ञ रसिकजन ही करेंगे, मैंने तो भरसक चेष्टा करके व्रजरस उपासक महापुरुषों की दिव्यवाणियों का ही आश्रय लिया है। यह तो निर्विवाद नहीं है कि लीलाशुक विल्वमङ्गल किस सम्प्रदाय के थे, किन्तु यह नितान्त सत्य है कि कृष्णकर्णामृत ग्रन्थ श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय से आज तक माध्वगौड़ीय वैष्णवों का कण्ठहार बना हुआ है, गौड़ीय सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों ने इस रस ग्रन्थ पर टीकायें लिखी हैं, श्रीकृष्णदास कविराज और श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी आदि महानुभावों ने 'कृष्णकर्णामृत' के अद्भुत रस का आस्वादन किया है, इन महानुभावों ने अपनी व्याख्याओं में माधुर्यपूर्ण रस-पयस्विनी प्रवाहित की है, इन दिव्य विभूतियों के प्रसाद-कणों का ही संचयमात्र मैंने 'रसिका टीका' में किया है। कर्णामृत के रसास्वादी रसिकों के समस्त भावों का समावेश तो इस अल्पकाय ग्रन्थ में सम्भव नहीं था, फिर भी मैंने व्रजमाधुरी के पोषक अन्य अनेक रसिक सन्तों के रस-भण्डार से मधुकरी भिक्षा ग्रहण की है और उन शीत-कणों को यथास्थान ग्रन्थ में स्थापित कर दिया है, यह नियोजन कैसा बन पड़ा है—आप जाने। क्योंकि यह रसिकों की वस्तु है, इसका मोल-तोल कोई रसिक ही कर सकेगा ?—**महली की गति महली जानै, का जाने भेड़ चरावनि हारो—'भगवतरसिक'।**

प्रसङ्गवश यह भी कहना चाहूँगा कि 'कृष्णकर्णामृत' का मुद्रण जहाँ हुआ है, उस प्रेस का आभार भी मेरे ऊपर है, वैसे तो प्रेस की कठिनाइयाँ

जो सभी के सामने आती हैं—मेरे सामने भी प्रतिदिन मुँहवाये खड़ी रहीं, बीच-बीच में कई बार छपाई का क्रम रोक देना पड़ा, कभी कागज नहीं था तो कभी मैं उपस्थित नहीं था तो कभी प्रेस ही आँखमिचौनी खेलता रहा, यद्यपि इन सभी कारणों का कारण-साधनों का अभाव ही था—क्योंकि आज के तथाकथित प्रगतिशील भौतिक युग में वृन्दावन जैसा छोटा नगर साधनों में बहुत ही पीछे है, भले ही इसके अपने स्वरूप की गरिमा के आगे विश्व की विभूति तुच्छ प्रतीत होती हो—परन्तु ऐहिक साधनों में तो पीछे मानना ही पड़ेगा, छोटे प्रेस, छोटे साधन, तिस पर महान ग्रन्थों का प्रकाशन—बोझिल प्रतीत होता है। यही कारण था कि "कृष्णकर्णामृत" के प्रकाशन में लगभग एक वर्ष व्यतीत होगया।

फिर भी मुझे यह तो कहना ही पड़ेगा कि 'रतन प्रेस' के मालिक श्रीप्रीतमलालजी गोस्वामी ने मेरे कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है, मेरे व्यस्त जीवन में मेरी अनुपस्थिति में भी उन्होंने "कृष्णकर्णामृत" की देखभाल तत्परता से की है, प्रूफ संशोधन से लेकर समस्त व्यवस्थाओं में उन्होंने स्वयं दौड़-धूप कर कार्य को आगे बढ़ाया है, किसी भी ग्रन्थ की छपाई-सफाई और उसकी साज-सज्जा ही उसका प्राण होती है, इसमें हम कहाँ तक सफल हुए हैं—यह तो पारखी ही परखेंगे, यह अवश्य है कि इससे और अधिक ग्रन्थ का सम्भरण वृन्दावन में अन्यत्र सम्भव नहीं था।

अन्त में अपने प्रिय पाठकों से एक निवेदन और करना चाहता हूँ कि ग्रंथ में वर्णित रस एवं भावों की पद्धति में जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें अवश्य सूचित करने की कृपा करें, ताकि दूसरे संस्करण में उनका शोधन होसके। प्रेस की भूल स्वाभाविक है, मात्रा अक्षर आदि की त्रुटि अनेकों हुई हैं, विज्ञ-पुरुष उन्हें सुधार लेंगे। 'कृष्णकर्णामृत' के पठन-पाठन से प्रेमी रसिक-हृदयों में यत्किञ्चित् भी श्रीकृष्ण विषयक रति उत्पन्न हुई तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूंगा।

विनीत :

सम्पादक

प्रेमरस के शिल्पी

[अनन्त श्रीविभूषित, महामहिम श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती]

महाकवि श्री विल्वमङ्गल लीलाशुक द्वारा रचित और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के कृपाप्रसाद से समुपलब्ध श्रीकृष्णकर्णामृत व्रजरस का अनूठा ग्रन्थ है। संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्णलीला का वर्णन गीत गोविन्द के पश्चात् इसी में हुआ है, ग्रन्थ की रचना परिपाटी अतीव उत्कृष्ट है, इसका जैसा नाम है, वर्णन भी वैसा ही है, भक्तगण इसके श्रवण से आनन्दानुभव करते हैं। मुझे भी इसका अनुपम माधुर्य बाल्यावस्था से मुझे प्रभावित करता रहा है। इसके अनेक श्लोक मुझे कण्ठस्थ हैं। इसकी अनुपम रचना प्रसाद एवं माधुर्य का अप्रतिरुद्ध प्रवाह बरबस मन को मोह लेता है। हृदय में प्रीति और भगवदाकार का आधान करता है। रसिकशेखर श्रीविल्वमङ्गल की भाँति गौड़ीय वैष्णवों ने भी भक्ति-सिद्धान्तों, रसों और भगवद्-लीलाओं का विशद वर्णन किया है, ऐसे काव्यकारों में श्रीचैतन्य महाप्रभु के परम कृपा भाजन प्रतिभा सम्पत्ति के धनी महाकवि श्रीकर्णपूर भी हैं। महाकवि श्रीकर्णपूर ने तो प्रेम रस को ही रसराज माना है, शृङ्गार को नहीं, यह जब जिस रस का निरूपण करता है। उसको गाढ़ और मूर्तिमान बनाकर सामने खड़ा कर देता है। देखिये एक शान्त-रस का उदाहरण—

वयो जीर्णं हा धिक् तदपि नहि जीर्णो मदभरः
श्लथं चर्माङ्गेभ्यस्तदपि न हि रागः श्लथ इव।
रदा वक्त्रे शीर्णास्तदपि न हि मोहः कथमयं
जनः कंसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु॥

हाय हाय! धिक्कार है! शरीर बूढ़ा हो गया, परन्तु अभिमान का नशा बूढ़ा नहीं हुआ। अङ्ग-अङ्ग के चाम शिथिल हो गये, झुर्रियाँ पड़ गयीं, परन्तु राग में किञ्चित् भी शिथिलता नहीं आयी। दाँत सड़ गये किन्तु मोह नहीं घटा। यह संसारी जीव भला कंसनिषूदन के चरणकमलों की प्राप्ति के लिये लालसा भी कैसे करे?

इस श्लोक में निवद स्थायी है और वह एकनिष्ठ है। इसी से शान्त-रस पूर्णरूप से प्रकट हुआ है।

अब एक वात्सल्यरस का नमूना चखिये—

आराज्जानुकरोपसर्पणपरो जातस्मितं सञ्चर—
न्नङ्कारोहमनाप्नुवन् रुरुदिषाविम्लानचन्द्राननः ।
अभ्यासार्थमुपेक्षितोऽपसरणप्रक्रान्तया सत्वरं
कण्ठेकृत्य यशोदया न न न नेत्याश्वासि बालो हरिः

यशोदा मैया के पास शिशु ब्रह्म श्रीकृष्ण घुटनों के बल सरक रहे हैं। बार-बार मुसकरा रहे हैं। मैया की ओर बढ़ते हैं, परन्तु गोद मिलती नहीं। बालक चलना सीखे, इस अभिप्राय से मैया पीछे हटती जा रही है। इस उपेक्षा से कृष्ण के मन में रोना आया और मुखचन्द्र म्लान हो गया। यशोदा मैया ने झट उठाकर गले से लगाया। और 'नहीं-नहीं' करके बोलीं—'रोओ मत लाला !'

यहाँ ममता का भाव स्थायी है। वह एक निष्ठ है। आलम्बन श्रीकृष्ण हैं। उद्दीपन है घुटनों के बल चलना। अनुभाव है गले लगाना। यशोदा के हृदय में यह रस विद्यमान है, परन्तु श्रोता और दर्शक प्रत्यक्षरूप से इस वात्सल्य का अनुभव कर रहे हैं।

महाकवि कर्णपूर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रेमरस का स्थापन किया है। भवभूति एक करुण को ही रस स्वीकार करते हैं—'एको रसः करुण एव'। भोजराज केवल शृङ्गार को ही रस मानते हैं—'शृङ्गारमेव रसनाद्ररसमामनामः'। परन्तु श्रीकर्णपूर शृङ्गार-रस से भी श्रेष्ठ प्रेम रस का निरूपण करते हैं। लीजिये एक आस्वादन—

प्रेमास्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद—
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः ।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे
व्याहारे नौ न हि समुचितो युष्मदस्मत् प्रयोगः ।।

'मैं तुम्हारा प्यारा और तुम मेरी प्रेयसी हो'—यह केवल लोक प्रवाद है। 'राधे ! मेरी तुम और तुम्हारा मैं'—यह कहना भी यथार्थ नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि हम लोगों के परस्पर संलाप में 'तुम' और 'मैं' शब्द का अलग-अलग प्रयोग ही नितान्त अनुचित है।

इस प्रेम-रस में सभी रसों का अन्तर्भाव है। कोई-कोई राधाकृष्ण के लीलाक्रम में शृङ्गार-रस को ही मुख्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में भी शृङ्गार अङ्गी और प्रेम अङ्ग है। कभी-कभी अङ्ग भी इतना उद्रिक्त हो जाता है कि

अङ्गी को दबा लेता है। परन्तु कवि कर्णपूर का सिद्धान्त है कि प्रेमरस ही अङ्गी है, शृङ्गार तो केवल उसका अङ्ग ही है।

प्रेमरस की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में महाकवि 'उमापतिधर' का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

रत्नच्छाया छुरित जलधौ मन्दिरे द्वारकाया
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य ।
विश्वं पायान्मसृणयमुनातीर वानीर कुञ्जे
राधाकेलीभर परिमलध्यान मूर्च्छा मुरारेः ।।

स्थान है द्वारका। रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण के मन्दिर के रत्नों की झलक से रत्नाकर जगमगा रहा है। रोमाञ्चित रुक्मिणी अपने प्रियतम को भुजापाश में बांधकर आलिङ्गन कर रही हैं। परन्तु श्रीकृष्ण कालिन्दी के स्निग्ध लता-निकुञ्ज में वृषभानुकिशोरी श्रीराधारानी के केलिकला सौरभ का ध्यान करके मूर्च्छित हो रहे हैं। यह प्रेममूर्च्छा विश्व की रक्षा करे।

स्पष्ट है कि रुक्मिणी के शृङ्गार पर वृन्दावनीय राधाप्रेम विजयी हो रहा है। ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करके महाकवि श्रीकर्णपूर ने कविकुल के लिये एक नवीन मार्ग-दर्शन किया है। इनके मत में रसों की संख्या ग्यारह अथवा बारह है। इस दृष्टि से ये काव्य के रीति जगत में एक नवीन मार्ग के प्रणेता हैं।

कहना नहीं होगा कि श्रीविल्वमङ्गल ने भी इसीप्रकार अपने 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' में आद्यन्त प्रेमरस का ही निरूपण किया है। उनके एक-एक श्लोक और श्लोकांश भी प्रेमरस से परिपूर्ण हैं। मूलग्रन्थ उत्तम टीका के साथ आपके सम्मुख है। उसमें से कुछ थोड़े से उद्धरण देकर भूमिका का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं है। इसलिये आप साक्षात् कर्णामृत का ही आस्वादन लीजिये।

हमारे मित्र श्रीकृष्ण के सखा श्रीरामदासजी शास्त्री हमारे चिरपरिचित हैं। तीस वर्ष से भी अधिक हो गये, वे मेरे घनिष्ठ मित्रों में से एक हैं। श्रीकृष्ण की भक्ति, वृन्दावन का निवास, रस-ग्रन्थों का सेवन—यह सब उन्हें अनायास ही प्राप्त है। वे श्रीकृष्णकर्णामृत का सरस भावमय मधुर विवेचन प्रस्तुत करके भक्त जनता को एक अमूल्य रसनिधि का दान कर रहे हैं। मैं हृदय से चाहता हूँ कि वे इसी प्रकार दीर्घकाल तक भगवत्प्रेमरस को तरंगायमान करते रहें।

'विपुल'

रिजरोड, बम्बई—६

अखण्डानंद सरस्वती

रसिकशेखर लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल कृत—

श्रीकृष्णकर्णामृत

का

श्रीरामदास शास्त्री कृत रसिका टीका के प्रति—

मङ्गलानुशासन

श्री ब्रजमंडल दिव्य कमल के सरिस प्रकाशित ।
कमलकरनिका सरिस सु-वृन्दाविपिन विराजत ।।
थल थल कुञ्ज निकुञ्ज गुञ्ज गुञ्जनि जहँ मधुकर ।
नित्यकिशोरी निबसि करति रतिकेलि विमलवर ।।
अति रति श्रम तें थकित ह्वै, अरुनोदय निद्रा निरत ।
लीला शुक-पिक कूँज तें, प्रिय को करबावति सुरत ।।

करनामृत श्रीकृष्ण विल्वमङ्गल शुकबानी ।
प्यारी पिकरव सरिस सरस सब सद्गुन खानी ।।
सुनि शुक कविता कूक हूक हिय में उठि जावै ।
नहीं मरै नहिं जियै मरजियो बनि बिललावै ।।
कृष्ण-करन-अम्मृत-अमित, अति अगाध आचरज जुत ।
रामदास टीका करी, रसिक पियें रसिका सहित ।।

बानी बिमल बरेन्य बिलच्छन विपति बिनासत ।
प्रेम सहित प्रिय पान करें कवि प्रकट प्रकाशित ।।
चिन्तामनि अति धन्य प्रेम-लीला-शुक पायो ।
ताकूं करि अति दिव्य रसिकशेखरनि पिआयो ।।
मङ्गल अनुशासन करहुँ, जय जय लीलाशुक सरिस ।
रामदास फूलें फलें, पोवें कृष्ण-सुधा-सु-रस ।।

संकीर्तन भवन, वंशीवट,
वृन्दावन (मथुरा)
श्रावण शुक्ला नागपञ्चमी
सं० २०२७ वि०

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

आमुख

भारत में भाव-साधना की परम्परा यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है तथापि उसका विकास प्रमुखतः श्रीकृष्ण के लीलामय स्वरूप का आश्रय करके ही हुआ है। ज्ञान-मार्ग की अनन्त शाखा-प्रशाखाओं के वैभवमय, अध्ययन-योग्य एवं साधना सम्भूत दर्शन नामधेय शास्त्रों की परम्पराओं के समक्ष चित्त की भावाक्षिप्त दशा की उपलब्धियों की सम्भावनाओं को सहसा स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं होता, फिर भी ज्ञान-मार्ग को नीरस और तत्त्वसिद्धि के लिए अपर्याप्त मानने की घोषणा स्वयं ज्ञान-पथ के पथिकों ने समय-समय पर की है। 'न मेधया न बहुधा श्रुतेन'—की अन्तिम परिणति 'नेति-नेति' के नकारात्मक तथ्य में होती है और चित्त निरालम्ब होजाता है। ज्ञान-मार्ग की अन्तिम अवस्था की यह अभावात्मकता उसकी चरम उपलब्धि को उतना आकर्षक नहीं बना पाती, जितना भक्ति-रस-रसिकों द्वारा प्रवर्त्तित भाव-मार्ग की लीला-प्रवेश की स्थिति आनन्दानुभूति की अनन्त रससिद्धता के कारण वरणीय होती है। प्रेम-मार्ग की सहजता—सहजता लौकिक अनुभव की दृष्टि से—इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्राणिमात्र में रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना स्वाभाविक वृत्ति होती है। चित्त की अपने-अपने विषय में जितनी अधिक आसक्ति और तदनुभूत आवेग उत्पन्न होता है उतना ही चित्त विषय की तद्रूपता प्राप्त कर लेता है। लौकिक विषयों में चित्त की आसक्ति सहज है, प्रयत्न साध्य नहीं, परन्तु वह आसक्ति बन्धन का कारण है। इस 'आसक्ति' के महत्त्व को भाव-मार्गियों ने भली प्रकार समझा है और हृदय के इस आवेग को श्रीकृष्णमय बनाकर उन्होंने उस भाव-दशा को सहज ही हस्तगत करने का मार्ग प्राप्त कर लिया है, जिसे पाकर और कुछ भी प्राप्त करने की आकांक्षा शेष नहीं रहती। भुक्ति और मुक्ति—दोनों स्पृहाएँ जहाँ पिशाची प्रतीत होती है—इन्हें जड़-मूल से खोदकर हृदय को स्पृहा-रहित कर भक्ति-अंकुर का अभ्युदय सम्भव माना है—

भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावद् पिशाची हृदि वर्तते।

चित्त की वृत्तियों में प्रबलतम और अत्यन्त प्रभावशालिनी वृत्ति 'काम' है विषयों में आसक्ति को सामान्यतया 'काम' कहा जाता है और उसी का स्वार्थ-गन्ध से रहित दिव्य स्वरूप 'प्रेम' है। परन्तु 'काम' और

'प्रेम' इन दोनों के अन्तर को मिटाकर श्रीकृष्ण को ही लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही दृष्टियों से—और दोनों दृष्टियों से ऊपर उठकर भी—अपना प्राप्तव्य मानकर साधन करना जीव की परम गति है। श्रीमद्भागवत ने इस मार्ग का आदर्श ब्रजाङ्गनाओं को माना है। वस्तुतः इस प्रेम-मार्ग को गोपियों का मार्ग कहा जाना ही उचित है, क्योंकि भाव-सम्पत्ति की सम्पूर्णता उनके अतिरिक्त और किसी में सम्भव नहीं। इस काम-मार्ग को समझने के लिए गोपियों की उस प्रेम वृत्ति का ध्यान प्रतिक्षण रखना आवश्यक है, जहाँ स्व-सुख का लेश-मात्र न होकर प्रियतम-सुख ही प्रेमी का सर्वस्व है—इसे हम जागतिक प्रेम से भिन्नता प्रदान करने के लिए अलौकिक, अप्राकृत, दिव्य आदि जितने भी विशेषण दें, निर्विशेषण होने पर भी प्रेम की इस प्रकृति का निरन्तर भान होना अनिवार्य है—इसकी पल भर के लिए भी विस्मृति होने पर सामान्यजन के लिये यह अमृत अभिशाप बन सकता है।

भाव-सम्बन्धों में भी तारतम्य है। श्रीमद्रूपगोस्वामि-कृत 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' में वर्णित भक्ति के पाँच भेदों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर में क्रमशः यही उत्कर्ष विद्यमान है। मधुर रस रसराज है। उपनिषद् के वाक्य 'रसो वै सः'की व्याख्या श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के इसी रसमय स्वरूप की कथा-कीर्ति द्वारा की है और श्रीकृष्ण की यह रसरूपता माधुर्य में असमोर्ध्व है। श्रीमद्भागवत का भारतीय भावुक हृदयों पर जो गम्भीर और चित्ताक्षिप्तकारी प्रभाव है, वह भक्तों की साधना में दिखाई देता है। इस रसमधरा में अवगाहन करने वाले रसिक-शिरोमणियों में जयदेव और विल्वमङ्गल का स्थान अन्यतम है। ये दोनों ही लगभग समकालीन थे और भाव-दृष्टि से एक दूसरे के पूरक। मध्ययुगीन कृष्णभक्ति काव्य के उद्दीप्त प्रेरणास्रोतों में इन दोनों महानुभावों का मूर्द्धन्य स्थान है। वैष्णवों के लिए तो दोनों ही रसिक वन्दनीय हैं परन्तु काव्यानुभूति की दृष्टि से जो भावावेग 'कृष्णकर्णामृत' में प्राप्त है, जो व्यक्ति-वेदना इस ग्रन्थ की धरोहर है, 'गीत-गोविन्द' में इसका दूसरा पक्ष—सुख-पक्ष है, वेदना-पक्ष नहीं। उसमें राधाकृष्ण का लीला-विलास प्रमुख है, भावों में स्थूल मांसलता है, जबकि 'कृष्णकर्णामृत' में गोपी भाव का करुण चीत्कार है, श्रीकृष्ण के शिखिपिच्छमौलि, कामावतारांकुर स्वरूप के दर्शन की उत्कट लालसा, उस रूप रस को देखने की अबाध, अपार तृषा है।

परम रसिक बिल्वमङ्गलजी का 'कृष्णकर्णामृत' भाव-क्षेत्र की एक अनुपम कृति है। श्रीकृष्ण प्रेम का उद्दाम रस-सागर इसमें तरंगायित है।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि एक भावुक को एक हारीतकी (हरड़) मात्र रखने पर 'संग्रही' मान लेने वाले भगवदावतार श्रीकृष्णचैतन्य देव ने अपनी दक्षिण-यात्रा के समय भक्तजनों द्वारा 'कृष्णकर्णामृत' का पाठ श्रवण कर इसे 'ग्रन्थ' रूप में लिखाया और इसका संग्रह' कर अपने साथ जीवों के कल्याणार्थ उत्तरभारत में लाये। वे 'ब्रह्मसंहिता' नामक ग्रन्थ भी लाये। ब्रह्मसंहिता श्रीकृष्ण के भगवत्तत्व का निर्वचन करता है, जबकि 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' कृष्णप्रीति का महान् रस-सागर है।

'कृष्णकर्णामृत' ग्रंथ न केवल भाव-साधन की दृष्टि से अतिशय महत्व-पूर्ण है। साहित्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह रचना कवीन्द्र-शेखर लीलाशुक की प्रौढ़तम कृति है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-चरितामृत' में इसका परिचय जिन शब्दों में दिया है, वे इसके महत्वांकन की दृष्टि से पूर्णतः सटीक हैं। उन्होंने लिखा है—

'कर्णामृत' सम वस्तु नाहिं त्रिभुवने।
जाहा हैते हय कृष्ण-शुद्ध प्रेम ज्ञाने॥
सौन्दर्य, माधुर्य, कृष्णलीलार अवधि।
सेई जाने जे 'कर्णामृत' पड़े निरवधि॥

'कर्णामृत' ग्रंथ जैसी वस्तु त्रिभुवन में नहीं है, इस ग्रंथ से श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम का ज्ञान होता है। इसमें सौन्दर्य एवं माधुर्य की दृष्टि से कृष्णलीला की चरमावधि प्रकाशित हुई है, इसे वही जान सकता है जो इस अमृत का निरन्तर आस्वादन लेता है।

'कृष्णकर्णामृत' में लीलाशुक के व्यक्ति-उद्गार हैं, अपनी व्यथा और व्याकुलता का उन्होंने संगान किया है। इसमें उनमें प्रेमोन्माद है- हँसना, रुदन, गान सभी स्थितियों की यह एक अद्भुत कला-कृति है। लीला-रस-गान की इसकी माधुर्यमय सम्पत्ति अतुलनीय है।

बङ्गाल में 'श्रीकृष्णकर्णामृत' वैष्णवों का कण्ठहार है, उनके भजन का आधार है, साहित्यिकों का अध्येतव्य है, अतः वहाँ इस ग्रंथ के अनेकानेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं परन्तु दुर्भाग्य है कि हिन्दी-क्षेत्र के विद्वानों की इस रस की ओर अभी पूरी तरह दृष्टि नहीं गई है। 'श्रीकृष्णकर्णामृत' का भली भाँति अध्ययन होने पर न केवल वैष्णव-रस-काव्यों की परम्पराओं के प्रभाव-मूल्याङ्कन में हमें परिवर्तन करना पड़ेगा, अपितु घनानन्द जैसे कवियों की पूर्व-परम्परा और साथ ही सूफियों के भाव-बोध को भारतीय देन का भी कुछ दूसरा ही मूल्य स्वीकार करना होगा।

श्रीबिल्वमंगलजी लीलाशुक :

भक्तमालकार श्रीनाभाजी ने बिल्वमंगलजी का परिचय निम्नलिखित छप्पय में प्रस्तुत किया है—

करनामृत सुकवित्त जुक्ति अनुछिष्ट उचारी।
रसिक जनन जीवन जु हृदय-हारावलि धारी॥
हरि पकरायौ हाथ बहुरि तहँ लियौ छुटाई।
कहा भयौ कर छुटें बदौं जो हिय ते जाई॥

चिन्तामनि-सँग पाय कैं, ब्रजबधू-केलि-बरनी अनूप।
कृष्ण कृपा-कोपर प्रगट, बिल्वमंगल मंगल स्वरूप॥

भारतीय इतिहासकारों ने 'तथ्य' से अधिक तत्त्व को महत्त्व दिया है। यही कारण है कि उन्होंने इतिहास में केवल सन्-संवत् और घटनाओं का यथातथा विवरण प्रस्तुत करने की कभी चेष्टा नहीं की। उन्होंने जिन्हें अनुकरणीय माना, उनके आदर्शमय व्यक्तित्व और निष्ठाओं का ही संकलन किया है। नित्य वस्तु का संकलन करने में यदि कुछ तथ्यों का समावेश भी कहीं हो जाय तो यह आज के अध्येता का सौभाग्य है। बिल्वमंगलजी का चरित्र भी अन्य महान् पुरुषों एवं महाकवियों की जीवन-लीलाओं के समान ही अज्ञात, अनिर्णीत और विवादास्पद है। नाभाजी के कथन से हमें केवल इतना ज्ञान होता है कि 'कर्णामृत' बिल्वमंगलजी की अनूठी और मौलिक रचना है। यह ग्रंथ रसिकजनों का हृदय-हार है। श्रीकृष्ण ने एक बार उनका हाथ पकड़ा और जब छुड़ा कर जाने लगे तो बिल्वमंगलजी ने यही कहा—हाथ भले ही छुड़ालो, हृदय से निकल जाओ—तब तुम्हारा पौरुष समझूँ। चिन्तामणि से उनका संसर्ग था। बाद में उन्होंने गोपी लीला का गान किया, वस्तुतः मंगलस्वरूप विल्वमंगल श्रीकृष्ण के परम कृपाभाजन थे।

नाभाजीने श्रीबिल्वमंगल के जीवन से सम्बन्धित कथाओं की ओर इस छप्पय में संकेत किया है। इन सभी कथाओं की संपुष्टि अन्य स्रोतों से भी होती है। अन्य भक्तों ने अपने ग्रंथों में इन्हीं कथाओं को विशद् रूप में प्रस्तुत किया है। बङ्गाल के अनेक आचार्यों एवं विद्वानों नें—बिल्वमंगल के विषय में जीवन-संकेत दिये हैं, परन्तु वहाँ भी प्रायः भावकथाओं का ही आधिक्य है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादासजी ने भी उनकी चिन्तामणि सम्बन्धी कथा पर्याप्त विस्तार से लिखी है, परन्तु इस सबमें तथ्यों का आकलन बहुत कम हुआ है।

नाम :

प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने से पता चलता है कि विल्वमङ्गल नाम के कम - से - कम तीन आचार्य भारत में हुए हैं। गदाधर दास ने 'सम्प्रदाय प्रदीप' नामक ग्रन्थ में विल्वमङ्गल का उल्लेख किया है। ये विल्वमङ्गल वल्लभाचार्यजी से कुछ समय पूर्व विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य बताये गये हैं। इन्होंने ही श्रीवल्लभाचार्यजी को स्वप्न में शुद्धाद्वैत-मत का प्रवर्तन करने की प्रेरणा दी थी। चिन्तामणि नामक वेश्या से काशी-वासी विल्वमङ्गल के प्रेम की कथा का उल्लेख 'सम्प्रदाय प्रदीप' में भी हुआ है। हो सकता है कि द्रविड़ देशीय विल्वमङ्गल ही बाद में काशी में निवास करने के कारण काशी-वासी कहलाये हों। जहाँ कृष्णदास कविराज ने बिल्वमङ्गल को दक्षिणस्थ कृष्णवेन्या के पश्चिम नदी का तीर-वासी लिखा है, वहाँ श्रीगोपालभट्टजी ने 'काशी निकट सुरतरङ्गिणी तट-ग्रामवासी' लिखा है, परन्तु उन्होंने भी चिन्तामणि नामक वेश्या से विल्वमङ्गल के नित्य-मिलन का स्थान कृष्णानदी को पार करने पर ही बताया है। इससे यही सिद्ध होता है कि बिल्वमङ्गलजी मूलत: दक्षिण-वासी ही थे। उत्कल-वासी बिल्वमङ्गल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं हो पाता, क्योंकि उनके एक 'संस्कृत स्तोत्र' के अतिरिक्त न और कोई रचना मिलती है, न अन्य विवरण ही प्राप्त होता है। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य बिल्वमङ्गल की ही रचना 'कृष्णकर्णामृत' बताई जाती है। इसका अर्थ यह होगा कि दक्षिण देशवासी आचार्य बिल्वमङ्गल ही विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य भी थे परन्तु इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेखों का अभाव है।

अनेक बिल्वमङ्गल नाम के महानुभाव होने के कारण ही, सम्भव है, कर्णामृत के रचयिता बिल्वमङ्गलजी के साथ उनकी 'लीलाशुक' की उपाधि का प्रयोग किया जाता है। उनका यह नामकरण उनके गुरु 'सोमगिरि' द्वारा किया गया था। कृष्णकर्णामृत में कृष्ण-लीलाओं का सागर उमड़ता अनुभव कर उन्होंने उन्हें शुकदेव के समान माना, अत: वे लीलाशुक नाम से प्रसिद्ध हुए।

समय :

श्री बिल्वमङ्गल (लीलाशुक) का काल-निर्धारण भी सम्भव नहीं हो सका है। नवीं ईसवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी के बीच उनका समय निश्चित करने की विभिन्न विद्वानों ने चेष्टा की है। श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी दक्षिण-यात्रा में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कृष्णकर्णामृत' को उत्तर भारत में लाये थे, इससे इतना तो निश्चित है कि वे चैतन्यदेव से

कुछ समय पूर्व अवश्य हुए होंगे। उनके पुनः जयदेव के रूप में अवतरित होने की अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है, जिससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बिल्वमङ्गलजी जयदेवजी से भी पूर्ववर्ती थे। अनेक विद्वान् लीलाशुक को जयदेव से पूर्ववर्ती मानने को प्रस्तुत नहीं है, अतः उनका मत यह है कि वे जयदेव के समकालीन ही थ। यों, उनके ग्रंथ की विषय-वस्तु, उसकी भाव-भूमि और उसका शैली-शिल्प यह सब मिलाकर देखने से यही निश्चय किया जा सकता है कि बिल्वमङ्गलजी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। इस दृष्टि से वे जयदेव से कुछ पूर्ववर्ती या उनके समकालीन हो सकते हैं। निश्चित तिथियों में उनकी विद्यमानता को सिद्ध करना सम्भव नहीं है।

बिल्वमंगल और चिन्तामणि :

वैषयिक उन्माद में भाव की अतिशय प्रगाढ़ता उसके सत्त्वात्मक स्वरूप को प्रकट कर देती है और उस स्थिति में किसी एक क्षण का प्रपञ्च-कशाघात जीव को भगवदुन्मुख करने के लिए पर्याप्त होता है। अनेक महा-पुरुषों के जीवन के लक्ष्य-परिवर्तन की घड़ी ऐसे ही किसी विभ्रान्त काल में घटित हुई थी। बिल्वमङ्गलजी के जीवन से सम्बद्ध चिन्तामणि की कथा इसी क्षण को आलोकित करती है।

चिन्तामणि के ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी ने इसे अपनी कृष्णवल्लभा' नाम की टीका में कल्पना-मात्र ही माना है परन्तु कृष्णकर्णामृत की श्रवणाह्लादिनी टीका में उन्होंने इसे भगवद्भक्तों के मुख-कमल से निस्सृत किंवदंती कहा है। प्राचीन काल में ये कथाएँ किंवदन्ती के अतिरिक्त और जीवित रह ही कैसे सकती थीं। श्रीकृष्णदास कविराज ने अपनी 'सारंग रंगदा' नाम्नी टीका में बिल्वमङ्गल और चिन्तामणि के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है। भक्त-मालकार नाभाजी ने भी इसका संकेत दिया है। दक्षिण के विद्वान पापयह्ल-भसूरि ने अपनी टीका में चिन्तामणि को वेश्या लिखा है, बाद में उसका हृदय भगवान शिव की कृपा से शुद्ध हो गया था। अनेक प्राचीन और परवर्ती कथाकारों ने चिन्तामणि को कथा को विस्तार से लिखा है। इतना अवश्य है कि इन कथाओं में ऐतिह्य के अंश कम, तात्त्विक निष्कर्ष ही अधिक हैं।

चिन्तामणि एक नर्तकी अथवा वाराङ्गना थी। यह भी निश्चित नहीं है कि काशी-वासिनी थी या दक्षिण-देशीया थी। वस्तुतः बिल्वमङ्गल को जिस किसी लेखक ने भी जिस किसी स्थान से सम्बद्ध किया है, उसको चिन्तामणि को भी उसी स्थान से सम्बद्ध करना अनिवार्य था। बिल्वमङ्गल

दाक्षिणात्य थे, अब इसमें सन्देह नहीं है। कृष्णबेना नदी के पश्चिम तट पर उनका निवास था और वे नदी पार कर चिन्तामणि से मिलने जाया करते थे, यह कथा प्रसिद्ध है। एक दिन पिता के श्राद्ध के कारण दिन में बिल्वमङ्गल चिन्तामणि के निकट नहीं जा सके, सन्ध्याकाल, नदी चढ़ी हुई, नौका मिलना दुर्भर—परन्तु उधर हृदय में आसक्ति का ज्वार चढ़ा हुआ था। बिल्वमङ्गल उस अथाह जल में कूद पड़े, लहरों के प्रबल थपेड़े और तीव्र प्रवाह, हाथ-पाँव जवाब दे गये। तभी उन्होंने एक शव को बहते हुए देखा और उसकी सहायता से दूसरे किनारे पहुँचे। अन्धड़ बहुत तेज था और भीषण वर्षा भी। चिन्तामणि का द्वार बन्द था। अन्दर प्रविष्ट होने का कोई उपाय नहीं। वहाँ उन्होंने झूलता हुआ एक रस्सा देखा, जो वस्तुतः कालसर्प था। बिल्वमङ्गल उसे ही पकड़ कर गृह में प्रविष्ट हुए। चिन्तामणि बिल्वमङ्गल के इस प्रकार इतने कष्टों में वहाँ तक पहुँचने और सर्प का आश्रय लेकर भवन में प्रविष्ट होने के इस घटना-क्रम से अन्तर ही अन्तर में प्रभु की विचित्र लीला का दर्शन करने लगीं और उसने बिल्वमङ्गल को भी इस जगत की ओर से विमुख होकर प्रभु-कृपा प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

प्रेमी बिल्वमङ्गल के हृदय में भगवत प्रेम का प्रकाश आलोकित हो उठा। चिन्तामणि की जय मनाते हुए भक्त बिल्वमङ्गल सोमगिरि नामक गुरु की शरण में गए, जिन्होंने उन्हें प्रेम-शिक्षा के गुरु भगवान् शिखिपिच्छ-मौलि श्रीकृष्ण के चरण-कल्पतरु-नखर में प्रीति उत्पन्न की। फिर तो बिल्वमङ्गल लीलाशुक होगये। 'कृष्णकर्णामृत' के प्रथम श्लोक में बिल्वमङ्गल ने देवी चिन्तामणि गुरु सोमगिरि तथा भगवान् श्रीकृष्ण की जो वंदना की है, वह अपने अन्य अर्थों का वहन करते हुए भी अपने ऐतिह्य अर्थों को भी प्रकाशित करता है। वन्दना का यह श्लोक है—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे,
शिक्षागुरुश्च भगवान् शिखिपिच्छमौलिः।
यत्पाद कल्पतरु पल्लव शेखरेषु,
लीलास्वयंवर-रसं लभते जयश्रीः॥

प्रियादासजी ने यह भी लिखा है—बिल्वमङ्गल जी के वृन्दावन आने के पश्चात् वह स्वयं भी भक्ति-भाव से प्रेरित हो, वृन्दावन आई थीं और उसने प्रभु-कृपा प्राप्त की थी। भक्तवर नाभाजी की यह उक्ति—

'चिन्तामनि संग पाय कें, ब्रजबधू बरनी केलि अनूप'

चिन्तामनि के वृन्दावन-वास और कृष्णलीला में उसकी अनुरक्ति के साथ भक्तवर बिल्वमङ्गल के सान्निध्य को ही सूचित करती है।

बिल्वमंगल और सोमगिरि :

बिल्वमंगल अपने आरम्भिक जीवन में शैव थे, ऐसा कहा जाता है। दक्षिण में 'कृष्णकर्णामृत' के तीन शतक माने जाते हैं। जबकि बङ्गाल में प्रथम शतक को ही प्रामाणिक माना जाता है। द्वितीय शतक के चौबीसवें श्लोक में कवि ने लिखा है—

शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं,
पञ्चाक्षरी जप परा नितरां तथापि।
चेतो मदीयमतसी कुसुमावभासं,
स्मेरानने स्मरति गोपवधू-किशोरम् ॥

'हम निश्चित रूप से शैव हैं, पञ्चाक्षरी मंत्र के जप में तत्पर हैं, तथापि अपने हृदय में हम अतसी कुसुमावभास गोपवधू किशोर के प्रसन्न-मुख का ही स्मरण करते हैं।' वैष्णवों के लिए यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि गोपवधूकिशोर के मन्दहास्य का उपासक रसिक कैसे अपने को शैव कह सकता है? क्या सोमगिरि भी शैव सन्यासी ही थे, यह भी प्रश्न उठता है। तत्कालीन धर्म-साधना के इतिहास की पृष्ठभूमि में यह जान लेना आवश्यक है कि उस युग में श्रीकृष्ण की रसमयी लीलाओं का प्रभाव समस्त भारत के कोने-कोने में सभी सम्प्रदायों और धर्म-मतों के अनुगामियों पर इतना व्यापक और गहरा होकर पड़ रहा था कि जो जिस सम्प्रदाय में था, उसे भूलकर वह कृष्ण-लीला-रस-रसिक हो रहा था। यदि बिल्वमङ्गल के जीवन में भी यह परिवर्तन घटित हुआ तो आश्चर्य क्या है, यह तो रस-सरिता के उन्मुक्त और उच्छल प्रवाह का ही परिणाम है कि उसने बिना किसी भेद-भाव के सभी जनों को अपने अञ्चल में समेट कर अपनी मङ्गल-मयी जीवनी शक्ति का परिचय दिया। सोमगिरि भी भले ही पहले शैव रहे हों, बिल्वमङ्गल को तो सच्चा वैष्णव और कृष्णपादारविन्द का चञ्चरीक बनाने वाले वे ही थे। उन्होंने ही बिल्वमङ्गल को लीलाशुक नाम दिया था। उन्हीं की प्रेरणा से बिल्वमङ्गल का वृन्दावन आगमन हुआ था।

बिल्वमंगल का वृन्दावन आगमन :

गुरुदेव सोमगिरि के निकट एक वर्ष निवास करने के उपरान्त श्रीकृष्ण की परम रम्य दिव्य-भूमि श्रीवृन्दावन की ओर चल पड़े। मन शृङ्गार-चूड़ामणि कृष्ण में अनुरक्त था परन्तु जब-तब चिरकालीन सांसारिक वासनाएँ भी अपना सिर उठाती हैं। कहा जाता है कि मार्ग में एक वणिक-

वधू को देखकर उसके सौन्दर्य पर विल्वमंगल एक बार रीझ ही तो गये, परन्तु जब उन्हें आत्म-स्वरूप का ज्ञान हुआ तो पश्चाताप के कारण उन्होंने अपने नेत्रों को फोड़ लिया। प्रियादासजी की भक्तमाल-टीका इस घटना का साक्ष्य है।

बिल्वमंगल के हृदय में कमल-दल-नेत्र भगवान श्यामसुन्दर की छवि निरन्तर प्रकाशित थी। नेत्रविहीन होकर मार्ग पाना भी कठिन था, ऐसे ही एक स्थल पर स्वयं भगवान् ने विल्वमङ्गल का हाथ पकड़ कर उन्हें पार किया। कर-स्पर्श से ही बिल्वमङ्गल ने पहचान लिया कि यह हाथ किसका है। बालरूपधारी कृष्ण हाथ छुड़ाकर जा रहे थे, चले ही गये, तो विल्वमङ्गल ने कहा—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण ! किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ।।
बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कें मोहि ।
हिय में ते जो जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि ।।

भगवान द्वारा हाथ पकड़ने की इस घटना का विश्वास वही कर सकता है, जिसका भगवान् स्वयं हाथ पकड़ने को प्रस्तुत हों। भक्तों के भावराज्य की यह महनीय घटना बिल्वमङ्गल जैसे रसिकों के जीवन के लिए अत्यन्त सहज है। भगवान् जिसके लिए चाहते हैं, उसी के लिए वृन्दावन का द्वार खोलते हैं।

वृन्दावन में बिल्वमङ्गल का पर्याप्त समय निवास रहा। वे कृष्ण-कर्णामृत का गान करते रास-रस का अनुभव करते थे। यहीं चिन्तामणि के आगमन पर भगवान् ने उन्हें प्रसाद दिया था। बिल्वमङ्गल इसी भूमि में आजन्म रहे और कृष्ण-केलि-कला का गान करते रहे। उनके लीला-प्रवेश की वर्ष-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

कवीन्द्र बिल्वमंगल के ग्रन्थ :

'श्रीकृष्णकर्णामृत' के अतिरिक्त बिल्वमङ्गलजी द्वारा रचित कम-से कम आठ और ग्रंथों का ज्ञान साहित्य-जगत को है।

१—कृष्ण बाल-चरित्र—इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या २८५ है। इसमें श्रीकृष्ण के बालस्वरूप एवं उनकी बालकेलियों का मधुर संस्तवन है। 'श्रीविल्वमङ्गल स्तोत्र' नामक बिल्वमंगल की कृति में भी इस रचना के अनेक श्लोक प्राप्त होते हैं। 'पद्यावली' नामक संग्रह में भी इस कृति के ग्रन्थ उद्धत हैं।

२—कृष्ण क्रीड़ा-काव्य—विल्वमंगलजी की यह रचना अभी तक अप्राप्य है।

३—गोविन्द स्तोत्र—इस रचना का एक अपर नाम 'गोविन्द दामोदर स्तोत्र' भी है। गीताप्रेस से प्रकाशित इस ग्रन्थ में ७१ श्लोक हैं। यों अन्य स्थलों पर हस्तलिखित रूप में प्राप्त इस श्लोक में केवल ५६-५७ श्लोक ही उपलब्ध होते हैं।

४—विल्वमंगल स्तोत्र—इस ग्रन्थ की रचना-राशि ३६६ श्लोकों की है। यह विभिन्न अध्यायों में विभाजित है। इसमें प्रमुखतः कृष्ण चरित वर्णित है परन्तु शेष भाग में शिव, कूर्म, नृसिंहादि अवतारों के भी स्तोत्र हैं।

५—कृष्णाह्निक कौमुदी—इस रचना में श्रीराधाकृष्ण का सम्पूर्ण दिवस की अष्टयाम की लीला वर्णित है।

६—सुमंगल स्तोत्र—यह ग्रन्थ तीन शतकों में विभाजित है तथा कुल ३८३ श्लोक हैं। इसका आरम्भिक श्लोक श्रीकृष्णकर्णामृत के आरम्भ का ही श्लोक है। शेष श्लोकों में बहुत से द्वितीय और तृतीय शतक के श्लोक संगृहीत हैं।

७—कृष्ण स्तोत्र—इस स्तोत्र ग्रन्थ में १०६ श्लोक हैं। कृष्णकर्णामृत के द्वितीय तृतीय शतक के अनेक चुने हुए श्लोक इसमें संकलित किये गये हैं।

८—विल्वमंगल नाम कोष—प्रस्तुत रचना के बंगाल में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इसके आरम्भ के ८१ श्लोक ठीक वे ही श्लोक हैं, जो श्रीकृष्णस्तोत्र में हैं। शेष श्लोकों में भिन्नता है। इसमें कुल श्लोक संख्या १०१ है।

श्रीविल्वमंगल के नाम से प्राप्त इन समस्त रचनाओं का अध्ययन करने के उपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने समय-समय पर अपने भक्ति-पिपासु हृदय से जो सुधा-वर्षण किया, उससे संग्राहकों ने स्वयं विभिन्न पात्रों में भर लिया। विभिन्न श्लोकों की अनेक ग्रन्थों में आवृत्ति होने से यह अनुमान भी होता है कि कृष्णलीला प्रेमियों ने, हो सकता है, परवर्तीकाल में बिल्वमंगलजी की लोकप्रिय रचनाओं के अनेक संस्करण तैयार किये हों अथवा यह भी सम्भव है कि बिल्वमंगलजी के रचना-साम्य से कुछ अन्य व्यक्तियों ने ही उनके जैसे श्लोकों की रचना करने का प्रयत्न कर इस ग्रन्थ-राशि में अपना योग दान भी जोड़ दिया हो।

कृष्णकर्णामृत के संस्करण :

जैसा पहले उल्लेख किया गया है अभी तक निर्भ्रान्त रूप से यह भी निश्चय नहीं हो पाया है कि 'कृष्णकर्णामृत' का वास्तविक स्वरूप क्या है? बंग-संस्करणों में कुल मिलाकर ११२ श्लोक संख्या का केवल एक शतक ही 'कृष्णकर्णामृत' नाम से भक्तों एवं विद्वानों में प्रचलित है। 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार श्रीचैतन्य महाप्रभु इस ग्रन्थ को अपनी दक्षिण यात्रा में दक्षिण से उत्तर भारत में लाये थे। वहाँ उन्होंने इस ग्रन्थ का पाठ एक मन्दिर में सुना था और इसे अपने लिए ग्रन्थ रूप में लिखा कर ले आये। स्पष्ट है कि महाप्रभु द्वारा आनीत इस ग्रन्थ के स्वरूप-निर्द्धारण की प्रामाणिकता इससे अधिक और क्या हो सकती है।

परन्तु दक्षिण में प्रायः सर्वत्र इस ग्रंथ के तीन शतक माने जाते हैं। इनमें प्रथम शतक में १०७ से १११ तक की श्लोक संख्या है,—द्वितीय शतक में ११० श्लोक एवं तृतीय शतक में १०२ से १०६ तक श्लोक प्राप्त होते हैं। दक्षिण भारत में यह ग्रंथ देवनागरी, तमिल एवं तेलुगु आदि अक्षरों में प्रचुरता से उपलब्ध है। इस ग्रंथ पर विद्वानों ने अनेक टीकाएँ भी लिखी हैं और ये सभी टीकाएँ प्रायः कृष्णकर्णामृत के तीनों शतकों पर लिखी प्राप्त हैं। दक्षिण में 'कृष्णकर्णामृत' की अपनी विशिष्ट परम्परा है और उसे ही मूल परम्परा भी कहा जा सकता है अतः इस ग्रंथ में तीन शतकों का मानना ही उचित है।

अब प्रश्न है कि यदि इस ग्रंथ के तीन शतक थे तो महाप्रभु इसका केवल प्रथम शतक ही ग्रन्थ-रूप में लिखाकर क्यों लाये? इसके अनेक कारण हो सकते हैं। जिन विद्वानों से उन्होंने इस ग्रन्थ को सुना था, सम्भव है उन्होंने तीन शतकों के विशाल कलेवर के स्थान पर अपने पाठ के लिए केवल 'प्रथम शतक' को ही उपयुक्त समझा हो, इस बात की अधिक संभावना है कि दक्षिण भारत के कुछ मन्दिरों में पाठ के लिए कर्णामृत का प्रथम-शतक ही स्वीकृत रहा हो, क्योंकि स्वयं महाप्रभु ने भी केवल इतना पाठ ही सुना था और दक्षिण में कुछ ऐसी टीकाएँ भी प्राप्त हैं, जिनमें केवल एक ही शतक है और श्लोक संख्या भी वही है, जो महाप्रभु आनीत 'कृष्णकर्णामृत' में है। यह टीका मलयालम भाषा में लिखी गई है और 'सुवर्णपात्री' नाम से प्रसिद्ध है। जो भी हो, दक्षिण भारत में प्रचलित तीन शतकों के संस्करण की परम्परा को सहज ही अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

श्रीरूपगोस्वामिपाद ने अपने प्रसिद्ध संग्रह 'पद्यावली' में 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' के द्वितीय एवं तृतीय शतकों के जिन ११ श्लोकों को उद्धृत किया

है, उनके रचनाकार के रूप में किन्हीं अन्य व्यक्तियों के नाम हैं, अथवा वे 'अज्ञात रचनाकार' के रूप में उद्धृत हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरूपगोस्वामी केवल प्रथम शतक को ही 'कृष्णकर्णामृत' मानते थे, उन्हें इसके द्वितीय और तृतीय शतकों के संस्करण प्राप्त नहीं हुए। यदि होते तो वे इन श्लोकों में अन्य रचनाकारों के नाम कदापि न देते। अपने अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उन्होंने कृष्णकर्णामृत के छः श्लोक 'यथा कर्णामृते' शीर्षक से उद्धृत किये हैं और ये छः श्लोक 'कर्णामृत' के प्रथम शतक में प्राप्त हैं।

परन्तु इसी ग्रंथ में पाँच अन्य श्लोक ऐसे भी हैं, जिनका उद्धरण गोस्वामिपाद ने 'यथा विल्वमंगले' अथवा 'विल्वमंगलस्तवे' कहकर किया है और ये पाँचों श्लोक द्वितीय एवं तृतीय शतक में प्राप्त हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि गोस्वामिपाद 'विल्वमंगल' के अन्य ग्रन्थों से भी परिचित थे। हो सकता है ये श्लोक उन्होंने उन्हीं ग्रन्थों से लिये हों, 'कर्णामृत' के द्वितीय एवं तृतीय शतक से उनका परिचय न रहा हो, लेकिन इतना तो निश्चित है कि ये पाँचों श्लोक, जो द्वितीय एवं तृतीय शतकों में हैं श्रीबिल्वमङ्गल द्वारा रचित हैं, अर्थात् इन द्वितीय एवं तृतीय शतकों में बिल्वमङ्गल रचित सामग्री विद्यमान है। हमारा विचार है कि महाप्रभु 'श्रीकृष्णकर्णामृत' का केवल प्रथम शतक ही, जो उन्हें अपनी दक्षिण यात्रा में प्राप्त हो सका भक्तों का हृदयहार समझकर उत्तर भारत में ले आये और बंगाल में उसे ही प्रामाणिक मानकर उसका प्रचार किया जाता रहा। बिल्वमंगल के अन्य ग्रंथों से भी उत्तर भारत के विद्वानों का परिचय हुआ होगा, परन्तु जहाँ तक 'कृष्णकर्णामृत' की प्रामाणिकता का प्रश्न है, उसे उत्तर भारत में महाप्रभु के लाये संस्करण के रूप में ही स्वीकृति प्राप्त हुई।

विद्वानों ने 'कृष्णकर्णामृत' के प्रथम शतक के वर्ण्य-विषय के साथ द्वितीय एवं तृतीय शतक के प्रतिपाद्य विषय से भी आंतरिक तुलना की है और उन्हें अनेक उक्तियों में भाव-भेद गंध-स्पर्श हुआ है। हमारा निवेदन है कि रचना के विस्तार क्रम में ऐसे भेद हो जाना स्वाभाविक भी है।

बङ्गदेशीय वैष्णव भक्तों एवं विद्वानों को परम्परा-रूप में 'श्रीकृष्णकर्णामृत' का जो स्वरूप प्राप्त हुआ, उसमें महाप्रभु के कर-स्पर्श का सौगन्ध्य तो है ही, अनुकूल भाव-राशि की उपलब्धि भी उन्हें उसी से प्राप्त होती रही है अतः उत्तर भारत में यदि 'कृष्णकर्णामृत' का यही रूप स्वीकृत है, तो वह स्वाभाविक ही है—फिर भी, 'कर्णामृत' की व्यापक भाव-सम्पत्ति के

अनुसन्धान एवं साहित्य-सौष्ठव, के अध्ययन के लिए 'कर्णामृत' के तीनों शतकों का अध्ययन अपेक्षित है।

कृष्णकर्णामृत की लोकप्रियता :

'श्रीकृष्णकर्णामृत' का दक्षिण भारत की जनता में अत्यन्त आदर के साथ पाठ किया जाता था, यह वहाँ के मन्दिरों की परम्परा से ज्ञात होता है। विद्वानों ने प्राचीन काल से ही इस रसमय ग्रन्थ पर अनेक टीकाओं की रचना की है। दक्षिण भारत में श्रीपापपल्लय सूरी नामक विद्वान् ने संस्कृत-भाषा में इस ग्रन्थ के तीनों आश्वासों पर 'सुवर्ण-चषक' नामक टीका की है, इस टीका में मूल श्लोकों की उद्धत संख्या शतकशः १०७, ११० तथा १०२ है। यह टीका देवनागरी अक्षरों में श्रीरङ्गम् से प्रकाशित हो चुकी है। 'शंकर' नामक विद्वान् कवि ने इस ग्रंथ पर 'प्रपा' नामक की टीका लिखी है और किन्हीं एक अन्य विद्वान् की 'कृष्णानन्द प्रकाशिनी' टीका भी दक्षिण में प्राप्त है। श्रीगोपालभट्ट जी की 'श्रवणाह्लादिनी' टीका भी विद्वज्जनों में प्रसिद्ध है। मलयालम भाषा में लिखित 'सुवर्णपात्री' टीका का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

श्रीमन्महाप्रभुपादारविन्दावलम्बी महानुभावों द्वारा रचित 'कृष्ण-कर्णामृत' की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी जी द्वारा रचित 'कृष्णवल्लभा टीका' सोलहवीं शताब्दी की कृति है। यह टीका उच्च-कोटि की भक्ति-भावना एवं पाण्डित्य से परिपूर्ण है। दूसरी टीका पण्डित चैतन्यदास ने 'सुबोधिनी' शीर्षक से लिखी है। यह टीका १७ वीं शताब्दी के आरम्भ की रचना है। टीका अत्यन्त सरल परन्तु संक्षिप्त है।

'चैतन्य-चरितामृत' के विद्वान् लेखक श्रीकृष्णदास कविराज ने भी 'कृष्णकर्णामृत' की 'सारंग रंगदा' नाम्नी टीका विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी है। गौड़ीय वैष्णवों की भावोपासना एवं लीलादृष्टि का विलक्षण चमत्कार इस टीका में सहज ही उन्मेषित होगया है। भाव और रस का इस टीका में उत्कृष्ट विवेचन कविराज जैसे विद्वज्जन-चूड़ामणि ने किया है अतः यही वैष्णवों में बहुप्रचलित 'कर्णामृत' की टीका है।

उक्त टीका-ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक संग्रह-ग्रन्थों, स्तोत्रों, रस-ग्रंथों आदि में लीलाशुक के इस अमृत-काव्य की अमंद कणिकाओं का संचय हुआ है। वैष्णवों का तो यह एक उपजीव्य ग्रन्थ है ही विद्वानों के मध्य भी इस ग्रन्थ का अबाध आदर रहा है। यह तथ्य उक्त टीका-परम्पराओं आदि से सर्वथा प्रमाणित है।

श्रीकृष्णकर्णामृत का प्रतिपाद्य :

प्रत्येक कवि भाव-मार्ग का अवलम्बन करता है परन्तु उसका भाव-क्षेत्र लौकिक विषयानुभूति से संबद्ध होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से सीमित और संकीर्ण होता है। भाव-मार्ग सहज मार्ग है, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्राणिमात्र की सहजानुभूतियों से है। इस सहज भाव-संपत्ति को परमात्मा की प्रीति का पाथेय बना लेना ही 'भक्ति' है और यही भाव-मार्ग की चरम सार्थकता है। श्रीमद्भागवत में गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति सर्वात्मना भाव-निवेदन का मार्ग सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया था। गोपियों के पति, पुत्र एवं सुहृदों के प्रति जो भी कर्तव्य हैं, उन सबसे ऊपर समस्त आत्माओं के बंधु परमात्मा के प्रति ही उनकी असमोर्ध्व प्रेष्ठता प्रतिष्ठापित की गई—

यत्पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग,
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे,
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।

भाव का आधार आश्रय है। श्रीकृष्ण का लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्य-मण्डित श्रीविग्रह साधक के हृदय की भाव-भूमि को पुलकित कर उसे सांसारिक विषयों से निवृत्त कर केवल अपने में ही समाहित करने की स्थिति उत्पन्न करता है। श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप का दर्शन 'श्रीकृष्णकर्णामृत' में बिल्वमंगल ने किया है वह 'शृङ्गार-रस-सर्वस्व' श्रीकृष्ण का स्वरूप है। काम के वशीभूत व्रजगोपियों से परिवेष्टित श्रीकृष्ण का पुनः पुनः दर्शन ही कर्णामृतकार का लक्ष्य रहा है। प्रथम श्लोक में 'मंगलाचरण' करने के पश्चात् वस्तु निर्देशात्मक द्वितीय श्लोक में इसी की एक दिव्य झाँकी बिल्व-मंगल इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं,
वस्तु प्रस्तुत वेणुनाद-लहरी निर्वाण निर्व्याकुलम् ।
स्रस्तस्रस्त-निबद्ध-नीवि-विलसद् गोपीसहस्रावृतं,
हस्तन्यस्त न तापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति ।

सम्पूर्ण जगत् को प्रीति प्रदान करने में अत्यधिक उदार ऐसी एक किशोराकृति, चारों ओर सहस्रों गोपियों से घिरी हुई है, ये तरुणियाँ अपने कराग्र द्वारा कल्प प्रसूनों को उस मधुर मूर्ति पर बिखेर रही हैं, उधर वेणु-नाद की लहरियों में झूमते हुए श्रीकृष्ण और इधर उनके माधुर्यके प्रभाव से

प्रपीड़ित गोपियोंके नीवि-बंधका खुल-खुल पड़ना-यह समस्त वर्णन दिव्य देश में स्थितकोटि काम स्वरूप श्रीकृष्ण और उनकी प्रियतमा प्रेयसियोंकी लीला को भक्ति-निर्धूत चित्तों में उदय करता है। उक्त एक श्लोक में कवि-शेखर बिल्वमंगल ने शृङ्गार रस की संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर दी है। परंतु यह समस्त वर्णन केवल उन रसिकजनों के लिये है, जिनके चित्त सांसारिक विषयों से निवृत्त हो चुके हैं। यह राग भक्ति का मार्ग न तो सर्वजन-सुलभ है, न सब के हृदय में इसकी स्थिति संभव हो सकती है।

श्रीकृष्ण की जिस दिव्य और उदार छटा का दर्शन बिल्वमंगल ने किया है, उसमें सौन्दर्य और माधुर्य का जाल चारों ओर बिछा हुआ है। न केवल श्रीकृष्ण अपने लावण्य से गोपियों को प्रभावित करते हैं, वे स्वयं भी गोपियों की दृग्भङ्गी से अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं—लावण्यामृत की चंचल वीचियों से युक्त उनके नेत्र श्रीराधा के कटाक्षों-से गौरवमय हैं, जो काम की उत्पत्ति के कारण हैं--माधुर्य के उन एकमात्र आश्रय नील बाल की ही आराधना कविशेखर ने की है—

चातुर्यैक-निदान-सीम-चपलापाङ्गच्छटा मन्थरं
लावण्यामृत-वीचि-लोलितदृशं लक्ष्मीकटाक्षार्हतम्।
कालिन्दी पुलिनाङ्गण-प्रणयिनं कामावतारांकुरं
बालं नीलममी वयं मधुरिम-स्वाराज्यमाराधनुमः॥

'कर्णामृत' में श्रीकृष्ण की बहिरंग अथवा स्थूल लीलाओं का चित्रण न होकर उनके लावण्य, सौन्दर्य, माधुर्य का ही अनेकविध अंकन हुआ है। सौन्दर्य शास्त्र की उच्चतम कल्पनाओं को कर्णामृत में साकार कर दिया गया है। लीलाशुक द्वारा प्रगीत कृष्ण लीला बस्तुतः सौन्दर्य, माधुर्य की वह अमांसल और अतीन्द्रिय लीला है, जो उस रस के रसिक हृदय को अपने निरंतर संस्कार द्वारा आनन्द सिंधु में निमज्जित कर देती है। कवि के ही शब्दोंमें माधुर्य के इस महासागर का वर्णन कितने चातुर्य से किया गया है—

माधुर्यवारिधिमदाम्बु-तरङ्गभङ्गी
शृङ्गारसंकुलित-शीत किशोरवेषम्।
आमन्द हास ललितानन-चन्द्रविम्ब,
मानन्द-संप्लव मनुप्लवतां मनो मे॥

'माधुर्य के महासागर में मदजल की तरङ्ग-भङ्गिमाएँ विलोलित हैं, वह शृङ्गार रस से परिपूर्ण किशोर शीतलता प्रदान करने वाला है। मंद-हास से ललित सुधांशु मुख उसमें प्रतिबिम्बित है—ऐसे माधुर्य-सागर का आनन्दमय प्रवाह मेरे मन को बहा ले जाय।

श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य में कोटि-कोटि प्रेमीजनों के चित्त को निमग्न करने की अपार सामर्थ्य है। इसी लिये भक्त को प्रभुकृपा द्वारा इस माधुर्य सागर के दर्शन भर करना अभीष्ट होता है, शेष कार्य तो सहज रूप में परिणत होता ही है।

सौन्दर्य शास्त्र में रूप, सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य आदि शब्दों की अनेकशः परिभाषाएँ की गई हैं परन्तु उन व्याख्याओं से श्रीकृष्ण की माधुर्य-भङ्गिमाओं का आकलन संभव नहीं है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने 'रूप' की परिभाषा करते हुए कहा है—

किन्हीं आकर्षण युक्त अति सुन्दर आभूषणों से भूषित होने पर भी अङ्ग अनाभूषित ही रहते हैं परन्तु जिसके द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहज ही भूषित जैसे प्रतीत होते हैं उसे 'रूप' कहा जाता है।[1] लावण्य की कोटि इससे आगे है—'अङ्गों में मोतियों की कान्ति के समान जो तारल्य दृग्गोचर होता है, उसे ही लावण्य कहा जाता है।'[2] 'सौन्दर्य में अङ्ग-प्रत्यङ्गों का यथोचित सन्निवेश और भली-भाँति उनका सन्धिबंध ही महत्वपूर्ण होता है।[3] रूप, लावण्य, सौन्दर्य आदि से अभीष्ट अनुभूति के संकेत का प्रयत्न गोस्वामिपाद को इन व्याख्याओं में किया गया है परन्तु माधुर्य में वे 'किमपि अनिर्वाच्यं रूपम्' कह कर रूप की उस किसी अनिर्वचनीयता की ओर संकेतमात्र करते हैं।[4] माधुर्य की व्याख्या संभव नहीं, वह अनुभूति द्वारा ही अनुभूत है, शब्द द्वारा नहीं। फिर श्रीकृष्ण के दिव्य रूप-माधुर्य की व्याख्या तो संभव ही नहीं।

श्रीकृष्ण अखिल माधुर्य के साकार विग्रह हैं। बिल्वमंगल उनके उस माधुर्य का दर्शन करते थकते नहीं, अघाते नहीं, इस लिए उन्हें कहना पड़ता है—

१- अंगान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिनां।
येन भूषितवद् भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥
—उज्ज्वलनीलमणि उद्दीपनविभाव प्रकरण २३

२- मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥ वही— २६.

३- अंग प्रत्यंगमानो यः संनिवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्ट सन्धि वन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥ वही— २६.

४- रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते॥ वही— ३४.

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।।

इस विभु का समस्त वपु मधुर-मधुर है, इसका मुख उससे भी अधिक मधुर है, और उसकी मधुगन्धी मृदुस्मिति तो और भी मधुर-मधुर-मधुर-मधुर है। हृदय में अनुभूति का ज्वार अँट नहीं पाता तो शब्द ही अनुभूति बनकर कगारें तोड़ने लगते हैं। यह माधुर्य ही रसिकों का उपास्य है। मोरपिच्छधारी शृङ्गार-रस सर्वस्व भुवनाश्रय श्रीकृष्ण ने नर-आकृति धारण की है, उन्हीं की शरण एकमात्र शरण है। भक्तों के सुख के लिए ही तो त्रिलोकी के स्वामी ने मानवरूप धारण किया है। सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, शृंगार इन समस्त दिव्य गुणों का श्रीकृष्ण के स्वरूप में साकार प्रकटीकरण हुआ है। अतः उसके अतिरिक्त और कौन शरण्य हो सकता है।

शृङ्गाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम् ।
अङ्गीकृत नराकारमाश्रये भुवनाश्रयम् ।।

कृष्णलीला में माधुर्य की अभिव्यक्ति चतुर्धा होती है। ये हैं—ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीड़ामाधुरी, वेणुमाधुरी तथा रूपमाधुरी।

चतुर्धा माधुरी तस्य व्रज एव विराजते ।
ऐश्वर्यं क्रीड़योर्वेणोस्तथा श्रीविग्रहस्य च ।।-बृहद्भागवतामृतम् ।

यह चतुर्धा माधुरी व्रज में ही प्राप्त है। श्रीकृष्ण-लीलाओं में यह माधुर्य शत-शत गुणित होकर उत्कर्ष को प्राप्त होता है। कृष्णकर्णामृतकार ने रीझ-रीझ कर इस चतुर्धा माधुर्य का चित्रण अपने भावुक हृदय से किया है।

श्रीकृष्ण और गोपियों के मध्य जिस 'काम' सम्बन्ध की चर्चा रसिक-जन बारम्बार करते हैं और जिसका निरन्तर गान कर परितृप्त नहीं होते, उसके प्रति किसी भी प्रकार की लौकिक दृष्टि रखना उचित नहीं। जहाँ सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य ही अपने अलौकिक रूप में क्रीड़ारत हैं, वहाँ प्राकृत काम कहाँ? 'कृष्णकर्णामृत' के अध्येता इस तथ्य का निरन्तर ध्यान रखें, अन्यथा कोई भी कितना ही विद्वान् क्यों न हो, 'कृष्णकर्णामृत' को तत्त्वतः जान ही नहीं सकता।

साहित्य-सुधी-जन गीतगोविन्द एवं विद्यापति पदावली आदि रचनाओं में लौकिक-शृङ्गार के ही दर्शन करते हैं। विद्यापति को भक्तकवि से अधिक शृङ्गार कवि मानने की परम्परा विद्वत्समाज में है परन्तु 'कृष्णकर्णामृत' में लौकिक शृङ्गार का आभास भी नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति-शैली में ऐसी

चारुता है कि हमारे नेत्रों के समक्ष लौकिक काम की छाया भी नहीं आ पाती 'कृष्णकर्णामृत' में प्रेम और काम सभी अनिर्वचनीय शैली में उपबृंहित हुए हैं।

राधाकृष्ण की लीला वस्तुतः रूप और प्रेम की ही लीला है। इन दोनों में वासना के पङ्क का लेश भी नहीं। यह लीला कितनी पावन है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण को किशोर कहते हुए भी अधिकांशतः उन्हें 'बाल' अथवा 'शिशु' ही कहा है।

'बालेन मुग्ध चपलेन'

'चापल्यमेति नयने तव शैशवे नः'

उक्त शब्दों का बारबार प्रयोग प्रतिपाद्य के स्वरूप की कोमलता को तो अभिव्यक्त करता ही है, वह काम-लीला को भी उसी प्रकार मार्दवयुक्त बना देता है।

'प्रेम' एक अनिर्वचनीय तत्त्व है। कृष्णप्रेम की वास्तविक स्थिति मात्र ब्रजवासियों के अन्तःकरण में ही है। भक्तजन तो ब्रजवासियों के भाव का अनुसरण करते हैं। यही रागानुगा भक्ति कहलाती है।[1]

बिल्वमङ्गल की भक्ति-साधना में बहुत बड़ा विस्तार है। उनकी भक्ति का सुदृढ़ आधार माहात्म्यज्ञान है। भाव-साधना की क्रमिक स्थितियाँ भी उसमें विद्यमान हैं। श्रद्धा, साधुसंग, भजनक्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति के पश्चात् भाव का अभ्युदय होता है।[2] भाव-भक्ति के अनन्तर प्रेमाभक्ति प्रकटित होती है। 'कृष्णकर्णामृत' मानो साधना के इन क्रमों की तरङ्गों का सागर है, परन्तु ये सभी स्थितियाँ भावपूर्व नहीं भाव की गोद में विराजमान हैं। रागानुगा भक्ति के दो भेद कामानुगा और सम्बन्धानुगा माने गये हैं। 'कर्णामृत' में इन दोनों वृत्तियों को दो स्तरोंपर अभिव्यक्त किया गया है। गोपीजनवल्लभ के शृंगाररस-सर्वस्व रूप में कामरूपा भक्ति का सहज प्रकाशन और स्वयं के लीलापरिकर के रूप में एक विशेष प्रकार का विलक्षण भाव-सम्बन्ध 'कर्णामृत' की आत्मा है।

बिल्वमङ्गल के हृदय में प्रेम का प्रवाह अवाध और उच्छ्वल है।

---

[1] **विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।**
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु १-२-२७

[2] **आदौ श्रद्धा ततो साधु सङ्गोऽथ भजनक्रिया।**
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्तत,
अथासक्तिस्ततो भावस्तत प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ —वही १-४-१५-१६

यह लालसा और विरह—इन दो स्तरों पर विशेष रूप से प्रकट हुई हैं। लालसा में संयोगेच्छा और विरह का तीव्र पुट रहता है। कर्णामृत की पंक्ति-पंक्ति में यह लालसा दृष्टिगोचर होती है। वे प्रत्येक श्लोक में यही प्रार्थना करते सुनाई पड़ते हैं कि मेरे हृदय में ब्रजगोपियों के मणिनूपुरों का मञ्जु-शिञ्जन कब स्फुरित होगा—'मम चेतसि स्फुरतु वल्लवीविभोर्मणि नूपुर प्रणयिमञ्जुशिञ्जितम्' अथवा वह प्रेमरस मेरे हृदय में क्रीड़ा करे—'मम खेलतु मदचेतसि मधुराधरामृतम्' अथवा—मेरे हृदय में वे कुछ अवर्णनीय भाव उदित हों - 'आविर्भवन्तु मम चेतसि केऽपि भावा' अथवा 'मम-स्फुरतु मानसं मदनकेलिशय्योत्थितम्'—ऐसी अपार लालसा-वीचियों का 'कर्णामृत' पीयूष-प्रवाह है। इस लालसा में प्रार्थना का अंश भी बहुत बड़ा है। कवि कातर होकर उस आर्त्तबन्धु से प्रार्थना कर उठता है—

परिपालय नः कृपालयेत्यसकृज्जल्पितमार्त्तबान्धवः।
मुरली मृदुलस्वनान्तरे विभुराकर्णयिता कदानु नः॥

प्रार्थना की निरन्तरता कर्णामृत को 'स्तोत्र' शैली में परिणमित करती है।

वेणुगीत गति मूलबेधसे ब्रह्मराशि महसे नमो नमः।

उक्त पंक्ति में स्तवन और नमन करते समय बिल्वमङ्गल श्री कृष्ण के ब्रह्म रूप का ध्यान करते हैं, परन्तु स्मरण रहे, वे केवल ब्रह्म नहीं, ब्रह्म-राशि हैं, व्यापक तेजस्वरूप ब्रह्म के कान्ति-समूह से भी अधिक कृष्ण की कान्ति है। स्तोत्र - रूप में कर्णामृत की पूर्णता निम्नलिखित श्लोक में होती है।

जय जय जय देव देव देव त्रिभुवन मङ्गल दिव्य नामधेय।
जय जय जय देव कृष्ण देव श्रवण मनोनयनामृतावतार॥

कवि का हृदय पुलक-पुलक कर, अपने शब्दों द्वारा भावराशि को दुहरा-दुहरा कर उस मनोनयनामृतावतार की जय बोल रहा है। इतना सच्चा और भावाकुल स्तवन और कहाँ मिलेगा ?

जैसा कहा गया है कृष्णकर्णामृत ग्रन्थ श्रीकृष्ण के दर्शनों की तीव्र-लालसा का स्तवन है परन्तु यह जिस आलबाल में पनपा है, वह भूमि विरह-भूमि है। जो प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करने की उत्कटता ही लालसा है। श्रीकृष्ण के रूप, उनकी अनिद्य वेणु-ध्वनि, उनकी मनोभिराम लीलाओं के दर्शनों के लिए लीलाशुक अत्यन्त पीड़ित है, वे श्रीकृष्ण-लीलाओं से संयुक्त होने के लिए मानों तड़प रहे हैं। विरह प्रेम का पुटपाक है। विरह साधक के चित्त को परिष्कृत कर उसमें प्रभु-भक्ति को स्थापित करता है। प्रेम को प्रगाढ़ता विरह ही प्रदान करता है। परन्तु 'कृष्णकर्णामृत' में विरह का

अपना एक स्तर है। रागानुगा होने के कारण उसमें स्थूल विरह की गुञ्जाइश न होकर सूक्ष्म विरह ही विद्यमान है। वह भी बिल्वमङ्गल के चित्त, वाणी एवं अन्य अङ्गों में छनकर इस प्रकार रम गया है कि उसका रोम-रोम कृष्णलीलारस-समुत्सुक हो उठा है।

कर्णामृत में विरह का व्यापक रूप 'अकुलाहट' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वे विरह को त्यागना नहीं चाहते, क्योंकि विरह उनकी साधना है। उनकी तो प्रार्थना है कि अतिशय चञ्चलता से युक्त मेरी चिन्ता बढ़ती रहे।

'चापल्येन विवर्द्धन्तां चिन्ता मत्तव शैशवे'। चिन्ता विरह की ही एक दशा है। अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि, मरण इन सभी दशाओं का अङ्कन कर्णामृत में लहरियों के रूप में हुआ है। प्रलाप और उन्माद तो कवि के भाव-ज्वार के द्योतक ही हैं। मरण को उन्होंने दशमी दशा ही कहा है, जिसे स्वीकार करने के लिए वे सर्वदा प्रस्तुत हैं।

परन्तु कर्णामृत के विरह में निराशा और क्लेश का लेश भी नहीं है। वह श्रीकृष्ण तथा ब्रजाङ्गनाओं के लीलाविलासोत्सव की प्राप्ति के लिए है, अतः उसमें क्लेश को स्थान नहीं। श्रीकृष्ण के लीला-वैभव की लालसा में क्लेश कहाँ, केवल आनन्द ही आनन्द है। यही कारण है कि विरह के कगारों के अङ्क में यहाँ आनन्द का ही समुद्र लहरा रहा है। बिल्वमङ्गल जानते हैं, श्रीकृष्ण के चरणों में भक्ति के दृढ़ हो जाने पर दिव्य किशोरमूर्ति का प्राप्त हो जाना कठिन नहीं और तब स्वयं मुक्ति अञ्जलिबद्ध होकर हमारी सेवा करेगी, धर्मार्थ काम आदि सेवा की लालसा में अवसर की प्रतीक्षा करेंगे। भक्त का कितना बड़ा विश्वास है, इस विश्वास-धारा में निराशा कहाँ टिक सकेगी ?

श्रीकृष्ण के अमृतमय चन्द्रमुख-माधुर्य से कवि की भाव-लहरियों का निरन्तर उत्तोलन होता है। रूप और प्रेम की यही पारस्परिकता सौन्दर्य को जन्म देती है। कर्णामृत इस सौन्दर्य का महासागर है।

कर्णामृत माधुर्य का महाप्रवाह है, इस अनिर्वचनीय माधुर्य का वर्णन भी अवर्णनीय है अतः इसे तो बिल्वमङ्गल जी के शब्दों में 'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्' ही कहा जा सकता है। कवि की कामना है कि शत-शत कल्प व्यतीत होने पर भी यह कर्णामृत-धारा प्रवाहित होती रहे—

लीलाशुकेन रचितं तव कृष्ण देव,
कर्णामृतं वहतु कल्प शतान्तरेऽपि।

कृष्णकर्णामृत भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से एक अनूठी रचना है। साहित्य-कृति के रूप में इसका मूल्य अद्वितीय है। इसका अभिव्यक्ति-पक्ष अतीव कोमल एवं शब्दावली लास्यमय है—यहाँ इतना अवकाश नहीं कि उस पर विस्तार से कुछ कहा जा सके। भक्ति के उन्माद के जिन क्षणों को लीलाशुक ने अपने काव्य में निबद्ध किया है उसके सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से कुछ कहने की सामर्थ्य किस में है ? हम कवि द्वारा इसकी फलस्तुति का वह श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं, जिसमें इसके 'कृष्ण-कर्णामृत' नाम को सार्थक किया गया है—

धन्यानां सरसानुलाप सरणी सौरभ्यमभ्यस्यतां
कर्णानां विवरेषु कामपि सुधा वृष्टिं दुहानं मुहुः।
वन्यानां सुहृशां मनोनयनयोर्मग्नस्य देवस्य नः
कर्णानां वचसां विजृम्भितमहो कृष्णस्य कर्णामृतम् ॥

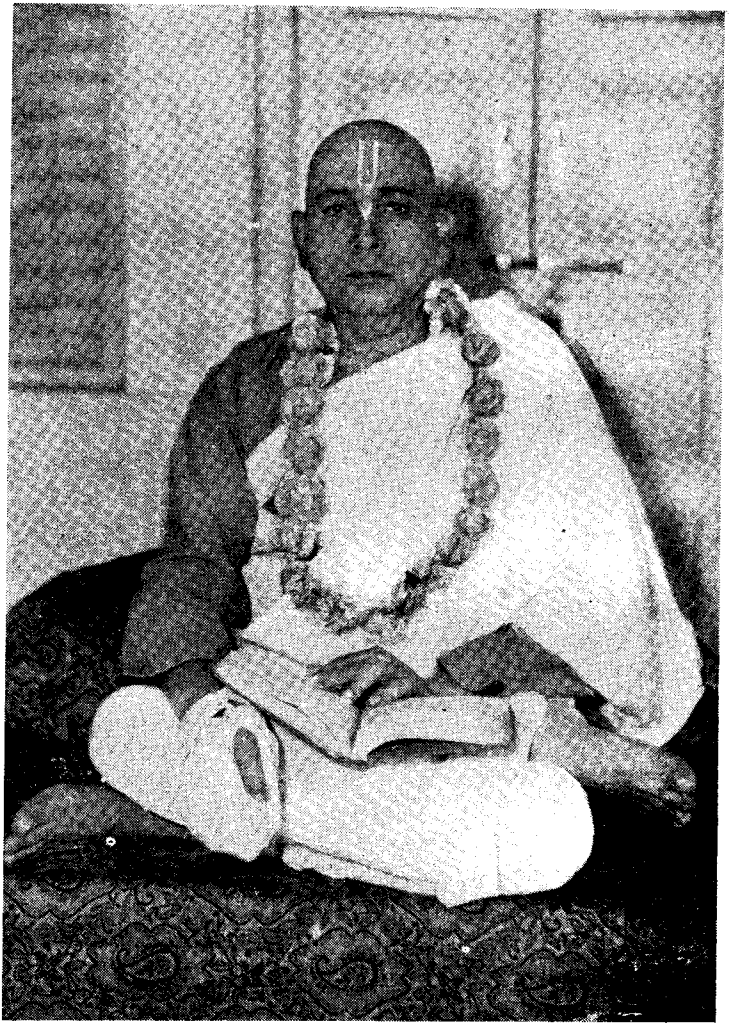
"श्रीकृष्णकर्णामृत" जैसे पीयूष-चषक का आस्वाद हिन्दी प्रदेश के निवासियों को भी समुपलब्ध हो सके, इस महती आवश्यकता की प्रपूर्ति कर्णामृत के प्रस्तुत प्रकाशन से संभव हो सकेगी। 'श्रीकृष्णकर्णामृत' का प्रकाशन परम आदरणीय महंत श्रीयुत रामदासजी शास्त्री द्वारा 'भक्तभारत' के विशेषांक के रूप में बहुत पहले हुआ था और उस समय रसिक जनों ने इस कृति को हाथों-हाथ अपना लिया था। इस बार का प्रकाशन निश्चित रूप से अधिक परिष्कृत, एवं उपयोगी है। भावुक रसिक-सहृदयों के लिए तो यह एक वरदान है ही, साहित्यिक अध्येताओं के लिए भी यह प्रकाशन अतीव महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की टीका क्या है, स्वयं में भक्ति का कोष है। वैष्णवभक्ति-सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में इस ग्रंथ की बृहदर्थ-प्रकाशिनी टीका बिल्वमङ्गलजी की आत्माभिव्यक्ति को एक शास्त्रीय फलक प्रदान करती है। इसका 'रसिका टीका' नाम सभी दृष्टियों से सार्थक है। इस टीका के प्रत्येक श्लोक का हिन्दी-रूपान्तर एवं उसका शब्दशः अर्थ भी इतनी खूबी से दिया गया है कि इसके माध्यम से हिन्दी के पाठक भी बिल्वमंगलजी के भाव-सान्निध्य का सहज लाभ प्राप्त कर सकेंगे। श्रीसूर्यकान्त गोस्वामी का यह पद्यान्तर निस्संदेह प्रशंसनीय है।

श्रीवृन्दावन रसिकों की भूमि है। इसी पुनीत धाम में 'कृष्णकर्णामृत' का वेदनामय संगीत बिल्वमंगल के हृदय से पुराकाल में आँसुओं के रूप में निस्सृत हुआ था और अब इसका प्रकाशन भी वृन्दावन की इस भूमि से होता देख विशेष आह्लाद होता है। श्रीयुत रामदासजी शास्त्री, चार

संप्रदाय की गद्दी का समस्त कार्यभार सँभालते हुए भी वैष्णव ग्रंथों के प्रकाशन के कार्य में जिस तत्परता से सचेष्ट हैं, उसके लिए वे न केवल ब्रजवासियों के अपितु समस्त धर्मप्रेमी, साहित्यप्रेमी देश-वासियों के लिए भी श्रद्धेय हैं। उन्होंने 'भक्तभारत' नाम के प्रेरणाप्रद मासिक पत्र के संचालन के अतिरिक्त जिन बृहद् वैष्णव ग्रंथों का प्रकाशन कराया है, उनकी सूची भी बड़ी लम्बी है। 'श्रीकृष्णकर्णामृत' उसी शृंखला का सुमेरु है। श्रीशास्त्री जी का, निकट भविष्य में, और भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रथों के प्रकाशन का संकल्प है। मैं श्रीबिहारी जी महाराज के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे श्रीशास्त्रीजी के स्वास्थ्य को उत्तम बनाये रखकर उनके पाण्डित्य एवं सहृदयता के श्रेष्ठ गुणों का इन ग्रंथों के रूपमें प्रतिफल, धर्म एवं साहित्यप्रेमी जनता को निरंतर प्रदान करने का अवसर बनाये रखें।

हरियाली तीज, श्रावण, सम्वत् २०२६,
१६ अगस्त १९६९

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी
प्रिंसिपल,
इन्स्टीट्यूट ऑफ ओरियण्टल फिलॉसफी,
वृन्दावन।



श्रीरामदास शास्त्री

* जय श्रीगौरहरिः *

रसिकशेखर लीलाशुक श्रीविल्वमंगल-कृत--

श्रीकृष्ण-कर्णामृतम्



महाप्रभो चैतन्य जय, जय श्रीनित्यानन्द।
नाम दान कर तापत्रय, मेटे भव-दुःख-द्वन्द॥
'कर्णामृत' रससिन्धु में डूबे जे जन जाय।
वे ही मेरे सेव्य हैं, स्वामि सखा पितु-माय॥
लीलाशुक विल्वमङ्गल, करें अमङ्गल दूर।
रस-सागर मन्थन कियो, अमृत बिन्दु-भरपूर॥
नमन करौं व्रज भूमि के, रसिकवर्य शुचि सन्त।
टीका हृद् आह्लादिनी, 'रसिका' के प्रिय कन्त॥

मूल श्लोक वसंत तिलक छंद—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरुर्मे,
शिक्षा-गुरुश्च भगवान् शिखि-पिच्छ-मौलिः।
यत्पाद-कल्पतरु-पल्लव-शेखरेषु,
लीला-स्वयंवर-रसं लभते जयश्रीः॥१॥

जय चिन्तामणि, जयति सोमगिरि मेरे गुरुवर।
जय शिक्षागुरु ईश, शीश पर मोर-मुकुट-धर॥
जिनके चरण, कल्पतरु-पल्लव के शिखरों पर।
विजयश्री पाती लीलारस-राशि निरन्तर॥१॥

भावार्थ—प्रेमपथ में प्रवृत्त होने का उपदेश देनेवाली चिन्तामणि दीक्षागुरु श्रीसोमगिरि तथा शिक्षा-गुरु मोरमुकुटधारी भगवान् श्रीकृष्ण की सदा ही जय हो। इन गुरुत्रय के कल्पतरु के समान मेरी मनोकामना पूर्ण करने वाले चरणों की किसलय-कोमल अंगुलियों के नखों पर विजय-लक्ष्मी लीला स्वयंवर रस को प्राप्त किया करती है।

रसिका टीका—लीलाशुक सूरदास श्रीविल्वमङ्गल विरह-भावों की उन्मत्त दशा में विभोर व्रजभूमि में श्री कृष्णदर्शन की उत्कट अभिलाषा को लेकर सुदूर दक्षिण प्रदेश से चलकर लीलाभूमि व्रज के तट पर पहुँचे, तब शिखि-पिच्छ-मौलि भगवान् श्रीश्यामसुन्दर की मङ्गल-कामना से प्रेरित होकर बोले—

चिन्तामणि की जय हो, मेरे शिक्षा-गुरु श्रीसोमगिरि की जय हो, जिन प्रभु के चरण कल्पतरु-नखर-शिखर पर जय श्री (श्रीराधा) लीला स्वयंवर रस का आलिङ्गन करती है—उन मोर-मुकुटधारी मेरे गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की भी जय हो।

उक्त श्लोक के 'चिन्तामणि' और 'सोमगिरि' शब्द ध्यान देने योग्य हैं, इन पदों के अर्थ निम्न प्रकार से भी होते हैं—

१—सोमगिरि नामक मेरे दीक्षागुरु की जय हो। वे अभीष्ट फलदायक होने से चिन्तामणि स्वरूप हैं।

२—चिन्तामणि-स्वरूप तथा सोमगिरि-स्वरूप मेरे शिक्षा-गुरु भगवान् की जय हो। जीव के चिन्तन के यावत् विषय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, प्रेम, स्व-स्वरूप, पर-स्वरूप तथा रसमयी सेवा पर्यन्त सभी प्रकारकी चिन्ता—के लिये भगवान् मणि, अर्थात् प्रकाशक रूप हैं, अतएव भगवान् ही चिन्तामणि हैं। इसी प्रकार सोम नाम अमृत का है, उसके गिरि के समान भगवान् परमास्वाद्य आनन्दरस स्वरूप हैं। अथवा सोमनाम श्रीमहेश जी का है, उनके गिरि अर्थात् पूज्य हैं, अतएव भगवान् सोमगिरि हैं।

३—प्रथम अर्थ में दो गुरुओं की तथा दूसरे अर्थ में एक ही गुरु की और इस तीसरे अर्थ में तीन गुरुजनों की वन्दना। (१) पथ-प्रदर्शक गुरु चिन्तामणि रमणी की जय हो, (२) मन्त्रप्रदाता गुरु श्रीसोमगिरि की जय हो तथा (३) शिक्षागुरु श्रीभगवान् की जय हो। जिस गणिका चिन्तामणि ने अपने व्यङ्ग वाग्बाणों के द्वारा विल्वमङ्गल के हृदय-पटल के अन्धकार को नाश कर, संसार के प्रति वैराग्य तथा भगवान् के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया था, उसको अपना पथ-प्रदर्शक गुरु मानते हुए उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये "चिन्तामणि" पद के द्वारा लीलाशुक ने उसकी भी जय घोषणा की हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

शिक्षागुरु दो प्रकार के होते हैं, पहले मार्गोपदेशक अर्थात् परमार्थपथ का उपदेश करने वाले गुरु। यथा श्री अवधूत दत्तात्रेय जी के पृथ्वी, वायु,

आकाश, जल, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, कपोत, अजगर, मीन, मृग, बालक, कुमारी, पिंगला आदि चौबीस शिक्षागुरु श्रीमद्भागवत में वर्णित हैं। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, जो कोई भी वस्तु अपने भाव-भङ्गी क्रिया-कलापादि द्वारा हमको सद्बुद्धि प्रदान करे, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम के मार्ग पर प्रवृत्त करे— वह एक प्रकार से शिक्षागुरु है। चिन्तामणि भी इसी कोटि की शिक्षागुरु है।

दूसरे गुरु—साम्प्रदायिक उपासना की शिक्षा देनेवाले होते हैं। अर्थात् दीक्षागुरु से जो मन्त्र प्राप्त हुआ है, उस मन्त्र के द्वारा अपने इष्ट की उपासना-पद्धति क्या है— उसके साधक-बाधक अंग क्या-क्या हैं, इत्यादि साधन-सम्बन्धी विषयों की जो शिक्षा देते हैं, वे दूसरे प्रकार के शिक्षागुरु हैं।

प्रश्न उठता है कि भगवान् श्रीकृष्ण, लीलाशुक विल्वमङ्गल के शिक्षागुरु कैसे और कब हुए? क्या भगवान् ने स्वयं साक्षात् रूप से उनको भजन साधन का उपदेश किया था?

इसके उत्तर में विद्वानों ने इतना ही कहा है कि बद्ध जीव को भगवान् साक्षात् उपदेश न कर आचार्यरूप से तथा अन्तर्यामी रूप से उपदेश किया करते हैं, यथा—

"योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्,
आचार्य चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥"

भाग० ११।२१।६

उद्धवजी ने श्रीभगवान् से कहा है—आप दो प्रकार से देहधारियों के अज्ञानरूपी अशुभ को नाश कर अपनी प्राप्ति के उपाय—ज्ञान-भक्ति-प्रभृति का प्रकाश करते हैं, एक तो आचार्यरूप से प्रकट होकर शिक्षा देते हैं और दूसरे अन्तर्यामी रूप से चित्त में स्थित होकर शुभ बुद्धि प्रदान करते हैं।

चैतन्य-चरितामृतकार ने भी इस श्लोक के अनुवाद में कहा है—

"जीवे साक्षात् नाहिं ताते गुरु चैतन्य रूपे।
शिक्षा गुरु होय कृष्ण महान्त स्वरूपे॥"

* * *

शिक्षा गुरु के व जानि कृष्णेर स्वरूप।
अन्तर्यामी भक्त श्रेष्ठ एइ दुइ रूप॥

* * *

स्वयं भगवान् ने श्रीमुख से गीता में कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते ।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
"नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।"

"जो अनन्य भाव से सततयुक्त प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करता है, उसको मैं बुद्धि-योग प्रदान करता हूँ जिसके आश्रयसे वह भक्त मेरे समीप पहुँच जाता है। उसके हृदय में बैठा हुआ अन्तर्यामी मैं, उसपर अनुकम्पा कर उसके अज्ञानान्धकार को ज्ञान-प्रदीप के द्वारा विनाश कर देता हूँ ।।"

विल्वमङ्गल का भी घोर तमसाच्छन्न हृदय भगवान् ने ही तो आलोकित किया है । अतएव वे भगवान् को शिक्षागुरु कहकर उनकी वन्दना कर रहे हैं। शिक्षागुरु भगवान् शिखिपिच्छमौलि की शिक्षाप्रणाली का रहस्य उनके प्रेमीजनों के लीलाचरित्रों से ही कुछ ज्ञात हो जाता है। इस रहस्य को हृदयङ्गम करने से साधक जीवों का कल्याण होता है।

दृष्टान्त —शारदीय महारास के प्रसंग में जब भगवान् अन्तर्धान के पश्चात् प्रकट हुए, तब व्रजांगनाओं ने उनसे तीन कूट-प्रश्न किये हैं—

"इक भजते कौं भजें, एक बिन भजते भजहीं ।
कहो कान्ह ते कौंन, जो इन दोउन तजहीं ।।"

भगवान् सब प्रश्नों के उत्तर देते हुए तीसरे प्रश्नके उत्तर में बोले—जो किसी को भी नहीं भजते हैं, वे चार प्रकार के हैं, आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही । प्रश्न हुआ कि "आप को कौन-सी श्रेणी में रक्खा जाय ?" तुरन्त उत्तर मिला—"किसी में भी नहीं ? मैं इन चारों से बाहर हूँ।" गोपी–"तो आप महानिष्ठुर हैं ?" कृष्ण–"नहीं, मैं महादयालु हूँ ?" गोपी—"तो हमको रुला-मारने का नाम ही क्या दया है ?" कृष्ण—"तो निष्ठुर से प्रेम क्यों करती हो ? भूल जाओ न मुझे ?" गोपी—"यह प्रेम भूलने नहीं देता।" कृष्ण—"अच्छा तो यह बताओ कि—यह तुम्हारा प्रेम मेरे रुलाने से घट तो नहीं गया ?" गोपी—घटने की तो बात ही क्या ? यह तो और बढ़ गया है !" कृष्ण—"जब पूँजी बढ़ी, धन बढ़ा तो—सुख आनन्द भी बढ़ा ? यह हानि है या लाभ ?" गोपी—"लाभ ही है।" कृष्ण—"तो मैंने तुम्हारे प्रेम की पूँजी को बढ़ा कर तुम्हारा उपकार किया है या अपकार ?" गोपियाँ निरुत्तर हो गयीं । तब श्रीकृष्ण बोले—

"गोपियो ! मैं कृतघ्नी या गुरुद्रोही नहीं हूँ, परमस्नेही और सुहृद हूँ ? मैं कठोर क्रूर नहीं, अपितु परम कोमल हूँ । मैंने, तुम्हारी प्रीति के कषाय एवं कचाई को पकाकर उसे मधुर एकरस बना दिया है ।" गोपी "हम लोकवेद की दुर्जर शृङ्खला को छिन्न-भिन्न कर तुम्हारे समीप आई हैं—हमारी प्रीति में ऐसी क्या कचाई थी जिसे पकाने के लिये हमें इतना ताप सहना पड़ा ?" कृष्ण-"गोपियो ! आम की कचाई पकाई को आम नहीं जान सकता, माली ही जान सकता है, जिसने उसे लगाया, बड़े प्रेम से सींचा, बीज से अंकुर, पौधा और वृक्ष बनाया, जब उसमें बौर आये, अँबियाँ लगीं—तो उसके नीचे झोंपड़ी डालकर दिनरात उसकी निगरानी करने लगा ! जैसे जैसे फल बड़े होते गये, वैसे-वैसे उसकी आशा-अभिलाषाएँ भी बढ़ती गयीं । समय आया, आम पके, तब वर्षों में उसका परिश्रम सफल हुआ—उसको मधुर सरस फल आस्वादन करने को मिले ! व्रजवनिताओ ! मैंने ही तुम्हारी हृदयवाटिका में प्रीति का बीज बोया, मैंने ही उसे गोकुल की गली-गली में, गृह-गृह में, वीथि-वीथि में जा-जा कर नाना प्रकार के लीला रस द्वारा सींचा —पुष्पित पल्लवित किया, जब फल लगे तो माली तुरन्त तोड़कर खाने को नहीं बैठा, क्योंकि कच्चा फल खाने से अपने मुख का स्वाद बिगड़े या न बिगड़े, किन्तु फल का तो जीवन ही नष्ट हो जाता है और वह अकृतार्थ रह जाता है । ऐसे माली को क्या चतुर कह सकती हो ? ऐसे ही मैं भी फल को पकाता हूँ । पकने से पहले हाथ नहीं लगाता, इसके लिये कोई अकुला कर मुझे क्रूर कहे या कठोर कहे, तो भले ही कहे ? मैं अकुला कर अपनी रीति-नीति नहीं छोड़ता, परिणाम स्वरूप रस विकृत न होकर दोनों ओर प्रीति संवर्धन करता है । अन्त में दोनों परम कृतार्थ हो जाते हैं—एक अशेष सेवा द्वारा दूसरा विशेष आस्वादन द्वारा ।

यह है—शिक्षागुरु श्रीकृष्ण की शिक्षा-प्रणाली ! यह है—करुणामय की करुणा का स्वरूप ! स्वयं भगवान् अर्जुन के प्रति कहते हैं —"जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसकी धन-सम्पत्तिका हरण, उसको बन्धु-बान्धवोंसे विच्छेद, उसे लौकिक सुख-साधनों से शून्य करके उसका जीवन दुःखमय बना देता हूँ । इतनी मार पर भी यदि वह मुझ से प्यार नहीं छोड़ता, तब मैं प्रसन्न होकर अपना देवदुर्लभ पद उसे प्रदान करता हूँ—

"यस्याहमनुगृह्णामि वित्तं तस्य हराम्यहम् ।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति ॥ पद्मपुराण

संतापेष्वपि कौन्तेय यदि मां न परित्यजेत् ।
ददाम्यहं स्वीयपदं देवानामपि दुर्लभम् ।।" पद्मपुराण

"यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्येतद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःख दुःखितम् ।।

भाग० १०।८८।८

नारदजी को दासी पुत्र के रूप में शिक्षा मिली, प्रथम चातुर्मास्य में सनकादि ने गुरु बनकर अपने उच्छिष्ट प्रसादामृत द्वारा दासी-पुत्र के हृदय को उर्वरा बनाया, मन्त्रोपदेश द्वारा भक्ति का बीज बोया, सर्परूप बनकर कण्टक-रूपिणी माता को पथ से हटाया, विमल वैराग्य के नीर से सिंचित किया, निर्जन एकान्त सात्विक वनवास में ध्यान द्वारा अंकुरित कर वृक्ष बनाया, अन्तर्यामी रूप से हृदय में दर्शन देकर उसमें प्रेम का फल लगाया, और फिर ? फिर—वही किया जो गोपियों के साथ किया था। चुपके से चल दिये। जब नारद जी रोये-पीटे तो कानमें धीरे से कह दिया—"फल अभी कच्चा है, कच्चे फल के लिये मैं नहीं आया करता । "**अविपक्व कषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्**" एक बार तो मैं इसलिये आया, कि मैं तुम्हें अपने रूप-रस का आस्वादी बनादूँ, एक बार चाह की चसक लगादूँ ? मेरा कार्य सिद्ध हुआ ! तुम इस जन्म में मेरा दर्शन नहीं पा सकोगे ? तुम जन्मभर इस पाठ को रटते रहो, इस अमल में रम जाओ, इस चाह में तप-तप कर पक जाओ, इसे तुम मेरी महान् अनुकम्पा ही मानो ? अनेक जन्मों में भी प्राप्त न होने वाली सिद्धि एक ही जन्म में सिद्ध हो जायेगी, तुम्हारा परिपक्व प्रेम-फल मेरे आस्वादन योग्य बन जायगा। तुम ब्रह्म-पुत्र नारद बनकर मेरा गुण गाते फिरोगे—और मैं तुम्हारे पीछे-पीछे भागता फिरूँगा !"

सकृद्यदर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ।।

भाग० १।६।२३

शिक्षागुरु भगवान् की शिक्षा-शैली से वृत्रासुर भी सुपरिचित थे, इन्द्र से युद्ध करते-करते अन्तिम समय में बोले—"इन्द्र ! मेरे परमहितैषी प्रभु अपने अनन्य भक्तों को स्वर्ग, मर्त्य और पाताल की सम्पदा कदापि नहीं प्रदान करते। अपनी भक्ति में इनको महान् बाधक समझ कर इनकी प्राप्ति के समस्त प्रयासों को विध्वंस कर देते हैं मुझपर तो प्रभु की पूर्ण

कृपा है, तभी तो तुम बज्र उठाकर मेरे प्राण लेने को उद्यत हो, तुम पर यह कृपा नहीं है, अतः तुम धर्म, अर्थ और काम में फँसे स्वर्ग के राजा बने हो। इस कृपा के रहस्य को प्रभु के कोई अकिंचन जन ही समझ पाते हैं। यथा--

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

भाग० ६।११।२३

स्वयं विल्वमङ्गल ही इसके अन्यतम प्रमाण हैं, उनके भी समस्त वैषयिक प्रयास को दयामय प्रभु ने विचित्र औपन्यासिक रीति से विफल कर दिया, यह उनके वैराग्य की घटना से सिद्ध है और उनका विश्वास है--"वेश्या चिन्तामणि के मुख से शिक्षागुरु स्वय भगवान् ने ही मुझे असली चिन्तामणि के चिन्तन में प्रवृत्त किया है--विषय-विष से विमुख कर प्रेमामृत के प्रति अभिमुख किया है"--इसी रहस्य को हृदयङ्गम करते हुए विल्वमङ्गल गद्गद् हो प्रणतिपूर्वक कहते हैं--"मेरे शिक्षागुरु भगवान् मोरमुकुटधारी की जय हो।"

विल्वमङ्गल रचित निम्न श्लोक से भी यही ध्वनि निकलती है कि--हे श्रीकृष्ण ! आप अपनी प्राप्ति के एकमात्र उपाय, प्रेम के दाता तथा प्रेम-परिपाटी के शिक्षक हैं।

"प्रेमदश्च मे कामदश्च मे, वेदनश्च मे वैभवञ्च मे"

राजा सत्यव्रत भगवान् मत्स्यदेव के प्रति कहते हैं--"हे प्रभो ! आप सर्व लोक के सुहृद् हैं, प्रिय हैं, ईश्वर हैं, आत्मा हैं, गुरु हैं, ज्ञान हैं, अभीष्ट हैं, सिद्धि हैं, तथापि, आप--जैसे अन्तर्यामी, संचालक, प्रतिपालक प्रभु की यह कामासक्त, अन्धबुद्धि जीव नहीं पहचानता--

"त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधीर्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः॥"

भाग० ८-४२-५२

विल्वमङ्गल रहस्य जानकर अपने शिक्षागुरु भगवान् की जय मना रहे हैं--

तुम्हीं ने मुझ को प्रेम सिखाया, सोते हुए हृदय को जगाया,
एक नयी दुनियां में बसाया, मस्त बनाया रूप दिखाया,
तुम्हीं हो मेरे सिंगार श्याम।

यह प्रेम की शिक्षा साधक और सिद्ध दोनों के साथ चलती है। जीव अपने पूर्ण स्वरूप को तो प्राप्त हो सकता है, परन्तु त्रिकाल में भी स्वयं पूर्ण नहीं हो सकता, इसलिये जीव की पूर्णता में प्रेम की अपूर्णता बनी ही रहती है, तब नित्य अपूर्ण जीव को नित्य प्रेम पूर्ण करने के लिये, नित्य नवीन प्रेम रस-रसिकराय, भगवान् की प्रेम-शिक्षा भी नित्य ही चलती रहती है। प्रेम-शिक्षा के द्वारा भगवान् साधक का उद्धार और सिद्ध के साथ 'विहार' करते हैं, एक में बद्ध जीव का, उद्धार है तो दूसरे में परिकर के साथ 'नित्यविहार' है। पहली शिक्षा का नाम बहिरङ्ग और दूसरी का नाम अंतरङ्ग लीला है।

अन्तरङ्ग लीला के नित्य परिकर में गोपियों के साथ भगवान् की प्रेम-शिक्षा के कुछ उदाहरण देखिये--

"कर्णा-कर्णेन सखिजनेन विजने दूती स्तुति प्रक्रिया,
पत्युर्वञ्चन चातुरी गुणनिका कुञ्जप्रयाणे निशि।
बाधिर्यं गुरुवाचि वेणुविरुतावुत्कर्णतेतिव्रतान्,
कैशोरेण तवाद्य कृष्ण गुरुणा गौरीगणः पाठ्यते॥"

भक्ति-रसामृत-सिन्धु

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण की किशोर--रूपमाधुरी गुरु बनकर गोपसुन्दरियों को नित्य पाठ पढ़ाया करती है--उसकी ओर संकेत करते हुए कहा गया है--सखियों की प्रेम-गोष्ठी, दौत्यकर्म, मिलनयुक्ति, कुञ्ज-अभिसार, चित्त की अनवस्था, गुरुजनों की गञ्जना व लोक-लांछना के प्रति बधिरता, वेणुध्वनि श्रवण के लिये अहर्निश कर्णों की उत्सुकता आदि प्राध्यापक है।

प्रसिद्ध कवि श्री चण्डीदास श्रीराधा के आक्षेपानुराग का वर्णन करते हुए एक पद में कहते हैं--श्यामसुन्दर श्री कृष्ण के गुरुप्रेम ने श्रीराधा की प्रत्येक इन्द्रिय को किस भाँति विवश कर दिया है, जिससे अकुलाकर वे सखी से कहती हैं--

जतो निवारिये चित, निवारे न जाय।
आन पथ धाइ पद, कानु पर्थे जाय॥
ए छार रसना मोर होइलो कि वाम।
जार नाम ना लयबो लय तार नाम॥

ए छार नासिका मुञि जतो करु बन्ध ।
तबु तौ दारुण नासा पाय श्याम गन्ध ।
जार कथा ना सुनिवो करि अनुमान ।
परसंग सुनिते आपनि जाय कान ।।
धिक् रहु ए छार इन्द्रियगण सब ।
सदा से कालिया कानु होइ अनुभव ।।
चंडीदास कहे राइ भालो भावे आछी ।
मनेर मरम कथा कारे जनि पूछी ।।

"हाय ! सखी, मैं अपने चित्त को जितना बरजती हूँ, यह उतना ही मचलता है। इन पैरों को जितना ही दूसरी ओर चलाने का प्रयास करती हूँ, ये उतने ही अपने आप प्रियतम की ओर दौड़े जाते हैं। यह निगोड़ी रसना मुझसे ऐसी बिगड़ पड़ी है कि मैं जिसका नाम भी लेना नहीं चाहती, वह दिन भर रात भर उसी को रटती रहती है । इस निगोड़ी नासिका को जितना ही बन्द करती हूँ, उतना ही अधिक यह श्याम-गन्ध को सूँघने लगती है— कैसा गजब करती है यह ? मैं तो चाहती हूँ—कि उसकी कथा भी न सुनूँ, पर ये रसिया कान उनका प्रसंग चलते ही अपने आप उस रसभरी कथा को सुनने के लिए दौड़ पड़ते हैं। धिक्कार है मेरी इन सब इन्द्रियों को इनसे तो सदा उस विषधर कान्ह का ही अनुभव होता रहता है। हाय ! हाय !! सखियो ! मेरी इन्द्रियों की यह क्या विपरीत दशा हो गई—यह कैसा विलक्षण रोग लग गया ?

(रसिक जन अनुभव करें—श्यामसुन्दर में आसक्त इन्द्रियों को धिक्कारा जा रहा है । बड़े-बड़े साधक उस आसक्ति को पाने के लिए शत-शत प्रयत्न करते हैं और ये उस आसक्ति को इन्द्रियों का रोग मानकर छोड़ना चाहती हैं।)

इसी प्रसंग में कवि कहता है—हे राधे ! तुम कोई चिन्ता मत करो। तुम पूर्ण कुशल हो, किन्तु अपनी इस मर्म व्यथा को किसी से कहना सुनना नहां क्योंकि तुम्हारी यह वेदना किसी की भी समझ में आयेगी नहीं और लोग तुम्हें ही 'बाबरी' ठहराएँगे, परन्तु मैं सत्य कहता हूँ कि तुम ही स्वस्थ हो, व्याधि मुक्त हो—कोई चिन्ता मत करो।

रसिकवर श्री गोविन्ददास जी अपने एक पद में श्रीराधा के अभिसार के सम्बन्ध में प्रेम-रूपगुरु से शिक्षा लेना बता रहे हैं—

'कण्टक गाडि' कमलसम पदतले, मंजीर चीरहिं झांपि।
'गागरि वारि ढारि, करि पिछल, चलतहि आंगुलि चांपि॥
हरि अभिसारक लागि।
'दूतर पंथ गमन धनि साधये, मन्दिर यामिनी जागि'॥

—क्या ही विचित्र साधना है, अनुराग से मतवाले इस चित्त की कोई कल्पना भी कर सकता है क्या? वर्षा ऋतु की घोर अंधेरी निशा में वन में श्यामसुन्दर से मिलना है? मार्ग में कण्टक होंगे, वे पैर में गढ़ जायेंगे तो मिलने में विलम्ब हो जायगा! श्याम चले जायेंगे! इसलिये अपने भवन में रात्रि के समय आंगन में कांटे बिछा कर फूल के समान सुकोमल अपने चरणों को काँटों पर रखने का अभ्यास कर रही हैं। रात्रि में चलते समय नूपुर भी न बजने पावें—इसलिये चीर से उनको लपेट कर चरणों से चल-चल कर परीक्षा कर रहीं हैं, कि—कहीं कोई नूपुर का दाना बजता तो नहीं है? रात्रि में जल से पिच्छज (कीचड़ से भरे) मार्ग पर फिसलने का भी भय है, इसलिये आंगन में पानी डालकर पिच्छल (पैर रपटने योग्य) बना, उस पर अंगूठे के बल चलने का अभ्यास कर रही हैं। इस प्रकार दुस्तर पंथ पर चलने का अभ्यास घर पर ही किया जा रहा है?

एक और भावना की पराकाष्ठा देखिये, प्रियतम से मिलने के लिये भयावही रजनी में यात्रा करने के लिये तैयारी की जा रही है—

'करयुगे नयन मुन्दि चलु भामिनी, तिमिर भयानक आशे।
मणि कंकण पण, फणि मुख-बन्धन, शिखई भुजग गुरु पाशे॥"

"घोर अन्धकार में चलने का अभ्यास करते हुए कर-कमलों से दोनों नेत्रों को मूँदकर कह रही हैं- वन में सर्प भी तो होंगे, उनसे यदि कोई बाधा पहुँची तो श्यामसुन्दर को निराश होना पड़ेगा? अतएव भुजग-गुरु जो गारुडी (सर्प को वश में करने वाले) लोग हैं, उनको अपने कर का कंकण मूल्य में देकर उनसे सर्प-वशीकरण का मंत्र सीख रही हैं?

गुरुजन वचन वधिर सम मानइ, आन सुनइ कह आन।
परिजन वचने मुगधि सम हासइ, गोविन्द दास प्रमान॥

"जब चित्त की यह दशा है—तब कर्ण भी वधिर हैं। गुरुजनों की आज्ञा कर्णों तक पहुँचने ही नहीं पाती है। वे कुछ कहते हैं, तो ये कुछ सुनती हैं! वे कहते हैं—"तुझे क्या हो गया? पागल हो गयी है क्या?" तो अपना भोला सा वदन उठा, भोले से नयनों से निहार, एक भोली-भाली-सी हँसी हँस कर रह जाती हैं, गोविन्ददास कहते हैं "मैं इसका साक्षी हूँ।

प्रेम-गुरु की इस शिक्षा प्रणाली के अद्भुत चमत्कार का मैं साक्षी हूँ।

ऐसे शिक्षागुरु मोरमुकुट मुरलीधारी मदनमोहन श्रीवृन्दावनविहारी का सर्वोत्कर्ष गान करते हुए बिल्वमङ्गल उनके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हुए कह रहे हैं कि—इनके ये चरण, कल्पतरु के समान हैं, अर्थात् सर्व संकल्प-सिद्धि कारक हैं। अतएव मुझ रंक की दुर्लभ-प्रेमरत्न-प्राप्ति की आकांक्षा भी अवश्य पूर्ण करेंगे। कल्पवृक्ष के पल्लवों की भाँति अरुण सुकोमल चरणों की अँगुलियाँ ही पल्लव हैं, जिनके शिखर पर अर्थात् नखाग्र-भाग पर सेविका जयश्री स्वयंवर माला को धारण कराती है अर्थात् सेवा रसको प्राप्त होती है।

जयश्री का साधारण अर्थ जयरूपा लक्ष्मी अर्थात् समस्त शोभा है, जो भगवान् के पदनख की सेवा करती हुई विराजमान है और विशेष अर्थ में श्रीराधिका हैं। जैसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण सर्व भगवत् स्वरूपों के मूल अंशी हैं, वैसे ही स्वयं श्रीराधा भी सर्व लक्ष्मी-वृन्द की मूल अंशी हैं तथा उमा-रमा-रुक्मिणी, व्रजदेवी आदि सब उसकी अंशकला हैं।

एवम्भूता श्रीराधा ही श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में स्वयंवृत्ता हुई हैं, अर्थात् धर्म मर्यादा, लज्जा आदि परित्याग पूर्वक गाढानुराग वशतः स्वेच्छा से स्वयंवृत्ता हुई हैं।[सारंग रंगदा टीका] अथवा द्यूत-क्रीड़ा, जलकेलि आदि लीलाओं में स्वच्छन्द अग्रवर्तिनी हुई है [श्रीचैतन्यदास] श्रीकृष्ण चरणारविन्दों को स्वयं वरण करके तज्जन्य सुख, आनन्द रस को श्रीराधा प्राप्त कर रहीं हैं। ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो।

इस प्रकार से अपने गुरु और इष्टदेव का गुणगान एवं जय गान करके लीलाशुक विल्वमङ्गल वृन्दावन के पथ पर प्रस्थान कर रहे हैं। यह विल्वमङ्गल का प्रथम प्रलाप है। इस प्रथम श्लोक में मङ्गलाचरण है। मङ्गलाचरण इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्टनिवृत्ति के लिये किया जाता है। विल्वमङ्गल ने बुद्धिपूर्वक यह मङ्गलाचरण नहीं किया है, कारण कि वे तो प्रेम में उन्मत्त प्रायः हैं, पागलों जैसी दशा है भक्त के ये लक्षण उनमें उत्पन्न हैं—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति॥

भा० १४।२४

सुदूर दक्षिण प्रदेश से चलकर वृन्दावन-दर्शन की उत्कण्ठा में विक्षिप्त जैसी दशा में ही श्रीबिल्वमङ्गल ने कर्णामृत के श्लोकों का गायन किया है, ऐसी स्थिति में ज्ञान पूर्वक मङ्गलाचरण होना सम्भव नहीं है, तथापि प्रेम के सहज स्वभाव से ही उनके मुख से गुरु इष्ट की वन्दना प्रथम हो जाती है।

मूल श्लोक–शार्दूल विक्रीडितम् छन्दः—

अस्ति स्वस्तरुणी-करा्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं,
वस्तु प्रस्तुत-वेणुना।द-लहरीनिर्वाण-निर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्ध-नीवि-विलसद्गोपी-सहस्रावृतं,
हस्त-न्यस्त-नतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति ॥२॥

पद्यार्थ—**स्वर्ग सुमन से सुरबाला दल जिसे सजाता।**
गोपी मनहर वेणुनाद जिसको सरसाता॥
खुल खुल पड़ते नीवि-बंध के बन्धन में रत।
सहस सुभग व्रज सुन्दरियों से है जो आवृत॥
शरणागत नत के लिए, देता परमानन्द है।
अखिलोदार किशोर वह, नित्य वस्तु व्रजचन्द है॥

भावार्थ–सुर सुन्दरियों के हाथों के अग्र भाग से गिरे हुए पुष्पों से जो आच्छादित हैं, बजती हुई वंशी के नाद लहरियों के आनन्द में जो झूम रहे हैं, बारबार खुल पड़ने वाले नीवि-बंधनों को संभालने से अत्यन्त आकर्षक लगने वाली सहस्त्रों व्रजाङ्गनाओं ने जिन्हें चारों ओर से घेर रखा है, जो शरणागत के लिए अपवर्ग स्वरूप हैं तथा जो परम उदार हैं ऐसे किशोर आकृति वाले लीलाविहारी श्री कृष्ण ही इस असार संसार में एक सार वस्तु हैं।

रसिका-टीका—प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण का जयघोष करके अब इस दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण ही परम पुरुषार्थ शिरोमणि हैं इसका निरूपण करते हैं, अर्थात् ग्रन्थारम्भ में विषय-वस्तु का निर्देश करते हैं, विल्वमङ्गल श्रीकृष्ण की दर्शनोत्कण्ठा से प्रेम-विह्वल होकर मार्ग में अग्रसर हो रहे हैं, उनका अनुगमन करने वाले वैष्णवजन उनसे मानों प्रश्न करते हैं 'स्वामिन्! जिस वृन्दावन को आप और हम गमन कर रहे हैं वहाँ ऐसी कौन सी विलक्षण वस्तु है जो अन्यत्र नहीं है, और जिसके लिये आप इतने विरहातुर हो रहे हैं?'

इस प्रश्न की आशंका होने पर विल्वमङ्गल भावावेश में उत्तर देते हैं हे भ्राताओ! "वृन्दावनमें कौन-सी विलक्षण वस्तु है"—न कहकर मैं तो यों कहूँगा-कि वस्तु नाम तो एक उसी का है जो वृन्दावनमें है। उसके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं।

"बिना अच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यम्।" [भागवत]

जितने भी दृष्ट, श्रुत, भूत, वर्त्तमान भावी स्थावर जंगम, महान् और अणुभाव हैं, उन सबमें एक वही तो बस रहा है—इसीलिये ये सब वस्तु कहलाते हैं। इसी से ये वस्तु मात्र सत्य, शिव और सुन्दर बनी हुई हैं। ये सब जिसके बिना अवस्तु हैं वह वस्तु तो यही एक है, और ये सब वस्तु तो तापत्रयकारी हैं—वह वस्तु तापत्रयहारी है, शिव है, मङ्गलकारी है।

"वेद्यं वास्तवमत्रवस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।"

भाग० १-१-२

तो क्या 'स्वामिन्! आपका तात्पर्य वेदान्त वेद्यनिर्विशेष निराकार ब्रह्म से है?

"नहीं-नहीं, किशोराकृति—श्यामीभूत ब्रह्म से है। वह मूर्तिहीन नहीं मूर्तिमान है, परन्तु उसकी आकृति में 'अकृति' है। अर्थात् प्राकृत इन्द्रियाँ नहीं हैं।

न विद्यतेकृतिः करणं यत्र तदकृतिः नित्यानन्दविग्रहत्वात्।

—गोपालभट्ट गोस्वामी

उसके कर, चरण-मुख, उदर आदि सब आनन्द रस रूप ही हैं। वह एक ही—सत्य ज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्ति है [भाग० १०-१३-५४] अतएव वह क्षय-वृद्धि रहित, नित्य, एकरस, एक वय, एक स्वरूप है। तथा उसकी अवस्था बाल-वृद्ध नहीं, कुमार नहीं, यौवन नहीं—नित्य किशोर है, यौवन और किशोर की वयःसन्धि को प्राप्त प्रन्द्रह वर्ष का पूर्ण किशोर तरुण किशोर नवयुवा है।

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम्॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

बालकुमार पौगण्ड-धर्म रुचिलिये ललिततन।
धर्मी नित्यकिशोर कान्ह मोहन सब को मोहन॥

—नन्ददास

तरुण किशोर रसिक नँदनन्दन उठत कछुक मुख रेखें।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिन जीवन जन्म अलेखें॥

—कुम्भनदास

किशोराकृति तो सभी भगवत्स्वरूपों में विद्यमान है। आपकी-वस्तु में क्या कोई अधिक विशेषता है?

हां ! यह तो अखिलोदारं किशोराकृति है—

अखिलेष्ववतारेषूदारं तदवतारिमहत्

—श्रीचैतन्यदास

जो सकल अवतारों के मूल अवतारी सर्वोतम सर्वभजनीय परमाश्रय-भूत परतत्त्वस्वरूप हैं, वे ही वृन्दावन की परमाराध्य वस्तु हैं। अथवा—

अखिलेभ्यो ब्रह्मरुद्रादिभ्य उदारं महत्

—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि देवताओं से ही नहीं–अपने ही अन्य भगवत्स्वरूपों से भी जो अधिक उदार हैं । इसके प्रमाण हैं–श्रुति-ऋचाएँ, दण्डकारण्य के ऋषि मुनिगण, मिथलापुर की नारियाँ, अग्निपुत्र, गायत्री आदि, जिन्होंने ब्रज में गोपीभाव की प्राप्ति करके रास रसानन्द को प्राप्त किया, जिन याचकों की मनोकामना अन्य भगवत्स्वरूपों में पूर्ण नहीं हुई, वह वृन्दावन की किशोराकृति-वस्तु से ही पूर्ण हुई है। सच तो यह है कि निकृष्टतम स्थावर, जड-योनियों को "सर्वोत्कृष्ट पदार्थ–श्रीकृष्ण-प्रेम" तो ये श्रीवृन्दावनविहारी ही प्रदान करते हैं। स्वयं श्रीविल्वमङ्गल ने भी इसे अन्यत्र कहा है कि श्रीकृष्ण के अवतार तो अनेक हैं और सब मंगलकारी या अमंगलहारी हैं, परन्तु वृक्ष लता और वनस्पतियों तक को प्रेम लुटाने वाला श्रीकृष्ण के बिना और कौन हो सकता है:—

अवतारा: सन्त्वन्ये पङ्कजनाभस्य सर्वतोभद्रा: ।
कृष्णादन्य: को वा लताष्वपि प्रेमदो भवति ।।

अतएव श्रीकृष्ण ही अखिलोदार किशोराकृति हैं, अपने आराध्यदेव का सर्वोत्कर्ष गान करते-करते लीलाशुक के हृदय में परिकर सहित उनकी विशेष स्फूर्ति हो आती है और विल्वमङ्गल मानों तो साक्षात् दर्शन करने लगते हैं। इस प्रकार दर्शन करते हुए अपनी किशोराकृति वस्तु की विशेषता का 'प्रस्तुतवेणु' इत्यादि से परिचय देते हैं।

लीलाशुक देख रहे हैं कि वृन्दावन में यमुना तट पर वंशीवट के तले पीतपट पहिने, मोरमुकुट धरे, चरण पर चरण किये, ललित त्रिभङ्ग खड़े, किंचित्-कुञ्चित, कोमलाधर-पुट पर वंशी रक्खे हुये, अपनी आलोलित अँगुलियों से वंशी के सप्तरन्ध्रों को प्रसादित करते हुये, रास विलास के लिये प्रस्तुत रसराज श्रीकृष्ण अवस्थित हैं और वे प्रस्तुत [उत्कृष्ट रूप से प्रशंसित] वेणु में प्रस्तुत [रास प्रस्ताव के उचित] राग रागिनियों को प्रस्तुत कर [बजा कर] रास के निमित्त ब्रज-सुन्दरियों को आकर्षण करने के लिये प्रस्तुत हैं। आपने अपने हृदय के रस को ओष्ठाधर के रस से मिलाकर वंशी में मधुर नाद

को ध्वनित किया—'कलं जगौ वामदृशां मनोहरम्'।

पढ़ि कछु मन्त्र से, वसीकरन यन्त्र से,
निपुन विधि तन्त्र से, भरे तामें चपल।
बजत प्रीतम जु मुख, देत अतुलित जो सुख,
श्याम राखैं न रुख, सिखै दिये प्रेम दल॥

श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत [वादित] वेणुवादलहरी के निर्वाण [स्वर की इक्कीस मूर्छना] के द्वारा निर्वाण [वाणों को चलाकर] गोपियों के हृदय को व्याकुल कर दिया—तथा निर्वाण सुख में तन्मय भी कर दिया। तात्पर्य गोपियों का हृदय वंशी ध्वनि से व्याकुल भी हो गया और निर्व्याकुल भी। यह वंशी ध्वनि तापकारी है और तापहारी भी। विरुद्धधर्मी-विष और अमृत का एकत्र मिलन है। यह वंशी निनाद हृदय में श्री कृष्ण की स्फूर्ति प्रकट करके जहाँ अधिकाधिक सुख देता है—वहां यह उनसे मिलने के लिये व्याकुल भी कर देता है। वंशीध्वनि के कान में पड़ते ही–बस, फिर क्या था:-

"अहा अहा रट लगी, नाद में मति पगी,
चाह सुनिवे जगी, श्रवण चित नित नवल।
तरुणि चित कर्षिणी, रास रस वर्षिणी,
नेह रस सरसनी, छिद्र पुनि वहु अमल॥

उस वंशीध्वनि से ब्रजवनिताओं की प्रीति-सरिता उमग पड़ी और कुल-किनारे को तोड़फोड़ कर सागर सङ्गम के लिये दौड़ पड़ी। एक किनारा वेद के मर्यादित धर्म का, दूसरा लोक के लज्जा-धर्म का—दोनों टूट गये। मन की बाधा—जो धैर्य था, वह भी बह गया, और तन की बाधा – परिवार का विरोध, भी बह गया। वे उन्मुक्त अबाध गति से चल पड़ीं, "मानों पिंजरन ते छुटे घुटे नव प्रेम विहंगम।" (नंददास) प्रेम के पंछी पिंजरों में पड़े पड़े घुट रहे थे। वे अब उन्मुक्त नील-गगन में उड़े जा रहे हैं।

एक कार्य और भी वंशी ध्वनि ने किया—'स्रस्तस्रस्तनिबद्ध नीवि-विलसत्" गोपियों के तन के बसन के बन्धन भी टूट गये। यह एक अटल नियम है कि जहाँ श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता है वहाँ समस्त बन्धन टूट जाते हैं। ब्रह्माजी यही तो कह रहे हैं कि—'तावद्रागादयस्तेन' तभीतक ये राग-द्वेष चोर हैं, तभी तक गृह कारागार है, और तभी तक हाथ पैरों में मोह की हथकड़ी-बेड़ी हैं, जब तक हे श्रीकृष्ण! यह जीव आप का निज जन नहीं होता है" [भाग० १०। १४। ३६] जहाँ वह आप का जन हुआ, जहाँ उसके वसुदेवरूपी शुद्ध अन्तःकरण में श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ, तहाँ ये चोर सहायक बन जाते हैं, कारागार के ताले खुल जाते हैं,तथा हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ तड़ातड़ टूट जाती हैं।

ब्रजगोपियाँ भी तो श्रीकृष्ण की निज जन हो चुकी हैं। उनके मानस-कारागार में कृष्णग्रह का प्रवेश और आवेश हुआ है—"श्रीकृष्णग्रह-गृहीत मानसाः"। अतएव क्या था—लोक का ताला टूट गया, वेद का बन्धन खुल गया, लज्जा की हथकड़ियाँ छूट गयीं, मोह की बेड़ियाँ भी टूट गयीं, केवल मन के ही बन्धन नहीं टूटे, तन के बन्धन टूट गये, तन के बसन तक के भी बन्धन खुल गये। उनकी कटि की नीवी-डोर, कट-कट कर गिरने लगी ? वे बाँधती हैं तो, फिर टूट जाती है, फिर बाँधती हैं फिर टूट जाती हैं। कहाँ तक बाँधें, धीरज जो नहीं रहा। मन तो मनमोहन के समीप पहुँच चुका है। अतएव हाथ से थामे हुए ही दौड़ पड़ीं—

'सुनि सब चलीं व्रज बधू गीत धुनि को मारग गहि।
भवन भीत द्रुम कुञ्ज पुञ्ज कित हू अटकी नहिं॥
नाद अमृत को पंथ रंगीलो सूक्षम भारी।
तिहिं मग व्रज तिय चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी॥ —नंददास

× × ×

'नाद के पंथ में अचूक अटूट चलीं,
भूलीं ना इत उत सूधी हि पग धारी हैं।
अटकाये ना अटकीं पट खोलि घूंघट की,
फोरि माया मटुकी सु छिटकीं गोपनारी हैं॥
बाधा सब गईं चटकी, अटकीं जाय श्याम सँग,
हठकीं अति गटकीं, रस राससुधा-सारी हैं।
विष अरु रस कहा जानैं, कोई वंशी को जू,
जानैं 'प्रेमानन्द' एक प्यारी व्रजनारी हैं॥

गोपियाँ वंशीवट-तट पर पहुँच कर श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गयीं। एक तो मोहिनी वंशी ने ही उनके तन-मन-वसन की गाँठें सब शिथिल कर दी थीं, उस पर मदनमोहन की मादक-सौंदर्य-सुधा का पान करके रही-सही ग्रंथियाँ भी सब छिन्न भिन्न हो गईं। अतएव "स्रस्त-स्रस्तनिबद्धनीवि विलसद्"।

केवल उनकी वस्त्र ग्रंथियाँ ही टूट गयीं हों और वे उनको सम्हाले खड़ी हों- इतना ही नहीं, उनके चित्त की अनादि काल की मोहग्रंथियों के भी आज टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, और वे अपने को कृष्ण रसानन्दसागर में विलीन कर, तन्मय हो जाने से बलपूर्वक सम्हाले हुए खड़ी हैं। आज ही वे

तन-मन-वसन से, सर्वात्मभाव से—सर्वाङ्ग में निर्मल, उज्ज्वल होकर "विलसद्"विशेष शोभा को प्राप्त हो रही हैं। किं बहुना शृंगारराज का भी आज विशेष शृंगार करके उनकी शोभा अभिवृद्धि कर रहीं हैं—"**तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्**" [भाग०] अतएव विल्वमंगल कह रहे हैं–"**स्रस्तस्रस्त**"इत्यादि। यह देखो ! स्खलित नीविनिरोधकारिणी सहस्र-सहस्र गोपियों से समावृत वृन्दावन की विलक्षण परम वस्तु। इसका कहीं अन्यत्र दर्शन है क्या ?

इसके द्वारा द्वारिका के ऐश्वर्यमय पूर्ण श्रीकृष्ण व मथुरा के पूर्णतर श्रीकृष्णमूर्ति का निरसन करके वृन्दावन के माधुर्यमय पूर्णतम श्रीकृष्णमूर्ति का सर्वोत्कर्ष सूचित हुआ है। इसके सम्बन्ध में आगे तीसरे और अट्ठाईसवें श्लोक में विस्तृत विवेचन किया गया है। अस्तु—

"**हस्तन्यस्तनतापवर्गम्**" गोपियों ने आकर एक बार तो श्रीवृन्दावन चन्द्र के प्रफुल्ल मुखचन्द्र की ओर-देखा—फिर श्रीपादपद्मों को प्रणाम करके शिर झुका कर खड़ी हो गई, स्त्री–सुलभ लज्जा ने आ दबाया, चपला-तरला अब शान्त मूक हो गई। मुख में शब्द भी नहीं रहा।

परन्तु मन तो प्रार्थना कर रहा है— "कि हे— प्राणनाथ ! आपकी वंशी दूती के मुख से आपकी आज्ञा को सुनते ही हम जैसी की तैसी दौड़ी आई हैं ? अब हम को अङ्गीकार करके अपने चरणों में स्थान दो ? हमने अपना सर्वस्व त्याग कर---अब आप ही को सर्वस्व रूप से वरण कर लिया है। प्रसन्न होकर हमको आश्रय दो। इस समय हमारी दशा ठीक उस व्यक्ति की भाँति है जो एक पारावार-जलधारा में बहते-बहते मधुर आवाज को सुन पाता है, मानों कोई उसका नाम ले-लेकर यह कह रहा है कि—"डरो मत, चिन्ता मत करो। मैं नौका लेकर आ रहा हूँ। तुम एक बार साहस करके जैसे--बने तैसे मेरे पास तक आओ तो सही, बस फिर तुम्हारा उद्धार है।" इस पुकार को सुनते हुये उसके अंग-अंग में विद्युत की भाँति नवीन शक्ति दौड़ जाती है, और वह अभङ्ग-उमङ्ग तथा अदम्य पराक्रम के साथ लहरों को चीरता-फाड़ता हुआ नौका के समीप नवीन जीवन की आशा से आ पहुँचता है। आकर वह दोनों हाथ ऊपर उठा नौका के किनारे के काठ को पकड़ कर लटक जाता है। हाथ-पाँव विवश हो गये हैं। दम-वेदम हो गया है। ऊपर चढ़ नहीं सकता, मुंह खोल नहीं सकता। अब तो माँझी की कृपा पर ही जीवन निर्भर है। उसकी ही एक मात्र "हाँ—ना" पर उसके भाग्य का निर्णय है। इस समय जो उसकी त्रिशंकु की-सी अवस्था है—नौका को पकड़ने और नौका पर बिठा लिये जाने के

अन्तर की-जो घड़ी-आध घड़ी का काल है—वह वास्तव में काल के समान ही असह्य, और कल्प के समान दीर्घ होता है ।

"बस प्राणनाथ ! ठीक यही दशा हमारी भी हो रही है ? हम आपके "**पदपल्लवप्लव**" को पकड़ कर भव-जल में लटकी पड़ी हैं । आपकी पद नौका के समाश्रय से तो भवसागर गोखुर के समान हो जाता है और निरापद परमपद की प्राप्ति हो जाती है ["**समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवम्** "—भाग० १०.१४.५८] हमें भी इस बात का सम्पूर्ण विश्वास है कि आप हमारी रक्षा-करेंगे—हमारा उद्धार करेंगे, उद्धार के लिए तो बुलाया ही है [**रक्षिष्यसीति-विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा**] फिर विलम्ब क्यों ? प्रसीद देव !—प्रसन्न होओ" ।

अन्तर्यामी भगवान् भी मन ही मन मानो कहने लगे—" अरी गोपियो ! मैं तो तुम को आज से एक वर्ष पूर्व ही ग्रहण कर चुका हूँ । याद करो—मैंने तुम्हारी कात्यायिनी पूजा से प्रसन्न होकर तुमको वचन दिया था कि आगामी शरद की रात्रियों में मेरे साथ तुम्हारा विहार होगा "**मयेमारंस्य-थक्षपाः** " [१०-२२-२७] अतएव तुम्हारा उद्धार तो हो ही चुका है, केवल विहार अवशेष है, सो सब सम्पन्न हुआ ही समझो । तुम्हारे वस्त्रों को हरण करके मैं तो,तुम को देह से मुक्त,धर्मसे मुक्त तथा मुक्ति से भी मुक्त कर चुका हूँ–इतना ही नहीं, पुनः वस्त्र प्रदान करके मैं तुम्हारे हाथों में रस भी समर्पण कर चुका हूँ—"**हस्तेन्यस्त नतापवर्गम्** " । मुक्ति कहो या प्रेम कहो वह अपवर्ग तो मैं तुम्हारे हस्तों में न्यस्त कर ही चुका हूँ, अब तो मेरे पास देने को कुछ भी नहीं रहा है, अब तो मुझे तुम से ही कुछ लेना है । उसके लिए तुम जितनी व्याकुल हो, मैं भी उससे कम नहीं हूँ तथापि प्रीति की जो रीति है, रस-निर्यास की जो परिपाटी है, उसके अनुसार चलने में ही अन्त में परिपूर्ण रस की प्राप्ति होती है । अतएव किंचिद् धीरज तो धरो ?"

"अपवर्ग" का रूढि अर्थ है 'मोक्ष' ! तथापि भागवत के पञ्चम स्कन्ध के गद्य "**यथावर्ण विधानमपवर्गश्च०**, [५-१९-१९] में अपवर्ग का अर्थ प्रेमभक्ति ही किया गया है । चाहे अर्थ कोई सा भी करें, पर यह सत्य है कि भगवान् अपने प्रणत जनों को मोक्ष अथवा प्रेम भावानुसार प्रदान करते हैं । भगवान् तो क्या, भगवान् के भक्त भी मोक्ष और प्रेम को दे सकते हैं ।"

"**नतानां भक्तानां हस्ते न्यस्तोऽपितोऽपवर्गो येन ।**
मद्भक्ता अपि मोक्षं दातुं समर्था इति भावः ।।"

— गोपालभट्ट गोस्वामी

नारदजी तो यही कहते हैं कि भगवान की अथवा भक्त की कृपा से ही प्रेम भक्ति प्राप्त होती है—

"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगत्कृपालेशाद्वा ।"

—ना० भ० सूत्र

परन्तु यहाँ प्रकरण मुक्तिदान का ही है। यह तो रास प्रारम्भ का प्रसङ्ग है, जो श्लोक के प्रथम तीन चरणों से स्पष्ट है—अतएव 'अपवर्ग' से वही मोक्ष ग्रहण करना समुचित है जो प्रसङ्गानुकूल सुसङ्गत तथा सरस हो। वह कौन सा मोक्ष है? इसका उत्तर भगवान के ही शब्दों में सुनिये—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजः ।
अहं त्वासर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

—गीता

अर्जुन ने अभी सर्व धर्मों का परित्याग नहीं किया है, इसलिए "मुक्त कर दूँगा" कह कर प्रतिज्ञा ही की, परन्तु गोपियां तो सर्व धर्मों का त्याग कर चुकी हैं, इसलिए "मोक्ष दे चुका"–"न्यस्तोऽपवर्गम्"–कह कर प्रतिज्ञा पूरी कर दिखाई। भगवान गोपियों को तो—

१— गुरुजनों के भय तथा लज्जा आदि से मुक्त कर चुके हैं, इसी से गोपों को गोपियां अपने-अपने गृह में दिखाई देती हैं।

२— लोकापवाद से भी मुक्त कर चुके हैं, तभी तो ब्रह्मा, उद्धव आदि उनकी प्रशंसा करते हैं— और नारद जी तो प्रेम-प्रसङ्ग में प्रमाण भी गोपियों का ही देते हैं। "**यथाव्रजगोपिकानाम्।**" [ना० सूत्र]

३— वेदधर्ममर्यादा—उल्लङ्घनके पाप से भी मुक्तकर चुके हैं, अन्यथा वेदमय प्रभु उनके ऋणियां कैसे बनते?

अतएव श्यामसुन्दर 'अखिलोदार' हैं— गोपियों को सर्व पापों से मुक्त करके अभीष्ट रासविलास प्रदान करनेवाले महान् उदार शिरोमणिहैं।

एक और दर्शन कीजिये—"स्वस्तरुणिकराग्र·····" इत्यादि में स्वर्गीय देवाङ्गनाओं के कराग्र से विगलित कल्प वृक्ष के प्रसून द्वारा श्रीकृष्ण समाच्छादित हैं। स्वर्लोक से तात्पर्य इन्द्र के स्वर्गलोक से नहीं है। वरञ्च स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यलोक, देवीलोक, शिवलोक, बैकुण्ठ प्रभृति यावत् ऊर्ध्व-लोकों से है। '**भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमहितो वभ्राम वंशीध्वनिः**, (विदग्ध-माधव)

श्रीवृन्दावनबिहारी की मधुरातिमधुर प्रेमरस-वर्द्धिनी-आत्माकर्षिणी-वेणुध्वनि की रसमय लहरियों ने समस्त देवलोकों की देवाङ्गनाओं के कर्ण-

कुहरों में प्रवेश किया तो व्रज गोपियों - की भांति उनके भी तन-मन तथा इन्द्रियां शिथिल हो गईं। कोई तो अपने पतियों के अङ्क में ही मूर्छित हो गईं–उनके वस्त्र शिथिल हो गये, वेणीं विथुर गईं, और उनमें से प्रसून बरसने लगे। कोई एक देव–बालायें उपवन में कुसुमचयन कर रहीं थीं कि– वंशी ध्वनि ने श्रवण में प्रवेश किया और आनन्दके उद्रेक से शरीर स्तम्भित हो गया , कराञ्जलि खुल गईं, और पुष्प विगलित होकर प्रभु के ऊपर आ पड़े, भावग्राही भगवानने अनिच्छा से अर्पित पुष्पों को भी स्वीकार करलिया देवबालायें भी पुष्प-परम्परा से प्राणनाथ श्रीकृष्ण के कमनीय श्रीअङ्ग का रमणीय संस्पर्श प्राप्त कर परमानिर्वृत्ति को प्राप्त हुईं। गोपीजनवल्लभ भी देवाङ्गनाओं की कल्प-पुष्पाञ्जलियों से समादृत और समावृत होकर गोपी-मण्डल में परम शोभा को प्राप्त हुए।

इस श्लोक में विल्वमङ्गल सूत्र रूप से अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण की विशेषताओं का प्रतिपादन कर रहे हैं—

१— प्रथम चरण में— उनकी त्रिभुवन मोहिनी शोभा माधुरी को प्रकट किया है इसे वे स्वयं आगे अनेक प्रकार से कहेंगे।

२— दूसरे चरण में—उनकी वेणुमाधुरी का वर्णन किया गया है,– इसका भी वर्णन वे आगे अनेक प्रकार से करेंगे।

३— तीसरे चरण में—उनकी लीलामाधुरी अथवा गोपी परिकर सहित पूर्ण रास-विलास का ध्यान बताया है।

४— चौथे चरण में— उनके गुण और रूप की सूचना देते हुए कहा है कि वे परम उदार शिरोमणि हैं तथा नित्य नवीन किशोर हैं।

यह परम-उदार शिरोमणि तथा नित्यकिशोर ही वृन्दावन की एक मात्र वस्तु है— जो स्वर्ग की देवाङ्गनाओं की पुष्पाञ्जलि से आप्लुत है, और गोपीमनोहारी वेणुनादलहरी से जनित परमानन्द के आवेश में विवश है, तन्मय है। एवं चतुर्दिग में उपस्थित **'स्खलितनीविनिरोधकारिणी'** शोभा से प्राप्त सहस्र-सहस्र व्रजसुन्दरियों के द्वारा समावृत है, तथा जो प्रणतजनों के प्रति अपवर्ग का दान करता है, समस्त अवतारों का बीजरूप है, सर्वापेक्षा-उदार शिरोमणि हैं, सर्वभजनीय सद्गुण गण विभूषित है, सर्वाश्रयभूत है।

प्रथम श्लोक में मङ्गलाचरण है, इस श्लोक में वस्तु निर्देश है। अर्थात् ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय है। वस्तु के साथ ही अपना परिचय भी प्रदान किया है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वृन्दावन का रास-विलासी श्रीकृष्ण है। इसको स्पष्ट करने के लिए इस श्लोक में तथा आगे के

श्लोक में उनके स्वरूप और लीला का विशेष - परिचय वर्णित है। गोपी-मण्डल समावृत रास-लीला के लिए प्रस्तुत वंशीवादनकारी श्रीकृष्ण को ही अपना उपास्य इष्टदेव घोषित करके विल्वमङ्गल अपनी उपासना के भाव को अर्थात मधुर रति के द्वारा श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध की भी सूचना कर रहे हैं और आगे बाईसवें श्लोक में तो इस सम्बन्ध पर आप शपथ भी ग्रहण करेंगे। यह मधुर सम्बन्ध है, गोपी भावानुगत उपासना का ही विकसित उज्ज्वल रूप है।

यह "कृष्णकर्णामृत" ग्रन्थ एक प्रचार का काव्य - कोष है। परस्पर असम्बद्ध पद्यों के एकत्र संग्रह का नाम काव्यकोष है। इस ग्रन्थ के सभी श्लोक प्रेमोन्माद के प्रलाप होने के कारण असम्बद्ध ही हैं। तथापि प्रसिद्ध बङ्गला ग्रन्थ "चैतन्यचरितामृत" के लेखक श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने इस ग्रन्थ के ऊपर जो 'सारंगरंगदा' टीका लिखी है, उसमें इन श्लोकों का अर्थ तथा इनकी संगति अपने गौड़ीय वैष्णवों की रागानुगा भजन-पद्धति के अनुसार ही श्रीराधाकृष्ण के लीलाविलास के द्वारा संयोजित की है।

श्रीकृष्णदास कविराज का कथन है कि ये श्लोक-समूह प्रेमोन्माद के प्रलाप होने पर भी इनमें कोई रस-विरुद्ध, भाव-विरुद्ध तथा सिद्धान्त-विरुद्ध प्रसंग नहीं है। कारण कि प्रेम वस्तु स्वयं ही प्रकाशशील चिन्मय है। अत-एव निर्भ्रान्त है, वायु-विकृत उन्माद में ही सर्वथा भ्रान्ति तथा निरर्थक प्रलाप होते हैं, परन्तु भगवत्प्रेमोन्माद की विशेषता ही यह है कि प्रेमोन्मत्त जन के मुख से स्वभावतः विशुद्ध-भाव तथा रस की कथा निर्झर की भांति निर्गत हुआ करती है। सत्त्वगुण को प्रकाशमय, ज्ञानमय कहा गया है, फिर चिद्रूपा भक्ति को तो भगवान् स्वयं श्रीमुख से निर्गुण [प्राकृत गुण रहित] बता रहे हैं, वहां भ्रममय तमोमय अज्ञान कैसे सम्भव है ? "**मन्नि-ष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**" [भाग० ११-२५-२४] मेरी निष्ठा निर्गुणी [अलौकिकी] है। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में नारदजी भक्तिदेवी से कह रहे हैं कि भगवान् ने सच्चिदानन्दमयी कृष्णप्रिया रमणी मूर्त्तिके रूप में तुम्हारी रचना की है—

"इति निश्चित्य चिद्रूपा सद्रूपा त्वां ससर्जह।
परमानन्द चिन्मूर्त्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम्॥"

ये श्लोक प्रेमोन्माद के प्रलाप हैं। प्रेम, उन्माद, और प्रलाप से तात्पर्य क्या है ? इसका किंचित् अनुशीलन रसशास्त्र की दृष्टि से प्रयोजनीय है, अन्यथा ग्रन्थ का आस्वादन न होकर केवल भ्रमोत्पादन होना ही सम्भव है।

प्रेम वस्तु क्या है ?

स्वरूप लक्षण—

"भावः स एव सान्द्रात्मावुधैः प्रेमानिगद्यते ।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

भाव ही प्रगाढ होने पर प्रेम कहलाता है । भाव क्या है ?—

"शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्य्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भावउच्यते ।।"

—भक्तिरसामृतसिन्धु

यह स्वरूप से शुद्धसत्त्व विशेषात्मक है । प्रेम सूर्य्य का प्रथम-किरण है, तथा स्वरूप कार्य में भगवत् विषयक-अभिलाषाओं के द्वारा चित्त को कोमल बनाने वाला है ।—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
सात्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ।।

—भक्तिरसामृतसिन्धु

प्रेम की प्रथम अवस्था का नाम भाव है। इसमें स्वल्प-मात्रा में अश्रु, पुलक, कम्पादि सात्विक विकार प्रकट होते हैं ।

तात्पर्य यह है— "शुद्धतत्वविशेष" ही प्रेम का स्वरूपलक्षण है तथा "सात्विकविकार" तटस्थ लक्षण [कार्य] है ।

"शुद्धतत्वविशेष" क्या है ? प्रकृति में दो गुणों का त्रैतीकरण है । अर्थात् सत्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों के अंश हैं, शुद्ध तत्व कोई भी नहीं है । इनमें प्रत्येक में आधा अंश अपना है और आधे में समान भाग से अन्य दो गुण हैं अतएव जिसे हम सत्त्वगुण कहते हैं, उसमें आधा अंश सत्व है, तथा रजः और तमः का चतुर्थ-चतुर्थ अंश है । अर्थात् $\frac{1}{2}$ सत्त्व, $\frac{1}{4}$ रज, $\frac{1}{4}$ तम इस प्रकार सत्त्वगुण है परन्तु शुद्ध सत्व में रजः, तमः, के अंश का लेश भी नहीं है । अतएव यह प्रकृति का मलिन सत्वगुण नहीं है, यह प्रकृति से अतीत एक विशेष वस्तु है इसी को वैष्णवशास्त्र निर्गुण कहते हैं । यह त्रैगुण्य रहित जाड्यांश-रहित है, स्वप्रकासिसंवित स्वरूप-शक्ति की वृत्ति है, भगवान् श्रीकृष्ण से वह अभिन्न है तथा भगवान का धारक अधिष्ठान-स्वरूप है ।

अर्थात् भगवान् जहाँ कहीं प्रगट होते हैं चाहे हृदय में प्रकट हों चाहे बाहर प्रकट हों–इसी विशुद्ध सत्व के आधार पर प्रकट होते हैं। इसीको

भगवान् ने गीता में **'प्रकृतिस्वामधिष्ठाय'** मैं अपनी विशुद्ध सत्व विशेष रूपा प्रकृति को अधिष्ठान-आधार बना कर सम्यक् रूप से प्रकाशित होता हूँ– **"संभवामि"** कहा है। इसी विशुद्ध सत्व को श्रीमद्भागवत में महादेवजी ने उमा के प्रति "वसुदेव" बताया है और कहा है कि इसी में भगवान् प्रकाशित होते हैं और इसी को मैं हृदय में ध्यान करता हूँ। यथा—

सत्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्वे च तस्मिन् भगवान वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते॥

—भा०४-३-२३

"सत्वावलम्बि परसत्व विशुद्ध सत्वं, गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि"

—ब्रह्म संहिता

इस शुद्ध सत्व के हृदय में उदय न होने तक भगवान् के रूप तथा लीला का चिन्तन, स्मरण, ध्यान, कीर्त्तन आदि सभी शास्त्र ज्ञान के आधार पर कल्पित हुआ करते हैं। परन्तु इसके उदय हो जाने पर हृदय में रूप, लीला, धाम, परिकर आदि की स्फूर्ति होती रहती है और तभी वास्तविक चिन्तन, स्मरण, कीर्त्तन आदि प्रारम्भ होता है।

भाव या प्रेम इसी शुद्ध सत्व विशेष से बना हुआ होता है, इसीलिये इसको **"शुद्ध सत्व विशेषात्मा"** कहा है। यह भाव विल्वमङ्गलजी को प्राप्त होगया है। इसीसे उनके हृदय में लीलाओं की स्फूर्ति नदी-प्रवाह की भाँति अखण्ड चल रही है। एक रूप, एक लीला जाती है तो दूसरा रूप, दूसरी लीला आती है। कोई कल्पना नहीं, कोई प्रयास नहीं। कल्पनातीत-अश्रुत, अदृष्ट वस्तुओं का क्षण-क्षण में अवतार होता रहता है। और इसी अवस्था में विल्वमङ्गल के मुख से निर्बाध भाव-रस पूर्ण प्रलाप निर्गत होता रहता है।

इसी भाव का नाम रति या प्रीति है, प्रेम नहीं, प्रेम तो अगली अवस्था का नाम है। पाठकगण ! इस भेद पर सर्वदा लक्ष्य रखकर ही इस प्रेम परिचय को पढ़ें। दोनों को एक न करलें। यद्यपि भाव ही प्रगाढ़ होकर प्रेम बन जाता है, अतएव वस्तुगत भेद तो नहीं है, तथापि रसगत भेद है ही। भाव-रति या प्रीति कच्चा आम है। प्रेम पका आम है। साधक जीव, कोटि-कोटि जन्मों में कदाचित् भाव को प्राप्त होजाय तो होजाय, पर यह प्रेम, प्रेम तो भगवान् के दास तथा पार्षदों में ही एक सहज स्वभाव गत है। दिव्य धाम में यह विभिन्न रूपों में विराजमान है, सखाओं में प्रेम का रूपान्तर प्रणय है, बिना गुठली का आम है। नन्द-यशोदा में प्रणय का रूपान्तर स्नेह

है गुठली तथा छिलके का आम है। द्वारिका की पटरानियों में एक अनुराग पर्यन्त है, वह अमरस है, तथा व्रजगोपियों में जो महाभाव है वह मिश्री-युक्त अमरस है और अपने-अपने स्थान पर सभी एक से एक बढ़कर महानतम सुस्वादु हैं। तथापि रसगत-माधुर्य में तो तारतम्य है ही।

तटस्थलक्षण-सात्विक विचार

प्रेम का उपर्युक्त स्वरूप लक्षण तो स्वयं वेद्य है अर्थात् हृदय में भाव के उदय होने से क्या-क्या विचित्र लीलाएँ चलती रहती हैं–यह अन्य व्यक्ति नहीं जान सकता। परन्तु कुछ लक्षण तो ऐसे हैं कि जिनसे भाव प्राप्ति का अनुमान हो सकता है। भाव प्राप्त होने पर मन तथा तन दोनों की दशा में परिवर्तन हो जाता है। मन में दो गुण आ जाते हैं, कोमलता, तथा अत्यन्त उल्लास। हृदय सर्वावस्था में स्निग्ध, शीतल, कोमल, मृदुल बना हुआ प्रियतम के माधुर्य की स्फूर्ति में डूबा रहता है, प्रपंच का भान भी नहीं रहता, तथा कष्ट, क्लेश, दुःखआदि में भी हृदय का उल्लास-न्यून नहीं होता है। सर्वावस्था में परमानन्द रहता है। लाढ़-प्यार करने में जो आनन्द है, वही उसे रोने में भी मिलता है।

भाव के आगे प्रेम में यह कोमलता अधिक होती है, तथा दो गुण और भी आ जाते हैं, अत्यन्त ममता "वे मेरे, मेरे, मेरे ही हैं" यहाँ भाव तथा प्रीति-ध्वंस होने के लाख कारण होने पर भी प्रीति अखण्डित रहती है।

यहाँ मन की दशा भी स्वसंवेद्य है—इससे अपने को तो ज्ञान होजाता है कि यह भाव उदय हुआ–परन्तु औरों को कुछ भी पता नहीं होता है। हाँ ! तन के सात्विक विकारों से तो कुछ जाना जा सकता है—

सात्विक विकार आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य [रङ्ग-पलट] अश्रु तथा प्रलय [मूर्च्छा]। ये विकार, भाव के अतिरिक्त भय, शोक, विस्मय, क्रोध तथा हर्ष इन पाँच कारणों से भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु तब-वे केवल विकार ही विकार कहलाते हैं, वे प्राकृत रज, तम, गुणमय होते हैं। प्रेम का विकार ही सात्विक विकार कहलाता है और वह शुद्ध सत्वगुणमय होता है। शुद्ध सत्व क्या है, यह पहले बता चुके हैं।

सात्विक भाव की पाँच अवस्थाएं होती हैं। यथा—

१— धूमायित – धुआँ की भाँति। इसमें एकाध भाव का स्वल्प प्रकाश

होता है जो सहज में ही सम्बरण किया [छिपाया-दबाया] जा सकता है।

२—ज्वलित—अग्नि सुलग गई है। इसमें दो तीन भावों का प्रकाश होता है, एवं सम्बरण कष्टसाध्य है अर्थात् बड़े प्रयत्न से ही दबाया जा सकता है।

३—दीप्त—अग्नि जल रही है। इसमें तीन, चार, पाँच, भाव पर्यन्त प्रकट हो जाते हैं तथा सम्बरण अशक्य है अर्थात् किसी प्रकार भी दबाये नहीं जा सकते हैं।

४—उद्दीप्त—अग्नि धधक रही है। इसमें पाँच, छः, सात अथवा आठों भावों का प्रकाश होता है।

५—सुदीप्त-अग्नि का विकराल व्यापक रूप। महाभाव की अवस्था में उद्दीप्त ही पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सुदीप्त बन जाता है। इससे ब्रह्माण्ड भी क्षुब्ध हो उठता है, पशु पक्षी भी रोने लगते हैं।

सात्विक भाव जब दीप्त, उदीप्त अथवा सुदीप्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है–तो उसमें बाह्य ज्ञान अर्थात् अपनी देह और जगत् का ज्ञान नहीं रहता है, तथापि उसके अन्तर हृदय में सर्वदा अपने इष्टदेव की स्फूर्ति होती रहती है, और बाहर के रोने पर, मूर्च्छित हो जाने पर भी वह भीतर महा आनन्द में डूबा रहता है। (इसकी विस्तार पूर्वक आलोचना पाँचवें श्लोक के **"विषयविषामिष"** की व्याख्या में देखिये)इस अवस्था में वह कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी नाचने लगता है, कभी मौन हो जाता है, कभी प्रलाप वचन बोलता है, कभी मूर्च्छित हो जाता है। भागवत में **"एवं व्रतः स्वप्रियनाम कीर्त्या०"** [११-२-४०] **क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया०** [११-३-३२] **वाक्गद्गदाद्रवते यस्य चित्तं** [११-१४-२४] इत्यादि श्लोकों में इसी अवस्था का वर्णन है। चैतन्य चरितामृतकार भी यही कह रहे हैं—

"स्तम्भ कम्प प्रस्वेद, वैवर्ण्य अश्रु स्वरभेद, देह होइलो पुलके व्यापित।
हाँसे कांदे नाचे गाय, उठि इति उति धाय, क्षणे भूमे पडिया मूछित॥"

अन्यत्र भी कहा है:—

हरि रस पीवत ही छक्यो, झूमत गिरत अचेत।
उठत चलत रोवत हँसत, नाचत भूलि निकेत॥
धरत कहूं पग परत कहुँ, सुरत नहीं एक ठौर।
नारायण प्रीतम विना, दीखत नहिं कछु और॥

विल्वमङ्गल में भी भाव, दीप्त अवस्था को प्राप्त हो रहा है और वे प्रलाप-उच्चारण कर रहे हैं। [इस विषय पर आगे "उन्माद" दशा में भी लिखा जायगा।]

यह भाव दो प्रकार से उदय होता है [१] साधनद्वारा [२] कृपाद्वारा साधन का क्रम यह है – पहले श्रद्धा, फिर सत्संग से भजन क्रिया का ज्ञान, क्रिया साधन से अनर्थ निवृत्ति अर्थात् चित्तशुद्धि, तब निष्ठा दृढ़ होती है, उससे भोजन की भाँति भजन में भी स्वतः रुचि उत्पन्न हो जाती है, रुचि बढ़ते-बढ़ते आसक्ति हो जाती है—पहले मन लगाये नहीं लगता था, अब लाख छुटाये नहीं छूट सकता—इसका नाम आसक्ति है। आसक्ति ही बढ़कर भाव को प्राप्त करा देती है तब भाव परिपक्व होकर प्रेम बन जाता है—

"साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः।"

यह तो साधन के द्वारा नित्य सिद्ध भाव प्रकट हुआ। अर्थात् यह तो साधन के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर भाव का उदय होना हुआ। दूसरा-अशुद्ध चित्त में भी भगवान् या भक्त की कृपा से भाव उदय होकर -- वह स्वयं चित्त को अपने योग्य शुद्ध आधार बना लेता है। परन्तु ऐसा विरल होता है, विल्वमङ्गल इन्हीं विरल कृपापात्रों में से है।

"साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाऽभिजायते॥
आद्यस्तु प्रायकस्तत्र, द्वितीयो विरलोदयः॥"

भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व०३.४.५

इसी भाव का नाम रति या प्रीति है। परन्तु यह भी ध्यान में रहे कि यह रति प्रेम नहीं है,प्रेमरूपसूर्य का अरुणोदय है, प्रेम कल्पवृक्ष का अंकुर है। **"जातभावांकुरेजने"** अर्थात् भाव--अंकुर के उदय होने पर भक्त दो श्रेणी में विभक्त हो जाते हैं, (१) ज्ञानी भक्त, जो भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा और उनके ऐश्वर्य की ओर झुके होते हैं, तथा (२) प्रेमी भक्त, जो भगवान् के माधुर्य की ओर खिंच जाते हैं। प्रथम कोटि में ब्रह्मा,शिव सनकादिक, नारद, लक्ष्मी, अर्जुन, उद्धव, भीष्म, हनुमान आदि सब का समावेश है तथा द्वितीय कोटि में समस्त गोपी, ग्वाल, बाबा, मैया आदि सभी का समावेश है। इस व्रज के प्रेम का नाम रागात्मिका है, अर्थात् राग ही व्रज के प्रेम की आत्मा है, प्राण है, जिसका सार यह है कि राग में दो प्रधान गुण हैं १-- स्नेह का उत्कर्ष अर्थात् चित्त-श्रवण, दर्शन,कीर्तन, स्मरण के बिना भी हर समय बस

सहज स्वभाव से पिघला ही रहे, बहता ही रहे। तथा २—प्रणय का उत्कर्ष अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे कोटि-कोटि प्राण प्रिय हैं, इस परम-चरम-ममता के कारण उनके लिये पर्वत के समान दुःख भी फूल समान लगता रहे। ये दो राग के लक्षण हैं।

यह राग ब्रजवासियों में साधन बिना स्वतः सिद्ध है, अतएव उनके श्रीकृष्ण प्रेम का नाम है "रागात्मिका" भक्ति। इसके अनुगत भक्ति का नाम भी रागानुगाभक्ति है, अर्थात् "इन ब्रजवासियों का जैसा विशुद्ध प्रेम मुझको भी प्राप्त हो, बस-यही परम पुरुषार्थ है" यह लोभ जिसके हृदय में जागृत हो जाता है, उसके लिये रसिकाचार्य महानुभावों ने विधिमार्ग से पृथक् रागमार्ग की उपासना निर्धारित की है। इसी का नाम "रागानुगाभक्ति" है। यह राग श्रीकृष्ण की अथवा उनके परिकरों की कृपा से प्राप्त होता है 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' के **'कृष्णस्तद्भक्त कारुण्य···'** इत्यादि में इसी मार्ग को पुष्टि मार्ग भी कहा है। इस मार्ग के अधिकार के सम्बन्ध में भी **'रागात्मिकैकनिष्ठा ये 'नात्र शास्त्रं न युक्ति च'** इत्यादि वचन हैं। "रागात्मिका निष्ठावान् ब्रजवासी जनों के भाव की प्राप्ति के लिये लुब्ध व्यक्ति ही इस रागमार्ग का अधिकारी है। इस लोभ के उत्पन्न होने में शास्त्र, ज्ञान, युक्ति, विचार आदि कारण नहीं हैं, केवल ब्रजवासियों के प्रेम की कथा श्रवण करते-करते ही इस लोभ की उत्पत्ति हो जाती है! परन्तु लोभ उत्पन्न होते ही भाव की सिद्धि नहीं होती। यह तो साधन के क्रम से अथवा हठात् कृपा से ही उदय होता है, लोभोत्पन्न होने पर साधन छूटते नहीं,—बढ़ते हैं, किन्तु वे तभी तक बढ़ेंगे—जबतक भाव उदय होकर उन्मत्त नहीं बना देता। उन्मत्तावस्था में तो साधन-नियम स्वयं ही उसको छोड़ देंगे—

'एक नेम या प्रेम को, सबै नेम छुट जाँय।
पै जो छोड़ै जानकै, तहाँ प्रेम कछु नाँय॥' ध्रुवदास

विल्वमङ्गल को यह लोभ कैसे प्राप्त हुआ? यह आगे कहा जायगा।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितम् छन्दः —

चातुर्यैक-निदान-सीम-चपलापाङ्ग-च्छटा-मन्थरं,
लावण्यामृत-वीचि-लोलित-दृशं लक्ष्मी-कटाक्षादृतम्।
कालिन्दी-पुलिनाङ्गण-प्रणयिनं कामावतारांकुरं,
बालं नीलममीवयं मधुरिम-स्वाराज्यमाराध्नुमः॥३॥

पद्यार्थ—**चतुर शिरोमणि गोप कुमारी के रस रंजित-**
रम्य दृगञ्चल से मन्थर, श्री दृष्टि समाहृत ।।
कल कालिन्दी कूल मध्य नव कुञ्जबिहारी ।
मदन जन्म तरु, परम माधुरी के अधिकारी ।।
लावण्य-सुधा निधि-वीचिसम जिनके लोचन लोल हैं ।
समाराध्य मेरे वही नील किशोर अमोल हैं ।।३।।

भावार्थ—चतुराई की सीमा एवं चपल गोपियों की दृग्भङ्गी से जो (श्रीकृष्ण) सुध-बुध खोकर स्तंभित रह जाते हैं, जिनके चपल और चाह भरे लोचन युगल लावण्यामृत की तरङ्गों के कारण विशेष आकर्षक दिखाई दे रहे हैं; महालक्ष्मी-स्वरूपा श्रीराधा के प्रेमपूर्ण वंक-विलोकनों-द्वारा जिनका गौरव अपरिमित हो गया है; यमुना का पुलिन प्राङ्गण [बालुकामयी तट भूमि] एकान्त रास-विलास का स्थान होने के कारण जिन्हें अतिशय प्रिय है; काम अथवा प्रद्युम्न की उत्पति के जो कारण हैं और माधुर्य पर जिनका एकछत्र राज्य है—ऐसे उन नील कान्ति वाले बाल कृष्ण की हम आराधना करते हैं ।।३।।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में वृन्दावन की परम वस्तु का निर्देश किया गया है, उसका यहाँ विशेष निरूपण करते हुए कह रहे हैं— कि हम माधुर्य के स्वराज्य-सिंहासन पर आरूढ नीलवर्ण-बालक की आराधना करते हैं ।

यहाँ पर श्रीकृष्ण को "बालं" बालक रूप में सम्बोधित किया गया है, परन्तु बालक से तात्पर्य नवकिशोर से ही है । शास्त्रों में सोलह वर्ष तक बाल्यावस्था ही मानी गई है । यह क्रीड़ा के स्वभाव का द्योतक है अर्थात् बालक के समान इनको केवल क्रीडा-कौतुक-केलि ही प्रिय है । वह 'बाल-केलि" ही इस ग्रन्थ में वर्णित है । श्रीकृष्ण का यह रास भी "बाल-केलि" ही तो है ।

और यह बालक कैसा है–नीलवर्ण का है । 'फुल्लनीलेन्दीवत्'--इन्द्र नीलमणिवत् नील है । परन्तु इस उपमा में कोई भाव का भोग नहीं है । अतएव 'नीलम्' से शृङ्गार-रस मूर्तिमान् श्यामसुन्दर का ग्रहण ही स्वारस्य है । विशेषतः 'बालं' का किशोर-वयस के साथ ही सम्बन्ध है ।

'गोपालचम्पू' में एक कथा इस "नीलं" बाल पर ही लिखी है । श्री कृष्ण के जन्म पर गोप-गोपियों के कुछ यूथ नंदभवन में जा रहे हैं, और कुछ वहाँ से आ रहे हैं । जाने वालों का दल आने वालों से प्रश्न करता है--

"कहो तो ! कैसा देखा लाला ?" उत्तर मिला---कैसा कहें ? हमारी वाणी में शक्ति नहीं है, स्वयं तो जा ही रहे हो—देख लेना। सामने आते हुए दूसरे दल से भी वही प्रश्न किया---तो वे कुछ उत्तर ही नहीं दे सके, जिह्वा लटपटा गई, कण्ठ गद्गद हो गया, और डगमगाते हुए वे आगे चले गये। तीसरे दल से पूछा---तो उन्होंने सुना तक भी नहीं। वे तो सागर में डुबकी लगाते हुये बहे जा रहे थे। यहाँ सुने कौन ? और बोले कौन ? यह है 'नीलं-बालम्' यह है वह श्याम लता जो चित्त पर चढ़ी ही रहती है। यह जिसके नेत्रों पर चढ़ जाती है उसे फिर सब श्याम ही श्याम दिखाई देता है।

जन्मोत्सव पर यशोदानन्दन श्रीकृष्ण के दर्शन को आईं व्रजगोपियाँ यह निश्चय नहीं कर पाईं कि---यशोदा के पालने में क्या वस्तु है ? क्या यह नव विकसित नीलकमल की माला है ? अथवा यह इन्द्र नीलमणि का विशाल रूप है ? संभव है आकृति में बड़ी वैदूर्यमणि हो ? निश्चय ही हम इस अतुलनीय रत्न की सत्यता को पहचानने में असमर्थ हैं ? क्योंकि देखने में तो यह बालक का शरीर है, किन्तु इसने अपनी अनन्त-सौन्दर्यमयी नीलिमा-आभा से इन्द्रियों के विकास को अवरुद्ध कर हमारे नेत्रों को अपने में ही निश्चल कर लिया है—

नव्येन्दीवरमाल्यमस्ति किमिदं किं शक्रनीलं महत्,
किं वैदूर्यमहो तदेतदतुलं ज्ञातुं न यच्छक्यते।
पश्यामः किल बालकस्य तु तनुं सर्वेन्द्रियाणां कृतिं,
रुन्धाना खलु या तनोति नयनद्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वताम् ॥ —गोपालचम्पू

एक गोपी दूसरी से कहती है कि "हे सुन्दरि ! मैं तुम्हारे शील स्वभाव से वशीभूत होकर तुम्हारे हित की एक बात कहती हूँ कि—'तुम यमुना पर मत जाना, यदि जाना ही पड़े तो कदम्ब-वन की ओर मत जाना, क्योंकि वहाँ कोई एक ऐसी अद्भुत से भी अद्भुत निर्मल से भी निर्मल, उज्ज्वल से भी उज्ज्वल अन्धकार राशि है जो तनिक भी नेत्र के केवल एक ही कोने में लग गयी तो हे कमलनयनी ! फिर तुझे अपने पति का घर नहीं सूझेगा !"—

सौजन्येनवशीकृतावयमतस्त्वां किञ्चिदाचक्ष्महे,
कालिन्दीं यदि यासि सुन्दरि पुनर्मागाः कदम्बाटवीम्।
कश्चित्तत्र नितान्तनिर्मलतमस्तोमोऽस्ति यस्मिन्मनाग्,
लग्ने लोचनसोम्निनोत्पलदृशः पश्यन्ति पत्युर्गृहम् ॥

—गोविन्द भट्ट

अहा !! ऐसा यह "नीलं" है। इस उज्ज्वल अन्धकार के सम्बन्ध में आगे पच्चीसवें श्लोक में "श्रीकृष्णचन्द्र"--काले--चाँद की व्याख्या पढ़ेंगे फिर वह "नीलं बालम्" ही तो नहीं है,---साथ ही "चातुर्यैकनिदान" भी है। इस पद के तीन अर्थ दृष्टव्य हैं---

१—वह बालक गोपियों को मन्थर अर्थात् स्तम्भित करने वाला है, प्रेम में विवश बना देने वाला है, वह अपनी "अपांगच्छटाया"---तिरछी चितवन से ही विवश करता है---जोकि अत्यन्त ही चंचल है--

"कानन लौं अनियारे चंचल, रंगभरे अति रीझ रिझौने ।
'नागरिया' जिनके चितवन विच, चेटक नाटक ठावक टौने ।।

वह चितवन केवल चपल ही नहीं है, अपितु चतुरता की खान है, सीमा है—अर्थात् असीम चतुर है। यह नीला बालक मुंह खोले विना ही नैंनोंकी सैनों से ही कार्यसिद्धि कर लेता है। इसकी "दृष्टिरेवसृष्टि", अर्थात् दृष्टि ही सृष्टि है, दृष्टि में ही सृष्टि है, दृष्टि से सृष्टि है,तथा जैसी दृष्टि वैसी ही सृष्टि है। "स ऐक्षत् [श्रुति] से संसार की सृष्टि हो गई, माधुर्य का खेल प्रारम्भ हो गया। और इधर—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष रन्तुंमनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

—भागवत १०-२९-१

यहाँ रसराजमहारास की सृष्टि हो गई,माधुर्यखेल आरम्भ हो गया। अतएव इसके नैंन "चातुर्यैकनिदानसीम" चतुर चूड़ामणि सम्राट् हैं। अथवा यह बालक ही चतुर चूड़ामणि है तथा तिरछी चितवन से गोपियों को विवश करने वाला है। रासलीला में भी तो श्रीकृष्ण की भेरी बज रही है,। जिस चतुराई से उसने गोपियों को बुलाया, हँसाया, रुलाया, खिलाया, नचाया यह सब प्रसिद्ध ही है—

"रासलीला जयत्येषा ययासंयुज्यतेऽनिशि ।
हरेर्विदग्धभेर्या राधा-सौभाग्य-दुन्दुभिः ।।"

२—श्रीकृष्ण स्वयं भी मंथर अर्थात् स्तम्भित हो गये। किससे ? अपांगच्छटा–दृग्भङ्गी से । किस की दृग्भङ्गी से ? 'चपला' --सौदामिनी गोपियों की भृकुटी से। वे चपला कैसी हैं, ? चातुर्यैकनिदानसीम हैं–चतुराई की सीमा हैं ! ।

३—यह अर्थ भी द्वितीय अर्थ के समान ही है। केवल, 'चपला' का अर्थ अन्य गोपीगण नहीं, अपितु श्रीराधा हैं। और श्रीराधा चतुराई की परमावधि हैं ही। यथा--

ये (श्याम) प्रवीन चौंसठि कला, ए (राधा) चौंसठि सतकोट।
पीय पाटवता लगत नहीं, प्रिया रूप की जोट॥

—माधुरीदास

श्रीराधा की भौंह की मरोड़ से श्यामसुन्दर विवश हो जाते हैं और उनके आधीन हो जाते हैं यथा—

देखो माई सुन्दरता की सीवाँ।
ब्रजनवतरुणि कदम्ब नागरी, निरखि करत अधग्रीवाँ।
जो कोउ कोटि कल्प लगि जीवै, रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवै॥
देवलोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मति डरिये।
सहज माधुरी अङ्ग अङ्ग की, कहि कासों पटतरिये॥
हित हरिवंश प्रताप रूप गुण, वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रू विलास वश पशुरिव दिन विथकित रस सागर॥

श्रीकृष्ण की प्रियाधीनता तो जगत्प्रसिद्ध ही है—

महारानी श्रीराधिका, अष्ट सखिन के झुण्ड।
डगर बुहारत साँवरो, जय जय राधाकुण्ड॥

"नीलम् बालम्"--की कुछ और विशेषतायें देखिये---लावण्यामृत-वीचि"--लावण्यरूप अमृत की लहरियों से उसके लोचन चंचल हो रहे हैं। लावण्य का अर्थ है लुनाई (लौहन)। अर्थात् मोती की-सी झलक, जिसे आब-पानी या पानिप भी कहते हैं। लावण्यता का गौर वर्ण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। लुनाई के विना तो गौरवर्ण भी फीका रहता है और लुनाई से ही श्यामवर्ण की शोभा बढ़ जाती है। तभी तो माँ यशोदा कहा करती है कि--'मेरो कन्हैया कारो है तो कहा, लौहन में तो चोखो है" !! तभी तो इसके प्रेमी इस श्यामता के पीछे पागल बने फिरते हैं, फिर एक बात और भी है—शृङ्गार रससार श्यामसुन्दर का तो श्री विग्रह ही सौन्दर्यामृत सिन्धु है, उसके ऊपर लावण्यामृत की रसमयी तरंगें छलक-छलक कर छवि पा रही हैं, और उन तरङ्गमालाओं में दो तरलातितरल मीन युगल लोल-लोचन किलोल कर रहे हैं।

'लाल की ललचौंही अंखियाँ—एक भक्त की वाणी में देखिये—

अंखियां लाल की ललचौंहीं ।
इत उत चितै हँसत सकुचित से, पुनि बात कहत गहि गौहीं ॥
नैंन श्रवण नासा अवलोकन, भाल तिलक दरसौंहीं ।
श्री विहारीदासि स्वामिनी रस वरसत, यह सुख समुझति हौंहीं ॥"

अथवा तो–ललनाकुलावतंस श्रीवृषभानुललो की हो लावण्यामृत लहरी में जिसके लोचन युगल मीन के समान किलोल कर रहे हैं, यथा—

'कृष्ण दृग भृङ्ग विश्राम हित पद्मिनी, कृष्ण मृग मृगज बंधन डोरी ।
कृष्ण अनुराग मकरन्द की मधु-करी, कृष्ण गुन-गान-रस सिन्धु बोरी ॥

—गदाधर भट्ट

ऐसे बालानन्योपासी बाल की हम आराधना करते हैं, अथवा करती हैं ! एक और झाँकी देखिये—"लक्ष्मीकटाक्षाद्दतम्" अर्थात् सर्व लक्ष्मी स्वरूपा श्रीराधा के प्रेम पूर्ण कटाक्ष के द्वारा यह बाल महा गौरव को प्राप्त हो रहा है । श्रीराधा परम प्रेममयी लक्ष्मी हैं—इसका विशेष विवरण आगे अठारहवें श्लोक में देखेंगे !

और वह बालक कालिन्दी—पुलिन के विस्तृत प्रांगण में नित्य रास-विलास किया करता है, अतएव कालिन्दी पुलिन–यमुना की रजत बालुका-मयी तट भूमि-ही उसका अत्यन्त प्रिय स्थान है । यमुना का नाम कालिन्दी है, क्योंकि वह कलिन्द पर्वत की कन्या है अथवा वह कलि का खण्डन करने वाली है—"कलि द्यति खण्डयतीति कालिन्दी—यमुना कलिछेदिनी है, कृष्णरूपिणी है, और कृष्ण प्रेम तथा कृष्णरूप प्रदायिनी है ।

उस नील-घन-बालक की एक और विचित्र विशेषता है,—वह "कामावतारांकुरम्" है । इस पद के दो अर्थ हैं---पाठक ! इसे ध्यान पूर्वक पढ़ें-

१--कामावतारों के अंकुर हैं, अर्थात् कामावतारों का प्राकट्य ही इनसे हुआ है ।

२--काम के अवतार अर्थात् प्रकट होने का उद्गम स्थान है, अथवा काम का प्राकट्य ही इनसे हुआ है ।

प्रथम अर्थ—वैष्णव शास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि—ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, सूर्यादि देवतागण

पृथक् पृथक् हैं। अतएव प्रत्येक ब्रह्माण्ड की देवमण्डली में एक कामदेव भी है। इसका नाम है "कामावतार"—काम का एक अवतार। ऐसे अनन्त अवतार काम के हैं, ये कामदेव सब प्राकृत हैं, त्रिगुणमय ही हैं। इनसे परे और इनका उद्गम स्थान—अर्थात् जन्मदाता श्रीकृष्ण हैं, अप्राकृत कामदेव का नाम श्री प्रद्युम्न है। ये श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, अतएव श्रीकृष्ण अप्राकृत कामके भी अंकुर अर्थात् जन्मस्थान हैं। काम वृक्ष हैं, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड के प्राकृत कामदेव तो पत्र के समान हैं, अप्राकृत कामदेव श्रीप्रद्युम्न स्कन्ध के समान हैं और सब का मूल है-"नीलं बालम्" इसी लिये प्राकृत कामदेव का नाम है-केवल मन्मथ, प्रद्युम्न का नाम है साक्षान्मन्मथ और श्रीकृष्ण का नाम है साक्षान्मन्मथ-मन्मथ। ये ही सर्व कामावतारी, सर्वमोहन, मदनमोहन हैं। आगमादि शास्त्रों में कामबीज व कामगायत्री से इनकी ही आराधना होती है।

पद्मपुराण में भी इस सम्बन्ध में कहा है कि—

तत्कला-कोटि-कोटयंशा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः।
तद्रूप कोटि-कोटयंशाः कलाः कन्दर्प-विग्रहाः॥

द्वितीय अर्थ के भी दो प्रकार हैं, १—काम, अर्थात् कृष्ण-विषयक प्रेमाभिलाषा का जो अवतार, अर्थात् प्राकटच है,वह अंकुरित होता है जिससे सीधे शब्दों में यों कहिये कि--श्रीकृष्ण विषयक काम अर्थात् प्रेम प्रकट होता है जिससे,---वह है कामावतारांकुरम् श्रीकृष्ण।

२—काम के अवतार अर्थात् हाव-भाव-कटाक्ष-क्रीड़ा आदि के अंकुर अर्थात् प्रोद्गम स्थान, प्रकृष्ट रूप से, परिपूर्ण रूप से उदय होने का स्थान। अथवा यह कहा जा सकता है कि जहाँ काम परिपूर्ण रूप से विराजमान रहता है, वह है कामावतारांकुर-श्रीकृष्ण।

ब्रज-लीला के समस्त शृङ्गार एवं रसमय लीला-संपुट को खोलने के लिये ये दो अर्थ, दो कुञ्जी के समान हैं। श्रीकृष्ण से काम प्रकट होता है पर श्रीकृष्ण में काम नहीं है--यह ऐश्वर्य भाव प्रथम अर्थ से सिद्ध हो सकता है। तथा श्रीकृष्ण में स्वरूप से ही कोई अप्राकृत अनिर्वचनीय काम है--यह माधुर्य भाव द्वितीय अर्थ से सिद्ध हो सकता है। प्रथम अर्थ वेदान्त शास्त्र सम्मत है, तथा द्वितीय अर्थ रस-शास्त्र सम्मत है।

श्रीकृष्ण में काम भाव त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है, तथा श्रीकृष्ण

में ही यथार्थ काम है, अन्यत्र काम है ही नहीं—इन दोनों दृष्टिकोण का ज्ञान परमावश्यक है, अन्यथा अज्ञान के कारण विपरीत भावना करके हम अपना सर्वनाश करेंगे, परमोज्ज्वल सूर्य के प्रति धूल उछाल कर अपनी ही आँखों को अन्धा करना बुद्धिमानी नहीं है। इसकी आलोचना आगे के श्लोक ९३ में "शृङ्गार रस सर्वस्व" की व्याख्या में भी पढ़ेंगे।

आइये, अब उस बालक की मधुरिमा का आस्वादन कीजिये "मधुरिम स्वाराज्यं" माधुर्य में जिसका स्वाराज्य है। अन्य जीव तो क्या-अन्य भगवत्स्वरूपों का भी जिसमें अधिकार नहीं है। एकमात्र श्रीकृष्ण का ही जहाँ आधिपत्य है। यहाँ शृङ्गार से तात्पर्य रूप-रस-माधुरी का है। अन्यत्र इस रसमाधुरी का मिलना असम्भव है।

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण के स्वरूप में चार माधुर्य विलक्षण हैं, एवं दुर्लभ हैं, वे चार इस प्रकार हैं—१—ऐश्वर्य माधुरी, २--क्रीड़ा माधुरी, ३--वेणुमाधुरी तथा ४--रूप माधुरी। यथा---

चतुर्धा माधुरी तस्य व्रज एव विराजते।
ऐश्वर्य-क्रीडयोर्वेणोस्तथा श्रीविग्रहस्य च॥

—बृहद्भागवतामृत

"लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यो वेणु-रूपयोः।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयः॥"

--भक्तिरसामृतसिन्धु

अर्थात् मधुर-लीला, प्रियजनों का उत्कर्ष, वेणु-माधुरी तथा माधुरी ये चार गोविन्द के असाधारण अनन्य सिद्ध लक्षण हैं, उक्त दो श्लोकों का सामञ्जस्य इस प्रकार है—प्रथम श्लोक में कथित ऐश्वर्य-माधुरी तथा क्रीड़ा-माधुरी से द्वितीय श्लोक की लीला-माधुरी, तथा प्रियजनों का उत्कर्ष समझना चाहिये।"

'सर्वावस्थाविशेषेसु माधुर्यरमणीयता' [साहित्य-दर्पण] सर्व अवस्थाओं में जो मनोहर बना रहे-वह माधुर्य है। गोपाल कृष्ण का रूप जैसे नाचते-खेलते में मनोहर है-वैसे ही राक्षसों को मारते तथा मुख में ब्रह्माण्ड दिखाते समय भी मधुर है। किसी भी स्थान में विकृति नहीं है।

चतुर्विध माधुर्य का दिग्दर्शन-

१-ऐश्वर्य माधुरी-पूतनावध से लेकर कंसवध तक सब लीलाओं में एक अचिन्त्य असमोर्द्ध ऐश्वर्य है, किन्तु समस्त लीला माधुर्य के आवरण में है,

कार्य सब परमेश्वर के हैं किन्तु मधुर नर-लीला में भासित हैं यथा—

पी पी पय पूतना पूत व सपूत करी, सोय सोय सकट तरे सकटा को सुवायो है ।
भूल भूल गरे बीच तृणावर्त डारयो भींच, फूल फूल अघासुर अघांसु नसायो है ।।
रोय रोय वदन में ब्रह्माण्ड दिखाय दियो, दोय दोय आंगुर सौ सौ जेवरा घटायो है ।
ईशता खटाई सों ब्रज रस बचाय "प्रेम" गोकुल को पैंडो कर न्यारो दिखरायो है ।।

खात खात दही भात ब्रह्मा को खबाई माँत,
पात पात नारायण लखि मोह पायो है ।
गोय गाय वंशी कर गिरवर धार लियो,
लाय लाय लट्ठ गोप ईश्वर लजायो है ।।

नाच नाच फनन पै, नाथ लियो कालीनाग,
परि परि पाँवन में राधाजू मनायो है ।
ईशता खटाई सों ब्रज रस बचाय 'प्रेम'
गोकुल को पैंडो करि न्यारो दिखरायो है ।।

यह मधुर-ऐश्वर्य त्रिलोकी में तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण में भी ब्रज से बाहर नहीं मिलता है ।

२—क्रीड़ा माधुरी—ब्रज में श्रीकृष्ण परमेश्वर नहीं हैं, वे हैं गोपाल,कन्हैया, लाल, सखा, कान्त, रमण आदि । या तो वह गोपी गोपों से छोटा है या समान है, बड़ा कहीं भी नहीं, किसी भी लीला में नहीं, किसी के साथ भी नहीं अतएव इस कृष्ण को विल्वमङ्गल बार-बार "बालम्" "शिशु" नहीं कहें तो कहें भी क्या ? क्योंकि उसकी सब लीलायें बाल सुलभ हैं—

गहत नहीं अस्त्र हाथ, लेत नहीं सेना साथ,
चिन्ता नहिं काहू बात, खेल मन भायो है ।
हाथ लात घात सों ही, खेलत अरु खात में,
नाचत नचात में करामात दिखरायो है ।।

पै 'ईश-ईश' कहि कै शीश हू न नायो कोउ,
"लाल लाल" कहि गोपी ग्वाल उर लायो है ।
ईशता खटाई सों ब्रज रस बचाय 'प्रेम'
गोकुल को पैंडो करि न्यारो दिखरायो है ।।

इसका नाम है प्रेमातिशयता के कारण प्रिय-परिकर वर्ग का उत्कर्ष

और प्रभु की प्रियाधीनता । परिकरों की विशेषता से रूप की, लीला की, तथा रस की विशेषता होती है ।

३—वेणुमाधुरी—वेणुमाधुरी तो जगत्प्रसिद्ध ही है । वंशी तो कन्हैया के ही हाथ में है—और किसी के पास नहीं है, वह तो सर्वाधिकार सुरक्षित है, तभी तो अनन्य ब्रजरसोपासी रसिक श्रीनागरीदासजी बोल उठे कि—श्याम तो सभी भगवान् श्याम हैं, परन्तु हमारा श्याम तो हमारा ही है ।

हमारो मुरलीवारो श्याम ।
बिन मुरली बनमाल चन्द्रिका नहिं पहचानत नाम ।।
गोपरूप वृन्दावन वासी, ब्रजजन पूरत काम ।
याहि सों हित चित नित बाढो दिन दिन पल छिन याम ।।
नन्दीश्वर बरसानो गोकुल गोवर्धन विश्राम ।
'नागरिदास' द्वारिका मथुरा, इनसों कैसो काम ।।

४—रूपमाधुरी—इसका वर्णन तो इसी ग्रन्थ में बार-बार आयेगा । श्रीकृष्ण "त्रिभुवन सुन्दर" हैं "जगमोहन" हैं, "माधुर्य के परिपाक" हैं । यह आगे शपथ पूर्वक कहा गया है कि इनसे अधिक कोई सुन्दर है ही नहीं ।

त्रिलोकी के स्त्री-पुरुषों को मोहित कर लेना रूप की कोई सर्वोच्च कसौटी नहीं है । पशु-पक्षी और वृक्षलतादिक को भी मोहित कर लेना सौन्दर्य की सर्वोच्च सीमा नहीं है । आत्माराम परमहंस-मुनिगणों के चित्त का आकर्षण कर लेना भी कोई असाधारण बात नहीं है । यद्यपि श्रीकृष्ण में ये सब गुण हैं, परन्तु त्रिलोक-मोहनरूप-तो वही कहा जा सकता है जो त्रिलोकी के साथ-साथ त्रिलोकीनाथ को भी मोहित कर ले । सर्वाकर्षक-रूप वही है जो सर्व जगत में व्यापक सर्व जड़-चेतन के साथ-साथ स्वयं कृष्ण को भी आकर्षित करले—ऐसा रूप तो श्रीकृष्ण का ही है । वे अपने रूप पर आप मुग्ध होकर ब्रज में श्रीराधा बनकर तथा नवद्वीप में गौराङ्ग महाप्रभु बनकर उसका उपभोग कर रहे हैं । सूरसागर, कृष्णगीतावली, चैतन्यचरितामृत, आनन्दवृन्दावनचम्पू, ललितविदग्ध नाटक, राधारससुधानिधि आदि अनेक ग्रन्थों में इसका वर्णन है । अतएव "मधुरिमस्वाराज्यं" मधुररूप-तथा मधुर-रस के एकछत्र अनन्य चक्रवर्ति-सम्राट्—यह "नीलंबालं' ही हैं । इसी कारण यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का भी परिपूर्णतम स्वरूप है, मथुरा में श्रीकृष्णपूर्णतर हैं, तथा द्वारिका में पूर्ण हैं । इस विषय का आगे भी विवेचन है ।

'मधुरिमस्वाराज्यम्'की एक ध्वनि यह भी है कि मधुर रस शृङ्गार-रस का दान भी इसी राज्य से, इसी सरकार के द्वारा दिया जाता है। यह ऐश्वर्य के राज्य द्वारिका, वैकुण्ठादि धामों में अप्राप्य है। यह सर्वोत्कृष्ट आनन्द-दान का सदावर्त्त-स्वराज्य तो ब्रज में ही उपलब्ध है। रस ग्रन्थों में गोपियों का प्रसंग इसके लिये प्रसिद्ध ही है। अतएव 'मधुरिमस्वराज्यं' पद, सर्वतोभावेन सार्थक है,सर्वप्रकार से सुप्रसिद्ध है। इसीलिये विल्वमङ्गल स्वयं शपथ पूर्वक इसकी घोषणा स्पष्ट शब्दों में कर रहे हैं कि माधुर्यरस का परिपाक श्रीकृष्ण में ही पराकाष्ठा को प्राप्त होता है,

"ब्रूमहे यत्सत्यं रमणीयता परिणतिस्त्वय्येवंपारं गता (श्लोक१००)
"सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि (५५)

सारांश यह है कि इन भुवनमोहन, ललितललाम--श्यामघन के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें माधुर्य का पूर्ण परिपाक हो–सौन्दर्य की पराकाष्ठा हो। यहाँ श्री विल्वमङ्गल रासलीला के प्रारम्भ की स्फूर्ति का आस्वादन कर रहे हैं और उसी लीला के आनन्द में तन्मय होकर लीलाशुक अपनी इष्ट उपासना का जयघोष करते हुए कह रहे हैं—हम ऐसे श्यामवर्ण किशोर श्री कृष्ण की आराधना करते हैं, जो कालिन्दी पुलिन पर गोपियों के सहित रासविलास कर रहा है, रास में जो गोपियों को अपनी तिरछी चितवन से विवश कर रहा है, तथा स्वयं उनकी चितवन से विवश हो रहा है। जो चतुराई की परमावधि है, जिसके नेत्र अपने लावण्यामृत के सिन्धु में तथा गोपियों के लावण्यामृत सिन्धु में किलोल कर रहे हैं, जिसका श्रीराधा अपनी दृष्टि से आदर कर रही हैं, जो अप्राकृत नवीन मदनमोहन हैं तथा जो माधुर्य के स्वराज्य का चक्रवर्ती सम्राट है।

मूल श्लोक-शार्दूल विक्रीडितम् छन्दः—

वर्होत्तंस-विलास-कुन्तल-भरं माधुर्य-मग्नाननं,
प्रोन्मीलन्नव-यौवनं प्रविलसद्वेणु-प्रणादामृतम्।
आपीन-स्तन-कुड्मलाभिरभितो गोपीभिराराधितं,
ज्योतिश्चेतसि नश्चकास्तु जगतामेकाभिरामाद्भुतम् ॥४॥

पद्यार्थ--**मोर मुकुट से विलसित चल अलकावलि सिर पर।**
नव यौवन उन्मेस, मधुरिमा मग्न आस्यवर॥
सुधा वर्षिणी वेणु, समावृत युवति जनों से।
मानों पूजित हों उनके उरोज-सुमनों से॥

अखिल विश्व अभिराम वह अद्भुत ज्योति अनूप ।
मेरे मानस में वही हो आलोकित रूप ।।४।।

भावार्थ—जिस [ज्योति पुञ्ज]के मस्तक पर कुञ्चित केश-राशि मयूर-पिच्छ से निर्मित मोर मुकुट के साथ सविलास क्रीड़ा कर रही है । जिसका मुखारविन्द माधुर्य-पारावार में निमग्न है; जिसका नवयौवन प्रतिपल उन्मीलित होरहा है; जिसकी विलास-भरी मुरलिया का उत्कृष्ट स्वर संगम शुष्क को भी सरस और निर्जीव को भी सजीव बना रहा है तथा जिसके चतुर्दिक खड़ी होकर व्रज-सुन्दरियां अपने आपीन निविड़ उरोज मण्डल रूप पुष्प मालाओं से जिसकी आराधना में तल्लीन हैं–ऐसा वह लोकाभिराम और अत्यन्त अद्भुत ज्योति-पुञ्ज हमारे मनों को प्रकाशित करदे ।।४।।

रसिका-टीका— यह श्लोक प्रार्थनामूलक है, इसके पूर्व श्लोक में विल्वमङ्गल को रासलीला के प्रारम्भिक स्वरूप की स्फूर्ति हो रही थी, अब अन्तर्धान से पूर्व जो रास विलास हुआ उसकी स्फूर्ति हो रही है, उसके दर्शन करके वे यह प्रार्थना कर रहे हैं कि यह झाँकी मेरे हृदय में झलकती रहे, **ज्योतिश्चेतसि नश्चकास्तु**' यह ज्योति सदैव मेरे चित्त में जगमगाती रहे, यह ज्योति स्वयं प्रकाश स्वरूप है, **'ज्योतिसामपितज्ज्योतिः'** है, सूर्य,चन्द्र, अग्नि आदि इसी की ज्योति से प्रकाशित हैं– **'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' 'सूर्यकोटिसमप्रभः'** होने पर भी **'चन्द्रकोटिसुशीतलः'** है ।

यह क्या निराकार ब्रह्म ज्योति से आपका तात्पर्य है ?

नहीं **'अभितोगोपीभिराराधितं ज्योतिः'** वह गोपी मण्डल से समावृत नील ज्योति है, गोपाङ्गनाओं की विद्युत्-सम-अंग-लावण्य-छटा के सहित श्रीकृष्ण की मरकत मणि जैसी अंग-कान्ति के सम्मिश्रण से ज्योति मण्डल बना हुआ है । भक्त को प्रथम दर्शन उसके ही होते हैं,इसको ज्योति-दर्शन अथवा निर्विशेष दर्शन कहते हैं, फिर ज्योतिःस्वरूप पुरुष के दर्शन होते हैं–इसको सविशेष दर्शन कहते हैं ।

इसको एक दृष्टान्त से समझिये--भगवान श्रीकृष्णचन्द्र द्वारिका में अपनी सुधर्मा सभा में विराजमान थे । उसी समय उनको एक ज्योतिः पुञ्ज आकाश-मार्ग से नीचे उतरता हुआ दिखायी दिया–तेज पुञ्ज की क्रमशः अभिव्यक्ति होने लगी—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा, ततः शरीरीति विभाविताकृति ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति, क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ।।--माघकाव्ये

प्रथम तो वह निराकार तेजपुञ्ज प्रतीत हुआ, फिर कर-चरणादि-युक्त

आकारवान् पुरुष दिखाई पड़ा, अन्त में जब समीप उतर आया तो--"यह नारद है" ऐसा निश्चय हुआ ।

वैष्णवाचार्यों ने प्रथम दर्शन को निर्विशेष ब्रह्म-दर्शन, द्वितीय दर्शन को अन्तर्यामी परमात्मा-दर्शन, तथा तृतीय दर्शन को साक्षात् भगवद् दर्शन कहा है। साक्षात् दर्शन में ही प्रेमी को आनन्द प्राप्त होता है, रसिकशेखर लीला-पुरुषोत्तम के दिव्य स्वरूप को देखकर भक्त उन्मत्त की भांति गा उठता है :—

मोर पखा सिर पै फहरे, मुख माधुरि सिन्धु में लेत झकोरे ।
झकोरे है यौवन-अङ्ग-तरङ्ग-मुरली अधरन पै लेत हिलोरे ॥
हिलोरे हैं श्याम उरोजन प्रेम मनोजन मान गुमान मरोरे ।
मरोरे हैं अंग श्रीराधिका सङ्ग, यह ज्योति अभङ्ग जगै जिय मोरे ॥

एक गोपी यमुना पुलिन में श्रीकृष्ण की लावण्य-छटा को देख वंशी ध्वनि को सुन अकवकी-सी घवराती-सी जब घर पहुँची तो एक दूसरी गोपी ने पूछ लिया—"हे सखि ! तूने यमुनातट पर क्या देखा है जिससे तेरी ये दशा हुई है", सखी ने कहा—

"पुरो नीलज्योत्स्ना तदनुमृगनाभीपरिमल
स्ततोलीलावेणु–क्वणितमनुकाञ्ची–कलरवः ।
ततो विद्युद्वल्ली-वलयितचमत्कारलहरी
तरङ्गाल्लावण्यं तदनुसहजानन्द उद्गात् ॥"

—पद्यावल्याम्

"सखि ! प्रथम तो एक नील-ज्योति के मुझे दर्शन हुए, उसके पीछे कस्तूरी की-सी मीठी-मीठी महक आई, फिर झीनी-झीनी लीलारसभरी वंशी की ध्वनि कानों में पड़ी, फिर कटि-किंकिणी की "किनि-किनि" ध्वनि आई। तदनन्तर पीताम्बर के ऊपर विद्युल्लता-सी दमकती-चमकती और लहराती हुई मुक्ताहारावली पर मेरी दृष्टि पड़ी–और अन्त में सखी ! जब मैंने सहजानन्दमयी-श्याममूर्त्ति के सर्वाङ्ग का दर्शन किया, तो मैं तत्क्षण वेसुध हो गई ?

ठीक इसी प्रकार से विल्वमङ्गल को भी दर्शन होते हैं। इसीलिये प्रथम उसे "ज्योति" कहा, फिर ज्योति के साथ गोपीमण्डल का वर्णन किया। जब नेत्रों की चकाचौंधी मिटी और उनके नेत्र ज्योति-मण्डल में प्रवेश करने के योग्य हुए तो क्या दर्शन करते हैं—"माधुर्यमग्नाननं" माधुर्य

में निमज्जित मुख है। कुण्डल चमक रहे हैं, कपोल दमक रहे हैं, नैंन रस बरसा रहे हैं, ओष्ठाधर खिल रहे हैं, रस से भरा हुआ कमल रूप मुख शोभा दे रहा है।

"सर्वावस्था में मनोहरता का नाम माधुर्य है—साहित्यदर्पण" अथवा—"**रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते**—उज्ज्वलनीलमणि" अंग की कोई अनिर्वचनीय शोभा का नाम माधुर्य है। सौन्दर्य, लावण्य तथा तारुण्य—इन तीन रसायनों के संयोग से ही यह माधुर्यरस विशेष उत्कृष्ट होता है। श्रीकृष्ण के मुख कमल ने प्रथम सौन्दर्यामृतसिन्धु में स्नान किया, फिर लावण्यामृतसिन्धु में द्वितीय स्नान किया, पश्चात् तारुण्यामृतसिन्धु में तृतीय स्नान किया, फिर वह 'माधुर्यमग्नाननं' क्यों न हो? अथवा तो माधुर्यरस में मग्न भक्तों के लिये यह मुख 'अनन' है—जीवन है। यथा—

रूप सुधा भोजन जिनको री।
ते क्यों और नयन भरि देखैं, दरस अहार पर्‌यो जिनकोरी॥
नेही नेह विना नहिं जानत, चातक स्वाँति विना कनकोरी।
"अलवेली अली" रसिकन जीवन, नैंननि नैंन मिलन इनकोरी॥

—अलवेली अली

अथवा "**माधुर्यमग्नाननं**"—मुख सहज मधुर नहीं है—प्रसादीकृतमुख है, मधुर-रस द्वारा रञ्जित मुख है, राधा आराधित मुख है। तभी तो इतना मधुर है!

प्रथम ज्योतिदर्शन पश्चात् मुख-दर्शन अन्त में समग्र-श्रीमूर्त्ति का दर्शन। उस दिव्य-श्रीविग्रह का नख-शिख शृंगार अद्‌भुत है—'**बर्होत्तंस-विलासकुन्तलभरम्**' उस ज्योति के मस्तक पर केशों के जूड़े के ऊपर मोर के पंखों का मुकुट, मन्द-मन्द वायु के झकोरों से नृत्य करता हुआ विशेष शोभा को प्राप्त हो रहा है, वह मोरपंख सिर हिला-हिला कर मानों तो सावधान कर रहा है कि—इधर मत आना! यहाँ रूप के दरियाव में गजब के भँवर पड़ रहे हैं। इसमें पड़कर तुम्हारे धर्म-कर्म की नौका डूब जायगी?

मोर पंख कर डुलें, डुलैं कलंगी पुतरी लौं वरजें।
अरे ह्याँ रूप कहर दरयाउ, आउ जिन नाउ धरम की लरजें॥

—वल्लभरसिक

इस मोर चन्द्रिका के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों ने कहा है—१—यह विशुद्ध शृङ्गार-रस का सूचक है। २—यह किशोर-वयस का ही

शिरोभूषण है—बालस्वरूप में भी शृङ्गाररस का ही द्योतक है। ३–श्रीमद्-भागवत में ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वेद आदि ऐश्वर्य ज्ञान-मिश्रित भक्तों की स्तुति-स्तवन में इसका वर्णन नहीं है। ४–शृङ्गाररसवती गोपियों तथा यज्ञपत्नियों के प्रसंग में इसका वर्णन हुआ है, श्रीकृष्ण गोप-बालकों की मण्डली के साथ वंशी बजाते हुए संध्या समय में गोचारण से गोकुल को लौट रहे हैं, ब्रजगोपियाँ उनकी अद्भुत वेषभूषा पर मुग्ध होकर मयूर पिच्छधारी श्रीकृष्ण का गुणगान कर रही हैं—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ॥
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

—भा० १०-२१-५

मथुरा की यज्ञपत्नियों ने वृन्दावन में बलराम जी के साथ गोप-बालकों से घिरे श्रीकृष्ण का मोर-पक्ष धारण किये दर्शन किया है :—

"श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह, धातुप्रवाल नटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेणधुनानमब्जं, कर्णोत्पलालक कपोलमुखाब्जहासम् ॥

—भा० १०-२३-२२

यहाँ यज्ञपत्नियों ने श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के नटवेष का वर्णन करते समय मोरपंख के मुकुट का संकेत किया है। स्वयं विल्वमङ्गल भी आगे कहेंगे—

"शृङ्गाररस सर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणं"—श्लोक-९३

५–यह मोरपिच्छ नटवर गोपवेष मुरलीधर का ही एक असाधारण चिह्न है। जैसे मुरली एक कन्हैया के ही हाथ में है, वैसे ही मोर मुकुट भी एक कन्हैया के ही शीश पर है। इस शृङ्गार के लिये द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण भी लालायित रहते हैं, यह श्रीपाद सनातन गोस्वामी ने अपने बृहद्भागवतामृत ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है। ६–इस शृङ्गार के बिना मुरलीधर कन्हैया का स्वरूप अपूर्ण है—**"बिन मुरली बनमाल चन्द्रिका नहीं पहचानत नाम"**—नागरि दास। इसी कारण क्या संस्कृत में, क्या भाषा में "बर्हापीडं" तथा "मोर मुकुट" के बिना श्रीकृष्ण का कोई ध्यान ही नहीं है, विल्वमङ्गलजी ने इस ग्रन्थ में "मद्शिखिपिच्छ०" "शिखण्डमौलि" "बर्हावतंसप्रिय" आदि शब्दों का कई बार प्रयोग किया है, कारण कि यह मोरपिच्छ ही सर्वप्रथम नयन ग्राही आकर्षण है।

मोर सात्त्विक जीव है। मोर-मोरनी में मैथुनी भाव नहीं है। मोर श्याम घटा-दर्शन करने पर मोरनी को रिझाने के लिये पंख फैला-फैला कर, फूल-फूल कर, काँप-काँप कर नाचता है। यह कम्प, अश्रु आदि सात्त्विक विकार हैं। बीच-बीच में एक दो बूँद आँसू भी गिरा देता है। मोरनी उन अश्रु-विन्दुओं को चुन कर उसके वंश की रक्षा करती है। यह परस्पर में अंग-संग शून्य विशुद्ध शृङ्गार रस का विलास है। इस गुण पर रीझ कर ही रिझवार रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्र ने इसके पंख को अपने मस्तक पर सर्वोपरि भूषण बना कर रखा है। किसी कवि ने मोर और मुरलीधर के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

अंग अंग घन कान्ति, मोती माल बक पाँति,
इन्द्र, धनुष, वनमाल, शोभा छिन छिन है।
दामिनी की दमकनि, है पीत पट चमकनि,
मुरली को घोर, मोर-नाचै रैन दिन है॥
वृन्दावन चन्द रीझै, रीझ मोइ दीजै कहा,
रीझ हू न दीजै तो रीझ कौन गिन है।
धरनि ते चन्द्रिका उठाय सिर धारी नाथ,
हँसि बोले गिरिधारी, मोपै तेरो रिन है॥

ऋणी क्यों न बनें? मोर तो उनको देखकर ही नृत्य करता है? मोरनी को देख कर नृत्य नहीं करता, मोर में श्रीकृष्ण प्रेम है—काम नहीं, अतएव प्रेम के ऋणी भगवान सदा होते ही आये हैं।

ये मोर महाराज, श्रीकृष्ण के दर्शन करने वालों के नेत्रों में सर्व प्रथम पहुँच कर उनको यह गुप्त रहस्य मानों समझाना चाहते हैं कि—"सुनो! भाई! मेरी ही भाँति इस मोर मुकुटधारी का रास-विलास भी काम-शून्य 'अंग-संग' शून्य, विशुद्ध शृङ्गाररस का विलास है। इनमें जो अंग-संग प्रतीत होता है वह अंग नहीं अनंग है [अनंग-अंगहीन] गोपी और कृष्ण के मुख, कर चरणादि अंग नहीं, अनंग ही हैं—कारण कि सच्चिदानन्दघन हैं। जीव की भाँति इनमें देह-देही भेद नहीं है। तुम्हारी तो देह से देह मिलती है, आत्मा तड़फ कर रह जाती है। इनके देह के रूप में आत्मा ही आत्मा से मिलती है, आत्मा ही आत्मा में रमण करती है। यह बाह्य रमण नहीं, आत्मरमण-आत्म-क्रीड़ा है। फिर वह मोर पंख कहता है, सुनते हो न?—

"मैं जगदीश के शीश पर शीश हिला-हिला कर कह रहा हूँ—"ऐसा नहीं है, ऐसा है, यह काम नहीं, विश्राम है" सुनते हो न ?"

किन्तु हमारे कान कहाँ ? जो मोर महाराज की आकाशवाणी सुनें, और सुनकर समझ सकें !!

हाँ, तो—उस ज्योति के मस्तक पर मोरमुकुट है, और कैसी है वह ज्योति "प्रोन्मीलन्नवयौवनं" नित्य विकसित होती हुई–नव यौवन अवस्था वाली है। पन्द्रह वर्ष तक किशोर अवस्था है, सोलह से यौवन प्रारम्भ होता है। पन्द्रह और सोलह के मध्य की वयःसन्धि का नाम नवयौवन है, अथवा पूर्ण किशोर है। अर्थात् किशोर सम्पूर्ण है, शेष है, और यौवन का आरम्भ है। नवयौवन से आगे मध्ययौवन व पूर्णयौवन है। परन्तु श्रीकृष्ण की अवस्था नवयौवन से आगे नहीं बढ़ती – यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि यह नवयौवन कली भी—"प्रोन्मीलित" खिल चुकी हो—ऐसा न कह कर "प्रोन्मीलत्" कहा है अर्थात् यह कली खिल रही है. क्षण-क्षण में खिल रही है, नवीन-नवीन रूप से खिल रही है, खिल करके पुनः पुनः अविरल रूप से खिलती ही जायेगी। इसका खिलना कभी रुकता नहीं। फिर कभी भी सोलह से आगे सवा सोलह नहीं हो सकेगी। १२५ वर्ष के हो जाने पर भी १६ वर्ष की ही रहेगी। तभी तो द्वारिका में पटरानियों को पुत्र-प्रद्युम्न को देख कर पिता श्रीकृष्ण का भ्रम हो गया था ?

इसका नाम है नित्यनवकिशोर अवस्था ! इसी को श्रीकृष्ण का नवयौवन भी कहते हैं—

"इदमेव हरेः प्राज्ञैर्नवयौवनमुच्यते"—भक्तिरसामृतसिन्धु

इसके लक्षण ७ वें श्लोक में तथा इसकी माधुरी ९ वें श्लोक में द्रष्टव्य है।

उस नील-ज्योति के सम्बन्ध में और भी कई प्रकार हैं,–लसद्–विलासकारी, विलसद्––सुन्दर विलासकारी, प्र-विलसद्—अतिशय सुन्दर विलासकारी वह श्यामल मूर्त्ति मुरली ध्वनि द्वारा अमृत की वर्षा कर रही है।

साधारण वंशीध्वनि, नाद है, श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि प्रणाद है, अर्थात् प्रकृष्ट-नाद है, सर्व नादों में श्रेष्ठ है, तथा अमृत है—जो चेतन को तो क्या शुष्क-तरुवर को भी जीवनदान करने में समर्थ है। व्याध का

वंशी-नाद लुब्ध-मृग का वध करता है, किन्तु श्याम का वंशी-प्रणाद मृत को जीवनदान करता है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं कि—हे श्यामसुन्दर! तुम कम से कम हमारी रसोई के समय तो वंशी ध्वनि मत किया करो! क्योंकि इस वंशी ध्वनि से हमारे चूल्हे की लकड़ियों में रस भर जाता है—और वे सूखी से गीली हो जाती हैं, अग्नि बुझ जाती है—और रसोई कच्ची रह जाती है। यथा—

मुरहर! रन्धनसमये मा कुरु मुरलिरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतनुताम्॥

जैसे कमल में मकरन्द रस रहता है, वैसे ही यह वेणु-प्रणादामृत भी श्याम मुखाम्बुज में ही रहता है, और वहीं से यह प्रिय सखी पहले आप आकण्ठ पान करती है, पश्चात् औरों को प्रदान करती है। तभी तो गोपियां कभी इसके भाग्य की प्रशंसा करती हैं और कभी-कभी इसको सौतिया भाव से कोसा भी करती हैं। श्रीव्रजेश्वरी के लिए तो वंशी मानों विष बन कर आयी है, जब तब कानों में वंशी ध्वनि गूँजती रहती है, कभी-कभी तो वंशी 'राधा-राधा' नाम लेकर पुकारती है, तब श्री राधा का चित्त चंचल हो उठता है, इधर-उधर दृष्टि दौड़ती है—वंशी कहाँ बज रही है? कालिंदी के तीर पर या गोकुल-गोष्ठ में। निभृत-निकुञ्जों में मेरा नाम लेकर कौन बुला रहा है? पर--प्रियतम श्यामसुन्दर कहीं दिखाई नहीं पड़ते, आँखें पथरा जाती हैं गला रुँध जाता है, शरीर में कम्प और नेत्रों में अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वंशी के स्वर श्री राधा के प्राणों को खींच रहे हैं, व्याकुल चित्त श्री राधा आत्म विस्मृत होकर कहने लगती हैं—नन्दनन्दन ने मुझे दर्शन नहीं दिया? मेरा ही कोई अपराध है? अब मैं प्राणों को धारण नहीं कर सकूंगी? प्राण त्यागकर दूसरे जन्म में नन्दनन्दन बनूंगी और उन्हें राधा बनाऊंगी—तब उन्हें पता चलेगा कि—प्रीति की दहकती ज्वाला किस तरह तिल-तिल कर जला देती है, मर कर तुम्हारे विरह के अपार दुःख से मुक्ति तो अवश्य मिलेगी, किन्तु प्रिय को भी तो एक बार इस दुःख की अनुभूति होनी चाहिए—जिससे वह समझ सके कि किस अपार असह्य वेदना के कारण राधा ने प्राणत्यागे थे, चण्डीदास के शब्दों में विरहिणी राधा के भावों का दर्शन कीजिये--

बंधु! कि आर बलिव तोरे।
आपना खाइया पिरीति करीनु, रहिते नारिनु घरे॥

कामना करिया सागरे मरिब, साधिब मनेर साधा ।
मरिया हइब श्रीनन्देर नन्दन, तोमारे करिब राधा ।।
पीरिति करिया छाड़िया जाइब, रहिब कदम्ब-तले ।
त्रिभङ्ग हइया मुरली पूरिब, जखन जाइबे जले ।।
मुरली शुनिया मुरछा हइबे, सहजे कुलेर बाला ।
चण्डीदास कय तबे से जानिबे, पीरिति केमन ज्वाला ।।

बन्धु ! (प्रियतम) तुम्हें और क्या कहूँ, अपने को नष्ट कर मैंने तुमसे प्रीति की, मेरा घर छूट गया। अब मैं कामना करके सागर में डूब कर मरूंगी और अपने मन की साध पूरी करूंगी। मरकर नन्दनन्दन होऊंगी और प्रियतम ! तुम्हें राधा बनाऊंगी। पहले प्रीति करके फिर तुम्हें छोड़ आऊंगी और यमुना तट पर कदम्ब के नीचे रहूँगी, त्रिभङ्ग होकर बांसुरी बजाऊंगी। जब तुम पानी भरने जाओगे – तब तुम सहज कुल बाला मुरली सुनकर मूर्छित होओगे – तब समझोगे प्रीति की जलन कैसी होती है ?"

इस वंशी के पाँच स्वरूप हैं—

१–वंशी, सप्तरन्ध्रयुक्त एक वाद्ययन्त्र है – यह इसका आधिभौतिक स्वरूप है।

२–शिवस्वरूप वंशी – "अथर्ववेदीय कृष्णोपनिषद् में श्रीकृष्ण की गोपियों और गौओं को ऋचा, लकुटी को ब्रह्मा, वंशी को रुद्र, तथा इन्द्र को शृङ्ग बताया है यथा –

"गोप्यो गावः ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ।
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः ।।"
"रुद्रोयेनकृतो वंशस्तस्य मायाजगत्कथम् ।।"

यह वंशी का आधिदैविक स्वरूप है।

३–श्रीकृष्ण से अभिन्न, रस-तत्त्व स्वरूपिणी वंशी है। यह अमूर्त्त आध्यात्मिक स्वरूप है।

४–निकुञ्ज में वंशी मूर्त्तिमती "हित" नामा सखी है। ब्रह्मसंहिता में भी कहा है—**"कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी"**

५–वंशी का आचार्यस्वरूप—श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य श्रीहितहरिवंशजी वंशी के अवतार माने जाते हैं।

अब नील ज्योति का एक और दर्शन करें – चारों ओर से किशोरी-

गोपियों के द्वारा यह आराधित है। गोपियाँ अपने सुपुष्ट-स्तन रूपी कमल-कलियों के द्वारा उसकी आराधना कर रही हैं। शृङ्गार-रस की पूजा शृङ्गार-रस की वस्तु से ही होनी चाहिये।

पाठको! सावधान! देवता और आराधिकाओं के स्वरूप पर लक्ष्य रखते हुए ही शृङ्गार का पाठ पढ़ना। शृङ्गार को पकड़ कर स्वरूप को छोड़ बैठने पर ही अश्लीलता का भान होता है। अश्लीलता वहाँ नहीं, यहाँ—अपने भाव में ही है। वहाँ तो अद्भुत अनिर्वचनीय-श्लीलता है। इनका चुम्बन, परिरम्भन कोई जागतिक बाह्य क्रिया नहीं, यह तो स्वगत स्वरूप क्रिया है। गोपियों के उरोज कवियों के मनोजघट नहीं हैं, यह अनुराग-रससार सरोवर का कमल है, तथा स्वानन्द मकरन्द से परिपूर्ण है। यथा—

सान्द्रानुरागरससारसरः सरोजं, किंवा द्विधा मुकुलितं मुखचन्द्रभासा।
तन्नूतनस्तनयुगं वृषभानुजायाः, स्वानन्दसीधु मकरन्दघनं स्मरामि॥

—राधासुधानिधि

इस श्लोक में श्रीराधाजी के मङ्गल उरोजों को सांद्रानुराग-रससार-सरोवर के कमल कहकर उनका स्मरण किया गया है। सांद्रानुराग का अर्थ है—निविड़-घनीभूत-अनुराग अर्थात् महाभाव। अनुराग का अर्थ है 'नवनवायमान प्रेम'। यथा—

"सदाऽनुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्। रागोऽभवत् नवोनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥"

—उज्ज्वल नीलमणि

प्रेम, बढ़ कर, जब प्रिय को नित्य नवीन, क्षण-क्षण में नवीन अनुभव कराने लगता है, तब उस प्रेम को अनुराग कहते हैं। तथा वही अनुराग बढ़ते-बढ़ते महाभाव को प्राप्त हो जाता है।

काम के नष्ट होने पर 'प्रेम' का उदय होता है और जैसे इक्षु-रस ही क्रमशः गुड़, खाँड़, शक्कर, मिश्री तथा कन्द (ओला) का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही 'प्रेम' भी क्रमशः प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, महाभाव का रूप धारण कर लेता है और वह श्रीराधा का स्वरूप है—"महाभावस्वरूपिणी राधाठकुरानी।" **"महाभावस्वरूपोऽयं गुणैरतिवरीयसि"** (उज्ज्वल नीलमणि) वह महाभाव अमृत रस स्वरूप है—**'वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्'** (उज्ज्वलनीलमणि) श्रीराधा इसी महाभावामृतरस की सरोवर-स्वरूपिणी हैं और उनके स्तन-युगल इस सरोवर के कमल

तुल्य हैं, तथा वे स्वानन्द-आत्मानन्द-सुधा-मकरन्दरस से परिव्याप्त हैं, विषयानन्द रूप काम से नहीं। अतएव मनोज घट नहीं–अनुराग रस घट हैं। श्रीराधा के स्तनघन, आत्मानन्द रूपी सुधा-सार की वर्षा करके स्वयं रसराज मदनमोहन को सुशीतल करने में समर्थ हैं, तो हम जीवों के समस्त मनोविकार को प्लावित कर रसमय-प्रेममय बना देने में उनको विलम्ब ही क्या ? अतएव एक बार ही स्मरण करके 'राधासुधानिधि' कार को तृप्ति नहीं होती है। अतः फिर वह अगले श्लोकों में स्मरण करते हुए प्रणाम करते हैं—

क्रीडासरः कनकपङ्कज कुड्मलाय, स्वानन्द पूर्णरसकल्पतरोः फलाय।
तस्मै नमो भुवनमोहन-मोहनाय, श्रीराधिके तव नवस्तन-मंडलाय॥

प्रथम श्लोक में उरोज-युगल को कमल फूल बताया गया है, इस श्लोक में उनको कल्पतरु का फल बताया है। परन्तु इसमें कोई भेद नहीं। दोनों में ही 'स्वानन्द' रस परिपूर्ण बताते हैं। अतएव यहाँ विषयानन्द का प्रयोजन ही क्या ? इसी कारण इनका आलिंगन, चुम्बन और रमण, अपूर्णानन्द तप्त-काम का बहिर्विलास नहीं है, यह है सम्पूर्णानन्द-आप्तकाम का अन्तर्विलास।

श्रीकृष्ण के ज्योतिस्वरूप में एक और विशेषता है—"जगतामेकाभिरामाद्भुतम्" वह त्रिलोकी में प्रधान एवं अद्भुत मनोहर है, कारण कि—यह नील ज्योति, दर्शन, श्रवण तथा स्मरण करने वालों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करके आकर्षण कर लेती है, मोहित कर लेती है। नील-ज्योति के दर्शन से मोहित हुई एक गोपी अपने चञ्चल चित्त की दशा का वर्णन करती हुई कह रही है—

"यदवधि यामुनकुञ्जेघनरुचिरमवलोकितः कोऽपि।
नलिनदलइव सलिलं तदवधि तरलायते चेतः॥"

सखि ! जबसे मैंने कोई एक नील-ज्योति के दर्शन यमुना-पुलिन के कुञ्ज में किये हैं, तब से मेरा चित्त कमल के जल की भाँति चञ्चल हो रहा है। तब दूसरी गोपी कहती है—'व्रज में ऐसा कोई एक अन्धकार का पुत्र है, कि जब वह वंशी में कोई एक मनोहर तान छेड़ता है तो व्रज में ऐसी कौन रमणी है जिसका हृदय काँप नहीं उठता हो, यथा—

"अस्ति कोऽपि तिमिरस्तनन्धयः किञ्चिदञ्चितपदं स गायति।
यं मनागपि निशम्य कावधूनावधूतहृदयोपजायते॥ —पद्यावली

यह नील ज्योति त्रिभुवन-मनोहर है यह पूर्व श्लोक के 'मधुरिमस्वाराज्यम्' में कह चुके हैं, श्रीकृष्ण के सखा नन्ददासजी भी यही कह रहे हैं—

कोउ एक ठाड़ो श्याम सलोनो गात है।
आय री देखि खिरक मुख ठाड़ो, न कछु कहन की बात है॥
कमल फिरावत नैंन दुरावत, मुरि मुरि मृदु मुसिकात है।
छबि के बल जग जीते गर्व भर्‌यो मैन मानो इतिरात है॥
अङ्ग अङ्ग रूप अनुपम ही, कहत कह्यो नहिं जात है।
नन्ददास चातक चंचु पुट, सब घन कैसे समात है॥

अतएव वह "जगतामेकाभिरामाद्भुतं ज्योतिः" जगत् का एकमात्र अभिराम कहना ठीक है।

श्रीकृष्णदास कविराज ने अपनी टीका में इस पद का अर्थ श्रीराधा-परक किया है। वे कहते हैं—"**जगतां, तत्स्पर्शतृष्णयाभितः कुटिलं भ्रमन्तीनां तासां मध्ये एकस्यां श्रीराधायामभि सर्वतोभावेन यो रामो रमणं, तेन पश्यतां स्मरतां चाद्भुतचमत्कारकारकम्। तयासहमिथः स्कन्धन्यस्तहस्ततया कृत नृत्यत्वात्।**" अर्थात् श्रीकृष्ण के चारों ओर उनको स्पर्श करने की लालसा से व्रजांगनायें नाना प्रकार की वक्र गति से नृत्य कर रही हैं, उनके मध्य में एक मुख्या श्रीराधा हैं, उनका सर्व प्रकार से अपने प्रियतम के साथ जो रमण है—वह अद्भुत है। वह दर्शन-स्मरण करने वालों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न कर देता है। तात्पर्य श्रीराधा-कृष्ण गलबांहीं देकर जो—मधुर नृत्य कर रहे हैं वह अद्भुत अनिर्वचनीय दृश्य है।

नन्ददास जी भी मानों इसी का अनुवाद करते हुए कह रहे हैं—

छबीले नीलघन की पूतरी क्रीड़त है श्रीवृन्दावन माँहि।
विविध भूषन धरे, वंशी करतल करे, चलत देखत परछाँहि॥
सब ही को हिय हरषैं, शोभा बूँदनि बरषैं, गोपी लोचन चातक पियतहि जाहिं।
नन्ददास प्रभु कोऊ एक दामिनी सी ढिंग वनिता के डारे गरवांहि॥

यह ज्योति स्वरूप सदैव मेरे हृदय में प्रकाशित होता रहे—यही इस श्लोक में विल्वमङ्गलजी की प्रार्थना है।

विल्वमङ्गल ने चिन्तामणि के मुख से अनेक बार उसके घर पर ही राधाकृष्ण-लीला का कीर्तन सुना था। जीवन को परिवर्त्तित करने वाली उस चिरस्मरणीय रात्रि को भी चिन्तामणि ने विल्वमङ्गल को रासलीला

कीर्तन करके श्रवण कराया था ! रासलीला श्रवण तो अनेक बार किया था, परन्तु आज के श्रवण ने उसकी जीवनधारा को पलट दिया।' लीला-श्रवण उसका आज ही सार्थक हुआ है। तीव्र वैराग्य के साथ ही तीव्र लोभ भी जाग उठा। श्रीराधाकृष्ण की मधुर सेवा के लिये उसका चित्त लालायित हो उठा। बस–यही प्रयोजन है, यही परम पुरुषार्थ है, यही उसके चित्त में दृढ़ अंकित हो गया है। अनन्तर सोमगिरि के निकट जाकर शास्त्रविधि के अनुसार गोपाल मन्त्र की दीक्षा लेकर व्रजभावना की उपासना का व्रत ले लिया।

इस मधुर-शृङ्गार भाव की उपासना के सम्बन्ध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण के साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय में नहीं है, सबका सम्बन्ध श्रीराधाजी के श्रीचरण से ही है। अर्थात् श्रीकृष्ण से सीधा मधुर सम्बन्ध स्थापित कर उनकी प्रिय-कान्ताओं के पद को प्राप्त करना मधुर उपासना में सम्भव नहीं है। इसमें तो श्रीराधा-चरण दासी बन करके ही श्रीराधाकृष्ण की नित्य-निकुञ्ज सेवा का अधिकार प्राप्त होना सम्भव हो सकता है।

इसके लिये साम्प्रदायिक-गुरुप्रणाली के द्वारा सिद्ध-सखी स्वरूप का उपदेश प्राप्त करना होता है। व्रजलोकानुसारी भाव की प्राप्ति के लिये उसकी साधना दो प्रकार से होती है—साधक रूप से अर्थात् यथावस्थित देह से अपने को श्रीकृष्ण का दास मान कर उनकी सेवा पूजा आदि करते रहना, दूसरा—सिद्ध रूप से अर्थात् अन्तश्चिन्तित देह द्वारा श्रीराधाकृष्ण की निकुञ्ज लीला का स्मरण करते रहना। यथा—

"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥"

—भक्तिरसामृतसिंधु

सेवा में तत्पर सदा व्रजवासीजनों के निज-अभीष्ट श्रीकृष्ण के प्रियजनों के भाव की आकांक्षा करता हुआ उनका अनुसरण करे। इतना ही नहीं यथा सम्भव शरीर से भी सदा वृन्दावन वास करे, यथा—

"कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसभीहितम्।
तत्तत् कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥"

—भक्तिरसामृतसिंधु

साधक को ये चार बातें धारण करनी चाहिये—१-साधक तथा

सिद्ध देह से श्रीकृष्ण का स्मरण करे। २–उनके प्रियतम सखा, सखी, यशोदा-नन्दबाबा आदि में से जिनका भाव अपने को वांछित हो, उनका स्मरण करे। ३–उन-उनकी कथा श्रवण करे तथा, ४–व्रज में सदा वास करे। देहान्त होने पर मधुर भाव वाला रागानुरागी भक्त सिद्ध सखी देह से निकुञ्ज को प्राप्त होकर श्रीराधाकृष्ण की प्रेम सेवा का नित्य अधिकारी बनता है। व्रज भावानुसारी राग प्राप्ति के लिये साधक को श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहिये—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिताः।
श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां धनम्,
यस्मिन् पारमहंस्य मेकममलं ज्ञानं परं गीयते॥

व्रजेन्द्रनन्दन की आराधना, उनके धाम श्रीवृन्दावन में वास, व्रज-बधुओं के द्वारा कल्पित रम्या-उपासना, केवल परमहंसों का सेव्य और वैष्णवों का परमधन–श्रीमद्भागवत ही जिनके जीवन का परम लक्ष है—ऐसे साधक ही श्रीराधाकृष्ण की चरण-सन्निधि में सखीभाव से पहुँचते हैं।

"अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार।
रात्रि दिन चिन्ते राधा कृष्णेर विहार॥
सिद्ध देह चिन्ति करे ताहाइ सेवन।
सखिभावे पाई राधा कृष्णेर चरन॥"

—चैतन्य चरितामृत

मधुर भाव में रति की तीन दशायें होती हैं—पूर्वानुराग, मिलन तथा विच्छेद। "पूर्वराग—श्रीकृष्ण से प्रीति हो गई, किन्तु साक्षात्कार नहीं हुआ, इस अवस्था का नाम पूर्वराग है। इसकी उत्पत्ति के आठ कारण हैं—साक्षात् दर्शन, चित्रपट दर्शन, स्वप्न दर्शन, बन्दी मुख से गुण श्रवण, दूती-मुख से श्रवण, सखी मुख से श्रवण, गीत श्रवण तथा वंशी श्रवण। इनके द्वारा श्रीकृष्ण में मधुर प्रीति उत्पन्न होती है—तब जगन्नाथ ही प्राणनाथ बन जाते हैं, फिर उनसे साक्षात् मिलने के लिये प्राण व्याकुल हो उठता है। इसी का नाम पूर्वराग है।"

पूर्वराग की दस अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं--१–अभिलाषा–अन्याभिलाषाओं को छोड़कर चातकवत् स्वाँति बूँद की आशा, २–चिन्ता—मृत्यु-दण्ड प्राप्त व्यक्ति की भांति आठों पहर उसी का अहर्निश चिन्तन,

३–स्मृति—प्रियतम का चित्र मन और आँखों के सामने झूलते रहना, ४- गुण-कीर्तन—चित्त की शान्ति के लिये प्रिय का गुण कीर्तन करना, ५–उद्वेग—चित्त में अशान्ति-वेकली-तड़फड़ाहट का होना, ६–प्रलाप, व्यर्थालाप–अर्थशून्य वार्ताएँ। [परन्तु प्रलाप निरर्थक होते हुये भी महान् गूढ़ार्थक होता है यह हम पहले कह आये हैं] ७–उन्माद, ८–व्याधि, ९–जड़ता, मोह, तथा १०–मृत्यु (मृत्यु समान मूर्च्छा)। यहां हम उन्माद की चर्चा कर रहे हैं—

"सर्वावस्थासु सर्वत्र तन्मनस्कतया सदा।
अतस्मिंस्तदिति भ्रान्तिरुन्माद इति कीर्तितः॥"

—उज्ज्वलनीलमणि

अर्थात् इष्ट वस्तु में तन्मयता के कारण सर्वावस्था में, सर्वत्र, सर्व समय, सर्ववस्तु में अपनी इष्ट वस्तु की भ्रान्ति का नाम ही उन्माद है, यथा–

"स्थावर जङ्गम ना देखे, देखे तांर मूर्ति।
जहाँ जहाँ नेत्र पड़े तहाँ इष्ट स्फूर्त्ति॥"

—चैतन्य चरितामृत

बाटन में घाटन में वीथिन में बागन में,
बेलिन में बाटिका में कूलन में वन में।
दरन में दिवारन में देहरी दरीचन में,
हीरन में हारन में भूषन में तन में॥
कानन में कुञ्जन में गोपिन में गायन में,
गोकुल में गोधन में, दामिनी में घन में।
जहाँ जहाँ देखौं तहाँ श्याम ही दिखाई देत,
'शालिग्राम' छाय रह्यो नैनन में मन में॥

इतना ही नहीं, वहाँ तो द्वैत-अद्वैत का झगड़ा ही खत्म हो जाता है—'एकमेवावशिष्यते'—

'ब्रह्म नहीं माया नहीं, जीव नहिं तहँ काल।
अपनी हू सुधि ना रही, रह्यो एक नन्दलाल॥'

भला यह दर्शन, वायु रोग वाले उन्माद में कहाँ? इसी लिये हम आरम्भ में कह आये हैं कि यह प्रेमोन्माद दिव्य है, शुद्ध सत्त्वमय है—परमोज्ज्वल एवं निर्भ्रान्त है। यही कारण है कि—विल्वमङ्गल के मुख से ऐसे अनमोल बोल लीला-रस-सागर से प्रकट हो रहे हैं।

अवस्था तो इतनी ऊँची है कि जिसमें बाहर-भीतर श्रीकृष्ण की ही

स्फूर्त्ति हो रही है, इसे साधारण दृष्टि से तो सिद्ध-अवस्था ही समझना चाहिये, परन्तु रसशास्त्र विल्वमङ्गल को साधक-भक्त निश्चित कर रहा है, साधक का लक्षण भी विलक्षण ही बताया गया है—यथा—

उत्पन्न-रतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्ण-साक्षात्कृतौ योग्याः साधका इति कीर्त्तिताः॥
विल्वमङ्गल तुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्त्तिताः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु १-१०४-१०६

जिसको श्रीकृष्ण विषयक-रति प्राप्त हो गई है, एवं जो श्रीकृष्ण के साक्षात्कार-योग्य-अधिकारी बन गया है, किन्तु किसी संस्कारजन्य विघ्न के कारण अभी साक्षात्कार नहीं हो रहा है, उसका नाम है साधक भक्त—यथा विल्वमङ्गल। अर्थात् हृदय में श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं अब केवल नेत्रों के सन्मुख नृत्य करना अवशेष है। यह साक्षात्कार की निकटतमा अवस्था है, सिद्धप्रायः अवस्था है। इस लिये विल्वमङ्गल को साधक न कह कर सिद्धप्रायः ही कहा जाता है। इस अवस्था में हृदय की वेकली वाणी का विषय नहीं है। शब्द सुनाई पड़ रहा है, परन्तु वस्तु दिखाई नहीं दे रही है। अथवा वस्तु दिखाई दे रही है तो पकड़ में नहीं आ रही है—मृग जैसे अपने मदगन्ध से उन्मत्त हो जाता है, वैसी ही अवस्था साधक की भी हो उठती है। इसी प्रेमोन्मत्त अवस्था में विल्वमङ्गल वृन्दावन को जा रहे हैं और श्रीकृष्णलीला-स्फूर्त्ति-पूर्ण श्लोकों को उच्चारण करते हुए दर्शन के लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

वृन्दावन-दर्शन की लालसा में विल्वमङ्गल उन्मत्त की भाँति चले जा रहे हैं, ये अवस्था उनकी दो प्रकार की है—बाह्य तथा अन्तर। अतएव श्लोकों के भी द्विविध अर्थ किये गये हैं। जब उत्कण्ठा की प्रबल तरङ्गों में मन-मतङ्ग डूब जाता है, और हृदय में श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति हो आती है और बाह्य जगत् के साथ मन का भी सम्बन्ध छूट जाता है—तब उसका नाम 'अन्तर्दशा' है। तब विल्वमङ्गल अपने को सिद्ध-सखी-स्वरूप में सखी-मण्डल में स्थित करके लीला का अनुभव करते हैं और जब वह स्फूर्त्ति लोप हो जाती है तब लीलारस में डूबा हुआ मन छटपटा कर बाहर निकल आता है और पुनः जगत् से उसका सम्बन्ध हो जाता है तब उसे बाह्य दशा कहते हैं। इस दशा में विल्वमङ्गल विरही-साधक के आवेश में दैन्य तथा उत्कण्ठा पूर्ण-प्रलाप करने लगते हैं।

मूल श्लोक-कोकिलकम् छन्दः—

मधुरतर-स्मितामृत-विमुग्ध-मुखाम्बुरुहं,
मद-शिखि-पिच्छ-लाञ्छित-मनोज्ञ-कच-प्रचयम् ।
विषय-विषामिष-ग्रसन-गृध्नुनि चेतासि मे,
विपुल-विलोचनं किमपि धाम चकास्तु चिरम् ॥ ५ ॥

पद्यार्थ—**मुग्ध मुखाम्बुज मधुरहास-पीयूष बहाता ।**
मोर-पिच्छ कुन्तल-कुल से मिलकर इठलाता ॥
श्याम-शिखा चिर आलोकित हो मेरे मन में ।
लगा रहा जो विषय-विषामिष के भोजन में ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस (प्रकाशपुञ्ज श्रीकृष्ण) का माधुर्यपूर्ण मुखारविन्द सुधा-तुल्य मुस्कराहट के सम्पर्क से अधिकाधिक मधुर लग रहा है, जिसका कमनीय केश-पाश मत्तमयूर के पङ्खों से मिलकर विशेष शोभा को प्राप्त कर रहा है; जिसके कमल-दल-तुल्य ललित विलोचन अतिशय विशाल हैं—ऐसा वह अद्वितीय तेजःपुञ्ज मेरे इसी विषय-रूप विषैले मांस के लोभी चित्त में निरन्तर प्रकाशित होता रहे ॥ ५ ॥

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक के अनुसार श्रीविल्वमङ्गल त्रिभुवन-मोहन नयनाभिराम वृन्दावन श्याम-धाम की माधुरी का दर्शन करते हुए कीर्तन कर रहे हैं। उसका आस्वादन करते-करते एक दूसरी छबि-माधुरी उनके मानस-पटल में जाग उठी। प्रथम-दर्शन के तेजोमण्डल से नेत्र अभी अभ्यस्त ही हो पाये थे कि तब तक दूसरा तेजपुञ्ज जगमगा उठा, नेत्र निमीलित हो गये, पुनः शनैः-शनैः उन्मीलन करके अवलोकन करते हुए बोले—

"**किमपि धाम मे चेतसि चकास्तु चिरम्**"। यह जो एक अद्भुत अनिर्वचनीय ज्योति है, वह मेरे हृदय में सर्वदा जगमगाती रहे, यह नील तेजपुञ्ज मेरे मन-मन्दिर को सदा आलोकित करता रहे, एक क्षण के लिये उदय होकर दूसरे क्षण में ही विलय न हो जाय ? 'चिरं चकास्तु' यह ज्योति सदैव जगमगाती हुई जमी रहे।

"हे मेरे श्याम ज्योति ! यदि तुम यह कहो कि—मैं तो सदा प्रस्तुत हूँ, मेरे ठहरने के लिये कोई सुन्दर स्थान तो बताओ ? जहाँ मैं स्थित होकर जगमगाता रहूँ ? यदि तुम अपने चित्त की बात कहो ? तो तुम्हारा चित्त तो विषय-विषामिष से ग्रसित है।"

"हाँ ! ठीक है प्रभो !" मेरा चित्त तो 'विषय-विषामिषग्रसन-गृध्नुनि' है—"विषय-विष रूप आमिष (मांस) ग्रास करने में लोलुप है। मैं जानता हूँ कि यह विषय शूकर की शूकरी विष्ठा से आरम्भ करके ब्रह्मा की ब्रह्माणी और ब्रह्मलोक पर्यन्त सब विष ही हैं—विशेष—दाहकारी हैं। विष तो एक ही जीवन को समाप्त करता है, किन्तु विषय-विष सहस्र-सहस्र जन्मों तक व्याप्त रहकर संतप्त करता रहता है। तथापि जैसे मीन आमिष (मांस) के लोभ से काँटे को भी निगल जाता है, वैसे ही मेरे चित्त ने भी विषय-विष को आमिष समझ रक्खा है, इसी कारण इसके लोभ को परित्याग करने में असमर्थ है। इस प्रकार से विषयों ने मेरे चित्त को विशेष रूप से, जन्म-जन्मान्तरों से ही फँसा कर बाँध रक्खा है। इसमें कोई सन्देह नहीं !"

"तो फिर मैं क्या करूँ ?"

तुम ? तुम अपनी ओर तो देखो, कि तुम कौन हो ?

तुम तो निराकार ज्योति नहीं हो ? साकार ज्योति हो ? यदि तुम निराकार ही होते तो तुम जैसे—अन्ध, वधिर, मूक, पंगु, खंज, अतनु, अमना, अरूप, अनाम कूट-ठूँठ (स्थाणु) से कौन कहता-सुनता, कौन तुम्हें पुकारता ? कौन तुम्हारे लिये रोता-सिसकता ?

सुना है कि उस निराकार से तो अनादि काल से लेकर आज तक संसार रूप वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं टूटा है—**"एकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत्"**—श्रीधरस्वामी। इसलिये तो अच्छा यही था कि मैं आपही कमर कसकर लग जाता। कुछ भी न हो पाता तो—भूसे को कूट-काट कर हार-झखमार कर, अपना-सा मुँह लेकर रह जाता ! परन्तु भरोसा इतना ही है कि तुम केवल निराकार ही नहीं—साकार भी हो, 'निर्गुनी' नहीं, दयालु भी हो और दयालु इसीलिये कि—हम जैसे डूबतों को आपकी व्यक्ति-प्राकट्य स्वरूप-रूप नौका सहज में प्राप्त हो जाय ?

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ —भागवत

तुम्हारा नाम नौका है, तुम्हारा पद नौका है और तुम्हारे यह "विलोल विलोचन" भी तो नौका ही हैं—

मोहन नैना आपके, नौका के आकार।
जो जन इनमें बस गये, हो गये भव से पार॥

"नहीं-नहीं, इनमें बसजाने-बैठजाने योग्य यह मेरा—विषयविषामिष-

भोजी चित्त उपयुक्त नहीं है, इन नयनों को ही एक बार मेरे चित्त में बैठा दो न प्रभो ! करदो न,—'नयनावतार ?' यह मेरा चित्त महा चञ्चल है तो क्या ? आपके भी तो मोरपंख की आँखें नहीं हैं, 'लोचन' हैं—'विलोचन' हैं और "विपुलविलोचन" हैं। चञ्चल से भी महाचञ्चल हैं और रसहीन नहीं—रस से छलछलाते हुए हैं। टिमटिमाती हुई हाथी की-सी आँखें नहीं हैं, डहडहाते हुए मृग के से विपुल विलोचन हैं। अतएव नाथ ! कर दो न एक बार—"विलोचनावतार" सचमुच आपका यह—'लोचनावतार' आपके प्रेमियों के लिये परम-आस्वाद्य होगा। अतः प्राणेश ! आइये, अवश्य आइये, इसी रूप में आइये ! अरे ! नहीं, नहीं, भूल गया, प्रभो ! प्रथम तो वदनावतार होगा, तब ही न नयनावतार हो सकेगा ! वदनारविन्द के विना नयनारविन्द कहाँ ? कैसा है आपका वदन कमल ? **"मधुरतरस्मितामृतविमुग्ध मुखाम्बुरुहम्"** मधुर से भी मधुर, मन्दस्मित, अमृत से भी अधिकसुस्वादु आपका मुख कमल है। कमल की शोभा, स्निग्धता, कोमलता, शीतलता, सौगन्ध्य तथा माधुरी, उसके मकरन्द (रस) से ही तो है। आपके मुख कमल में भी जो मधुर से मधुर मन्द हास्य है—वही अमृत रस है। वह आपके मुख कमल के प्रत्येक दल में व्याप्त है, नयनदल में, गण्डयुगल में, भाल विमल में, ओष्ठाधर-दल में, चिबुक-स्थल में,—सर्वत्र ही तो व्याप्त है। अतएव आपका मुख कमल "विमुग्ध" विशेष-मनोहर बना हुआ है। वैसे तो यह मुख कमल सदा ही स्वतः मनोहर है, तथापि इस समय मन्दस्मित सुधासार के कारण विशेष मनोहर प्रतीत हो रहा है।

रूप भरे रङ्ग भरे, मधुस्मित गन्ध भरे,
भरे मकरन्द मुखपंकज में पागि रहे।
मद भरे मोद भरे, मोरपंख शीश धरे,
कारे घुंघरारे कच कपोलन पै लागि रहे॥
लाड भरे लोभ भरे, लोचन वे लोच भरे,
करैं चुगल छिनहिं श्रुती मूल भागि रहे।
"प्रेम" चित्त विषै भरे, जाय रस सबै मरे,
ऐसो धाम श्याम कोऊ मेरे उर जागि रहे॥

अहा ! कमल तो क-मल है और यहाँ तो मुख ही कमल है इस कमल में यह स्मित, यह सौरभ, यह सुधा, यह नित्य नव-नव विकास एवं विलास कहाँ ? कमलाश्रित मधुकर को तो प्राण-नाश का भय रहता है और मुख-कमलाश्रित मधुकर तो सदा निर्भय ही रहता है। कमल के रस को लेकर

मधुकर उड़ जाता है परन्तु मुख कमल का मधुप तो सदा के लिये उसमें फँस जाता है। मेरे भी इस विषयाविष्टलोलुप मन को इस सुधा में फँसा लो न नाथ ?

अति चञ्चल जो मन की गति है, अलि रूप सुमन वन में फिरिये।
इन कुण्डल लोल कपोलन की, अलकें झलकें चित्त में धरिये॥
वर वेंदी भाल विसाल दिये, अधरान में मोती थरहरिये।
अलवेले विहारी विहारिन को, दिन रैन निहारन ही करिये॥

—विहारिनदास

"इस निहारने के लिये ही तो वदनावतार की प्रार्थना है कि—"चिरं चकास्तु।"

हे मेरे 'किमपि धाम' हे मेरी अनिर्वचनीय ज्योति, मैं नहीं जानता कि तुम हो क्या ? और मैं तुमको कहूँ क्या ? प्रथम तुम मुझको ज्योतिःपुञ्ज के रूप में प्रतीत हुए। पश्चात् एक ज्योतिर्मय तमालतरु के रूप में नयनगोचर हुए। तदनन्तर एक ज्योतिर्मयी कमलावली के समान प्रकाशित हुए। अन्त में केवल मधुमात्र, मधुमय, अमृतमय ज्ञात हुए। इसीलिये तुम्हारा क्या नाम लूँ ? क्या रूप बताऊँ ? 'योऽसि सोऽसि' तुम भले हो ? जो हो-सो हो, मेरे हृदय में तो सदा ऐसे ही चमकते रहो, ऐसे ही बरसते रहो—फिर यह 'विषयविषामिष' का लोभ अनायास ही लोप हो जायगा। यह चित्त तो रसग्रह है और आप भी रसग्रह हो—फिर कौन किसको छोड़ सकता है—"पुनर्विहातुमिच्छेत् न रसग्रहो यतः" (भाग० १-५-१९) तथा "रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गीता० २-५९) इतने पर भी—नाथ ! यदि यह मन मचलने लगे तो "मदशिखिपिच्छलाञ्छितमनोज्ञकचप्रचय" में फँसा लेना। आपके शीश पर जो मोर के पङ्ख हैं, ये पङ्ख नहीं हैं, ये तो 'मदन-वाण के तुरें' फहरा रहे हैं, इनसे मेरे इस चञ्चल चित्त को भली भाँति बींध कर अपने बिखरे कच-जाल की लपेट से गिराकर फाँस लेना, तभी तो आपके ये कच मनोज्ञ एवं मनोहर सिद्ध होंगे—

"मेरे बालमुकुन्द के निखरे बिखरे बाल।
बिखरे मन को बाँधता यह बिखरा कच जाल॥"

इस श्लोक का एक दूसरा अर्थ भी है। उपरोक्त अर्थ साधक विल्वमङ्गल की दैन्यपूर्ण प्रार्थना है। इसे बाह्य दशा का अर्थ भी कहते हैं। अब सखीरूपा विल्वमङ्गल की अन्तर्दशा का अर्थ सुनिये—इसको अन्त रंग लीला

परक अर्थ, कहते हैं,—सखी, चिन्तामङ्गल कहीं, कुञ्ज में, अपनी एक सखी के प्रति कह रही है कि हे सखी ! यह अनिर्वचनीय मधुमयज्योति मेरे हृदय में सदा उदित रहे। इसके अंग-अंग में माधुर्य का सिन्धु भरपूर है। इसकी तरल तरंगें मेरे नेत्रों को सदा सींचती रहें।

दूसरी सखी उसके मुख से श्रीकृष्ण कथामृत पान करने के लिये श्रीकृष्ण के प्रति कटाक्ष करती हुई बोली—हे सखि ! यह श्रीकृष्ण तो सदा दुखदायी हैं, मिलने से पूर्व मिलने के लिये दुख देता ही है। मिलते समय बिछुड़ जाने के भय से दुःख देता है तथा बिछुड़ने पर तो दुःखसागर में ही डुबो जाता है। ऐसे त्रिकालव्यापी-संतापी कृष्ण के प्रेम में क्या सुख है ? उसकी प्राप्ति की लालसा-अभिलाषा का त्याग क्यों न कर दो ?

तब सखी रूप विल्वमङ्गल उत्तर देती है—सखि ! वह 'विषयविषामिषग्रसन···' है, अर्थात् प्रिय सखी ! उसकी माधुरी विषयरस भी है और विष भी है। इसका लोभ चित्त से छुड़ाये नहीं छूटता, उसका रूप ही विषय है, कारण कि वह चित्त-भृङ्ग को अपने माधुर्यमधु से विशेष बलपूर्वक बाँध लेता है, अतएव मधुर है। तथा वह विष की भाँति दाहकारी भी है। मेरा चित्त इसे जानता है तथापि इसके ग्रसन के लोभ का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि चित्त का स्वभाव—'रसग्रहः' है, रस को ग्रहण करता है और उधर वह रूपमाधुरी भी 'रसग्रहः' है। दोनों ही रसग्रह हैं। रस को पकड़ने पर चित्त स्वयं छूट नहीं सकता और रस (कृष्ण) चित्त को पकड़कर छोड़ नहीं सकता। यह श्रीकृष्ण का प्रेम केवल रस ही नहीं—विष भी है बाहर तो विष की ज्वाला जलती है और अन्दर आनन्द की हिलोरें उठती हैं। यह कृष्ण-प्रेम की अद्भुत गति है। यह मृत को संजीवित कर देता है और जीवित को जीवन-मृत बना देता है, यह "तप्तइक्षुचर्वण" है, गरम गन्ने का रस पीना है—निकाला भी नहीं जाता और निगला भी नहीं जाता। यथा—

"बाहिरे विष ज्वाला हय, भीतरे आनन्दमय, कृष्णेर अद्भुत चरित।
एह प्रेमा आस्वादन, तप्त इक्षु चर्वण, मुख ज्वले ना जाय त्यजन॥
सेइ प्रेमा जार मने, तार विक्रम सेइ जाने, विषामृत एकत्र मिलन।"

—चैतन्य चरितामृत

श्रीकृष्ण-प्रेम विष और अमृत का एक मिलन है। इसमें विष तो इतना है कि सद्यःजात हलाहल राशि की तीक्ष्णता को भी तुच्छ कर देता है और इसमें अमृत इतना है कि अमृतधारा की माधुरी को भी फीका कर देता है। यथा—

पीडाभिर्णवकालकूट कटुतागर्वस्य निर्वासनो,
निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहंकारसंकोचनः ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे,
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ।।

—विदग्धमाधव २-१९

विष और अमृत के संमिश्रण का एक और उदाहरण देखिये—

निमे सुधा दिया, एकत्र करिया, ऐछन कानुर लेह ।
कानुर पिरीति बाहिरे सरल अन्तरे गरल हय ।।
कानुर पिरीति चन्दनेर रीति, घषिते सौरभमय ।
घषिया आनिया हियाय लइते, दहनद्विगुण हय ।। —चण्डीदास

कानु का प्रेम ऐसा है जैसे नीम और सुधा को एकत्र कर दिया हो, कानु की प्रीति बाहर से सरल लेकिन अन्तर में विष जैसा दाह पैदा करती है। कृष्ण की प्रीति चन्दन की रीति वाली है, जो घिसने पर तो सौरभ फैलाती है, पर घिस कर हृदय पर लगाने से दुगुनी जलन पैदा करती है।

परन्तु जिस भाग्यवान के हृदय में यह कृष्ण प्रेम उदय होता है, वही इसकी बाँकी-सीधी चाल को, विषामृत-पराक्रम को अनुभव कर सकता है। गोपियों को इसका पूर्ण अनुभव है, तभी तो वे "तवकथामृतं तप्तजीवनम्" कहकर श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर उनकी कथा को गाती हुई क्षण में उसे अमृत कहकर प्रशसा करती हैं और क्षण में विष कहकर निन्दा भी करती हैं—

"अवर तुम्हारी यह कथा, अमृत सम ताप बुझावै ।
अमर अमृत कूं तुच्छ करै, ब्रह्मादिक गावै ।।" —नंददास

अमृत तो वसे ठौर इक स्वर्ग विच कहिये ।
घर घर कथा सुधारस वरषत भरि भरि लहिये ।।
अमृत तो विष विषय बढावत, तुम कूं दुरावै ।
कथा सुधा पल पल में तुम्हरो चाव चढ़ावै ।।
अमृत के अधिकारी अमरागण स्वरग निवासी ।
कथा सुधा में न्हावत चौदह लोक निवासी ।।
कथा ही सों हम ताप सिरावैं प्रानन धारैं ।
बूड़न कूं अवलम्ब ज्यूं गुन गनहिं सम्हारैं ।।

* * *

तब इक मानिनी बोल उठी कित बात सुनावहु।
चर्चा वाकी जरावति तन मन नाहक गावहु॥
कथा अमृत है जो लौं नैनन आगे सलोने।
वा विन वात जरात है वाकी तन मन कोने॥
अमृत नहिं मृत है यह, मृत्यु कारण कहिये।
तपे भये कूं जीवन नहिं यह ज्वाला दहिये॥
छींट परै द्वै लौह तप्त ज्यों अधिक तपावै।
विरह ताप सिरात नहिं चर्चा सों बढ़ि जावै॥
कवि कुल कथत वकत वक्ता ए कथा सुखदाई।
घायल विन को जाने प्रिय की प्रेम कथा दुखदाई॥

* * *

इस प्रकार यह विष होने पर भी सुदुस्त्यज है। एक बार स्वाद लग जाने पर त्रिकाल में भी नहीं छूटता। प्रमाण खोजने को कहीं नहीं जाना है, देख लो न! इन गोपियों की दशा? गोपियों के विना प्रेम की परिपाटी का प्रमाण ही और कहाँ है? नारदजी को भी तो इन्हीं का प्रमाण देना पड़ा है—"**यथा व्रजगोपिकानाम्**।" उद्धव ने भी कहा कि—हे गोपियो! तुम तो कहती हो कि—उस काले-क्रूर-कपटी से हमारा कोई प्रयोजन नहीं, परन्तु जब से मैं आया हूँ, तब से देखता हूँ कि तुम निरन्तर उसी की कथा कह रही हो, मुख से और कोई बात निकलती ही नहीं। छोड़ो, उस कपटी की कथा को। दोषी के दोषों को गा-गाकर सुनाने वाले का चित्त भी दोषी हो जाता है? इस पर गोपियां कहती हैं—"अलमसित सख्यैः" उस काले की मैत्री को तो नमस्कार है—खूब भरपा लिया—उससे, परन्तु करें क्या? हम यह जानती हैं कि इसने राम रूप में बालि को व्याध के समान छुपकर निर्दयता से मारा था, इन्होंने अपनी स्त्री के वश होकर बेचारी शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये थे, हमने यह भी सुना है कि इसने ब्राह्मण के घर जन्म लेकर, सर्वस्व समर्पण करने वाले राजा वलि को वरुणपाश से बाँधकर पाताल में डाल दिया था, परन्तु उद्धव! हमें इस बहुरूपिया कृष्ण से ही क्या? हम तो किसी भी काली वस्तु के साथ मित्रता नहीं करना चाहतीं?

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेलुब्धधर्मा स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् यस्तदलमसित सख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

—भागवत १०-४७-१७

फिर भी हम सच कहती हैं—भ्रमर! एक बार भी उसकी कथा-

चर्चा का चसका जिसको लग गया, वह चाहने पर भी उसे छोड़ नहीं सकता, "दुस्त्यजस्तत्कथार्थ" उसकी कथा को छोड़ना दुस्त्यज है। उसने हमको छोड़ दिया तो क्या ? उसकी कथा तो हमको नहीं छोड़ रही है। यद्यपि काले से हमारा कोई प्रयोजन नहीं, परन्तु उसकी कथा से तो हमारा सर्व प्रयोजन है, इस विरह-सागर में हमारे लिये कथा ही एकमात्र नौका है। अरे मधुप ! उसकी कथा केवल "कर्णपीयूष"—श्रवण करने में ही अमृत है 'श्रवणमङ्गल' है, जीवन-मङ्गल नहीं है, अपने और पराये जीवन के लिये तो यह महा-अनर्थकारी है। इसकी एक बूँद एक बार भी जिसको मिल जाती है, उसके संसार के सब सुख छूट जाते हैं, उसका हृदय कठोर बन जाता है और वह अपने आश्रित-अनाथ, असहाय, माता, पिता, स्त्री, सन्तानादि सबको छोड़ भिखारी बन जाता है। मनुष्य से पक्षी हो जाता है और मारा-मारा उड़ता-फिरता है—

यदनुचरितलीला कर्णपीयूषविप्रुट् सकृददन विधूत द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यांचरन्ति॥

—भागवत १०-४७-१८

अरे मधुप ! जब उसकी लीला कथामृतसिंधु के एक विन्दु का—एक बार पान करने का यह फल है तो हम तो उस अगाध-सुधासिन्धु में ग्यारह वर्ष तक मीन बनकर अहर्निश किलोल करती रही हैं। इससे हमारी जो दुर्दशा हुई है—उसको तो अरे मधुप ! तू नेत्र उठाकर चारों ओर इन लताओं के नीचे देख क्यों न ले ! श्यामसुधासिन्धु की मछलियां धूल में तड़फड़ाती-तड़फड़ाती शान्त पड़ी हैं—सौ-पचास नहीं,सहस्र-सहस्र मछलियाँ ! तथापि उस काले की यह कथा दुस्त्यज है – प्राण छूट रहे हैं—पर यह कथा नहीं छूट रही है। यह है श्रीकृष्ण प्रेम का वक्र-मधुर-विक्रम-विषामृत का एकत्र मिलन ! बाहर विष ज्वाला, भीतर आनन्द माला। इसके एकमात्र अन्यतम साक्षी हैं श्रीगौरचन्द्र श्रीकृष्णचैतन्यदेव महाप्रभु।

श्रीजगन्नाथपुरी की घटना है। एक दिन महाप्रभु समुद्र स्नान को जा रहे हैं। उस समय उनकी दृष्टि चटक पर्वत पर जा पड़ी, उसे गोवर्धन पर्वत समझ उन्मत्त होकर उसकी ओर दौड़े, परन्तु थोड़ी दूर जाते ही भावोद्रेक में स्तम्भित होकर गिर पड़े। देह का वर्ण श्वेत शङ्ख जैसा हो गया। रोम कूप फूलकर व्रण के समान हो गये। उनमें से प्रस्वेद के साथ रुधिर की धारा बह चली तथा नेत्रों से गङ्गा, यमुना-सी अश्रुधारा समुद्र की ओर बह चली। स्वरूप—दामोदर, जगदानन्द, गोविन्द आदि साथीगण

प्रभु की यह अवस्था देख रोने लगे, तथा उच्चस्वर से सङ्कीर्तन करने लगे। बहुत देर में जाकर प्रभु "हरिबोल" कहते हुए उठ बैठे और चारों ओर चकित होकर देखने लगे और गद्गद कण्ठ स्वर से बोले मुझे गोवर्धन पर्वत से यहाँ कौन ले आया ? हाय ? कृष्ण लीला देखते-देखते पूरा देख भी नहीं पाया ? श्रीकृष्ण गोवर्धन पर चढ़कर वेणु बजा रहे हैं नीचे तलहटी में चारों ओर गौ चर रही हैं।

वेणुध्वनि को सुन गोवर्धन की एक कुञ्ज से निकल कर सखियों के साथ श्रीराधा आ पहुँचीं ! सखियो ! उनके रूप और भाव को मैं क्या वर्णन करूँ ? श्रीकृष्ण और श्रीराधा ने गलवाहीं देकर गिरिराज की कन्दरा में प्रवेश किया ! सखीगण इधर-उधर फूल चुनने चली गईं। हाय ! ऐसे सुख के समय में तुम लोगों ने कोलाहल मचाया और वहाँ से पकड़ कर मुझे यहाँ ले आये, यह बड़ा अनर्थ किया ? वृथा दुःख देने के लिये मुझे क्यों ले आये ? हाय ! हाय ! कृष्णलीला को पाकर के भी खो बैठा, देख नहीं पाया !"—इस प्रकार कहते-कहते महाप्रभु क्रन्दन करने लगे—

"केनो वा आनिले मोरे वृथा दुःखदिते।
पाइया कृष्णेरलीला ना पाइनु देखिते॥"
एत बोलि महाप्रभु कोरेन क्रन्दन।
ताँर दशा देखि वैष्णव कोरेन क्रन्दन॥ —चैतन्यचरितामृत

श्रीकृष्णप्रेम का यह 'मधुर-वक्र-विक्रम' है। बाहर तो विषज्वाला धधक रही है और भीतर आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है। शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो रहा है, और मन-प्राण श्रीकृष्ण लीलामृतसिन्धु में सुशीतल हो रहे हैं ! इसे कोई कह कर कैसे समझाये ? और किस युक्ति से समझाये ? और विश्वास भी कौन करेगा ? कि जो आग शरीर को जला रही है—वही आग आत्मा को शीतल भी कर रही है ? यह गूँगे का गुड़ है, स्वसंवेद्य है।

"विरह वेदना हित अति बाढ़ी गाढ़ी सो कौन छुड़ावै।
'किशोरी अली' यह रसिक पंथ को मरमी होय सो पीयहि पावै॥"

तथापि मर्मज्ञ जनों ने युक्ति से भी हम लोगों को समझाया है। श्रीबृहद्भागवतामृत की एक कथा है। एक समय नारद जी के मन में यह जिज्ञासा उदय हुई कि मेरे प्रभु का सर्वश्रेष्ठ भक्त कौन है ? नारद जी प्रथम ब्रह्मा के समीप गये, ब्रह्मा ने शिवजी को बताया—शिवजी ने प्रह्लाद

को, प्रह्लाद ने हनुमान जी को, हनुमान जी ने पांडवों को, पांडवों ने यादवों को श्रेष्ठ बताया। नारद जी द्वारिका में यादव-सभा में पहुँचे। यादवों ने उद्धव की प्रशंसा की। तब नारद श्रीकृष्ण के महल में पहुँचे और उद्धव की स्तुति करने लगे। उद्धव ने लज्जित होकर व्रजवासियों का गुण-गान प्रारम्भ कर दिया, उसमें बलराम और रोहिणी माता ने भी सहयोग दिया। अब तो व्रज की चर्चा चल पड़ी। इधर श्रीकृष्ण और बलराम आज शैय्या से नहीं उठे हैं, एक पहर दिन चढ़ गया है, सेज पर मुँह ढँक कर पौढ़े हुये हैं, आज रात्रि में उन्होंने व्रज का कोई विशेष स्वप्न जो देखा है। संक्षेप में यह है कि व्रज की चर्चा सुनते-सुनते रामकृष्ण दोनों मूर्च्छित हो गये। ब्रह्माण्ड काँप उठा, ब्रह्माजी दौड़े-दौड़े आये, आकर दोनों को उसी दशा में गरुड़ की पीठ पर चढ़ाकर समुद्र के मध्यवर्त्ती नवीन वृन्दावन में ले गये। यह कृत्रिम वृन्दावन श्रीरामकृष्ण के व्रजलीला-चिन्तन से व्यथित हृदय की सान्त्वना के लिये रचा गया था। वहाँ दोनों भाइयों की राजकीय वेशभूषा को उतार कर व्रज की गोप-वेश-भूषा से दोनों को अलंकृत किया गया – शीश पर मोर चन्द्रिका, कर में मुरली, कण्ठ में वनमाल आदि धारण कराये गये, तब शनैः-शनैः दोनों की प्रेम-समाधि भङ्ग हुई। पश्चात् व्रज-लीला का एक छोटा-सा अनुकरण-सा हुआ। अन्त में वह भावावेश छूटा—वे प्रकृतिस्थ हुए, गोपाल से पुनः द्वारिकाधीश बने, तब नारदजी ने डरते-डरते उनके चरणों में पड़कर कहा—"प्रभो! क्षमा करो! आज मुझसे बड़ा अपराध हो गया! मैंने आज आपको बड़ा क्लेश पहुँचाया है! मैं यहाँ नहीं आता तो आपका यह रङ्ग-भङ्ग क्यों होता? यह शोक-सन्ताप आपको क्यों प्राप्त होता?"

श्रीकृष्ण—"नहीं, नहीं नारद जी! आज आपने मेरा अत्यन्त ही हित किया है। आप रसिकोत्तम हैं—"हितमेवाकृतमत्यन्तं भवान्ते रसिकोत्तम"—१-७-१२४।

नारद – "यह कैसे भगवन्? मैंने तो हरे-भरे वन में अग्नि जलाने—जैसा कार्य किया है? आप इसे अत्यन्त हित कह रहे हैं?"

श्रीकृष्ण—"नारद जी! यद्यपि यह सत्य है कि विरहरूप दावानल के सुलगते ही प्रथम तो सन्ताप के कारण शोक और दुःख प्राप्त होता ही है, तथापि—

तथापि सम्भोग सुखादपि स्तुतः, सकोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरमः।
प्रमोदराशिः परिणामतो ध्रुवं, तत्र स्फुरेत् तद्रसिकैकवेद्यः॥–१-७-१२६

तो भी उस दुःख के परिणाम में कोई एक अद्भुत आनन्द राशि की प्राप्ति होती है जो आनन्द संयोग सुख से भी श्रेष्ठ है, अत्यन्त ही मनोहर है, परन्तु है अनिर्वचनीय, 'रसिकैकवेद्य''।

"अरबरात मिलिवे को निशिदिन,
मिलेइ रहत मन कबहुँ मिलैना।
भगवतरसिक रसिक की बातें,
रसिक बिना कोई समझि सकै ना॥"

विरही का सुख विलक्षण है, उसकी अन्तर्वेदना में, हृदय की टीस में अनौखी छटपटाहट और मिलन की आतुरता उसे निष्प्राण बना देती है, तब प्रेमी सूक्ष्म-सुख की अनुभूति में खो जाता है। एक कवि के मुख से वियोग-जन्य कहानी की चर्चा सुनिये :—

"राति—द्योस कटक सजे ही रहै, दहै दुःख,
काह कहौं, गति या वियोग बजमारे की।
लियौ घेरि औचक अकेली कैं विचारो जीव,
कछू न वसाति यों उपाव बलहारे की।
जान प्यारे, लागौ न गुहार तौ जुहारि करि,
जूझि कै निकसि टेक गहै, पनधारे की।
हेत—खेत धूरि चूर-चूर ह्वै मिलैगी तब,
चलैगी कहानी 'घन आनन्द' तिहारे की॥"

—घन आनन्द

इस पर 'बृहद् भागवतामृत' के रचियता श्रीसनातन गोस्वामी जी ने जो स्वयं भगवत रसिक टीका लिखी है, उसका सार प्रश्नोत्तर के रूप में यह है :—प्रश्न—परन्तु सुख तो पीछे है, पहले तो दुःख ही प्राप्त होता है न ? 'सुखान्तरं दुःखं दुःखान्तरम् सुखम्।" इससे तो विरह स्वयं रस नहीं हुआ, विरह के गर्भ में रस हुआ, दुःख का फल सुख हुआ ? स्वयं दुःख तो सुख नहीं हुआ न ?

उत्तर—नहीं, दुःख ही सुख है। जिस समय दुःख है—उसी समय सुख है। एक ही काल में युगपत् भोग है। विरह, रस की पुष्टि के लिये भी है और स्वयं भी एक रस है, एक आस्वाद्य वस्तु है।

प्रश्न—यदि विरह रस है तो उसका कार्य विष कैसे है ? यदि हृदय में महान् अनिर्वचनीय, संयोग-सुख से भी अधिक आनन्द प्राप्त है—तो बाहर

देह में आनन्द के लक्षण प्रकट न होकर, दुःख के लक्षण, शोक, आर्ति, रोदन अंग भंग, मूर्छा आदि क्यों प्रकट होते हैं ?

उत्तर—"**दुःखवत् प्रतीयमानस्यैव सुखस्य चरमकाष्ठा विशेषाप्त परममहत्ताया अभिप्रेतत्वात्।**"

जो बाहर दुःखवत् प्रतीत होता है, वह वास्तव में सुख की सीमा को प्रकट करने के अभिप्राय से ही होता है। "**यथाग्नि प्रतियोगिघनहिमादि स्पर्शेन पादाद्यङ्गेषु जायमान परम महाजाड्यस्जज्वलदङ्गारस्पर्शवदभिज्ञास्यात्**"। जैसे एक अंगार का स्पर्श हस्त—चरणादि अंग में दाह उत्पन्न करके यन्त्रणा देने लगता है। ठीक उसी प्रकार हिम भी देह को जला कर महादुःख पहुँचाने लगता है। एक हिमखण्ड को अधिक काल तक हाथ में धारण नहीं किया जा सकता। यद्यपि हिम अग्नि नहीं है—उसका धर्म जलाना नहीं है, जलते हुये को शीतल कर देना है–परन्तु अति मात्रा में वही जलाने लग जाता है। धूप की भाँति अति शीत से भी औषधि तृणादि भस्म हो जाते हैं। तथापि उसको कोई भी अग्नि नहीं कहता, सब हिम ही कहते हैं। वह स्वरूप से सर्वत्र सर्वावस्था में शीतल ही है—केवल अति मात्रा में वह अग्निवत् हो जाता है।

ऐसे ही विरह भी स्वरूप से रस है, संयोग से भी अधिक आनन्दप्रद है, परन्तु उस आनन्द की मात्रा इतनी अधिक है कि—मन, प्राण आत्मा, उसे सहन नहीं कर सकते, अतएव उस आनन्द के भार से देह दब जाता है, पिस जाता है, यहाँ तक कि देह का सम्बन्ध भी छूट जाता है। दुःख की भाँति अति आनन्द भी मृत्यु का कारण हो जाता है—यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

प्रश्न—तो संसार के विरही लोगों को इस विरह—रस का अनुभव क्यों नहीं होता ? संसार तो इसे ज्वाला मात्र तथा यंत्रणाके रूप में ही अनुभव करता है ?

उत्तर—विषयी पामर जीवों को तो दुःख का ही अनुभव होगा, क्योंकि वहाँ केवल भोगलिप्सा है शुद्ध राग नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रेम या राग ही नहीं है वहाँ तो दुख का, विष का ही अनुभव होगा, सुख का—रस का अनुभव तो प्रेमी को ही होता है—"सेई प्रेमाजारमने-तार विक्रम सेइ जाने" कीट से ब्रह्मा पर्यन्तमें भी 'प्रेम' कहाँ है ? वहाँ तो धर्म, अर्थ, और काम है-अधिक हुआ तो मोक्ष है, प्रेम तो इससे आगे पंचम पुरुषार्थ है ! अतएव इस प्रेम

के बिना जो विरह है, वह केवल विरह ही विरह है, "रस" नहीं है, यथा—"**किन्तु भगवतो भगवत् प्रियतम जनानाञ्च केषाञ्चित् विरहसम्बन्धि दुःखमेवैतादृशं भवति नतु सार्वत्रिकमिति**" अर्थात् भगवान् और भक्तों के विरह के सम्बन्ध में ही यह सिद्धान्त है कि उनका विरह "रस" है—अन्यत्र यह सिद्धान्त नहीं है।

परन्तु गोपियों का विरह भगवान् और भक्त के विरह-रस से भी पृथक् है, यथा—"**तत्र च श्री गोपीव्यतिरिक्त भक्तजनविषयकमेव मन्तव्यम्। यतस्तासां कदाचिदपि विरहात्तैः शान्तिर्न भवेदेव। सङ्गमेऽपि विरहशंकया दुःखस्यैवापत्तेः**"। गोपियों के अतिरिक्त अन्य भक्तों के लिये, भगवान् के लिये भी विरह "रस" है, लोभनीय वस्तु है, उनके लिये संगम-संयोग तो विरह के विकल्प में वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु गोपियों का तो संगम भी विरह है, संयोग जन्य सुखानुभूति में भी विरह की आशंका बनी रहती है।

तात्पर्य यह है—

१—संसार के लिये विरह केवल विष ही विष है।

२—भक्त और भगवान् के लिये विरह विषामृत है।

३—गोपियों के लिये विरह तो विषामृत है ही, संयोग भी विषामृत है।

यह विरह विष होते हुए भी रस कैसे है अथवा रस होते हुए भी विष कैसे है—इस प्रकरण को श्री जीव गोस्वामी ने 'प्रीतिसन्दर्भ' में अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है यथा—"**क्षुधातुराणामत्युष्णमधुरदुग्धवन्न तत्र रसत्वव्याघातः। तदा तद्भावस्य परमानन्दरूपस्यापि वियोग दुःख निमित्तत्वं चन्द्रादीनां तापनत्वमिव ज्ञेयम्**" अर्थात् क्षुधातुर के लिये अत्यन्त उष्ण तथा मधुर दुग्धान्न (गर्मागर्म खीर आदि) के समान वियोग में भी रस की हानि नहीं होती है। दूध या खीर, या गन्ने का रस गर्म होने के कारण भले ही निगला न जा सके—परन्तु उसमें मधुर रस तो है ही। इसमें रस की हानि नहीं होती। ऐसे ही श्रीकृष्ण का वियोग भले ही सहा न जा सके, प्राणों का हरण करले, किन्तु वह है तो रस ही। एक और दूसरे दृष्टान्त से समझिये—चन्द्रकिरणें स्वभावतः शीतल हैं :—परन्तु विरही जनों को तो जलाती ही हैं। इससे चन्द्रकिरणें कोई सूर्यकिरण तो नहीं हो जातीं, वह तो चन्द्रकिरणें ही रहती हैं। ऐसे ही भगवत्प्रीति परमानन्द रूप होने पर भी, वियोगकाल में दुःख रूप प्रतीत होती है किन्तु उसी समय वह दुःख, भाव रूप आनन्द को प्रदान करता है अर्थात् हृदय में स्फूर्ति द्वारा संयोग

का सुख प्रदान करता है, तथा भावी संयोग-सुखको पुष्ट करता है, अतएव विरह भी रस ही है, सुख ही है। "**तस्य दुःखस्य च भावानन्दजन्यत्वादगत्यां संयोगसुख पोषकत्वाच्च सुखान्तः पात एव**" ये सब तो युक्ति-प्रमाण और अनुमान हुए। वास्तव में तो विरह, "रस" कैसे है, विष-अमृत का एकत्र मिलन कैसे है—ये सभी बातें स्वसंवेद्य हैं, रसिकजनैकवेद्य ही हैं। युक्ति-प्रमाण तो सन्तोषमात्र के लिये ही हैं।

हाँ तो, श्लोक—प्रसङ्ग में सखी के कहने पर कि तुम इस श्रीकृष्ण-प्रेम को छोड़ क्यों नहीं देती हो? सखीरूपा विल्वमङ्गल अपने सखी भाव के आवेश में कह रही हैं कि—मैं इस विषयविषामिष के भक्षण से पीछे नहीं हट सकती, जैसा मेरा चित्त लोभी और लम्पट है! वैसी ही उसकी रूप-माधुरी भी मधुर-मोहिनी है—"**मधुरतरस्मितामृत विमुग्ध मुखाम्बुरुहम्**" उसका अति मधुर मृदुस्मित रूप, अमृत से विमुग्ध मुखकमल मेरे हृदय-सरोवर में सदैव विकसित रहे। यह नहीं कहा जा सकता कि यह मुख-कमल औरों के लिये विमुग्धकारी है अथवा स्वयं अपने पर ही विमुग्ध है। उसके ये "विपुल-विलोचन" जो केवल अपना ही कार्य नहीं करते, अन्य सब इन्द्रियों का भी कार्य करते हैं, सबके प्रतिनिधि बन, सबके भार को अकेले ही सम्हाले हुए हैं। तभी तो ये विपुल हैं, विशाल हैं। तथा ये लोचन, दाताओं के शिरोमणि भी हैं, तथा दीन याचक भिखारी भी हैं, रससिन्धु होकर भी ये नित्य रस-पिपासु हैं, सबकी तृषा मिटाते हुए भी आप स्वयं सदा तृषित हैं। भला सागर की प्यास को कौन समझे और कौन बुझावे!

नैंननि लागि तृषा अति, ज्यों ज्यों देखत रूप।
पानी लागैं प्यास तो, कहा करैंगो कूप॥ —ध्रुवदास

रूप अमल को अमली पीवत-पीवत कबहुँ न थापै।
प्यावनहार उदार महा भरि भरि भोजन आपै॥
'ल्याउ ल्याउ'यों तृषित वदनते बार बार आलापै।
वृन्दावन हित रूप गरीबी गही न देहि संतापै॥ — हितवृन्दाबनदास

अतएव "विपुल विलोचन" बड़े-बड़े, प्यासे, चंचल नैंन हैं। और इसी कारण से मधुर मन्दस्मित सहित वह मुख "विमुग्ध" है—भूला हुआ है, भला यह "विमुग्ध" मुख कमल कभी भुलाये भूला जा सकता है? यह क्या कोई भुलाने की वस्तु है? यह तो कोटि-कोटि प्राण-निर्मञ्छन करने की वस्तु है, अतएव यह 'मधुर-मधुर-स्मित' यह विमुग्ध मुख कमल, यह

मदमाते मोर पखा, यह लहराती कुन्तल घटा, यह श्यामज्योति छटा, मेरे हृदय में 'चिरंचकास्तु'–'ऐसे ही देखत रहौं नैन सफल करि मानौ'। इसी लालसा से प्रेरित होकर पुनः यही प्रार्थना अगले श्लोकों में कर रहे हैं—

मूल श्लोक मंजुभाषिणी छन्द—

मुकुलायमान-नयनाम्बुजं विभोर्मुरली-निनाद-मकरन्द-निर्भरम् ।
मुकुरायमाण-मृदु-गण्ड-मण्डलं मुखपङ्कजं मनसि मे विजृम्भताम् ॥६

पद्यार्थ—**उभय कपोल-फलक दर्पण-सा जिसका लगता ।**
प्रतिपल जिससे मुरली-रव मकरन्द बरसता ॥
नयन-कमल जिसमें मदमाते रहते मुकुलित ।
वह मुख पंकज मेरे मन में रहे प्रकाशित ॥ ६ ॥

भावार्थ—माधुर्यमूर्ति श्री श्यामसुन्दर का वह मुख कमल जिसमें दो नयनाम्बुज (गौरचन्द—श्री किशोरी के सान्निध्य में) अर्धनिमीलित हो रहे हैं; जो मुरली-निनाद – रूप मकरन्द से भरा हुआ है और जिसमें दो कपोल-फलक दर्पण के तुल्य दमदमा रहे हैं—वह (श्री किशोर चक्र चूड़ामणि का मुखारविन्द) मेरे मन-मानस में सदैव विकसित होता रहे ॥ ६ ॥

रसिका-टीका—विल्वमङ्गल कहते हैं मैंने एक अद्भुत मुख कमल देखा है, जिसमें दो नेत्र रूप कमल हैं। वे कमल खिल नहीं रहे, मुँद रहे हैं, क्योंकि उनके पास एक गौरचन्द्र स्थित है। इसके कारण वे खिलना चाहते हुए भी खिल नहीं पाते हैं, खिलते-खिलते भी मुँदने लगते हैं। उस मुख-कमल में मुरलीनाद का मकरन्द-रस भरा हुआ है। यही मधुकरी-गोपियों का जीवन है। इस मुरली-ध्वनि से ही उनका सब समाधान हुआ करता है। उस मुख-कमल के आरसी जैसे चिकने कपोल हैं। इन पर नेत्र ठहर नहीं सकते—मुंद-मुंद जाते हैं, फिसल-फिसल जाते हैं। ऐसा जो मुख कमल है—वह मेरे हृदय सरोवर में नित्य नई-नई छवि, नई-नई माधुरी से प्रफुल्लित रहे। परन्तु 'किसका मुख कमल ?'—वह विभु का मुख कमल है। वह सकल सौन्दर्य-माधुर्य-चातुर्यादि समस्त सम्पदाओं का एकमात्र धनी है, अतएव नई-नई छवि-माधुरी प्रकाशित करने में समर्थ है, अतएव विभु है।

लीलाशुक विल्वमङ्गल की लालसा-लता क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसी कारण चौथे श्लोक में "चकास्तु"–प्रकाशित होने को कहा, पाँचवें श्लोक में बढ़कर "चिरंचकास्तु"—चिरकाल के लिये प्रकाशित रहने को कहा तथा इस श्लोक में और भी आगे बढ़ गये और बोले—"विजृम्भताम्"-विशेष

रूप से नई-नई छवि, लीला—माधुरी प्रकाशित होती रहे, कैसे ? तो सुनिये–

प्रेम सरोवर मन तहाँ, वदन कमल रह्यो फूल।
नित नव लीला विस्तरहु, आनन्द रस छवि मूल॥
रूपभार मदभार पुनि, क्रीड़ा को अति भार।
मुँदि मुँदि मन मूषत अलि, नैंन कमल मधुगार॥
प्रिया वदन शशि कर निकर, लोचन अम्बुज लाल।
ललकि लगोहैं लखन में, डूबत मुँदत निहाल॥
मुरली धुनि मकरन्द ज्यों, वदन कमल भरपूर।
मन मधुकर पोषित सदा, गोपिन जीवन मूर॥
इन्द्रनीलमणि मुकुर ज्यों, गण्ड मृदुल झलकात।
पानिप तरल तरङ्ग में, नैंन मीन बहि जात॥
मकराकृत कुण्डल श्रवन, झाँई परत कपोल।
रूप सरोवर माहिं द्वै, मछरी करत किलोल॥
पुनि लखहु आश्चर्य महा, अद्भुत उपमा नाम।
एक कमल मध्य द्वै कमल, करत नित्य विश्राम॥
प्रथम कमल गोविन्द मुख, नैंन कमल युग ठौर।
'प्रेम' हृदय सरवर सदा, उदित रहो निशिभोर॥ —प्रेमानन्द

सरिता में जब बाढ़ आती है—तब जल बढ़ता है, जल का वेग भी बढ़ता है और उसमें भँवर पड़ने लगते हैं। ऐसे ही प्रेम-नदी की बाढ़ में जब भँवर पड़ने लगते हैं तब—उनको "संचारीभाव" के नाम से कहा जाता है—ये भाव तैंतीस प्रकार के होते हैं, यथा—

निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार (मनोलय), व्याधि, मोह, मृत्यु (मृत्यु समान मूर्छा), आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था (भावगोपन), स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्षा, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति (स्वप्न) तथा बोध। इनमें से कुछ संयोग-काल में उदय होते हैं, यथा—गर्व, हर्ष, व्रीड़ा आदि। कुछ वियोग-काल में उदय होते हैं, यथा—निर्वेद, विषाद, दैन्य, शङ्का आदि और कुछ उभयकाल में उदय होते हैं, यथा—गर्व, ईर्ष्या, औत्सुक्य आदि।

इनके नाम से कोई इनको प्राकृत सत्त्व-रज-तमोमय न समझ बैठें। यह सब गुणातीत हैं। क्योंकि ये तो निर्गुण प्रेम-सरिता के भँवर हैं। सूखी नदी में भँवर कहाँ,वहाँ तो मृग-मरीचिका तथा काम-विभीषिका ही होती है।

लीलाशुक की प्रेम-सरिता जब क्रमशः बढ़ने लगी तो उसमें भँवर पड़ने लगे। आगे के श्लोकों में इन्हीं सब भँवरों का अर्थात् 'संचारी भावों' का वर्णन है। किसी में उत्कण्ठा है, किसी में हर्ष है, किसी में उन्माद है, किसी में दैन्य है। पाठकवृन्द! इन भावों को यदि ध्यान में रखेंगे तो विशेष रसास्वादन कर सकेंगे, अस्तु—अब इसके आगे के श्लोकों में दैन्य-संचारी भाव का वर्णन है। अर्थात् विल्वमङ्गल अपने को उस परम वस्तु के सर्वथा अयोग्य समझकर अतिशय दीन होकर कह रहे हैं—

मूल श्लोक—औपच्छन्दसिकं छन्दः—

कमनीय-किशोर-मुग्ध-मूर्तेः कल-वेणु-ववणिताद्दताननेन्दोः।
मम वाचि विजृम्भतां मुरारेर्मधुरिम्णः कणिकापि कापि कापि ॥७

पद्यार्थ—**जिसकी मूरति है कमनीय, किशोर मनोहर।**
जिसके मुख-मयङ्क पर नर्तित, वंशी का स्वर॥
उस मुरारि की मुग्ध माधुरी का कणिका-भर।
अहा! बहेगा कब मेरी वाणी से झर-झर॥ ७॥

भावार्थ—जिनका मुख-मयङ्क लालित्यमयी वेणुलता की स्वर-लहरी से समाराधित हो रहा है—उन कमनीय, किशोर और मुग्ध मूर्ति वाले श्री मदनमोहन की मनोज्ञ-माधुरी का एक लघु कण मात्र ही मेरी वाणी में आविर्भूत हो जाय—(बस, यही मेरी चरम कामना है)॥ ७॥

रसिका-टीका—विल्वमङ्गल अपने मन में सोच रहे हैं—विभु का वह मुख-पङ्कज तो सुकृतिशालियों के निर्मल चित्त-सरोवर में ही नित्य विकसित रहा करता है, मेरे विषयविषामिष के लोभी मलिन चित्त-पङ्क में उसका उदय और नित्य उदय और विशेष उदय कैसे सम्भव है? अतएव मेरी वाणी में ही यदि वह 'विभु' उदय हो जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।' इस भावना से अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक बोले—"मम वाचि विजृम्भताम्" मेरी वाणी में ही उसका विशेष प्रकाश हो जाय? किसका? उस मुरारि की माधुरी के किसी एक कण का! सुना है कि उसके एक रस-बिन्दु से अखिल ब्रह्माण्ड संप्लावित हैं। (एतस्यैवानन्दस्यान्यानि इत्यादि बृहदा०) तो फिर एक प्राणी के भाग में कितना आया? एक मात्रा का कौन-सा अंश आया? है कोई गणित शास्त्री जो बता सके? वह गणनातीत अनिर्वाच्य है, "कापि-कापि" है। मुझे भी बस वही एक "कापि-कापि-कण" उस माधुरी का प्राप्त हो जाय?

यदि कहो कि वह तो प्राप्त है ही, तो उसका उपभोग तो नहीं है ? यदि उपभोग भी है तो वह आवृत रस का है,अनावृत रस का नहीं है। अर्थात् साक्षात् रसोपभोग से ही यह विषयविषामिष का लोभ समाप्त होगा—

विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ।। —गीता २-५९

अतएव उस विभु का, उस सौन्दर्य-माधुर्य-तारुण्य-लावण्य, कारुण्य-औदार्य के निधान की कोई भी एक कणिका मेरी रसना को रसवती कर दे तो—मैं उसकी माधुरी की कथा मन-प्राण से निरन्तर गाया करूँ और इस द्वार से उस महल तक पहुँच जाऊँ !

तुम्हारे विभु का कोई नाम भी है ? अथवा वह नामहीन माधुर्य-सिन्धु मात्र ही है ? "मुरारेर्मधुरिम्" वह मुरारि है, वह मुरा नाम कुत्सा का बैरी है अर्थात् सुन्दर स्वरूप है। यह तो रूप हुआ नाम बताओ ? मुरारि, वह मुरा नाम अविद्या का महाशत्रु है। यह तो गुण हुआ, नाम बताओ ? मुरारि-मुर दैत्य का शत्रु है। यह तो पराक्रम हुआ, नाम बताओ ? मुरारि-उसका नाम भी मुरारि ही है। यह तो मुर दैत्य का बध करने पर नाम पड़ा था, उससे पहले का नाम बताओ ? भाई ! मुरारि नाम तो अनादि काल से है। जैसे "अनादिरादि गोविन्द" गोविन्द नाम पहले से ही है, इन्द्र ने तो अभिषेक के समय प्रचार मात्र किया। वैसे ही अनादि से चले आ रहे मुरारि नाम का भी मुर-दैत्य के बध से प्रचार मात्र हुआ है, महादेव जी के विवाह में भी तो गणेश जी का पूजन हुआ था, यह गणेश नाम भी अनादि से चला आ रहा था। इसी प्रकार मुरारि नाम भी अनादि से ही है। "फिर वह मुरारि कैसा है ?"—वह कमनीयकिशोर मुग्धमूर्ति है —वह कमनीय है—अर्थात् उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से कान्ति की धारा उच्छलित हो रही है और यह हो रही है—कामिनी-भामिनिओं के सम्बन्ध से गोपियों, के द्वारा समावृत होने से ये कमनीय बन गये हैं, सौदामिनियों की छटा से श्यामघन घटा उद्भासित हो रही है। गौरियो ने साँवले को सलोना बना दिया है, तभी तो शुकदेव जी कह उठे कि अहा ! भगवान् की शोभा तो अब ही बनी है—जब शक्तिमान् के सहित शक्तियों ने साक्षात् योग दिया— "तत्रातिशुशुभेताभिर्भगवान्देवकीसुतः" (भा० १०-३३-७) ऐसी कमनीयता है—उस मूर्त्ति में। एक कवि की भावनाओं में पढ़िये—

बड़भागी वही जिन उर सरवर यह मुख पङ्कज नित फूलि रहे ।
कमनीय किशोर मनोहर मूरति नैनन जिनके झूलि रहे ।।

कलवेणु बजावत रस बरसावत इन्दु वदन नहिं भूलि रहे।
कनको कनहू कोउ डारो मुरारी प्रेम भिखारी झूमि रहे॥

—प्रेमानन्द

वह किशोर मूर्त्ति है—आद्यकिशोर नहीं, मध्यकिशोर नहीं, वह तो पूर्णकिशोर है (देखो प्रथम श्लोक) आद्यकिशोर में वर्ण निखरा, उज्ज्वल हुआ, नयनों में अरुण-अरुण डोरे पड़े, तथा सूक्ष्म रोमावली उदय हुई। मध्यकिशोर में उरुद्वय, भुजद्वय तथा विशाल उरस्थल पर एक "कापिश्री"-एक अद्भुत शोभा तथा माधुरी की झलक आई। मन्दहास्य युक्त मुख, चंचल लोचन एवं भुवन मोहनकारी गीत इस मध्यकिशोर की माधुरी है, रासलीला आदि का प्रारम्भ इस अवस्था की चेष्टा है, पूर्णकिशोर ने इन सम्पदाओं की वृद्धि करके चरमोत्कर्ष को प्राप्त कराया। अंग-प्रत्यंग में सौन्दर्य. लावण्य और तारुण्य भर दिया और ऊपर से अपना एक विशेष चिह्न 'त्रिवली'–श्रीअंग पर अंकित कर दी। तब हमको प्राप्त हुई–वह "किशोरमूर्ति" जिसमें—

"नाभि भँवर, त्रिवली तरंग, झलकत लावण्यवारि।
पीत वसन फहरात उठि, जनु पद्मरेनु छविधारि॥
क्रीड़ा करत जहाँ गोपीजन, बैठि मनोरथ नाव।
बार बार यह कहत 'गदाधर' देह सँवारौ दाव॥—गदाधर भट्ट

वह मुरारि कमनीय है, किशोर है तथा मनोमुग्धकारी है—अपने सौन्दर्य माधुर्य द्वारा इन्द्रिय और प्राण को आनन्दोत्सव प्रदान करने वाला है, विशेष कर वह "वनितोत्सवरूपशीलं" है यथा—

"त्वं चुम्बकोऽसि माधव, लौहमयीनूनमङ्गनाजाति।
धावति ततस्ततोऽसौ यतोयतः क्रीडया भ्रमसि॥"

—भक्तिरसामृतसिंधु

माधव चुम्बक रूप तुम, लौह पूतरी नार।
संग लगी डोलैं सबै, घर बन यमुना पार॥

चुम्बक की तरह खींचने वाले उस मनमोहन के रूप को देख लेने पर सखी की क्या दशा होती है, एक बार जब वह सौन्दर्य-सिंधु में गोते लगा लेती है—तब उसे कुछ सुहाता ही नहीं है:—

वह सुन्दर रूप विलोकि सखी, मन हाथ ते मेरे भग्यो सो भग्यो।
चित माधुरी मूरति देखत ही, 'हरिचंद' जु जाय पग्यो सो पग्यो॥

मोहि औरन सों कछु काम नहीं, अब तो जो कलंक लग्यो सो लग्यो ।
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं, अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रंग्यो ।।

उस मुरारि के रूप में एक और विशेषता है वह वंशी ध्वनि से युक्त है, "कलवेणु–कणिताहृताननेन्दोः" कल–बजकर, 'कल'-रस बरसा कर, कल-कल्पाने वाली वंशी ध्वनि के द्वारा आहृत, सेवित, प्रशंसित, कृतकृत्य मुख-चन्द्र से सुशोभित वह मुरारि है । अथवा कल–वंशी ध्वनि को ही कृतार्थ करने वाला वह मुखचन्द्र है । 'कल' शब्द के दो अर्थ हैं, १—मधुर तथा अस्फुट ध्वनि एवं २—ककार लकार युक्त कामबीज, श्रीकृष्ण का मंत्रबीज, जिससे मदनमोहन श्रीकृष्ण की वंशी में शक्ति का प्राकट्य होता है, उस वंशी ध्वनि से निःसृत कामबीज के मंत्र द्वारा गोपियां पागल हो उठती हैं-वंशी बजने पर गोपियों की विचित्र दशा देखिये:—

बाजी उठि धाईं बाजी देखिबे को दौरी आईं,
बाजी सुन आईं पौरि वंशी गिरिधर की ।
बाजी हँसि बोलें बाजी संग लागी डोलें,
बाजी भईं बौरी बाजिन विसारी सुधि घर की ।।
बाजी न धरत धीर बाजी न सम्हारे चीर,
बाजिन की छातिन पै पीर दावानल की ।
बाजी कहै बाजी पुनि बाजी कहैं कहां बाजी,
बाजी कहैं बाजी वंशी चंचल चतुर की ।।

कल शब्द के अर्थ को कूटकर बंगला के एक ही पद में इस प्रकार भर दिया गया है—

"श्यामेर बाँसी बाजै, मन मांझे कि बन माँझे ।
सवार बांसी काने बाजे आमार बाँसी हियार माँझे ।।

श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी के शब्दों में 'कल'—शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

"कलयति वशीकरोति गोपसुन्दरीन् स्वनादेन यो वेणुस्तस्य यत् क्वणितं तेन हेतुनादरच्छलेन स्पर्शाद्यर्थं, सस्मितसभावसाभिलाषचुम्बनादिभिराहृत आननेन्दुर्याभिः प्रेमरूपाभिर्गोपीभिस्तस्य"

यह वंशी अपनी ध्वनि से गोपियों को वशीभूत कर, आकर्षित कर उनके संसार बन्धन को छिन्न-भिन्न करके श्रीकृष्ण से उनका संयोग कराती है । महारास में इस वंशी ने यही तो सब किया है । अतएव जिस वंशी ने

उनका इतना उपकार किया, उनको कारागार से निकाल कर मुक्त रस-सागर के समीप पहुँचा दिया, उसके प्रति ऋणी गोप बालाएं अपनी कृतज्ञता कैसे प्रकट करें ? वे तो सर्वस्व संन्यासिनी हैं, देने को तो उनके पास कुछ भी नहीं है। पर—हां, उस वंशी के चरणारविन्द का स्पर्श तथा वदनारविन्द का चुम्बन करके साधुवाद तो प्रदान कर ही सकती हैं, अतएव वही यह कर रही हैं। अतिशय आदरभाव के सहित मन्दस्मित पूर्वक, प्रेमोच्छलित हृदय से साभिलाष उसका चुम्बन कर धन्यवाद प्रदान करती हैं। इसका फल यह हुआ कि वंशी–वदन तत्क्षण मुग्धवदन की शोभा को प्राप्त हो जाते हैं। यथा—

'साधुत्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति।
व्याजादुद्भटचुम्बितस्मित मनोहारी हरिः पातु वः॥'

—गीत गोविन्द १–४६

इस प्रकार से मनोहारी मुरारि की माधुरी का वर्णन करते-करते उनकी एवंविध रहस्यपूर्ण विलास की दर्शनोत्कण्ठा में विल्वमङ्गल ऐसे तल्लीन हुए कि उनकी प्रार्थना पूर्ण होते न होते तक उनकी वाणी में तत्तद्-माधुर्य का अवतार हो गया। तथा वचन और वाच्य का भेद लोप हो गया, रसना और रस एक हो गये। अतएव अत्युल्लसित हृदय से इस वाङ्मय अवतार की जय जयकार करते हुए अगले श्लोक का पाठ करने लगे—

मूल श्लोक-द्रुतविलम्बितम् छन्दः—

मद-शिखण्डि-शिखण्ड-विभूषणं, मदन-मन्थर-मुग्धमुखाम्बुजम्।
व्रज-वधू-नयनाञ्जन-रञ्जितं विजयतां मम वाङ्मय-जीवितम् ॥८॥

पद्यार्थ—**जो मदमत्त शिखी-पिच्छों से है आभूसित।**
मन्मथ-मन्थर, मुग्ध-मुखाम्बुज अतिशयरूसित॥
जो व्रजवधू-नयन के अञ्जन से है रञ्जित।
जय मेरी वाणी के जीवन, तू जग-वन्दित॥ ८॥

भावार्थ—मेरी वाणी के प्राण स्वरूप एवं अपने मुग्ध मुखाम्बुज से मन्मथ को भी तिरस्कृत करने वाले उन मोर-मुकुट से विभूषित श्रीकृष्ण की सदा ही जय हो, जिनका श्याम शरीर व्रजबधूटियों के नयनाञ्जन से रञ्जित है॥ ८॥

रसिका-टीका—"विजयतां ममवाङ्मय-जीवितम्"—अर्थात् मेरी वाणी के जीवनस्वरूप श्रीकृष्ण की जय हो। भगवान् का प्रथम अवतार वाणी में, द्वितीय हृदय में, तब तृतीय अवतार साक्षात् दृष्टिगोचर होता है।

भगवान के नाम रूप लीला का वाणी में उतर आना ही वाङ्मय-अवतार है। जब तक लोहा अग्निकुण्ड में पड़ा रहता है, तब तक लाल रहता है, इसी तरह जब तक वाणी नामरूप लीला का गान करती रहती है, तब तक उसमें भगवान् का अवतार रहता है। भगवान् का अधिष्ठान भगवद्रूप ही होता है, ब्रह्म का आधार ब्रह्म ही होता है "तस्य प्रतिमा नास्ति, स्वमहिम्ने तिष्टति"—श्रुति। अतएव लीला शुक वर्णनात्मक वाक्य तथा श्रीकृष्ण को अभिन्न मान कर ही वर्णन कर रहे हैं। श्रीमद्भागवत, गीता आदि जैसे वर्णात्मक अक्षर भी हैं, वैसे ही क्षरातीत अक्षर भगवत्स्वरूप भी हैं, उनके वाङ्मय तनु भी हैं। इसी अभिन्नता का अनुभव करते हुए लीलाशुक भी बोले कि वाङ्मय, वागात्मक, वाक्स्वरूप श्रीकृष्ण की जय हो।

"विजयताम्"—विशेष रूप से जय को प्राप्त हों, अर्थात् जैसे मेरी प्रार्थना—"मधुरिम्णः कणिकापि कापि कापि" को श्रवण करके मेरी वाणी में प्रकट हुए हो, ऐसे ही सदैव विराजमान भी बने रहो, जिससे कि मैं उसका आजीवन कीर्त्तन करके जीवित रह सकूँ? बस वही,—श्रीकृष्ण ही वाणी का जीवन स्वरूप है, अर्थात् वाणी की भी वाणी है, प्राण का भी प्राण है, चक्षु का भी चक्षु है,—"प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः"—केनोपनिषद्। उसके बिना इन्द्रियों में जीवन कहाँ? अतएव वह मेरी वाणी का जीवन सदैव वाणी के, वचन के रूप में भी सर्वदा विराजमान रहे—'स्वविषयक वचन-रूपत्वेन विराजताम्"—चैतन्यदास।

वह वाङ्मय जीवन कौन है, कैसा है? अब आगे उसका परिचय देते हैं—'उसके मस्तक पर मदमाते मोर के पङ्ख' हैं, उसका मुखकमल मदनमोहन है, मुग्ध है तथा वह व्रजसुन्दरियों के नयनाञ्जन से रञ्जित है। उसका प्रथम परिचय इस प्रकार है—"मद-शिखण्डि-शिखण्ड-विभूषणम्" अर्थात् मोरपङ्ख के भूषण से युक्त है। लीला शुक श्री विल्वमङ्गल की आँखों में मोर की आँखें मानों गड़ गई हैं। नहीं,-नहीं, मोर की आँखें भला क्या गड़ सकती हैं? यह तो तद्रूप में उसी 'विभु'—प्रेमियों के नेत्रों में बैठे हुए प्रियतम श्रीकृष्ण की आँखें हैं। यथा—

जैसी छबि झलकत साँवरे सलोने अङ्ग,
तैसी न विलोकी कहूँ मेघन की ठट में।
दमकति दामिनि करोरनि में ऐसी है न,
जैसी दुति देखियत, बने पीत पट में॥

फँसि फँसि जात वनमाल में उरझे मन,
सरस्वती देख्यो बहे यमुना के तट में ।
माथे मोर चन्द्रिका के मिस सों ठगोरी ठान,
राखी जिन नैनन की चन्द्रिका मुकुट में ।।

अतएव यह मोर चन्द्रिका नहीं, यह मोहिनी रूप टौना है, इसमें मोहन के निर्निमेष नैंन विराजमान हैं। तभी तो ये मदभरे-से नेत्र गोपियों को उन्मत्त बना देते हैं और आमोद प्रमोद से पूरित कर देते हैं। मोर में भी तो मद और मोह उसी घनश्याम को देखकर आता है, फिर वह अपने प्रेमी से क्यों नहीं प्रेम करेगा ? वह तो भावग्राही है, प्रेम के पत्र-पुष्प तथा चुल्लू भर जल और तुलसी के दल पर भी बिक जाता है—

तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा ।
विक्रीड़ीते स्वमात्मानं, भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ।।

फिर यह शिखण्ड तो उसके दर्शन से ही फूल-फूल कर, नाच-नाच कर, अपने अङ्ग के पत्रों को तोड़-तोड़ कर प्रिय के चरणों में अर्पित कर देता है, उसको वह महारसिक रिझवार कैसे छोड़ सकते हैं, अतएव भूमि पर से उठा, अपने शीश पर धारण कर, शीश झुकाकर गिरिधारी श्रीकृष्ण मानो कह रहे हैं—"मैं तुम्हारे प्रेम का ऋणी हूँ, मैं गिरि का भार उठा कर खड़ा रह सकता हूँ, पर प्रेम के तो एक पत्र से भी झुक जाता हूँ ?

"धरनि ते चन्द्रिका उठाय सिर धारी नाथ,
हँसि बोले गिरिधारी, मोपै तेरो ऋण है ।"

प्रियतम श्रीकृष्ण ने मोरपङ्ख को शिर पर स्थान देकर मोर को भी मुँह लगा लिया है, वह अपने आगे किसी को समझता ही नहीं, श्यामसुन्दर के मथुरा गमन के पश्चात् मोर की विरह-वेदना को न सह सकने पर सखियाँ कहती हैं—

हमारे माई मोरउ बैर परे ।
घन गरजे बरजे नहिं मानत, त्यों त्यों रटत खरे ।।
करि इक ठौर बीनि इनके पँख, मोहन शीश धरे ।
याही सों हमहीं को मारत, हरि ही ढीठ करे ।।
कह जानिये कौन गुन सखि री, हमसों रहत अरे ।
'सूरदास' परदेश बसति हरि, ये बनतें न टरे ।।

श्रीकृष्ण मोर पङ्ख के भूषण से विभूषित हैं, अर्थात् विशेष शोभा

को प्राप्त हैं। इसमें 'विच्छित्ति' नामक हाव (अलङ्कार) का वर्णन है। जो वेशभूषा अत्यन्त तुच्छ या अल्प होने पर भी देह की शोभा को बढ़ादे–उसको 'विच्छित्ति'कहते हैं यथा–"**स्तोकाऽप्यकल्प रचना विच्छित्ति कांति पोषकृत्–साहित्य दर्पण**"। अथवा मोर के ये दो चार पंख शोभा सिन्धु की क्या शोभा बढ़ा सकते हैं? वे ही अपने 'यत्परोनास्ति' शीश पर इसको धारण करके इसकी शोभा को बढ़ा रहे हैं, "**मदशिखण्डिशिखण्डस्य विभूषणमलंकृतिर्यस्माद्वा। तत्तु तत्रैवाधिकं शोभत इत्यर्थः**"—गोपाल भट्ट गोस्वामी। ये मोर पङ्ख अन्यत्र ऐसी शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे श्रीकृष्ण के मस्तक पर शोभित हैं। यह स्थान का प्रभाव है—"**स्थानं प्रधानं खलु योग्यतायाः**"। श्रीकृष्ण के अङ्गों को भूषण क्या विभूषित करेगा, ये अङ्ग ही आभूषण-अभूषण सब को भूषित कर देने वाला परम पद है—

"**स्वस्य विस्मापनं सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण भूषणाङ्गम्**"—भा०३-२-१२

दूसरा परिचय—"मदनमन्थर मुग्ध मुखाम्बुजम्" है। इसके दो अर्थ हैं—१–मदन को भी मन्थर कर देने वाला मुख, २–मदन से स्वयं मन्थर बना हुआ मुख। प्रथम अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, नाम ही जिनका मदनमोहन है। "**चढ़ि गोपीर मनोरथे मनमथेर नाम धरे मदनमोहन**"—चैतन्यचरितामृत। मदन भी जिसके रूप पर लज्जित होकर मदहीन हो जाता है, देखिये, उस रूप माधुरी का पान कीजिये—

पायन नूपुर मञ्जु बजै, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अङ्ग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल, मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री ब्रज दूलह देव सहाई॥

'मदन मंथर मुग्ध मुखाम्बुजम्'—का एक और भाव इस प्रकार है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, श्रीराधा-मुख कमल-मकरन्द-रस का मधु पान कर, मद से मन्थर—मदालसपूर्ण, मनोहर छवि को धारण किये हुए हैं, अथवा मदनमोहन के मदभरे नैंन किसी अगाध-माधुर्य-सौन्दर्य-सिन्धु के पङ्किल रस सरोवर में फँसकर मन्थर हो गये हैं, उस रसमय पङ्कयुक्त रूप-सरोवर से निकलना कठिन है, निकल ही नहीं सकते अथवा निकलना चाहते ही नहीं, देखिये, उस रूप सुधासिन्धु की एक झलक, जहाँ नटखट चञ्चल श्रीकृष्ण के प्राण अटके हैं—

प्रेम रासि दोउ रसिकवर, एक बैस रस एक।
निमिष न छूटत अन्त सँग, यहै दुहुनि की टेक॥

गौर-स्याम तन मन रँगे, प्रेम स्वाद रस सार ।
निकसत नहिं तिहि ऐन तें, अटकत सरम बिहार ।।
कुँवरि छबीली अमित छवि, छिनछिन औरे और ।
रहिगे चितवत चित्र से, परम रसिक सिरमौर ।।
प्रेम तृषा की ताप ध्रुव, कैसेहु कही न जात ।
रूप-नीर छिरकत रहै, तऊ न नैंन सिरात ।।

और एक भावुक की भावना में स्वामिनी श्रीराधा की शोभा का वर्णन सुनिये, भक्त का हृदय विभोर हो उठता है, भगवान तो इस अनन्त-आनन्द दायिनी रसरूपा आह्लादिनी के आधार ही हैं—

बड़े बड़े उज्ज्वल सुरङ्ग अनियारे नैंन,
अञ्जन की रेख हेरे हियरो सिरात है ।
चपलाई खञ्जन की अरुनाई कञ्जन की,
उजराई मोतिन की पानिप लजात है ।।
सरस सलज्ज नये रहत हैं प्रेम भरे,
चञ्चल अंचल में कैसे हूँ समात है ।
हित ध्रुव चितवनि छटा जिहि कौंद परै,
तिहि ओर बरसा-सी रूप की ह्वै जात है ।।

प्रियतम श्यामसुन्दर और प्रियतमा श्रीराधा का परस्पर मिलन कितना अद्भुत है, रसराज महाभाव 'रसौ वै सः' के सागर में गोते लगा रहा है। श्रीराधा-सुधा सौन्दर्य के सरोवर से उछलकर जब वह रस—(श्रीकृष्ण) बाहर आता है, तब वह अनुराग की रागिनी में आह्लादिनी श्रीराधा से कहता है—

प्यारी कहौं कै प्रान तोहिं, ज्यारी कहौं कि जीय ।
हौ ही कहौं कै हों तुही, प्रिया कहौं कै पीय ।।
पीय कहौं कै प्रिया कहौं, मैं प्रान कहौं कै प्यारी तोकों ।
हौं ही कहौं कै हौं तू ही कहौं,जीय कहौं कै ज्यारी तोकों ।।
जो जो कहौं सो सो सब तू ही,कहो कि कहौं अहा री तोकों ।
श्री हरिप्रिया बरनन को बानी,विथकित होत कहारी तोकों ।।

—श्रीहरिप्रिया

ऐसा यह विचित्र रस है, जितना घुसो—उतना ही गहरा है, जितना सुलझाओ—उतना ही उलझता है, जितना समझना चाहो, उतना ही पागल बनाता है ।

अतएव श्रीकृष्ण "मदनमन्थर-मुग्ध-मुखाम्बुजम्" हैं, इनका तीसरा परिचय और देखिये—'व्रज-वधूनयनाञ्जनरञ्जितम्'—व्रजवधू अर्थात् गोपियों के अथवा श्रीराधा जी के नयनाञ्जन से जिसके अङ्ग रञ्जित हैं। गोपियों के नयनों का अञ्जन भी श्याम ही हैं, अञ्जन ही नहीं, सब भूषण-वसन-शृङ्गार भी श्याम ही हैं, तथा वे स्वयं भी श्याम रङ्ग में रँगी हुई श्याममय हो गई हैं, श्याम ही नयनाञ्जन हैं, तथा श्याम ही सर्व शृंगार हैं—

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णो रञ्जनमुरसो महेन्द्रमणि दाम।
वृन्दावन-रमणीनां मण्डनमखिलो हरिर्जयति ॥"—कवि कर्णपूर

श्री श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में भक्त मण्डली में विराजमान हैं, भक्त शिवानन्द सेन ने अपने एक पाँच वर्ष के शिशु को लाकर उनके श्रीचरणों में डाल दिया, बालक ने बाल स्वभाववश श्रीमहाप्रभु के पदाङ्गुष्ठ को मुँह में डाल लिया। तब महाप्रभु मुस्करा कर बोले—"बालक! कुछ कृष्ण-कथा कहो?" और वह पाँच वर्ष का मूक अज्ञ बालक वाचाल हो गया, उसके हृदय में गोपीकृष्ण लीला की स्फूर्त्ति हो आई—और आदि कवि वाल्मीकि की भाँति उसके मुँह से उपरोक्त श्लोक व्यक्त हुआ, जिसका अर्थ है "वृन्दावन-वनिताओं के श्रवण के समीप स्थित नील कमल स्वरूप श्रीहरि की जय हो, उनके नेत्रों के अञ्जन स्वरूप हरि की जय हो, उनके हृदय के नीलमणि के हार स्वरूप हरि की जय हो, अधिक कहाँ तक कहूँ? उनके तन, मन, प्राण, जीवन के अखिल भूषण स्वरूप श्रीहरि की जय हो—जय हो।" यहाँ व्रजगोपियों के प्रत्येक अङ्ग में, भूषण-वसन में नीलिमा श्यामता व्याप्त हो रही है। गोपियों का तन, मन, सब श्याममय हो गया है। उन्होंने उद्धव से भी साफ-साफ कह दिया था—

श्याम तन, श्याम मन, श्याम ही हमारे धन,
आठौ याम ऊधौ हमें श्याम ही सों काम है।
श्याम हिये, श्याम जिये, श्याम बिन नाहिं जिये,
अन्धे की सी लकड़ी आधार श्याम नाम है॥
श्याम ज्ञान, श्याम ध्यान, श्याम ही हमारे प्राण,
श्याम-श्याम रटत सकल ब्रजधाम है।
ऊधो तुम बौरे भये पाती लै आये दौरे,
योग कहाँ राखें यहाँ रोम रोम श्याम है॥

वैष्णव कवि चण्डीदास के शब्दों में श्रीराधा के भावों को देखिये—

श्यामसुन्दर स्मरण आमार,श्याम नाम सदा सार,श्याम ई आमार आहार ।
श्याम सेइ जीवन, श्याम मोर प्राण धन, श्याम सेइ गलार हार ।।
श्याम सेइ वेसर, श्याम सेइ वेश मोर, श्याम सारी परिवेश साधा ।
श्याम तन, मन, श्याम भजन-पूजन, श्याम दासी होइलो श्रीराधा ।।

—चण्डीदास

अतएव श्याम अञ्जन से ही श्याम का प्रकाश मिलेगा, रस से ही रस की उपलब्धि होगी, गंगाजल से ही गंगा की पूजा करनी होगी। श्यामसुन्दर ने भी गोपियों की श्याम-प्रीति पर मुग्ध होकर इनको मधुर पुरस्कार देकर इनसे उऋण होने का निष्फल प्रयास किया था। यहाँ रासलीला में "बाहु-प्रसार परिरम्भनादि" द्वारा – अंग प्रत्यंग के प्रति पुरष्कार का ही तो वर्णन है, इस श्लोक में आप नेत्रों को पुरष्कार दे रहे है। परन्तु व्रजांगनाएँ केवल लेना ही नहीं जानतीं – देना भी जानती हैं। वे विम्ब से जो कुछ भी लेती हैं—उससे चौगुना विम्व को देकर उसकी श्रीवृद्धि कर देती हैं। अतः इस दुर्लभ छवि-माधुरी के दर्शन कर विल्वमंगल बोल उठे "विजयतां"—ऐसे ही विजय को प्राप्त होकर सदा मेरे हृदय में विराजमान रहो। इस श्लोक के अन्तरंग लीलापरक अर्थ में, वाह्य अर्थ से इतना ही अन्तर है कि वहाँ "विजयताम्" का अर्थ – निकुञ्ज विहार के निमित्त श्रीराधा के सहित प्रस्थान करना है—"तल्लीलार्थं गच्छत्वित्यर्थम्।" गोपियों के साथ रास विलास तो हो चुका—अब निकुञ्ज लीला में गमन करें—यही सखी रूपा विल्वमंगल की प्रार्थना है। शेष श्रीकृष्ण माधुरी का वर्णन समान है।

मूल श्लोक—चच्चरी छन्दः—

पल्लवारुण-पाणि-पङ्कज-सङ्गि-वेणु-रवाकुलं,
फुल्ल-पाटल-पाटली परिवादि-पाद-सरोरुहम् ।
उल्लसन्मधुराधरद्युति-मञ्जरी-सरसाननं,
वल्लवी-कुच-कुम्भ-कुंकुम-पंकिलं प्रभुमाश्रये ।।६।।

पद्यार्थ—नव किसलय-सम अरुण पाणि-पङ्कज में वेणु मुखर होती है ।
पाद-पद्म-छबि विकसित पाटल-पटल-रक्तिमा धो देती है ।।
आनन पर मधुराधर की द्युति रूप-मंजरी-सी झलकारी ।
गोप-कुमारी-कुच-कुंकुम से चर्चित प्रभु मैं शरण तुम्हारी ।।६।।

भावार्थ – जिनके अरुण चरण-कमल विकसित पाटल (गुलाब) के लालित्य को तिरस्कृत कर रहे हैं, जिनके सरस मुख-कमल पर अधरों की उल्लसित और मधुर

कांति, मञ्जरी के सदृश शोभा पा रही है; जो अरुण किसलय के तुल्य हस्तकमल में धारण की हुई वंशी की स्वर-लहरियों से समावृत हैं एवं जो घोषकुमारियों के कुच कुम्भों पर लगे हुए चन्दन से चर्चित हैं—ऐसे प्रभु का मैं आश्रय लेता हूं ॥ ९ ॥

रसिका-टीका— विल्वमङ्गल के हृदय में जो रासविलासी गोपी-जन वल्लभ की स्फूर्त्ति हो रही है—उस की दर्शनोत्कण्ठा का वर्णन करते हुए वे पुनः बोले—मैं तो इस प्रभु का आश्रय लेता हूँ—जिसके हस्तकमल में वेणु है, जिस वेणु से वे गोपियों को व्याकुल कर रहे हैं और स्वयं भी आकुल हो रहे हैं जिसके अरुण-चरण कमलों ने इस समय श्वेतारुण पटल (गुलाब) की शोभा धारण कर रक्खी है, जिसके मधुर अधरों की उल्लसित कान्ति के द्वारा मुख कमल सरस हो रहा है, तथा जो ब्रज-सुन्दरियों के कुच कुम्भ-स्थित कुंकुम के द्वारा पङ्कयुक्त हो रहा है। ऐसे प्रभु का मैं आश्रय लेता हूँ। यह आश्रय ही जीवन है, 'अन्याश्रय' ही मरण है। संसार में 'प्रभु' नामक वस्तु तो बस एक यही हैं, अन्य तो नामधारी प्रभु हैं। 'प्रभु' शब्द के चार अर्थ हैं—

१—जो अयोग्य को भी सर्व योग्य करने में समर्थ हैं—"**मूकं करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम्**" इत्यादि की भाँति।

२—जो स्वाश्रित जनों के सर्वार्थपूर्ण करने में समर्थ हैं। अन्य प्रभु (ईश्वर-ब्रह्म) जिन प्रियजनों की आकांक्षाओं को पूर्ण करने में असमर्थ हैं, वे सब मधुर-रति की आकांक्षाएँ केवल इसी प्रभु से पूर्ण होती हैं। शृङ्गार रस का दान अन्य भगवत्स्वरूपों में नहीं है, इसी माधुर्यपूर्ण-स्वरूप में है।

३—प्रभु-अर्थात् अन्य समस्त कामनाओं की जो उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं, उनका नाम प्रभु है—"प्रकर्षेण भवन्ति सर्वेकामा यस्मादिति" एक ओर तो कामनाओं की समाप्ति है और दूसरी ओर कामनाओं का सूत्रपात है। एक काम की अन्त्येष्टि है,दूसरे में काम का मंगलमय जन्म है। एक ओर व्रजगोपियाँ कह रही हैं कि हम इस लोक और परलोक के समस्त विषयों को सदा के लिये त्याग कर तुम्हारे चरणों की शरण आई हैं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥

—भा० १०-२९-३१

और दूसरी ओर वे ही गोपियाँ यह भी कहती हैं कि हम तुम्हारी कामाग्नि से दग्ध हो रही हैं, अतएव अपने अधर-पल्लव के रस से हमारा

सिंचन करो नहीं तो हम आपकी विरह जन्य अग्नि में अपनी देह को भस्म कर देंगी—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ।।

—भा० १०-२९-३५

यह है काम की भूमिका से शत-शत कोटि दिव्य ऊपर का महाकाम जिसको शास्त्र ने सर्व सम्मत होकर "प्रेम" नाम प्रदान किया है। गोपियों की प्रेम पद्धति का अनुसरण करने वाले महानुभावों के हृदय जब लौकिकी कामनाओं से शून्य हो जाते हैं तब उनके भाव राज्य में अद्भुत अनूठी दिव्य कामनाऐं उठती हैं, यथा—

सदा चटपटी जिय बसै, समझि सकै नहिं कोय ।
कोउ खटपटी हिये में कहत लटपटी होय ।।
एक बार इन लोचननि, देखौं नवल विहार ।
इनहि हाथन दुहुनि को, करौं बैठि शृङ्गार ।।
इनहि पाँयन प्रगट ही, वन-वन डोलौं संग ।
सैननि में ही समुझि हौं, कछुक बात रस रंग ।।
कै फुलवारी फूलिये, तिन फूलन में जाय ।
जिन फूलन के भाँवते, भूषन करहिं बनाय ।।
कै क्यों ह्वै मधुकरी, मुख सुगन्धि लिपटाऊं ।
कै सोवहिं जा सेज पै, सेज सोई ह्वै जाऊं ।।
पिय प्यारी जहं पगधरैं, होऊं तहाँ की धूरि ।
यों समुझैं नहीं प्राणपति, रहौं ठौर सब पूरि ।।
कै उर में ह्वै 'माधुरी', माल कण्ठ लिपटाऊं ।
कै अञ्जन ह्वै दुहुँन के, नैननि गहिं समाऊं ।।
कठिन मनोरथ मन उठे, को पूरन करिहै आन ।
कृपा करहिंगे लाड़िली, दीन दुखी मोहिं जान ।।

—उत्कण्ठामाधुरी

इसका नाम है "दिव्य काम" जो इस "प्रभु" के आश्रितजनों में प्रकृष्ट रूप से उदित होता है। इसीलिए तो इस 'प्रभु' को विल्वमङ्गल ने 'कामावतारांकुरम्' (काम को प्रकृष्ट रूप से जन्म देने वाला कहा है।

४—यह प्रभु एक ही देह से शतकोटि गोपांगनाओं के साथ रासविहार

करके सब की वाञ्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं—इसलिए भी इनका नाम 'प्रभु' है।

इस प्रकार से जो सर्वैश्वर्य तथा सर्व माधुर्य से परिपूर्ण है, उसका मैं आश्रय लेता हूँ। यह आश्रय मेरा प्राण जीवनाधार है। इसके बिना मैं एक क्षण भर भी नहीं रह सकता हूं—यही विल्वमङ्गल का तात्पर्य है।

अब उस प्रभु के हस्त, चरण, अधर तथा श्रीअङ्ग का वर्णन क्रमशः श्लोक के चार चरणों में करते हैं—

१—हस्तकमल—ये पल्लव से भी अधिक अरुण, सुकुमार, शीतल तथा सौरभमय हैं। प्रभु का श्रीअङ्ग मानों एक श्यामतमाल-कल्पतरु है। उसमें अष्ट पल्लव हैं। अथवा प्रभु का अंग एक श्याम सरोवर है, उसमें अष्ट कमल हैं—यथा मुख कमल, नेत्र कमल, करकमल, नाभिकमल तथा चरण कमल आदि। इनमें से किसी एक कमल पर भी कहीं गोपियों के चंचल लोचनभृङ्ग पहुँच जायँ, तो कमल की पंखुड़ियों में फँसकर उसकी पंकिल द्युति में से बाहर निकलने में असमर्थ हो जाते हैं यथा—

अष्टनां दनुजभिदङ्गपङ्कजानामेकस्मिन् कथमपि यत्र वल्लवीनाम्।
लोलाक्षिभ्रमरततिः पपात् तस्मात् नोत्थातुं द्युतिमतिपंकिलात् क्षमासीत्॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु

कमल की सुगधि में कर्पूर मिलाने से जैसी गन्ध होती है—श्रीकृष्ण के अंगज अष्ट-पद्मों में भी वैसी ही सुगन्धि का वर्णन मिलता है यथा—

नेत्र नाभि वदन कर युग चरण, एइ अष्ट पद्म कृष्ण अङ्गे।
कर्पूर लिप्त कमल तार ऐछे परिमल, सेइ गन्ध अष्ट पद्म सङ्गे॥

—चैतन्यचरितामृत

कमल पर भ्रमर रहते हैं। इस हस्तकमल पर 'कल' हंसी-वंशी रहती है, जो श्याम सरोवर में विहार करती है और अधर कमलों का रस पान किया करती है यथा—

वंशिका कल हंसिका मुख कमल रस रांची।
पवन परसत अलक अलिकुल कलह सी माँची॥

रह्यो मन ललचाय छवि पर टरत नहिं टारचो।
अमित अद्भुत माधुरी पर 'गदाधर' वारचो॥

—गदाधर भट्ट

और यह वंशी अपनी ध्वनि से गोपियों को व्याकुल कर रही है।

अथवा अपनी ही वंशी ध्वनि को सुन कर श्रीकृष्ण स्वयं ही मोहित हो रहे हैं।

२—चरण कमल—'फल्लपाटलपाटली' अर्थात् ये चरण कमल खिले हुए गुलाब को भी लज्जित कर रहे हैं। प्रभु के चरण कमल की एक विचित्रता देखिए—अन्य छः कमल तो श्याम सरोवर के ऊपर खिल रहे हैं, परन्तु ये दो कमल सरोवर के सर्वथा तलभाग में विकसित हैं अर्थात् सरोवर पर पद्म न होकर पद्म पर ही सरोवर भरा हुआ लहरा रहा है। है न अद्भुतोपमालङ्कार' और ये चरण कमल होकर भी गुलाब बने हुए हैं इस समय तो ये अरुण से श्वेतारुण हो गये हैं कारण कि गोपियों ने श्वेत चन्दन से इनकी पूजा जो की है—

'चलसि यद् व्रजाच्चारयन्पशून्नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥

—भा० १०-३१-११

महारास के अन्तर्धान का प्रसङ्ग है ब्रजांगनाएँ यमुना तटपर बैठी हुई श्रीकृष्ण का गुण-कीर्तन कर रही हैं उसी समय इन चरणों की सुकुमारता का स्मरण करती हुईं वे बोलीं—'हे प्राणनाथ! जब आप कमल से भी अधिक सुकोमल चरणों से वन में गौ चराने को जाते हैं—तब हमारा चित्त आपके चरण कमलों में शिला-तृणांकुर के चुभने की आशङ्का से व्याकुल हो उठता है। तब हम हँसकर कहती हैं-अरे मन! यदि उनको वन जाने में कोई दुःख ही होता तो वे नित्य गौचारण को वन में क्यों जाते? उनको वन में सुख मिलता है तभी तो जाते हैं।' तब मन झुंझला कर कहता है—'अयि! निर्बुद्धयो गोपालिकाः तस्य चरण तलद्वयं स्थल कमलादपि सुकुमारं भवत्येवं वने शिला तृणांकुरशर्कराः सन्त्येव कथं पीडा न स्यात्' अरी गँवार ग्वालिनियो! उनके चरण कमल गुलाब से भी अधिक कोमल हैं और वन में शिल तृण अंकुर-कङ्कर आदि हैं ही, फिर उनको कष्ट क्यों नहीं होगा?' तब हम हँसकर कहती हैं **'अरे मुग्ध! स कोमल बालुकामये पथि पथ्येव भ्रमति'** 'ओ मूर्ख मन! वे तो कोमल बालुकामय मार्ग पर ही चलेंगे—कुमार्ग में क्यों जायेंगे? तब यह मन लाल होकर कहता है—**'अयि निर्विवेकाः! गावः किं पथि पथ्येव घासं चरन्ति।'** अरी मूर्खाओ! गौएं क्या रास्ते पर ही घास चरती होंगी? क्या वे मार्ग छोड़ कर कुमार्ग में नहीं जाती हैं? हम फिर हँसकर कहती हैं—"**अरे प्रेमान्ध! स चक्षुस्मान् शिलतृणाद्युपरिकथं पादावर्पयेत्?**" "अरे मन! तू तो प्रेम में अन्धा हो रहा है। परन्तु उनके तो दो-

नेत्र हैं—फिर वे शिलतृणांकुर के ऊपर चरण क्यों रखने लगे ?" तब वह मन हमको गाली देते हुए फिर कहता है—"**अयि प्रेम - गन्धेनापि रहिता ! यद् यदावेगवशाद् भ्रमाद्वा तदुपरि पादः पतेत् तदा किंस्यात् ?**" सखियो ! मैं तो प्रेम में अन्धा हो ही रहा हूँ—पर तुम में तो प्रेम की गन्ध भी नहीं है, तभी तो रोना-सिसकना छोड़कर मुझसे लड़ने खड़ी हो गई हो। अरी गुजरियो ! माना कि जान बूझ कर काँटे-कङ्कड़ों पर पाँव कोई नहीं रखता है। परन्तु गौओं के पीछे दौड़ते समय या किसी खेल-कूद के आवेश में कहीं काँटे-कङ्कड़ों पर चरण पड़ गये तो ? हाय ! हाय ! हमारा हृदय तो इस आशङ्का से ही छिद-छिद कर छलनी हुआ जा रहा है और तुम बातें विचार रही हो। ठीक ही तो है। वे चरण जिह्वा पर थोड़े ही रहते हैं, वे तो मन में निवास करते हैं, इसीलिए तो मैं रो रहा हूँ और तुम हँस रही हो ! तब तो मन की बातों को सुनकर गोपियों की आंखों में भी आँसू आ जाते हैं, फिर नम्रता से कहने लगती हैं—'**भो भ्रातश्चेतः सत्यं ब्रूषे।**" भैया ! चित्त ! तुम सत्य ही कहते हो। '**एतावद् दुःखानुभवितुमेव जीवन्त्यो विधातावयं सृष्टाः**' किन्तु भैया ! हम करें क्या ? सारे दुःख सहन करने के लिए ही विधाता ने हम अबलाओं को बनाया है ? अतएव भोगेंगी और करेंगी भी क्या ? तब मन फिर कहता है—'**दुःखिभ्यः खलु-जीवत यूयम्**' अरी दुखिताओ ? तुम अपनी देह को लेकर भले ही जीती रहो परन्तु '**अहन्तु युष्मत् प्राणैः सार्द्धं युष्मद्देहेभ्योनिस्सृत्याधुनैव यामीति**" मैं तो तुम्हारे प्राणों के सहित तुम्हारी देह से निकल कर अभी इसी समय उनके समीप जा पहुँचता हूँ।

—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती

महारास के समय उनकी देह के भी भाग्य जाग उठे। आज पर्यन्त तो गोपियों का मन ही इन चरण कमलों का दास था पर आज उनका तन भी दासी पद को प्राप्त हो चुका है। जिन चरण कमलों की स्मृति में उनका तन-मन संतप्त रहता था, आज वह अपने ऊपर इन चरण-कमलों को धारण कर जीवन भर की ज्वाला को दूर करने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ है।

परन्तु आज यह महामङ्गल - दिवस दीर्घ प्रतीक्षा की निशा तथा कठोर परीक्षा के अनन्तर ही तो उदय हुआ है देखिये कठोर परीक्षा—**सत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्** लोक परलोक के समस्त विषयों का सम्पूर्ण त्याग करने के पश्चात तब यह आपका पाद-मूल आज प्राप्त हुआ है। मिलने पर भी —'**पादौपदं न चलतस्तव पादमूलात्**' इस पाद-मूल से एक भी पग इधर-उधर

नहीं चल सकती यह कहकर अपनी अनन्यासक्ति सिद्ध करनी पड़ी। तदुपरान्त **'तवपादरजः प्रपन्नाः' 'पुरुष भूषण देहि दास्यम्'** हम आपकी चरण-रज की शरण हैं। नाथ! हमको अपनी दासी बना लो। अन्यथा आपकी विरहाग्नि में भस्म होकर आपका ध्यान करती हुई आपको ही प्राप्त होंगी।

यह कहकर गोपियों ने सम्पूर्ण आत्म समर्पण किया और अपनी चरम निष्ठा का परिचय दिया, तब वे रस के देवता श्यामसुन्दर सन्तुष्ट हुए। उनको यह निश्चय हो गया कि यह त्याग, यह निष्ठा, यह भाषा यह भाव इस मर्त्यलोक के नहीं हैं। ये तो किसी विलक्षण लोक के अनुरागी सन्त हैं। ये काम-कलुषित हृदयों के कामोद्गार नहीं हैं, ये काम-विमोहित हृदयों की प्रेम झंकार हैं। कामिनियों के रूप में ये तो प्रेम के आद्याचार्यों का कुलकदम्ब मेरी आराधना के निमित्त उपस्थित हुआ है तब प्रियतम श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया। रासलीला प्रारम्भ हुई। आराधना में सर्वाङ्ग से सर्वाङ्ग की पूजा हुई और व्रजवनिताओं ने अपने दीर्घकाल के सन्तप्त हृदयों पर उन चरण कमलों को शनैः शनैः धारण कर उनकी और अपनी व्यथा का निवारण किया। गोपियों के अंगों में सात्विक विकार के कारण प्रस्वेद प्रकट हुआ, जिससे उनके उरोजों पर चर्चित राग पंकिल हो गया जिसने अरुण चरण-कमलों को श्वेतारुण पाटल बना दिया।

श्रीकृष्ण उनकी पूजा से परम प्रसन्न हुए। प्रसन्न होकर पुरस्कार प्रदान किया तो मुख कमल भी रंजित हो गया अतएव–**'उल्लसित मधुराधरद्यु-तिमञ्जरीसरसाननम्'** मधुर अधर की उल्लसित कान्ति रूप मञ्जरी से उनका मुख कमल सरस मनोहर बन गया तथा कर्पूर-कस्तूरी अँगुरी कुंकुम के कर्दम से उनका श्रीकलेवर भी पंकिल हो गया।

प्रभु की इस अनुपम-पूजा का दर्शन कर विल्वमङ्गल हर्षोल्लासपूर्वक बोल उठे, **''वल्लवीकुचकुम्भकुंकुम पङ्किलं प्रभुमाश्रये''** कोई अन्य प्रभु नहीं, ये प्रभु हैं मेरे आश्रय, मेरे जीवनाधार! अगले श्लोक में भी इसी रासविलासी स्वरूप का वर्णन है, देखिये—

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः

अपाङ्गरेखाभिरभंगुराभिरनङ्ग-रेखा-रस-रञ्जिताभिः ।
अनुक्षणं वल्लव-सुन्दरीभिरभ्यस्यमानं विभुमाश्रयामः ॥१०॥

पद्यार्थ—**कन्दर्प-रेख-रस-रंजत नयनु युगल के**
निश्छल कटाक्ष से, भोली गोपकुमारी ।
जिस रूप-राशि का पान किया करती हैं
उस विभुवर की मैं शरण और बलिहारी ।।१०।।

भावार्थः—गोप-बधूटियाँ काम-रेखा से रंजित वक्र विलोचनों से टकटकी लगा कर जिस प्रभु की रूप-माधुरी का प्रतिपल पान किया करती हैं वे श्रीकृष्ण ही मेरे एक मात्र आश्रय हैं ।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल के हृदय में जो रासमण्डल-मध्य-स्थित श्रीकृष्ण के रूप की स्फूर्ति हो रही है, उसको लक्ष्य करके पूर्व श्लोक की भाँति यहाँ भी अपनी आसक्ति को प्रकट करते हुए कहने लगे कि मैं तो उस विभु का ही आश्रय लेता हूँ—जिसके मुखारविन्द पर चारों ओर से व्रजसुन्दरियों की दृष्टि निबद्ध हो रही है ।

विभु शब्द का एक अर्थ छठवें श्लोक की व्याख्या में किया गया है, कि वह-सौन्दर्य, माधुर्य, चातुर्य और औदार्य का निधान है । यहाँ दूसरा एक और अर्थ किया जाता है कि-'वि' नाम विविध रूप से जो अपने भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये विभिन्न नाम रूप से-'भु' अर्थात् आविर्भूत होते हैं-वे हैं विभु । फिर वह विभु अभ्यस्यमान है अर्थात् प्रेमीजनों द्वारा उन पर अभ्यास किया जा रहा है, बारम्बार अपने चित्त को स्थिर किया जा रहा है, पुनः पुनः अपनी एकाग्रता का विषय बनाया जा रहा है—यह अभ्यास भी व्रजरमणी गोपियों के द्वारा प्रतिक्षण, निरन्तर अखण्ड रूप से चल रहा है—इनके इस सतत अभ्यास का साधन हैं-उनकी 'अपाङ्ग रेखाएं' अर्थात नेत्र प्रान्त की तिरछी कटाक्ष पूर्ण-चितवन । यह तिरछी चितवन भी 'अभंगुरा' है, अर्थात् उस तिरछी चितवन की धारा में भंग नहीं है—टूटन नहीं है, अखण्ड रूप से प्रवाहित है ।

लखत में लजति जो नमि नमि तकति हैं, मोरि कै मारति बस नैंनन की कोर है ।
बोरि बोरि रंगन में काजर अनंगन में, छोरत छबीली धार बंधी इकडोर है ।।
अंगना इन अंगन में साधें उमंगन भरि, सिद्धिहेतु हेत करि लायो 'प्रेम' जोर है ।
गोरिन के कोरन सों कजरारे रूप बिभु, ताके पद ताकें हम ताकें नहीं और है ।।

उनकी दृष्टि अभंग है अर्थात् अवक्र है, सीधी है, भ्रकुटि तथा नेत्र टेढ़े होने पर भी दृष्टिकी धारा सीधी है अर्थात चितवन तो टेढ़ी है परन्तु धारा सीधी

चल कर अपने लक्ष्य पर पहुँचती रही है, अभंग पराक्रम वाली वह चितवनि की धारा अग्रसर होती हुई जीवन की समस्त बाधाओं को बहा ले जाती है।

इस कटाक्ष धारा का कोई रूप रंग भी है ? हाँ ! अवश्य है—'**अनङ्ग-रेखारसरंजिताभिः**' वह धारा काम रस से रंजित है, उसके अन्तर में अरुण रेखा है, बाहर उसके श्यामाञ्जन रेखा है। अर्थात् कटाक्ष ही मानों एक बाण है जिसका पश्चात् भाग अर्थात् नयन-कोंण अरुण रस से रञ्जित है, और उसका अग्रभाग श्यामवर्ण के कामरस से रंजित है—वह कामबाण है। बाणों के आगे पीछे रंग इसलिये हैं कि लक्ष्य वेध होने न होने का ज्ञान रंग से हो जाय अरुण-श्याम-मिश्रित अंजन की कटाक्षधारा के अभ्यास का उद्देश्य है—

प्रथम तो जैसे सिद्ध पुरुष अपने दृष्टिपात के द्वारा योग्यपात्र में शक्ति निक्षेप करते हैं, जैसे मीन अपने दृष्टिपात से ही डिम्ब (अण्डा) को पुष्ट करके उसमें से सन्तान को जन्म दे देती है, वैसे ही व्रजांगनाएँ भी काम-रेखा—रसरंजित दृष्टिपात के द्वारा अपने रसरङ्ग से उनको बाहर—भीतर से रँग कर रङ्गीला, रसीला और छबीला बना रही हैं, आह्लाद को भी आह्लादित कर रही हैं रसराज को रसिकराज बना रही हैं। व्रज गोपियाँ ही इस आराधना को कर सकती हैं।

जो अँखियनि के हाथ बिकानी। तो अँखियन की सुनो कहानी॥
अँखियनि की गति अँखियाँ जानैं। अँखियन ही सों बातैं ठानैं॥
अँखियन को अँखिया ही भोग। अँखियन को अँखिया ही योग॥
देखि देखि देखि फिर देखें। देखनि के अंतहिं नहिं देखें॥
ये अँखियां बोलें अरु डोलें। लेहिं देहिं सब करैं किलोलें॥
इनकी समुझन समुझ कहावै। सो समुझन की समुझ भुलावै॥

—वल्लभरसिक

अभ्यास का दूसरा उद्देश्य यह है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के चित्र को अपने मानस पटल पर अंकित कर रही हैं, वियोग के समय यह चित्र उनके जीवन का आधार होता है आज ही तो उनको चित्रांकन के अभ्यास करने का स्वच्छन्द अवकाश प्राप्त हुआ है, अतएव उन्होंने अपने कटाक्षों की तूलिका बनाई, उसे अञ्जन तथा अनङ्ग के रङ्ग से रंजित किया फिर चित्रांकित करने लगीं। नेत्रों को घुमा कर, मोड़कर, मरोड़ कर, इधर से उधर, ऊपर से नीचे तक सर्वाङ्ग का सर्वेक्षण कर रही हैं। ठहर-ठहर कर नेत्र बंद कर बीच-

बीच में देख भी लेती हैं कि—मूर्ति कहाँ तक ठीक बनी है ? सुन्दर तो बनी है ? कोई त्रुटि तो नहीं रह गयी ? पुनः जब नेत्र खोलकर मूर्ति का मिलान करती हैं तो चकित रह जाती हैं। हाय ! हाय ! यह क्या ? यह तो मूर्ति ही बदल गई ! नहीं नहीं, मूर्ति नहीं बदली छवि बदल गई है !! पुनः अपनी कटाक्ष—किरणों से उस नवीन छबि को अङ्कित करती हैं। परन्तु जब फिर से मिलान करती हैं तो बाहर एक और नई ही छबि को देखती हैं। इस प्रकार पुनः पुनः अङ्कित करती हैं, परन्तु वह छबि अंकन में नहीं आ पाती-

लिखन बैठ जाकी छबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥
चित्र चितेरो जो लिखे, रचिपचि मूरति लाल।
वह चितवनि मुसकान वह, कैसे लिखे जमाल॥
दृग पुतरीं-लौं श्याम वह, लिख्यो कौन पै जाय।
जग उजियारी श्यामता देखो जीय लगाय॥

गोपियों का भी गरूर तो चूर हो गया है परन्तु सरूर [नशा] तो चढ़ा ही है, अङ्कित करने की धुन तो चढ़ी ही रहती है, अतएव "अनुक्षण अभंग" उत्साहपूर्वक अभ्यास कर रही हैं।

अपने कर्म की सिद्धि न होने पर बीच-बीच में ब्रह्मा को भी कोसती जा रही हैं हाय ! सखी ! इस चौमुंहे का नाम ब्रह्मा किसने रखदिया,किसकी क्या आवश्यकता है, इस को ज्ञान ही नहीं फिर चारों वेदों का ज्ञाता और विधाता किसने बना दिया ? यह जानते हुए भी कि व्रज में एक ऐसी अपूर्व रसमयी श्यामल मूर्ति प्रकट हुई है, तो भी हमको सहस्र नेत्र क्यों नहीं दिये यह नीरस विधाता कहीं हमारे हाथ आ जाय तो हम उसे डाटेंगी और इसके विधान को पलट कर एक नया विधान बनायेंगी !

जो विधना अपवश करिपाऊँ।
तो सखी कह्यौ होय कछु तेरो, अपनी साध पुराऊँ॥
लोचन रोम रोम प्रति माँगौं, पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ।
इक टक रहैं पलक नहिं लागैं, पद्धति नई चलाऊँ॥
कहा करौं छवि राशि श्याम यह, लोचन द्वै नहिं ठाऊँ।
एते पर ये निमिष सूर सुनि, यह दुख काहि सुनाऊँ॥

× × ×

मुरारिं पश्यन्त्याः सखि सकलमङ्गं न नयनं,
कृतं यच्छृण्वन्त्या हरिगुणगणं श्रोत्रनिचितम् ।
समं तेनालापं सपदि रचयन्त्या मुखमयं,
विधातुर्नैवायं घटनपरिपाटी मधुरिमा ।। —पद्यावली

विल्वमंगल की प्रार्थना भी यही है कि ब्रज—सुन्दरियों द्वारा जिस श्री विग्रह पर अभ्यास किया जा रहा है, उस विश्व-विमोहन विभु का मैं आश्रय लेता हूँ, स्वयं भी उन्होंने अपने एक अन्य श्लोक में इस अभ्यास के स्थान को गोपियों के नयन-बाणों की संग्रामभूमि बताया है—

मुखारविन्दे मकरन्द विन्दु निष्यन्दलीला मुरली निनादे ।
ब्रजाङ्गनापाङ्गतरङ्गभङ्ग संग्रामभूमौ तव लालसा नः ।।

"अनंगरेखारंजिताभिः" की योजना "बल्लवीसुन्दरीभिः" के साथ करने पर यह भावार्थ प्रकट होता है कि वे गोपसुन्दरियां अनंग रेखा से रञ्जित हैं। अनंग से तात्पर्य अनंगमूल, 'कामावतारांकुर" श्रीकृष्ण से ही है इनको यों समझिये—

चित्र विचित्र रचनाओं के द्वारा जिनके अंग रंजित हैं, अथवा रेखाओं के द्वारा रञ्जित हैं, अनंग के ही अङ्ग-अङ्ग में नाम तथा चित्र के द्वारा अङ्कित हैं। यथा—

"नैनन में लिख श्याम मनोहर, भाल पै लिख दे गिरधरलाल ।
हिय में लिख दे कुञ्जबिहारी, भुज पै मुरलीधर गोपाल ।।
चतुर गोदना गोदनहारी, जो तुव हिया विनोद ।
मूरति मोहन लाल की, मेरे अङ्ग अङ्ग में गोद ।।"

× × ×

मूल श्लोक औपच्छन्दसिकम् छन्दः—

हृदये मम हृद्य-विभ्रमाणां हृदयं हर्ष-विशाल लोल-नेत्रम् ।
तरुणं व्रज-बाल-सुन्दरीणां, तरलं किंचन धाम संनिधत्ताम् ।।११।।

पद्यार्थ :—कमनीय विभ्रमों का जीवन, चञ्चल विशेष-
आनन्दित-आयत-चपल-लोचनों से भूषित ।
लालित्यमयी ब्रजबालाओं का तरुण-विम्ब-
कब होगा मेरे अन्तर में आलोकित ।।११।।

भावार्थ :—जो काम्य विभ्रमों [हाव भाव विलास-आदि] का हृदय [जीवन एकमात्र आधार]है, आनन्दातिरेक से जिसके लोचन युगल विशाल और चञ्चल हो रहे हैं; व्रज-बाल-सुन्दरियों का जिस पर एकाधिकार है—ऐसा वह तरुण, तरल [चपल] और अद्भुत तेज मेरे हृदय में हमेशा विहार करता रहे।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल के हृदय में गोपी-मण्डल-मण्डित श्रीकृष्णस्वरूप की स्फूर्ति हो रही है, प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दर की प्रतिक्षण तरङ्गित छवि-माधुरी उत्कण्ठित होकर विल्वमंगल अपने प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं कि—"मेरे हृदय में कोई एक ज्योति सदैव निवास करे।" शंका होती है कि—क्या विल्वमंगल ब्रह्म-ज्योति के लिये प्रार्थना कर रहे हैं ? नहीं भाई ! यह प्रार्थना तो तरल ज्योति के लिये हो रही है,ब्रह्म ज्योति का स्वरूप तो अचंचल है। वह तो कूटस्थ है, स्थाणु है, और यह हमारी ज्योति तो 'तरल' है। स्थिर होते हुए भी चलती फिरती है। अच्छा,—जो भी हो, पर—अपनी इस ज्योति का नाम तो बताओ ? अपनी प्रिय वस्तु का नाम इतना गोपन क्यों रखते हो ? "बालं नीलं" "ज्योतिः" "धाम" "विभु" "प्रभु" ये तो सामान्यवाची शब्द हैं इनके अतिरिक्त उसके लिये कोई और विशेष आनन्द दायक शब्द ही नहीं है ?

भाई ! वह क्या विशेष है ? क्या सामान्य है ? हम यह सब ऊहा-पोह की बात नहीं जानते—हम तो यही कहते आये हैं, और अन्त तक यही कहते रहेंगे—कि वह अनिर्वचनीय है, अति रहस्यमय है, गोपनीय है, सर्वोपनिषदों में भी वह गूढ़ है:—**"अति रहस्यत्वात् सर्वोपनिषदादिनिगूढ़त्वाद्वातन्नामाग्रहणं"** उसके गोपनीय नाम को हम अपनी वाणी से नहीं लेना चाहते किन्तु उसकी कथा-चर्चा तो हम से नहीं छूट सकती— **"तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्-कथार्थः"**।

भाई ! देखो,—तुम हमारी बात तो छोड़ दो, हम तो यहाँ लुट चुके हैं, फंस चुके हैं—किन्तु यदि तुम को यह सब अच्छा न लगता हो-तो तुम भूल कर भी उधर यमुना के तट की ओर वंशीवट पर मत जाना, देखो मैं फिर कहता हूँ- अरे ! ओ ! राहगीरो ! इधर मत जाओ ! यह रास्ता बड़ा भयानक है, एक कोई दिगम्बर तमालनील-सदृश अवधूत, नितम्ब-बिम्ब पर हाथ रक्खे हुए मार्ग में ही बाँकी अदां से खड़ा है- वह धूर्त इधर से जाने वालों के सर्वस्व को लूट लेता है—

"मा यात पान्थाः पथिभीमरथ्या, दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे, धूर्तः समाकर्षति चित्त वित्तम् ।। विल्वमंगल

हाँ,—तो इसलिये वह ज्योति 'तरल' है। तरल का एक अर्थ है—चंचल, अर्थात् वह ज्योति विद्युत गति से गोपी मण्डल में शत कोटि रमणियों के साथ भ्रमण करती हुई सब का समाधान करती है, रस प्रदान कर सबको सुखी करती है, दूसरे वह सब के लिए तरल 'कण्ठ का हार' भी बन जाती है—"**व्रजबालसुन्दरीणां तरलं**" फिर वह ज्योति "तरुण" भी है, अर्थात् किशोर होते हुए भी यौवन के हाव-भाव-विलासादि से अत्यन्त प्रगल्भ है। अतएव वह "हृद्य विभ्रमाणां हृदयं" है इसके दो अर्थ हैं हाव, भाव, विलासादि की विशेष चेष्टाओं का वह हृदय है, मूल केन्द्र स्वरूप है– अर्थात् जितने भी रसमय विलास हैं–उनका बीजरूप है। अतएव तृतीय श्लोक में उसे "कामावतारांकुर" कहा है। अर्थात् वह शृङ्गाररस की मूर्ति है, शृङ्गाररस सर्वस्व है, शृङ्गार रस भी श्रीकृष्ण में ही सफल है, कृतार्थ है। जघन्य से धन्य हुआ है काम्य हुआ है, तथा नरक के द्वार से परमानन्द का द्वार बन गया है।

'हृद्यविभ्रमाणां हृदयं का' दूसरा अर्थ यह है कि व्रजगोपियों के हृदय में जो भावादि विभ्रम उदय होते हैं, श्रीकृष्ण उनके रहस्य के ज्ञाता हैं मर्मज्ञ हैं,विदग्ध एवं चूड़ामणि हैं। फिर वह ज्योति–"**हर्षविशाललोलनेत्रम्**"है, अर्थात् हर्ष के कारण विशाल और चंचल लोचनों से युक्त है। श्रीकृष्ण के नयन युगल स्वभाव से ही विशाल आकर्णान्त हैं, परन्तु गोपियों के संगलाभ से आनन्दित होकर और भी अधिक विस्तृत हो गये हैं, व्रज सुन्दरियों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का अवलोकन करने के निमित्त उत्सुकता के कारण वे विशाल नेत्र चंचल हो उठे हैं।

देखिये, रसिक शेखर श्रीकृष्ण के नेत्रों की एक झांकी–

घूमत नैंन रूप रस माते।
चाहत मिल्यौ मिलन ही की रति, छिन छिन प्रति हुलसाते ।।
परम उदार सिरोमनि सुख निधि, मंद मंद मुसकाते।
अपनों जानि ललित के हित सों, इनि ही के रङ्ग राते ।।

वैसे ये विशाल नेत्र अपनी उदारता का परिचय इस प्रकार दे रहे हैं–

"कानों से यूँ कह रहे, तेरे नैंन विशाल।
तुम से सुन हम देखते, दुखियों को तत्काल ।।"

किन्तु नेत्रों का कहना कहाँ तक उचित है ? इसका निर्णय वही कर सकते हैं जिनकी आँखों में तुम्हारी आँखें गढ़ चुकी हैं, सुना यह जाता है कि तुम्हारे ये आकर्षक विशाल नेत्र जिसकी आंख में घर कर गये—बस उसने जन्म भर के लिये दर्द भरी पीर खरीद ली, एक विरहिणी गोपी से सुनिये—

जाके लगै सोई जानै विथा, पर पीर में कोउ उपहास करै ना ।
'सागर' जो चुभिजात है चित में, कोटि उपाय करौं पै हटै ना ।।
नेकसी कांकरी आंख परै, वाकी पीर कै मारै सो धीर धरै ना ।
कैसे परै कल एरी सखी, जब आंखि में आँखि धँसै निकसै ना ।।

श्रीकृष्ण भी मन में सोच रहे हैं कि इन गोपियों से भी अधिक "आर्त" और कौन हो सकता है ? कुछ तो विचारी गृह में ही रोक लिए जाने पर इस धाम की पदवी को प्राप्त हो चुकी हैं, और रही सही यहाँ प्राप्त होने को प्रस्तुत हैं– 'ध्यानेन याम पदयो पदवीं सखे ते' अतएव व्रजाङ्गनाओं की दुःख राशि को भस्मीभूत करने के लिये प्रथम तो इस नील ज्योति का हृदय तरल हुआ, पुनः नेत्र तरल हुए पश्चात् चरण तरल हुए तदन्तर हस्त कमल तरल हुए, वदन तरल हुआ, अन्त में श्रीकृष्ण का सर्वाङ्ग ही उनके हृदय पर तरुण तरल बनकर सुशोभित हो गया। इस तरल माधुर्य से लीलाशुक का हृदय भी तरल हो गया, नयन भी तरल हो गये, और तब तरल कण्ठ से यह तरल-ध्वनि उठी –**'हृदये मम, तरल किंचन धाम संनिधत्ताम्'** । मेरे हृदय में यह कोई तरल ज्योति सदा निवास करे। श्रीकृष्णदास कविराज महाशय इस श्लोक की अन्तर्दशा का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि–विल्वमंगल श्रीराधा के यूथ की सखी हैं। श्रीराधा के सुख-विधान करने में ही उसके सुख की सीमा है। इस आवेश में उनके हृदय में यही एक लालसा उदय हो रही है कि हमारी स्वामिनी अपने प्रियतम के साथ एकान्त विहार करके स्वयं सुखी हों, तथा प्रियतम को सुखी करें। इसी उद्देश्य से वे कह रहे हैं–**'ममहृदयस्थितलीलाविशेषे संनिधत्ताम्'** मेरे हृदयस्थित लीला विशेष में आप सम्यक् रूप से प्रवेश करें—**'तदर्थमेवहित्वातयासहशीघ्रं तत्रगच्छत्वित्यर्थं'** उस लीला के सम्पादन के निमित्त अन्य सब यूथ को त्याग कर केवल श्रीराधा के सहित यहाँ प्रस्थान करें। इस आशय से श्रीकृष्ण भी अवगत हैं, कारण कि आप हृदय हैं, 'हृदयति जानयति हृदयम्' हृदय के जानने वाले हैं, अतएव अन्तर्धान होने से पूर्व रसिकशेखर नटनागर श्रीकृष्ण उनकी उत्कण्ठा की वृद्धि करते हुए भावी त्याग-जन्य-स्वदोष का समाधान करने के लिये ही मानों

व्रजांगनाओं को आलिंगन प्रदान कर सुखसिन्धु में निमज्जित कर रहे हैं। यही विल्वमङ्गल की अन्तर्दशा का अर्थ है।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

निखिल-भुवन-लक्ष्मी-नित्य-लीलास्पदाभ्यां,
कमल-विपिन-वीथी-गर्व-सर्वंकषाभ्याम् ।
प्रणमदभय-दान-प्रौढि वाढादृताभ्यां,
किमपि वहतु चेतः कृष्ण-पादाम्बुजाभ्याम् ॥१२॥

पद्यार्थ—**जिनके तल में अखिल भुवन लक्ष्मी नित क्रीड़ा करती है।**
जिनकी आभा पङ्कज वन का विकसित वैभव हरती है।
प्रणत जनों को अभय दान की दिव्य दुंदुभी बजती है।
भक्ति भाव सुमनों से जिनकी मान पताका सजती है॥
व्रज वनिता मन सुमन भ्रमर के चरण कमल से रे चञ्चल।
ओ मेरे मन ! तू भी भर ले रिक्त पड़ा अपना अञ्चल ॥१२॥

भावार्थ—श्रीकृष्ण के जो चरणारविन्द समस्त भुवनों की लक्ष्मी की विलास भूमि हैं, जो कमल-वन-समूह को अपने सौकुमार्य और सौन्दर्य से पराभूत करने वाले हैं और जिन्होंने शरणागति को अभय दान देने की उत्कृष्टता में आदर पूर्ण गौरव प्राप्त कर लिया है—ऐसे श्रीकृष्ण के चरणाम्बुजों से जो एक अनिर्वचनीय माधुर्य सुख का स्रोत निःसृत होता है, वह मेरे चित्त में निरन्तर प्रवाहित होता रहे।

रसिका टीका—अहा ! ये व्रजांगनाएँ महान् सुकृतशालिनी हैं, तभी तो रस-विग्रह के साथ रास-विलास के सुख का उपभोग कर रहीं हैं। विल्वमंगल कहते हैं—क्या मुझे भी प्रभु के चरणारविन्दों का सतत-सान्निध्य प्राप्त होगा ? इस लालसा से श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की अद्भुत महिमा का अनुभव करते हुए अपना अभीष्ट निवेदन करते हैं—**'किमपि वहतु चेत कृष्णपादाम्बुजाभ्याम्'** श्रीकृष्ण के चरण कमलों को प्राप्त करने से अथवा उनका कीर्तन, स्मरण, ध्यान करने से जो एक अनिर्वचनीय माधुर्य सुख प्राप्त होता है, जिसे मेरा हृदय ही जानता है, पर कथन नहीं कर सकता, उस सुख को मेरा चित्त निरन्तर वहन करता रहे-धारण करता रहे।

श्रीकृष्ण चरणारविन्द का माधुर्य अनिर्वचनीय है, ब्रह्मानन्द में निमग्न चित्तवाले परमहंस महामुनियों के चित्त का भी बलात् आकर्षण कर

लेता है। प्रथम ब्रह्मानन्द का परिमाण बतलाते हैं जिससे कि श्रीकृष्णचरण माधुर्य का कुछ अनुमान हो सके।

तैत्तिरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्द वल्ली के अष्टम अनुवाक् में इसी एक आनन्द की एक आख्यायिका है, उसमें कहा गया है कि मनुष्य युवा हो, सुन्दर हो, सदाचारी हो, सुशील हो, कुलीन हो, वेदज्ञ हो, देह-इन्द्रियों से निरोग, समर्थ, सुदृढ़ हो, बलवीर्यवान हो तथा धन सम्पत्ति से पूर्ण-सम्पूर्ण धरातल का स्वामी हो तो उसका जो आनन्द है, वह एक मनुष्य का आनन्द है—मनुष्यलोक का सर्वश्रेष्ठ आनन्द यही है। इसके आगे भुवः लोक के गन्धर्वों का आनन्द मनुष्य के आनन्द से सौगुना अधिक है–उनसे देवगन्धर्वों का आनन्द सौगुना अधिक है, इनसे अधिक पितरों का आनन्द सौगुना है। इसके आगे स्वर्गलोक के आजानजान देव, कर्मदेव तथा स्थायी देवों का आनन्द सौ-सौ गुना अधिक है। उनसे देवराज इन्द्र का और उनसे देवगुरु बृहस्पति का आनन्द सौगुना अधिक है, इनके आगे समस्त सृष्टिकी रचना करने वाले प्रजापतिगण का आनन्द देवगुरु के आनन्द की अपेक्षा शतगुणा अधिक है तथा उनसे भी आगे जगत्पितामह ब्रह्मा का आनन्द शतगुणा अधिक है और ये सब आनन्द मिलकर अकेले एक ज्ञानी विरक्त को प्राप्त हैं—"**स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य च कामहतस्य**" उस एक ज्ञानी निष्काम विरक्त के आत्मानन्द में ब्रह्मा तक का ब्रह्मानन्द समाया हुआ है।

ऐसा परम चरम-परमहंस-अमलात्मा महामुनीन्द्रगणों का आनन्द ब्रह्मानन्द है। किन्तु श्रीकृष्ण चरणारविन्द का माधुर्य उनके चित्त को भी आकर्षित कर लेता है, अतएव 'किमपि' हैं, अद्भुत है, अनिर्वचनीय है, स्वसंवेद्य है।

गुणातीत परब्रह्म में परिनिष्ठित माता के गर्भ से ही माया से अलिप्त जन्म से ही पूर्ण वैराग्यवान महामुनीन्द्र शुकदेव जी ने उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण की लीला का श्रवण कर अपनी ब्रह्म समाधि को त्याग दिया और श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान कर उनके चरित्र का गायन करने लगे—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीत चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

—भागवत २-१-६

सृष्टि के प्रथम जन्मा सनकादि–कुमार चतुष्टयों के ब्रह्मानन्दरस

में तल्लीन चित्त को भी साक्षात पादारविन्दों की माधुरी ने, नहीं—केवल उनके चरण स्पर्श को प्राप्त हुई तुलसी मिश्रित मकरन्द युक्त वायु के प्रवाह ने ही ऋषियों को लुब्ध, क्षुब्ध और विमुग्ध कर दिया और तब से आज तक सनकादि ऋषि श्रीकृष्ण चरण-रस-मकरन्द का आस्वादन करते हुए जगत के जीवों को उपदेश करने हेतु त्रिलोकी में विचरण कर रहे हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरणेन चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ।।

—भागवत ३-१५-४३

श्री सनत्कुमार ने इस विलक्षण रस का आनन्द अनुभव कर महाराज प्रथु को भी यही उपदेश दिया था कि तुम वासुदेव के चरणों का ही आश्रय ग्रहण करो–क्योंकि उनके पद-पङ्कजों के पलाश की भक्ति से ही सन्त संसार रूप अज्ञान-ग्रन्थि का सहज में छेदन कर अनायास ही मुक्ति पद को प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु के चरणाश्रय के बिना भक्ति शून्य जितेन्द्रिय-योगिराजों को भी वह पद प्राप्त नहीं होता—

यत्पादपङ्कज पलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ।।

—भागवत ४-२२-३९

धर्मराज युधिष्ठिर भी इन चरणों की महिमा से सुपरिचित हैं, उन्होंने भी कहा कि इन पाद-पद्मों की रज को लक्ष्मी, ब्रह्मा, शिवजी तथा इन्द्रादि लोकपाल गण भी अपने मस्तक पर धारण कर कृतार्थ होते हैं वे भगवान समय पर अवतार धारण कर भक्तों को आनन्दित करते हैं और वे अपनी कृपा से ही प्राप्त होते हैं—

यत्पादपङ्कज रजः शिरसा बिभर्तिः श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।
लीला तनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयेशः काले दधत् स भगवान् मम केन तुष्येत् ।।

—भागवत १०-५८-३७

स्वयं भगवान कपिलदेव भी अपनी माता देवहूति से कहते हैं—

"माता ! मेरी चरण सेवा में अनुरक्त भक्त जन तो परस्पर मेरे कथा कीर्तन का गान करते हुये परमानन्द को प्राप्त होते हैं, मेरे भावुक भक्त मुझ में लीन होकर मुक्त हो जाना नहीं चाहते—वे तो मेरे मनोहर मुखारविन्द के तथा नयनारविन्द के रस-मकरन्द को चकोर की भाँति निर्निमेष

दृष्टि से पान करते रहते हैं, तथा मुझसे मीठी-मीठी प्रेमलपेटी अटपटी बातें भी करते हैं। मेरे मनोहर रूप, गुण, हास-विलास से उनके तन, मन, प्राण और आत्मा का हरण हो जाता है।" मेरी चरण सेवा में अभिरत वे भक्त भुक्ति-मुक्ति को नहीं चाहते, क्योंकि वे तो परस्पर मेरी लीला-कथाओं को गाकर आनन्दित रहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवता प्रसज्य सभाजयंते मम पौरुषाणि॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब संतः प्रसन्न वक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वर प्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

—भागवत ३-२५-३४-३५

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्णपादाम्बुज में ऐसी कोई विलक्षण माधुर्य-राशि अवश्य है—जिसको उनके मधुकरवृन्द ही आस्वादन करते हैं हाँ! अन्य जनता उनके विरलमत्त गुञ्जन से किञ्चित् अनुमान मात्र ही लगा पाते हैं चरण कमल की महिमा का पूर्ण प्रकाश तो इन महानुभावों के हृदय में हुआ है—

तिहारे चरण कमल को माहात्म्य शिव जानै कै गौतम नारी।
जटा जूटमधि पावनि गङ्गा अजहु लियें फिरत त्रिपुरारी॥
कै जानै शुकदेव महामुनि कै जानें सनकादिक चारी।
कै जानै विरोचन को सुत सर्वस्व दै मेटी कुल गारी॥
कै जानै नारद मुनि ज्ञानी गुप्त फिरत त्रैलोक मँझारी।
कै जानें हरिजन 'परमानंद' जिनके हृदय बसत भुजचारी॥

तुम्हारे चरणों के आश्रित भक्त तो केवल तुम्हारे भरोसे पर मस्त रहते हैं—

भरोसो इन चरणन केरो।
श्रीवल्लभ नख चंद्र छटा विनु सब जग मांहि अँधेरो।
साधन और नहीं या जग में जासों होय निवेरो।
सूरदास मैं दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

विल्वमङ्गल अपने प्रेमावेश में श्रीकृष्ण के चरणों को कमल तो कह गये—परन्तु जब श्रीचरणों की अनन्त विलक्षणता की ओर ध्यान गया तो सावधान होकर बोले—नहीं, नहीं, ये सब विशेषताएँ भला कमल में कहाँ हैं श्रीचरण की विशेषताओं को श्लोक के प्रथम तीन चरणों में निर्देश किया गया

है---प्रथम चरण में ऐश्वर्य, द्वितीय में सौन्दर्य-माधुर्य तथा तृतीय में औदार्य गुण निर्दिष्ट हैं।

प्रथम विशेषता में ऐश्वर्य है—"**निखिलभुवन-लक्ष्मी-नित्यलीलास्पदाभ्याम्**" इसका अर्थ दो प्रकार से होता है, एक ब्रह्माण्ड में ऊपर भूर्भुवादि सात भुवन हैं तथा नीचे अतल वितलादि सात भुवन हैं, इन चौदह भुवनों का एक ब्रह्माण्ड है. ऐसे ब्रह्माण्ड अनन्त हैं अतएव भुवन भी अनंत हैं, ये सब प्राकृत हैं-प्रकृतिके अन्तर्गत हैं, इनसे परे अप्राकृत बैकुण्ठ, द्वारिका, मथुरा आदि धाम हैं, इन समस्त लोकों की समस्त प्राकृत एवं अप्राकृत श्री—लक्ष्मी अर्थात् शोभा, सौन्दर्य अथवा सम्पत्ति ही ऐश्वर्य है, उनके एकमात्र अखण्ड आश्रय स्थान हैं-श्रीकृष्ण के ये पद युगल। भगवान ने स्वयं गीता में भी कहा है कि त्रिलोकी में जो भी विभूति है- ऐश्वर्य है तथा जितनी भी शोभा युक्त, शक्ति युक्त वस्तुएँ हैं, उन सब में मेरे ही तेज का कोई एक अंश विद्यमान है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छध्वं ममतेजोंऽश संभवम्॥

---गीता १०-४१

अथवा श्री—शोभा-सौन्दर्य-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी स्वयं लक्ष्मी जी ही हैं। वे अनन्त बैकुण्ठादि भगवद्धामों में अनन्त रूप से निवास करती हैं। श्रीकृष्ण के चरणारविन्द उन सब का परमाश्रय स्वरूप हैं। "नित्यलीलास्पदाभ्यां" नित्य निवास स्थल हैं— इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी जिसे ससार चंचला कहता है, इन चरणों में अचल अटल रूप से निवास करती है तो—

पदे पदे का विरमेत तत्पदा चलापि यच्चीर्न जहाति कर्हिचित्।

—भागवत १-११-३९

समुद्र मंथन के समय जब लक्ष्मी जी प्रकट हुईं तो सब देवता और दैत्य उनको ग्रहण करने के लिए लालायित हो उठे, चंचला ने एक-एक करके सबकी ओर दृष्टि डाली, परन्तु निर्दोष किसी को नहीं पाया—केवल एक भगवान विष्णु ही निर्दोष तथा सर्व गुण सम्पन्न दृष्टिगोचर हुए और उसने उनके कण्ठ में वरमाला डाल दी, अतएव इनके चरण कमल ही कमला के नित्य लीलास्पद हैं— नित्य विहार स्थली हैं।

दूसरी विशेषता है-सौन्दर्य-माधुर्य की-'**कमलविपिनवीथीगर्वसर्वंकषाभ्याम्**'

कमलवन अपने रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के द्वारा पंचेन्द्रियों को आह्लादित करता है, और उसमें लक्ष्मी का भी निवास है। अतएव उसको अपने ऐश्वर्य-सौन्दर्य और माधुर्य पर अतिशय गर्व है। परन्तु ये चरण कमल उसके समस्त गर्व को खर्व करने वाले हैं, क्योंकि कमल वन में सौन्दर्य - माधुर्यादि वे गुण कहाँ जिनका अन्वेषण परमहंस महामुनिगण किया करें, जैसा कि उन चरण कमलों की खोज करते रहते हैं—

तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः।

—भा० ३-१५-३७

उनमें यह सौगन्ध्य कहां जो सनकादिक जैसे महामुनीन्द्रों के नासा विवर में प्रवेश करके उनको ब्रह्मानन्दसुख से विच्युत कर सके ? उनमें परम-हंसों के आस्वादन योग्य वह चिन्मय मकरन्द कहां,जो इन चरणकमलों में है—

नमः परमहंसास्वादित चरणकमलचिन्मकरन्दाय—
भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय ।।

—श्रीधरस्वामी

उनमें वह शीतलता, स्निग्धता कहाँ ? जो इन चरणों में है। वे प्रण-यिजन के दाहक हैं, ये प्रणत जन के शीश पर त्रयतापहारी आतपत्र छत्र रूप हैं—

नमाम ते देव पदारविंदं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ।

—भागवत ३-५-३८

कमल पत्र के कमलों में तो कलियुग का निवास है और इन चरण कमलों में प्रेम भक्ति का निवास है, युगल चरण की नख-ज्योति को देखकर लज्जा के कारण चन्द्रमा तो आकाश में उड़ गया—

युगलचरण दस अंगुरियाँ दशधा भक्ति सुहाय ।
नखन ज्योति लखि चंद्रमा गयो गगन उड़ाय ।।

—नारायण स्वामी

कमला तो कामनाओं को बढ़ाने वाली है और ये चरण कमल समस्त वासनाओं को समाप्त करने वाले हैं, भगवान सकाम पुरुषों को अभीष्ट प्रदान करते हैं किन्तु यह उनका वास्तविक दान नहीं है, क्योंकि उन वस्तुओं को लेने पर भी कामनायें फिर उत्पन्न होती हैं, इसके विपरीत निष्काम भावों से

भजने वालों को भगवान अपने चरण कमल देते हैं, जो अन्य समस्त इच्छाओं को समाप्त कर देते हैं—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ।।

—भागवत ५-१९-२७

कमला तो अज्ञानान्धकार का विस्तार करने वाली है और ये चरण कमल हृदयान्धकार को दूर करने वाले हैं आपके चरणों में अङ्कित चिह्नों की ज्योत्स्ना से हृदय का घनीभूत अन्धकार नष्ट हो जाता है—

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविंदं वज्त्रांकुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ।।

—भागवत ३-२८-२१

श्लोकान्तकथित तीसरी विशेषता यह है—**प्रणमदभयदानप्रौढिगाढादृताभ्याम्**'' प्रणाम करने वालों के प्रति अभय दान की सामर्थ्य से समादृत हैं, पूजित हैं। हे प्रभो ! मैं आपकी शरण हूँ–यह कह कर आत्म समर्पण करने वालों के प्रति ये चरण अभय दान करने में समर्थ हैं तथा शरणागतों के प्रति इनका अत्यन्त आवेश भी रहता है, शरणागत के लिए सब कुछ करने को प्रस्तुत रहते हैं—

सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।।

—वाल्मीकि रामायण

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक्व्यवसितो हि सः ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेयप्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।

—गीता ९-३०-३१

कोटि विप्र बध लागहिं जाहू । आए शरण तजऊँ नहिं ताहू ।।
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहुँ तबही ।।

—रामचरितमानस

उनके अभयदान के कार्यों पर भी दृष्टि डालिये—गजराज, द्रोपदी, अम्बरीष, अजामिल का उद्धार उनकी दयालुता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, वैसे

तो भगवान् के सहस्रकर्णों में भी घण्टानाद नहीं पहुँचता, परन्तु आर्त्त-शरणागत की मूक आह तत्क्षण प्रवेश करजाती है– "**चींटी के पग नूपुर बाजें सो भी मालिक सुनता है**" [**कबीर**] गजराज की मूक पुकार की भाँति कालियनाग की अन्तर्वेदना भी तो मूक-आर्त्ति ही है मन ही मन शरणं-शरणं की पुकार है, और उस पुकार का फल यह हुआ :–

जब ही श्याम तनु विस्तारयो ।
पटपटात टूटत अंग जान्यो, शरण-शरण अहिराज पुकारयो ।।
यह वाणी सुनत ही करुणामय, तबहि गये सकुचाय ।
यही वचन सुनि द्रुपद सुता मुख, दीन्हो वसन बढ़ाय ।।
यही बचन सुनि लाक्षागृह में, पांडव जरत बचाये ।
यही बचन गजराज सुनायो, गरुड़ छाँड़ि तहाँ धाये ।।
यह वाणी सहि जात न प्रभु सों, ऐसे परम कृपाला ।
सूरदास प्रभु अंग सकोरयो, व्याकुल देख्यो व्याला ।।

जिन्होंने आपके चरणों का आश्रय नहीं लिया और आपके प्रति भक्ति भाव से शून्य होने के कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपने को दम्भ रूप से मुक्त मानने वाले वास्तव में बद्ध ही हैं। वे श्रीकृष्ण चरण के प्रति भक्ति हीन जन, जन्म-जन्मान्तर की तपस्या एवं साधना से अत्यन्त उच्च अवस्था को प्राप्त होकर भी प्रायः पतित हो जाते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्ध बुद्धयः ।
आरुह्यकृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।

किन्तु प्रभो ! जो आपके निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणों में सच्ची प्रीति जोड़ रक्खी है, वे उन ज्ञानाभिमानियों की भाँति साधन मार्ग से नहीं गिरते, ये तो विघ्न डालने वालों के शिर पर पैर रख कर चलते हैं क्योंकि उनके रक्षक तो आप हैं न ?

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाविनाय कानीकप मूर्धसुप्रभो ।।
—भागवत १०-२१-३२-३३

जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी ।
ते पाय सुर दुर्लभ पदादपि, परत हम देखत हरी ।।
विश्वास करि सब आस परि हरिदास तब जे होइ रहे ।
जपि नाम तव विनु श्रम तरहिं, भव नाथ जो समरामहे ।।
—रामचरितमानस

कुछ विरले लोग ही समस्त प्राणियों के आश्रय स्वरूप आपके रूप में एकाग्रता से चित्त हैं लगा पाते वे भक्त जन, आपके चरण कमल रूपी जहाज में बैठकर महान भवसागर को भी गौखुर के समान पार करने में समर्थ होते हैं—

त्वय्यम्बुजाक्षाखिल सत्त्वधाम्नि समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ।।

—भा० १०-२-३०

ऐसे श्रीकृष्ण के युगल चरण-कमल हैं—जो अखिल भुवन-लक्ष्मी के नित्य लीला के आश्रय स्थान हैं, जो कमलवन के सौन्दर्य, माधुर्य को तिरस्कार करने वाले हैं, जो शरणागत जन के प्रति अभय दान देने में समर्थ तथा तत्पर हैं, उन चरणारविन्दों के द्वारा मेरा हृदय भी एक अपूर्व सुख का लाभ प्राप्त करे। यही साधक विल्वमंगल की प्रार्थना है।

इस श्लोक का अन्तरंग लीलापरक अर्थ यह है—रासविलास में विरह-ताप-संतप्ता-गोपियों ने श्रीकृष्ण चरणारविन्दों को अपने उरस्थल पर धारण कर रक्खा है। तथा उन "**इच्छापिधानं तवपादपल्लवम्**" से अपनी समस्त आकांक्षाओं की तृप्ति प्राप्त कर परम निवृत्ति को, परमानन्द को प्राप्त हो गई हैं। विल्वमंगल अपनी सिद्ध सखी देह में इस लीला का दर्शन करते हुए यह श्लोक बोल रहे हैं कि—इस व्रजलीलामृत-रस की अभिलाषा वैकुण्ठादि की लक्ष्मी, रुक्मिणी, उमा, रमा, ब्रह्माणि, इन्द्राणी प्रभृति रमणी-गण भी करती रहती हैं। ऐसा जो नित्य लीला निवास है—उसका एक मात्र आश्रय ये चरणारविन्द हैं, इनको हृदय में धारण करने वाली प्रणत-व्रजांगनाओं की मनोव्यथा को निवृत करके उनको अभय दान करने में ये चरण सदा ही प्रौढ़ि हैं, उद्धत हैं। रासेश्वरी श्रीराधा इनको अपने हृदय में धारण कर एक अपूर्व आनन्द का उपभोग करती हुई निकुञ्जस्थली में अव-स्थान करें"—यही सखी रूपा विल्वमंगल की अन्तर्दशा की प्रार्थना है।

इस प्रकार लीलाशुक श्रीकृष्ण-चरणारविन्दों के माधुर्यास्वादन में निमग्न थे कि— उनकी दृष्टि अचानक श्रीमुखारविन्द पर जा लगी–तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण गोपियों की दृष्टि से अलक्षित रूप में श्रीराधा को निकुञ्ज गमन के प्रति प्रेरणा कर रहे हैं। इस भावी लीला के संवाद से वे हर्षित होकर अगला श्लोक पाठ करने लगे हैं :—

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

प्रणय-परिणताभ्यां श्री-भरालम्बनाभ्यां,
प्रतिपद-ललिताभ्यां प्रत्यहं नूतनाभ्याम् ।
प्रतिमुहुरधिकाभ्यां प्रस्फुटल्लोचनाभ्याम्,
प्रवहतु हृदये नः प्राणनाथः किशोरः ॥१३॥

पद्यार्थ—**प्रणयविनिर्मित, श्रीराधा-रस से अभिषिञ्चित ।**
नित नूतन छविधरे, सदा लालित्य अलंकृत ॥
प्रतिपल अधिकाधिक विकसित नयनाम्बुजधारे ।
जीवन-नाथ किशोर हृदय में बसें हमारे ॥१३॥

भावार्थ—जो नेत्र प्रेमतत्व से निर्मित और श्रीकिशोर के सौंदर्य पर आश्रित हैं तथा जो पग-पग पर लालित्य की वर्षा करने वाले, प्रतिदिन नूतन सौंदर्यशाली एवं प्रतिक्षण अधिकाधिक विकसित और विस्फारित होते हैं—ऐसे प्राणनाथ किशोर चूड़ामणि सदैव ही मेरे हृदय में निवास करें ।

रसिका टीका— पूर्व श्लोक में चरणारविन्दों का माधुर्य वर्णन किया है, अब यहाँ नयनारविन्दों का माधुर्य वर्णन करते हुए प्रार्थना करते हैं "**प्रवहतु हृदये नः प्राणनाथः किशोरः**" अहा ! ये प्रेम के रचे, शोभा से खचे, रस में रँगे, पद-पद में ललित, क्षण-क्षण में नवीन, पल-पल में मधुर सुखकारी श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के प्रफुल्लित नेत्र ये कमलदल लोचन प्राणनाथ किशोर हमारे हृदय में सदा विराजमान रहैं । वे लोचन ऐसे प्रफुल्लित क्यों हैं, क्यों कि ये "**प्रणय परिणताभ्याम्**" हैं ये साधारण मांस-पिण्ड के नेत्र नहीं हैं–यह तो–प्रणय की परिणति हैं, अर्थात् प्रेम के ही परिणाम विशेष हैं जैसे सुवर्ण के परिणाम स्वरूप कटक कुण्डल होते हैं इसी तरह सच्चिदानन्दघन विग्रह में कर चरण . नासिका, नैन, मुख, अंग-प्रत्यंग सब ही आनन्द के परिणाम हैं–यह तो तात्विक दृष्टि से अर्थ हुआ ।

लीला परक इसका अर्थ यह है—श्री राधा विषयक प्रेम के द्वारा जो वृद्धि को-विशेषोल्लास को प्राप्त हो रहे हैं । यथा—

" लाल नैंन भये लाल के, रँगे रँगीली लाग ।
अन्तर भरि निकस्यो चहे, इहि मग मनु अनुराग ॥

जब जब मुख देखत रहैं, कजल नैननि कोर।
पिय लोइन निरतनि मनों, आनन्द के द्वै मोर॥ —ध्रुवदास

अतएव श्री राधा-प्रेम से परिपूर्ण होने के कारण ये सहज सुन्दर प्रफुल्लित लोचन युगल और भी अधिक विस्फारित होकर विशाल हो गये हैं, तथा पद-पद में, क्षण-क्षण में ललित हो रहे हैं, मन को मंथन कर रहे हैं, यह ललित दृष्टि साधारण नायक की नहीं है, शृङ्गाररस-मूर्ति श्रीमदन-मोहन की ही ललित दृष्टि है। यह जीवों को तो सुदुर्लभ है ही, गोपियों को भी दुर्लभ है, क्योंकि यह दृष्टि राधा-प्रेम से पूरित है। यह तो श्रीराधाजी की ही मनोहारिणी दृष्टि है। श्रीराधा के नयनासव का पान कर प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण उन्मत्त भ्रमर की भांति श्रीराधा-कमल पर मढ़राते दिखाई देते हैं, परमाह्लादिनी के नैंन कोर पर मोहन रीझे हुए हैं, अतएव यह दृष्टि श्रीराधा के नयन कमलों के पराग से परिप्लुत है, यही इनका परमोत्कर्ष है—

राधे तेरे रूप की, पटतर कहिये काहि।
सर्वस तजि रसवशभये, नैंन कोर तन चाहि॥
नैंक नैंन की कोर मोरि, मोहन वश कीने।
श्रीराधे तेरे रूप की, पटतर को दीने॥
कमल कोश अलि ज्यों चलै, सारे रंग भीने।
जै श्रीभटतन अंजन छुवै, लालन लव लीने॥ —श्री भट्टजी

श्री राधा-मुख-कमल के मकरन्द का पान कर श्रीकृष्ण मदभरे नेत्रों से झूमते रहते हैं —

तव मुख कमल नयन अलि मेरे।
पलक न लगत पलक बिनु देखे, अरवरात अति फिरत न फेरे।
पान करत मकरन्द रूप रस, भूल नहीं फिर इत उत हेरे।
भगवत रसिक भये मतवारे, झूमत रहत छके मद तेरे॥

—भगवत रसिक

अथवा यह दृष्टि "प्रत्यहं नूतनाभ्याम्" दिन प्रतिदिन नवीन है। अभी जो दृष्टि देखने में आई—वह दूसरे क्षण में नहीं है, क्योंकि—"प्रतिमुहुरधिकाभ्यां", पल-पल में हृदय का भाव बदल जाता है—अभी जो लहर है, वह दूसरे क्षण में नहीं है। प्रत्येक लहर की शोभा प्रतिपल विलक्षण है, अतएव नेत्रों की शोभा भी क्षण-क्षण में नवीन है, अधिक से अधिक है।

किसी भी वस्तु के नवीन लगने में दो कारण होते हैं, १—वस्तु का बदल जाना तथा, २—दृष्टि का बदल जाना। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो क्षण-क्षण में नई छवि, नया रूप प्रकट करती हो। वस्तु मात्र कालाधीन है, परतंत्र हैं। परन्तु वृन्दावन की यह 'वस्तु' यह 'ज्योति' पल-पल में नवीन है, क्योंकि यह कालातीत है अतएव सर्वतंत्र स्वतन्त्र है।

काल को काल, ईश ईशन को ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई।
नंददास कौ जीवन गिरिधर गोकुल ग्राम को कुंवर कन्हाई॥

इसका दूसरा कारण यह है कि यह वस्तु आनन्द स्वरूप है, आनन्द का स्वभाव है—उच्छलन, उल्लास, अङ्ग-अङ्ग में फड़कन रोम-रोम में छलकन। यौवन के आनन्दोल्लास में मलमूत्र का पुतला जीव भी सुन्दर प्रतीत होता है। फिर परमानन्द सागर की मूर्त्ति और किशोर मूर्त्ति तो क्षण-क्षण में आनन्द के झकोरों से, भाव की हिलोरों से पल-पल में नवीन-नवीन, मधुर-मधुर क्यों न प्रतीत हो। भक्तों को मुग्ध करने वाला भगवान् का सौन्दर्य, उनकी त्रिभंग ललित मोहिनी मूर्त्ति, भक्तों के हृदय को उद्वेलित करती रहती है—

दृग जल जात रसीले हँसि हँसि ललचत नहिं मन काके।
उर चटपटी लगावत छिन छिन बैन मैन मय ताके॥
वरबस प्रान हरत निरखौरी मुख विलास मधु छाके।
'सहचरि शरन' दौरि कोउ रोको डारत फंद प्रभा के॥

× × × ×

कटि किंकिनि, सिरमोर मुकुट बर, उर बनमाल परी है।
करि मुसिक्यान चकाचौंधी चित, चितवनि रंग भरी है॥
'सहचरिसरन' सुविस्व विमोहिनी, मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभंगी सजल मेघ तनु, मूरति मंजु खरी है॥

यह तो हुई वस्तुगत नवीनता, दूसरी नवीनता दृष्टिगत तब होती है जब वस्तु में रूप तथा गुण कुछ भी न हों फिर भी भाव के कारण वह नवीन लगती हो।

वास्तव में रूप क्या है इसकी परिभाषा कोई निश्चित नहीं कर सकता। क्यों कि यह रूप नेत्रों का विषय नहीं है, प्रेम का विषय है। या यह कहिये कि प्रेम से जो वस्तु देखी जाती है—उसी का नाम रूप है। प्रेम

है तो रूप भी है, प्रेम नहीं, तो रूप भी नहीं है। "नाइन को अपना कलुआ लाल भी कन्हैया जैसा ही लगता है"। प्रेमी को अपनी प्रेमिका सारी दुनिया से भी अधिक अच्छी प्रतीत होती है—वस्तु के कारण नहीं, प्रेम के कारण। भक्त को भगवान का रूप दिखाई पड़ता है प्रेम के कारण—

"प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति"—ब्रह्म संहिता

प्रेम के विना भगवान श्रीकृष्ण के सरस रूप के दर्शन नहीं होते, केवल तत्त्व के, माहात्म्य के ही दर्शन होते हैं। जैसे योगी और ज्ञानियों को केवल ब्रह्म का ही ज्ञान होता है। अथवा कंस शिशुपाल और कालयवन की भांति भी दर्शन होता है, जैसे कंस की रंगभूमि में भिन्न-भिन्न भावना वालों को पृथक्-पृथक् रूप का दर्शन हुआ:—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणांस्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजांशास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥

—भागवत १०-४३-१७

उद्धव जी श्रीकृष्ण के नित्य सखा थे, अहर्निश सेवा में तत्पर रहते थे, किन्तु श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप ज्ञान से वे भी परिचित न हो सके, ब्रह्मज्ञान की गरिमा में उन्होंने व्रजगोपियों के प्रेम को अवोधस्त्रियों का प्रलाप मात्र समझा, गोपियों को उन्होंने समझाना चाहा कि श्रीकृष्ण का न कोई रूप है, न रंग है, न रेखा है, न चिह्न है,—इस पर प्रेम दिवानी गोपियों ने ललकारते हुए कहा उद्धवजी:—

ढोंग जातो ढरकि परकि उर सोग जातो, जोग जातो सरकि सकंप कँखियानते।
कहै 'रत्नाकर' न लेखते प्रपंच ऐंठि, बैठि धरा लेखते कहूँ धौं नखियानते॥
रहते अदेख नाहिं वेष वह देखत हूँ, देखत हमारी जान मोर पखियानते।
ऊधो ब्रह्म ज्ञान को बखान नाहिं करते नेक, देखलेते कान्ह जो हमारी अँखियानते॥

ऊधोजी! अभी तक तो तुम मोर—पंख की आँखों से ही देख रहे हो— तभी तो तुम्हें अभी तक उस अपरूप रूप का दर्शन नहीं हुआ, यदि कहीं तुम कन्हैया को हमारी आँखों से देखलेते तो उस रूप के दर्शन होते ही तुम भी हमारी तरह कहीं निभृत निकुंज में बैठ कर रोते होते और कपोल पर हाथ रखकर किसी व्रज लता के नीचे अपने चरण नख से धरती पर प्रेम की कहानी लिखते होते! तात्पर्य यह है कि रूप नेत्र का विषय नहीं, प्रेम

का विषय है और जिसमें जितना अधिक प्रेम है उसके लिये उतना ही अधिक रूप है, कुरूप भी रूप है, और सुरूप तो क्षण-क्षण में नवीन अपरूप है ही। व्रज गोपियों का प्रेम तो अनुराग दशा को प्राप्त हो चुका है, और अनुराग का स्वभाव है कि वह अनुभूत वस्तु को भी नवीन-नवीन रूप में अनुभव करता रहता है।

"सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नव नवं प्रियम्।
रागोऽभवन् नव नवः सोऽनुरागइतीर्यते"॥ —उज्वल नीलमणि

एक ओर तो गोपियों का ऐसा अनुराग है जो अनुभूत वस्तु को भी नित्य नये रूप में प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर श्रीकृष्ण के रूप का यह सहज स्वभाव है कि वह क्षण-क्षण में नई छबि को प्रकट करता है तो फिर रास में जहाँ दोनों का संयोग हो रहा हो, वहाँ—"प्रतिपदनूतनाभ्यां" "प्रतिमुहुरधिकाभ्यां" की प्रतीति होने लगे तो क्या कोई आश्चर्य है?

ऐसा जो प्रफुल्लित विशाल, लोललालित, नित्य नवीन और मनोहर है, उससे श्रीराधा के हृदय को, तुम्हारे हमारे चित्त को—प्रगाढ़ रस से प्लावित करते हुए ये प्राणनाथ किशोर श्रीकृष्ण हमारे हृदय में सदा प्रकाशमान रहें—यही विल्वमङ्गल की उत्कण्ठायुक्त प्रार्थना है।

मूल श्लोक वसंततिलकम् छन्दः

माधुर्य-वारिधिमदाम्बु-तरङ्ग-भङ्गी-
शृङ्गार-संकुलित-शीत-किशोर-वेषम्।
आमन्द-हास-ललितानन-चन्द्र-विम्ब-
मानन्द-संप्लवमनुप्लवतां मनो मे॥१४॥

पद्यार्थ— माधुर्य-महासागर में मदजल की तरङ्ग लहराती है।
उसकी शीतलता दैहिक-दैविक-भौतिक ताप नशाती है॥
शृङ्गार-संकुलित, ललित किशोर वेस, नवरस की मूर्ति विमल।
आमन्द हासयुत मुख शशि का उसमें पड़ता प्रतिबिम्ब नवल॥
मेरा मन इस आनन्द ज्वार में बहे, बहे, बहता जाए।
बहता जाए, बहता जाए, बहता जाए, बहता जाए॥१४॥

भावार्थ— माधुर्य का एक महासागर है, उसमें मदजल की तरंग भंगिमाएँ थिरक रहीं हैं और वह शृंगाररस से भरापूरा है। वह स्वरूपतः किशोर और गुणतः

त्रितापों को दूर करने वाला [अत्यन्त शीतल] है। उसमें मन्द हास से ललित मुख-मयङ्क प्रतिविम्बित हो रहा है। ऐसे माधुर्य-सागर में आनंद का ज्वार उफन रहा है। [मेरी यह उत्कट अभिलाषा है कि] वह आनंद का प्रवाह मेरे मन को हमेशा-हमेशा के लिए बहा ले जाय।

रसिका टीका—विल्वमंगल के हृदय में रासविलासी सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु—श्रीकृष्ण की रसमयी मूर्ति की स्फूर्ति हो रही है, श्यामसुन्दर की इस लावण्यता पर विमुग्ध होकर उनके मन में यह उत्कण्ठा उत्पन्न हुई कि मेरा मन सबको भूल कर अहर्निश एक मात्र इसी सरिता में गोते लगाता रहे। इसके लिये प्रार्थना करते हुए कहने लगे—**"इदमानन्दसंप्लवं मे मनोऽनुप्लवताम्"** महानन्द का पूर मेरे मन को प्लावित ही नहीं–अनुप्लावित करता रहे, अनुक्षण उन्मज्जित निमज्जित करता रहे। अर्थात् मेरा चंचल चित्त इसी आनन्दामृतराशि में कभी डूबे-उतरावे, कभी बह जाय, कभी ठहरजाय, कभी रोवे, हँसे, नाचे, गावे, कभी शान्त-स्तब्ध होकर निष्प्राण हो जाय, जो कुछ भी होना हो होता रहे—किन्तु इससे बाहर एक क्षण के लिये भी निकलने न पाये और बस, अपनी अन्तिम कामना तो इतनी ही है कि वृन्दावन में यमुना किनारे सेवाकुञ्ज के लता-विटपों के नीचे उनकी छाया में रसिकों की मंडली में प्रिया-प्रियतम श्री युगल सरकार के रूप सौन्दर्य के सागर में गोते लगाते रहें—बस, इतनी सी प्यास है:—

श्री वृन्दावन वास दीजिये, यही हमारी आसा है।
जमुना तीर सुछाय माधुरी,जँह रसिकों का वासा॥
सेवा कुञ्ज मनोहर सुन्दर, इक रस वारौ मासा है।
'ललित किशोरी' का दिल, बेकल, जुगल रूप-रस प्यासा है॥

× × ×

सखि! यह आनन्द को भरपूर।
सराबोर कर दे मन मेरो, चंचल अतिशय कूर।
वयस किशोर रूप रस सागर, मद लहरी भरपूर॥
मन लुभाय बौराय देत पुनि, करत ताप सब दूर।
मन्द हँसी या वदन चन्द पै, लागत चन्द हू धूर।
उर आनन्द वरसाबहु नितही, प्रेम संजीवन मूर॥

क्या ब्रह्मानन्द सागर में निमग्न रहना चाहते हो? नहीं,—"म वारिधि" में। एक माधुर्य का सागर है, उसमें मद की जल राशि है, शृंगार

की तरंगें उसमें लहरा रहीं हैं। नयन तापहारी स्निग्ध किशोर उसकी मूर्ति है, मृदुहास्ययुक्त मनोहर उसका मुखकमल है तथा आनन्द का संप्लव है—सर्वप्लावक उच्छलित आनन्द का प्रवाह है। बस इसमें निमग्न रहना चाहता हूँ। श्रीकृष्ण की मूर्ति तो माधुर्य का सीमा रहित समुद्र है। उसमें मदाम्बुज भरा है अर्थात् मदन के मद को मर्दन करने वाले एक अपूर्व मद-मत्तता के जल से वह पूरित है। माधुर्य सिंधु का वह जल मधुरता के गुण से पहले तो चित्त का आकर्षण करता है, फिर अपने मादक गुण से पीने वाले को मतवाला बना कर उसकी सुध-बुध भुला देता है धर्म-कर्म को हरण कर लेता है।

देखिये, इस रूप-सिन्धु के जल को पीने वाले की क्या दशा होती है—

जाको मन मोहन दृष्टि परे।
सो तो भयो सादन को आँधरो, सूझत रंग हरे ही हरे॥
जड़ चेतन्य कछू नहिं सूझत, जित देखें तित श्याम खरे।
विह्वल विकल सम्हार न तन की, घूमत नैना रूप भरे॥
करनी अकरनी दोउ विधि भूले, विधि निषेध सब रहे धरे।
'नरहरिदास' ते भये बावरे, जे यह प्रेम प्रवाह परे॥

यह 'मदाम्बु' शान्त नहीं है 'तरङ्ग-भङ्गी' से युक्त है, जल में जैसे मधुर या कोई मादकद्रव्य मिला हुआ हो तो जल के स्थिर रहने पर वह द्रव्य तले में बैठ जाता है और जल में उतनी मधुरता या मादकता नहीं रहती है, किन्तु जल को हिला देने पर वह फिर ज्यों का त्यों विशेष मधुर अथवा मादकपन आजाता है। ऐसे ही यह माधुर्य-सिन्धु शान्त नहीं है—तरङ्गायित है-इसमें रूप और मद की हिलोरें उठ रही हैं, तथा इन हिलोरों में एक विशेष भंगी है, वह शृङ्गार की तरङ्गों से संयुक्त है। इस श्यामसिन्धु के जल में तीन गुण हैं—मधु, मद तथा शीत-प्रथम तो 'मधु' दिखा कर जीव को लुब्ध करता है, फिर 'मद' पिलाकर उसे क्षुब्ध कर देता है, अन्त में उसी 'मद' की अति मात्रा से—जीव के ताप को भी शीतल कर देता है। ऐसा विलक्षण त्रिगुणमय यह श्याममाधुर्यामृत वारि है।

"अमिय हलाहल, मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुक झुक परत, जेहि चितवत एक बार॥"—रसलीन

नैन माधुरी की भाँति प्रत्येक अङ्ग की माधुरी में भी ये तीनों गुण

विराजमान हैं, यह त्रिवेणी अवगाहनीय है। रसिकजन इस संगम में गोते लगाते हैं।

"शृङ्गारसंकुलित" का एक अर्थ यह भी है कि विभिन्न वेष रचना के द्वारा श्रीविग्रह विशेषरूप से सुशोभित है। शृङ्गार का अर्थ यहाँ वेष रचना है। शृंगाररस केवल किशोर-वयस का ही धर्म है। अतएव 'किशोर-वेषम्' किशोरवेष ही श्रीकृष्ण का नित्य वपु है—और यह श्रीकृष्ण का मुख-कमल आमन्दहास से युक्त है।

मृदु मुसकान निहार कै धीर धरत है कौन।
'नारायण' कै तन तजै, कै बौरा कै मौन॥

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मानुभूति में मूकवत, जड़वत्, पिशाचाविष्टवत् दशा हो जाती है। किन्तु श्यामसुन्दर के कन्दर्प कोटि कमनीय मुखारविन्द पर प्रकट होने वाले मन्दस्मित का एकबार अवलोकन कर लेने पर तो दसों दशायें घेर लेती हैं। एक रसिक महानुभाव तो श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की महादेव से और मंद-मुसकान की निर्वाणपददायिनी काशी से उपमा देते हुए कहने लगे—

कहते हैं जिसको ब्रह्मतत्व अरु अनीह अविनासी है।
पाँचो तत्व गुन तीन परे जो सकल जगत का वासी है॥
सुन लालविहारी ललित ललिन यह बात चित्त में भासी है।
मुख शरदचन्द्र विश्वेश्वर सा और विहँसन तेरी कासी है॥

श्रीकृष्ण में एक और विशेषता है—'आनन्दसंप्लवम्' वे आनन्द के उच्छलित प्रवाह स्वरूप हैं—अर्थात् श्रीकृष्ण तो माधुर्य सिन्धु हैं और आनन्द है— प्रवाह स्वरूप। वह प्रवाह उच्छलित होकर उमड़ कर—नित्य निरन्तर वृन्दावन को प्लावित कर रहा है, उस आनन्द सिन्धु का ही एक सीकरमात्र आब्रह्म-स्तम्ब पर्यन्त अखिल ब्रह्माण्ड को आकर्षित किये हुए है।

आनन्द सिन्धु बढ़यौ हरि तन में।
श्रीराधा मुख पूर्ण शशी लखि, उमगि चल्यौ व्रज वृन्दावन में॥
इत रोक्यो यमुना उत गोपिन, कछु इक फैलि रह्यो त्रिभुवन में।
ना परस्यो कर्मठ अरु ज्ञानी, अटकि रह्यो रसिकन के मन में॥
मन्द मन्द अवगाहत बुधि बल, भक्त हेतु लीला छिन छिन में।
कछुक लह्यो नँद सूनु कृपा सों, परमानन्द देखियत जन में॥

सखी स्वरूप के भाव से आवेष्टित श्री विल्वमङ्गल प्रिया-प्रियतम श्री राधाकृष्ण की निभृत-निकुञ्ज विहार की रासलीला के आनन्द में अपने को निमज्जित कर देना चाहते हैं।

मूल श्लोक वसन्ततिलकम् छंदः

अव्याज-मञ्जुल-मुखाम्बुज-मुग्ध-भावै-
रास्वाद्यमान-निज-वेणु-विनोद-नादम् ।
आक्रीडतामरुण-पाद-सरोरुहाभ्या—
मार्द्रमदीय-हृदये भुवनार्द्रमोजः ॥१५॥

पद्यार्थ—**निश्छल मंजुल मुख-मयङ्क से मधुर भाव का स्रोत बहाकर ।**
अपनी मुरली का मादक पीयूष पीया करता नटनागर ॥
प्रेम-सुधा की वर्षा करता- जो मन मोहन यों त्रिभुवन में ।
अरुण-पाद पद्मों से विहरे वही रूप इस मन उपवन में ॥१५॥

भावार्थ—प्रसाधन-रहित मंजुल-मुख-कमल पर उदय होने वाले मुग्ध भावों के साथ जो अपनी वंशी के आनंद कारी नाद का आस्वादन कर रहा है वह भुवन-आर्द्रकारी (त्रिभुवन को आनंद से अनुप्लावित कर देने वाला) तेज अपने अरुण चरणारविन्दों के द्वारा मेरे रससिक्त हृदय में निरन्तर क्रीड़ा, करता रहे।

रसिका टीका—भक्तों की भावना को सींचने के लिये भगवान के विग्रह में मुख्यतः दो ही अंग हैं। मुखारविन्द और चरणारविन्द ! भक्त-जनों का भ्रमररूप मन कभी नीचे से ऊपर और कभी ऊपर से नीचे इन कमलों पर मढराता रहता है–इसी आरोहण अवरोहण में ही उनकी भावना पुष्ट होती रहती है। विल्वमंगल भी प्रथम तो मुखारविन्द से चरणारविन्दों को ओर आये—फिर चरण-कमल से मुखारविन्द की ओर चढ़े. अब फिर चरणारविन्दों पर दृष्टि पड़ी तो लालसापूर्वक प्रार्थना करने लगे कि "**मदीय हृदये भुवनार्द्रमोजः आक्रीडताम्**" मेरे हृदय में ही नहीं, मेरे सगे-संबंधी जनों के हृदय में भी यह भुवनार्द्रकारी तेज सम्यक्रूप से क्रीड़ा करता रहे। क्योंजी तेज भला कैसे क्रीड़ा करेगा ? वह तो समान रूप से व्याप्त हो जायेगा ? इस आशंका से कहने लगे "**पादसरोरुहाभ्याम्**"—वह श्याम तेज निरवयव नहीं हस्तपादादि से युक्त है, अतः वह अपने अरुण-तरुण-करुण चरण-कमलों से हमारे-तुम्हारे हृदय में संचरण करता रहे। किन्तु बन्धु! हमारे हृदय तो

अत्यन्त कठोर हैं, अश्मसार हैं, उनके वे सुकोमल-चरण हमारी पाषाणमयी हृदय भूमि पर कैसे विहार करेंगे ? आशंका का निवारण करते हुए बोले "**पादसरोरुहाभ्यामार्द्र हृदये**"—"वे चरण-कमल जिस वस्तु का स्पर्श करते हैं,—वह कठोर से कोमल, शुष्क से आर्द्र और नीरस से सरस हो जाती है। अतएव हमारे कठोर हृदय को भी सरस बना देंगे। क्या यह सामर्थ्य उनमें है ? हां ! हां ! क्यों नहीं ? वे तो—'भुवनार्द्रमोजः' हैं, उन चरणों का तेज तो त्रिभुवन को सरस कर देने वाला है, कर देने वाला ही नहीं,—कर रहा है, नित्य निरंतर सरस, सुन्दर, आनन्दमय बना रहा है।

चरण कमल के तेज में यह सामर्थ्य है तो उनके साक्षात् चरण—संस्पर्श की तो बात ही क्या ?

अब मुखारविंद की बात सुनिये, उनका मुख कमल अव्याज-मंजुल है, अर्थात् अलंकारों के बिना भी, सहज अनुरागमयी सुन्दरता से युक्त है। यह मुख सुन्दर केवल इसी लिये नहीं है कि—वह सुघड़ है, सुरूप है, वरन् इस लिये भी सुन्दर है कि वह निर्व्याज है, निष्कपट है। कपट का मूल है—स्वार्थ-कामना। इससे तन और मन दोनों दूषित तथा कुत्सित हो जाते हैं। भगवान् में स्वार्थ-कामना का लेश भी नहीं। स्वजन-कामना ही उनकी स्व-कामना है। अतएव उस मुख-कमल में रूप के अतिरिक्त सहज प्रेम करुणा, और उदारता भी है अतएव अत्यंत मंजुल है, मधुर है। कमल में जैसे मकरन्द होता है और भ्रमर उसका आस्वादन करता है,—वैसे ही प्रिय स्वजनों के मनोरंजनार्थ आपके हाव-भाव-कटाक्ष-भ्रू-विलासादि ही मानों मकरन्द तथा सौरभ हैं—जिनसे मुख-कमल 'मुग्ध' मनोहर हो गया है और मधुकरी गोपीजन उसका आस्वादन कर रहीं हैं ! उनका ही नहीं, उनके साथ उस मुखकमल पर लहराती हुई वंशी ध्वनि का भी आस्वादन कर रही हैं—

"**मुग्ध भावैः सह आस्वाद्यमान निजवेणुविनोदनादम्**"-

उनकी वेणु नाद लहरी से पाषाण तक द्रवीभूत होते हैं, शुष्क तरुवर सरस होते हैं तो चेतन हृदय द्रवीभूत हो जाय तो क्या आश्चर्य है ?

उनका मुखकमल तो हाव-भावों के द्वारा मनोहर हो रहा है किन्तु एक आश्चर्य और भी है—'**आस्वाद्यमानं निज वेणु विनोद नादं येन**" वे अपनी ही वंशी की विनोद-लहरियों का स्वयं ही आस्वादन कर रहे हैं। उस 'वंशी प्रिय सखी' के कर्ण-रन्ध्रों में वे किस-किस के प्रति क्या-क्या संकेत, परिहास

विलास आदि का संदेश पहुँचा रहे हैं। इस रहस्य का आस्वादन करते हुए वे स्वयं ही मुग्ध हो रहे हैं और इसी कारण उनका मुखारविंद मनोहर हो रहा है।

इस वंशी-विनोद का वर्णन गोपाल चम्पू में श्री जीव गोस्वामी ने वेणु गीत के प्रसंग में विस्तार पूर्वक किया है। उसका सार यह है कि श्री कृष्ण गौचारण करते हुए वन में निर्जन एकान्त स्थान पर बैठ कर वंशी को शिक्षा दिया करते हैं—गोपियों को आकर्षित जो करना है। छः मास पर्यन्त शिक्षा देने के पश्चात् वंशी के पराक्रम की परीक्षा करने के निमित्त वे वसंत की पूर्णिमा की मध्य रात्रि में वृन्दावन जाकर वंशी बजाते हैं। वंशी के बजते ही उसके नाद से वन के कमल खिल उठते हैं, वृक्षों से मधुधारा बहने लगती है, तब आप वंशी से कहते हैं कि—

"वंशी ! तेरो बल लख्यो, जड़ कीने चैतन्य।
कारज मो करि है जबै, बदिहों तोकूं धन्य ॥

अपनी ही वंशी ध्वनि के चमत्कार को देख कर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण प्रिय सखी वंशी से पुनः कहते हैं—मुरलिके ! यदि तू मेरा काम सही कर देगी तो तुझे धन्यवाद दूँगा, एक बार पुनः परीक्षण के लिये वंशीको बजाते हैं, इस बार तो वृन्दावन में स्वच्छंद विचरण करने वाली मृगवधूएं भी मुग्ध हो जाती हैं—

धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरीण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्त विचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥

भागवत १०-२१-११

यह कैसी वंशीध्वनि है,जिसे सुनते ही जड़मति पशु भी मुग्ध होते हैं। पुनः बजाते हैं तो वृक्षों के खग-पिक,शुक मोहित हो जाते हैं। श्रीकृष्ण जैसे जैसे अपने अभ्यास को बढ़ाते हैं,वंशी ध्वनि और अत्यधिक तरङ्गित हो कर ऊर्ध्व लोकों में अपना पराक्रम प्रकट करती हुई–विमानों में स्थित देववधुओं को मूर्छित कर देती है। तब श्रीकृष्ण कहते हैं, प्रिय वंशी ! यह तूने क्या किया ? व्रजाङ्गनाओं को छोड़कर देवाङ्गनाओं से झगड़ा कर लिया,वे मुझे गालियाँ दे रही हैं—

"व्रज वनितान सों हारि के, देव वधून सों रार।
रीति नीति विसारि के, लावत मोकूं गार ॥

मुरलिके ! अब तुम देव-बधुओं को छोड़ कर गोप-वधुओं पर अपनी शक्ति का प्रयोग करो—

पुनि दुलराय दुलारि, अधरन सार सुधा दियो ।
महा विषामृत वारि, डगमगाँई ब्रज बाल सब ।।

स्वामी की आज्ञा पाते ही वंशी ने अपने संपूर्ण आह्लाद को समेट कर ब्रजवनिताओं पर बरषा दिया—

एक सुनि ठाड़ी भई, ठाड़ी ठाढ़ि रहि गई,
नयन वन मग दिये पग नाहिं देय री ।
एक-द्वय पग चली, आई द्वार लौं अली,
धरत पग देहरी रहि गई देह री ।।
एक घर तजि चली, चार पग मग भली,
खाय भामरि परी, "प्रेम" भूमि खेह री ।
एक हली ना चली, गटकि बिष डटि रही,
हारि सिर नाँय चली, कान्ह ढिग बाँसुरी ।।

वंशी का प्रभाव गोपियों पर तो पड़ा, पर यह अचल अटल रहने वाली श्रीराधा ही हैं। श्रीराधा तो प्रेम-अगाधा हैं, वंशी ध्वनि उन्हें विचलित न कर सकी, कुछ अंशों में अपना कार्य सिद्ध होता हुआ जानकर श्यामसुन्दर ने चौगुने हाव-भाव से पुनः वंशी बजाई तो इस बार समस्त गोपियाँ अपनी सुध-बुध खोकर दौड़ी चलीं आईं। केवल आईं नहीं—एक रासेश्वरी श्रीराधा। रासेश्वरी के बिना रासविहारी का रस फीका, अतएव रासलीला भी नहीं हुई, श्यामसुन्दर ने अनमने मन से गोपियों को यह कह कर लौटा दिया कि तुम लोग अभी क्यों चलीं आईं ? यह तो बसन्त पूर्णिमा है। मैंने तो शरद पूर्णिमा के लिये रास रचाने का वचन दिया है। अतएव छः मास पर्यन्त और प्रतीक्षा करो। गोपियाँ विवश होकर लौट गईं, वंशी की भी परीक्षा हो गई, वह रासेश्वरी को आकर्षित न कर सकी, श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि वंशी अभी सर्वोच्च-परीक्षा में अनुत्तीर्ण रही है, तब श्रीकृष्ण ने दूसरा अनुष्ठान प्रारम्भ किया, मुरली-माला में द्वयाक्षरी परा-विद्या 'राधा' मंत्र का जप प्रारम्भ कर दिया, बस-फिर क्या था, जब वंशी ने 'राधा राधा' रटना प्रारम्भ किया तो उसकी ध्वनि रोम रोम में प्रवेश कर गई—

बसि गई नासिका में वदन-सरोज बास, फँसिगई ओठँन मिठाई ओठ सारे की ।
रसिगई रस-रीति रसे से रोम-रोम डँसे, आबै कहर लहर जैसें नाग कारे की ।।

तसि गई सुगति एकै मनको अनेक संग, ऊधव विचारि देखौ विपत विचारे की।
कसि गई 'रसरूप' कोंन में सुवंशी तान, बसि गई आँखिन सुरति वंशी वारे की ॥

यह है – अपने ही वंशी-विनोद का आप ही आप आस्वादन विल्व-मंगल कहते हैं कि इस प्रकार से वंशी विनोद करते हुए श्रीवृन्दावन विहारी भुवन-मोहन श्रीकृष्ण की ज्योति हमारे हृदय में सदा क्रीड़ा करती रहे ।

अन्तरंग लीला—परक अर्थ का भाव यह है—श्रीकृष्ण वेणुनाद के द्वारा श्रीराधा को यमुना तटवर्ती-निकुञ्जों में प्रेरणा देकर बुला रहे हैं। इस वेणुनाद में यह चातुरी है कि इसकी ध्वनि का मर्म अन्य गोपियों के लिये दुर्बोध है। यह केवल **'श्री राधयैवस्वाद्यमानो निजः स्वान्तप्रेरणा निमित्तको वेणोर्विनोद नादम्** है'–श्री राधा के द्वारा ही आस्वादित है। श्रीकृष्ण के इस इङ्गित को हृदयङ्गम कर. लीला—शुक अपने सखी-स्वरूप के आवेश में यह प्रार्थना करते हैं कि **"मदीयानां सखी जनानां हृदये"** हम सब सखियों के हृदय में अथवा हृदय-स्वरूपा श्रीराधा के हृदय में यह भुवनार्द्रकारी कोई एक अनिर्वचनीय तेज निरन्तर विहार करता रहे ।

मूल श्लोक अनुष्टुप् छंदः

मणि-नूपुर-वाचालं वन्दे तच्चरणं विभोः ।
ललितानि यदीयानि लक्ष्माणि व्रजवीथिषु ॥१६॥

पद्यार्थ— **मणि नूपुर से मुखर श्याम के उन चरणों में करूँ प्रणाम ।**
व्रज की गली-गली में अंकित है जिनकी पद पंक्ति ललाम ॥

भावार्थ—मैं प्रभु के मणि नूपुरों से मुखर उन चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जिनकी ललित पद-पंक्तियाँ आज भी व्रज की निकुञ्जों में (सुकुमार बालुका के पराग-पूर्ण अञ्चल में) अङ्कित हैं ॥१६॥

रसिका टीका—लीलाशुक को यह स्फूर्ति हो रही है कि श्रीकृष्ण वृन्दावन की वीथियों में विचर रहे हैं,उनके मणिमय नूपुर मधुर मन्द ध्वनि से वन-वीथियों को गुञ्जायमान कर रहे हैं तथा श्रीचरणों के मनोहर चिह्नों से अंकित व्रजभूमि पुलकायमान हो रही है। अतएव उन ललित चरणारविन्दों की वन्दना करते हुए यह श्लोक पाठ करने लगे हैं,**वन्दे तच्चरणं विभो** मैं विभु के उन चरणों की वन्दना करता हूँ। विभु शब्द के दो अर्थ, दशम श्लोक में लिख चुके हैं–कि वे सर्व-रूप-गुण-निधि हैं तथा सर्व समर्थ हैं। और वे चरण मणिमय नूपुरों द्वारा वाचाल हैं-अर्थात् झंकार-युक्त है ।

छमछमात ब्रजवीथि पग, छाप अमर दै जात।
अमरागण ललचात नित, वन्दौ पदजल जात॥

उक्त श्लोक में वाचाल शब्द का प्रयोग हुआ है, 'वाचाल'—बहुभाषी—बातून को कहते हैं। वाचाल शब्द का प्रयोग निन्दा अर्थ में ही होता है, परन्तु श्रीकृष्ण के चरण-संग से 'वाचालता' भी एक गुण हो जाती है। 'वाचाल' से 'वाचा-अलं' अर्थात्—भूषण हो जाता है। नूपुर की वाणी अन्यत्र भूषण नहीं है, परन्तु श्रीकृष्ण के चरणों में वह वाणी भूषण बन कर सफल हो रही है, वह मधुरता की सीमा को प्राप्त कर चुकी है। अतएव अन्यत्र वह बकवादी है तो यहाँ वह मञ्जु-कल-भाषी है—

जो शब्द ब्रह्म के सिंधु सोत नित हि प्रति बाजें रनक मनक।
कुछ षड़ज ऋषभ से मिले हुए तानों सुर भीतर गनक मनक॥
रम्भा अरु शची लटक तड़फन पावें न आन अरु छनक मनक।
प्यारे इसरार इलाही है जानी नूपुर की झनक मनक॥

यह दिव्य ध्वनि—प्रणवनाद की जननी है। जब आप व्रज की देव-वन्द्य-वीथियों में नूपुर छमछमाते हुए चलते हैं तो हंस-हंसिनी समूह चकित हो कर खड़े रह जाते हैं और नूपुर के कल-गुञ्जन के साथ अपने अपने कण्ठ के कल-रव को मिलाते हैं, बार-बार मिलाते हैं, मिलाना चाहते हैं—पर मिला नहीं सकते, हार कर नूपुर-ध्वनि को अपना गुरु मान कर प्रणाम करने लगते हैं—

नूपुर रव जनु झनकार गुरु, शिष्य हंसकुल।
बार-बार अभ्यास करत हारे, न लही तुल॥

—गदाधर भट्ट

उन चरण कमलों में ध्वज, वज्र, अंकुष, रेखा, कमल प्रभृति मनोहर चिह्न व्रज की वीथियों में यमुना की बालुका पर, गिरि-कन्दराओं पर यत्र-तत्र दृष्टि गोचर होते हैं। अहा! वे चरण चिन्ह ही जब इतने ललित हैं, मनोहर हैं—तो साक्षात् चरण कमल का लालित्य कितना अधिक होगा—कल्पनातीत है।

उद्धव जी नन्दबाबा को समझा रहे थे कि—"आप भवन से बाहर वन में, अथवा यमुना तट पर, अथवा गिरिराज की ओर इधर-उधर कहीं दूर भ्रमण करने निकल जाया करें, जिससे आपके चित्त का मनोरंजन हो

सके, घर में बैठे रहने से ही तो आपको लाला की याद सताती है ? नन्द बाबा ने विलखते हुए कहा--"उद्धव ! मैं कहाँ जाऊँ ? कहाँ न जाऊँ ? जहाँ भी जाता हूँ ? जिसे देखता हूँ--वहाँ सर्वत्र उसके ही चरणों की छाप जगमगाती दृष्टि पड़ती है। सरिता, शैल, सरोवर, गृह, वन, उपवन-सभी तो श्यामसुन्दर के चरणों से चिह्नित हैं, इन्हें देखकर मन तद्रूप हो जाता है-

सरिच्छैल वनोद्देशान्मुकुन्दपद भूषिताङ्ग।
आक्रिडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥

--भागवत १०-४६-२२

ऐसा एक भी स्थान तो नहीं है उद्धव ! जो उसके चरण-प्रसाद से वंचित रह गया हो—

गोकुल के गिरारन में खादर कछारन में,
सरिता सर धारन में ठौर कौन बच्यो है।
मरकट कै मोरन में गोधन के ग्वालन में,
बालन में लालन खेल जो ना रच्यो है ॥
वंशीवट डारन में करीलन के झारन में,
शुक पिक मँझारन में कृष्ण नाम मच्यो है।
चेतन की कौन कहै, गिरि के पषानन में,
कृष्ण पद चिन्ह 'प्रेम' पद पद खच्यो है ॥
झलमलात छाप पद जित तित लालन के,
अबलौं सुहाग भाग भूमि उर धारो है।
हल हलात हियरो ए हेरत में हाथ ऊधो,
हहराय बूझत हम कित छाप वारो है ॥
छल छलात कोर हमें सूझत न और कोउ,
दीसत न ठौर जहाँ भूले छिन प्यारो है।
गल गलात गात सब घरलों न आयो जात,
घर भयो भार 'प्रेम' बन दब बारो है ॥

श्रीकृष्ण के ये चरण-कमल ब्रज की निजस्व सम्पत्ति हैं। ब्रज के अतिरिक्त मथुरा, द्वारिका, अयोध्या, वैकुण्ठ आदि किसी भी धाम की भूमि को आपने पादुका-रहित नग्न चरणों से चिन्हित करते हुए गौरवान्वित नहीं किया, इसी लिये शुक मुनि ने वृन्दावन धाम को सर्वोपरि माना है—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं, यद् देवकी सुत पदाम्बुज-लब्ध-लक्ष्मि
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं, प्रेक्षाद्रि सान्वपरतान्य समस्तसत्वम् ।।

—भागवत १०-२१-१०

जब गोपाल-कृष्ण गौ चराने के लिये मचलते हैं, तब यशोदा-माता और नन्दजी श्री कृष्ण को समझाते हुए कहते हैं—

जो वन जानहि चहौ तुम, दऊँ मैं छत्र धराय ।
लेहु पहर पग पादुका, तब मोहि धीरज आय ।।

तब गौ-भक्त गोपाल कृष्ण ने स्वधर्म पालन को सनातन धर्म बताया-

गवां सेवा स्वधर्मो नः गास्तुनिश्छत्रपादुकाः ।
यथा गावस्तथा गोपाः ह्येष धर्मः सनातनः ।।

गौ सेवा को स्वधर्म बताते हुए श्री कृष्ण ने कहा—

स्वधर्म हमारो है यही, गोधन सेवा हम करें ।
उनके छत्र न पादुका तो हम कहो कैसे धरें ।।
गोधन पीछे गोप हैं आगे उनहिं धराओ ।
देव उघारे तन फिरें तो काहे दास सजाओ ।।

—सनातन धर्म नहिं ।।

जो अपने एक संकल्प मात्र से अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि और संहार करने में समर्थ है, वह सर्वान्तर्यामी विश्वविमोहन नंगे चरणों से जिस भूमि पर विचरण करे, उस ब्रज भूमि की तथा ब्रजवासियों की महिमा कौन वर्णन कर सकता है। तभी तो शुकदेव मुनि ने कहा—

यत्पादपांसुर्बहु जन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्य लभ्यः ।
स एव यद् दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो ब्रजौकसाम् ।।

—भागवत १०-१२-१२

जिनकी चरण रज के केवल एक कण को अनेक जन्म जन्मान्तरों की कठोर तपस्या से सिद्धि प्राप्त योगी जन भी प्राप्त नहीं कर सकते, वह ब्रज की अलि-गलियों में ग्वाल-ग्वालिनियों के साथ नंगे पाँव खेलता फिरता है। उन ब्रजवासियों की सौभाग्य सीमा का भला क्या ठिकाना,अतः—**वन्दे तच्चरणं विभो**" ऐसे चरण कमलों की मैं वन्दना करता हूँ। विल्वमंगल की यह वाह्यदशा की प्रार्थना है ।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में पिछले श्लोकों में श्रीकृष्ण का श्रीराधा के प्रति नैन, हास तथा वेणु-ध्वनि का संकेत वर्णन है, श्री राधा उस संकेत

को समझ कर मानो निकुञ्ज के प्रति गोपियों से अलक्षित होकर गमन करतीं हैं। श्रीकृष्ण भी अन्यालक्षित भाव से उनका अनुगमन करते हैं। इस भाव-मय लीला की स्फूर्ति होने पर लीला शुक विभु के चरणों की वन्दना करते हैं। यह श्रीकृष्ण विभु हैं अर्थात् शत कोटि गोपियों के मध्य से अलक्षित-अन्तर्हित होने में समर्थ हैं, शीघ्रता से चलने के कारण जिनके नूपुर छम-छम झम-झम बजते जा रहे हैं, अतएव वे 'वाचाल' हैं, श्री राधा का अनुगमन करते समय इस वीथी से उस वीथी में जाते हुए अपने चरण चिन्हों से वीथी-पथ को विभूषित कर रहे हैं, अतएव "**ललितानि यदीयानि लक्ष्माणि व्रज-वीथिषु**" "ऐसे श्रीराधा-पद-अनुसरणकारी श्रीकृष्ण-चरणों की मैं वन्दना करता हूँ, यही अन्तर्दशा की प्रार्थना है।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि शास्त्रकारों ने श्रीकृष्ण के चरणों में सोलह चिन्ह बताये हैं, अधिकतर उन्नीस चिन्हों का वर्णन भी मिलता है। दक्षिण चरण में ११ और वाम चरण में आठ चिन्ह हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

दक्षिण चरण में ग्यारह चिन्ह— १-अंगुष्ठ मूल में चक्र, २-उसके नीचे छत्र, ३-मध्यमा मूल में कमल, ४-उसके नीचे ध्वज, ५-कनिष्ठा मूल में वज्र, ६-पार्ष्णि (एड़ी) मध्य में अंकुश, ७-अंगुष्ठ पर्व में यव, ८-अंगुष्ठ-तर्जनी-मध्य से अर्द्ध चरण तक ऊर्ध्व रेखा,। ९-अर्द्ध चरण के नीचे चारों ओर स्वास्तिक–चतुष्टय, १०-स्वास्तिक के चतुः सन्धि में जम्बु फल चतुष्टय तथा ११-स्वास्तिक मध्य में अष्ट कोण।

वाम चरण में आठ चिन्ह—१-अंगुष्ठ मूल की ओर मुख करके शंख २-उसके नीचे आकाश का अन्तर्बाह्य मण्डल, ३-उसके नीचे प्रत्यंचा हीन धनुष, ४-उसके नीचे गौखुर, ५-उसके नीचे त्रिकोण, ६-उसके चारों ओर चार कलश (कहीं तीन कलश), ७-त्रिकोण के तले में अर्द्ध चन्द्र, तथा ८-उसके नीचे मत्स्य"

एक कवि के शब्दों में इन चिन्हों का प्रभाव देखिये—

कामक्रोध षड रिपु मारिवे को 'चक्र' धरचो,
'छत्र' ताप त्रय शीतल करन हार हैं।
'कमल' उर ध्यान किये, मन भृङ्ग जात वँधि,
'ध्वज' अनर्थ ध्वंस करि अर्थ विस्तार हैं।
'बज्र' सों पाप गिरि ढाय मन मत्त करि,
अंकुश सों वश करि राखे मद मार हैं।।

'यव' सों रिद्धि सिद्धि संपद सुख देत हरि,
ऐसे पद नमो 'प्रेम' बार बार बार हैं ।।
सागर को सेतु 'ऊर्ध्व' रेखा करि राख्यो हरि,
ध्यान धरि होत जान छिन महँपार हैं ।।
स्वस्ति चिन्ह मंगल वड मंगलीक 'जम्बुफल',
धर्म अर्थ काम मोक्ष भक्ति दातार हैं ।
अष्ट कोण त्रिकोण सों वश करि राखे जन,
ऐसे पद नमो 'प्रेम' बार बार बार हैं ।।
'शंख' हिय ध्यान धरे, ज्ञान को प्रकाश होत,
माया को नाश होत 'अम्बर' मझार हैं ।
आधि उपाधि सब खंडन को 'धनुष' पद,
'गोपद' समान होत भव पारावार हैं ।।
'कलस' सुधा भक्ति के पान करि शीतल ह्वै,
ध्यान धरै 'अर्द्ध चन्द्र' वाढै भक्ति धार हैं ।
'मीन' संग लीन बसैं पीयूष पद सिन्धु में,
ऐसे पद नमो 'प्रेम' बार बार बार है ।।

लीला शुक मणिनूपुर वाचाल चरणारविन्दों की वन्दना करते-करते अत्यन्त प्रेमोत्कण्ठा में विमुग्ध होकर दैन्य भाव से बोले—

मूल श्लोक मंजुभाषिणी छंदः

मम चेतसि स्फुरतु वल्लवी-विभो-
र्मणि नूपुर-प्रणयि-मञ्जु-शिञ्जितम् ।
कमला-वनेचर-कलिन्द-कन्यका-कलहंस-
कण्ठ-कल-कूजिताद्दतम् ।।१७।।

पद्यार्थ— यमुना-तट का राजहंस दल, जो श्रीवन में चरता है ।
उसके कलित कण्ठ का कूजित जिसका आदरकरता है ।
गोपी-मन-मोहन के मणि नूपुर की वह मञ्जुल झंकार ।
गूँज उठी मेरे मन-मन्दिर में लेकर नव-नव विस्तार ।।१७।।

भावार्थ—गोप कुमारियों के जीवन-सर्वस्व—श्रीश्यामसुन्दर के मणिमय नूपुरों का चिर-सहचर और लक्ष्मी के पद्मोद्यान में विचरण करने वाले, श्रीयमुनाजी

के परमहंसों की मधुरा कल-ध्वनि द्वारा प्रशंसित—जो मंजुल शिंजित (नूपुरों से निकलने वाली रुनुक झुनुक), वह सदैव मेरे चित्त में स्फुरित होती रहे।

रसिका टीका—अहा ! जिन चरणारविन्दों को श्रुति-समूह अहर्निश ढूंढ़ता रहता है, वे मेरे हृदय में उदय हों ? यह आशा-अभिलाषा मैं कैसे करूँ ? क्योंकि वे चरण तो परम स्वतन्त्र हैं,मेरा कहना वे क्यों मानेंगे ? अतः उनसे तो मैं यहीं कहूँगा कि आप तो व्रज-वीथियों में विचरण करते रहें, किन्तु आपके वाचाल नूपुर की रुनक-झनक-ध्वनि मेरे कानों में पड़ती रहे तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, इस आशय से उत्कण्ठित होकर लीला शुक कहने लगे"**मम चेतसि स्फुरतु**"मेरे चित्त में स्फुरित हो। "क्या स्फुरित हो—"मञ्जुशिञ्जितम्" नूपुर की कर्णपीयूष वर्षिणी मनोहर ध्वनि। यदि श्रीचरण दरस-परस का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं होता तो न सही, चरणों की नूपुर ध्वनि का श्रवण-सुख मुझे मिलता रहे—बस यही अभिलाषा है। वह ध्वनि कैसी है ? 'मणि नूपुर प्रणयि' है, अर्थात् मणिमय नूपुरों के जो प्रेमपात्र हैं, अथवा उन में जिनका प्रेम है उनसे वह स्निग्ध है, मधुर है। एक विशेषता और है वह—कमलावनेचर·····कूजिताद्दतम्' है, कमला के निवास स्थान कमल वन में संचरण करने वाले कालिन्दी के मनोहर हंस कुलों के कण्ठ से निःसृत कलकूजन के द्वारा आद्दत है। वे हंस सामान्य नहीं हैं, कालिन्दी के कल हंस हैं, परमहंस महामुनि कुल हैं—

प्रायो बताम्ब बिहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणु गीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिर प्रवालान् श्रृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥

—भागवत १०-२१-१४

ये हंस प्राकृत नहीं, अप्राकृत हैं। दूसरे 'कमलावनेचर' हैं। जैसे आम्रमञ्जरी के भक्षण से कोकिल का कण्ठ मधुर एवं मार्जित होता है, वैसे ही कमल नाल के भक्षण से हंस का कण्ठ भी ललित एवं सुकोमल बन जाता है। ऐसे वृन्दावन के हंस समूह भी इस नूपुर-शिंजन की तुलना में अपनी कलध्वनि को तुच्छ मानकर इसका समादर करते हैं, इसको गुरु मान कर इससे शिक्षा लेते हैं—

कालिन्दी के कूल हरि, विहरत पद झंकार।
सुनि लाजैं कल हंस कुल, देत 'प्रेम' जयकार॥
वन कूजत कल हंस हैं, तन गुञ्जत कल हंस।
मन बूझत कल हंस को, जन जाचत कल अंस॥

परन्तु यह चरणों के नूपुरों की मञ्जुध्वनि किसकी है, यह तो बताइये ? अरे भाई ! स्वसू तो बता रहे हैं—"वल्लीवीविभोः" वल्लवी अर्थात् ब्रजगोपियों के विभु अर्थात् प्राणनाथ के चरण-संसिक्त नूपुरों की यह मंजुध्वनि है । "**मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं**" श्लोक में 'विभु' शब्द का अर्थ सब टीकाकारों ने 'प्राणनाथ' ही किया है । विल्वमंगल को भी यह 'विभु' पद अत्यन्त प्रिय है, (देखिये श्लोक नं०६, १०, १६) यहाँ 'विभु' पद से एक भाव यह भी है कि वे गोपीजन-रमण हैं, अतएव '**तदनुराग तारम्येन विविधो भवतीति विभुः**" गोपियों के अनुराग पूर्ण तारतम्य के कारण वे एक से अनेक होकर उनकी मनोवाञ्छापूर्ण करते हैं, अतएव वे विभु हैं । अनेक रूप हैं, लघुभागवतामृतकार ने विभु का अर्थ—'**ऐश्वर्य माधुर्य कृपा तेज मुख गुणा शक्तिः**' माना है, ऐश्वर्यांश में सब भगवत्स्वरूप समान हैं, परन्तु माधुर्यांश में तारतम्य है । इसी से पूर्ण, अपूर्ण, अंशकला आदि का विधान है ।

श्रीकृष्ण का स्वरूप सर्वांश में समर्थ है । ऐश्वर्यांश की चर्चा का यहाँ प्रयोजन नहीं है । यहाँ तो माधुर्य का आनन्द लीजिये, यह माखन चुराने में समर्थ, है मृत्तिका भक्षण में समर्थ है, हाथ बधवाने में समर्थ है, खेल कूद में वाहन-घोड़ा आदि बनने में समर्थ. है, रोने-रुलाने में समर्थ है, हँसने हँसाने में समर्थ है,मनिहारन बनकर श्रीराधाको चूड़ी पहनानेमें समर्थ है, और रास रचाने में समर्थ है । रूठना, मचलना, मटकना, नाचना-गाना आदि अनेक सामर्थ्य इसमें हैं, इसीसे तो गोपियोंने कहा- आप सर्व समर्थ होकर भी हम को क्यों निराश करते हो ? यदि आप असमर्थ होते तो हमको संतोष हो जाता, यही कारण था कि अन्तमें भगवान्को हारना पड़ा गोपियोंको स्वीकार करना ही पड़ा । इसको जीत नहीं-हार स्वीकार है-ऐसा है यह कृष्ण स्वरूप नाहीं नहीं कह सकता । 'मैं, धर्म और लोकमर्यादा के बन्धन में हूँ'—कहकर किसी याचक को निराश नहीं कर सकता । तो क्या यह स्वरूप स्वतन्त्र है ? उच्छृङ्खल है ? हाँ ! है तो कुछ ऐसा ही, पर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेपर भी एक प्रेम देवता के परतन्त्र है, यह वेद-विधि के अतीत है, पर प्रीति-रीति के स्वाधीन है । इसी कारण इस ब्रज विलासी गोविन्द के चार असाधारण लक्षणों में 'प्रेम्णा प्रियाधिक्यं' है, इस प्रकार यह श्रीकृष्ण स्वरूप केवल प्रीति के आधीन होकर अपने प्रिय जनों के सुख-विधान के निमित्त वेद की विधि तथा ईश्वरता को भी तिलांजलि दे देता है । यह वैचित्री केवल लीला

पुरुषोत्तम के स्वरूप में ही सिद्ध है, सहज–स्वभाव गत है। अन्यत्र इसका दर्शन नहीं है ।

इसका अन्तरंग लीला परक अर्थ यह है—पूर्व श्लोक में हम देख चुके हैं कि श्रीराधा का अनुगमन करते हुए श्रीकृष्ण निकुञ्ज में पधार रहे हैं । लीला शुक भी अपने सखी स्वरूप से व्रज वीथियों में उन मनोहर-चरण चिह्नों को देखते हुए अन्य सखियों के साथ प्रवेश कर रहे हैं । उधर कमल-वन से सुशोभित यमुना तटवर्ती निकुञ्जों में श्रीराधाकृष्ण मिलित होकर रास-विलास के रस में निमग्न हैं । विहार काल में उनके मणिमय नूपुरों का मधुरशिंजन हो रहा है, लीला शुक मानों अन्य सखियों के सहित निकुञ्ज के वहिर्भाग में स्थित होकर परम समाहित चित्त से उस मनोहर—ध्वनि को श्रवण कर रहे हैं । सखियोंके लिये यह ध्वनि जीवन दायिनी है । इस अन्त-र्दशा में उक्त लीला की स्फूर्ति होने पर अत्युत्कट लालसान्वित लीलाशुक नूपुरध्वनि के अनुभव की याचना करते हुए बोले– 'ममचेतसि स्फुरतु' । मेरे चित्त में श्रीराधा के सहित मिश्रित श्रीकृष्ण की नूपुर ध्वनि की स्फूर्ति होवे ।

यह नूपुर शिञ्जन सखियों का ही श्रोत्र-मनोहर नहीं, अपितु श्रुतियों का भी श्रुति-मनोहर है । अधिकन्तु क्या ? श्रुतियों की जन्मस्थली भी यही है—

सूक्ष्म कलरव जन्य पर, वेद तंत्र को मंत्र ।
वृन्दावन "श्रीहरिप्रिया" नित्य विहार स्वतंत्र ।।
वेदतंत्र को मंत्र मनोहर श्री वृन्दावन नित्य विहार ।
सूक्ष्म कलरव जन्य ब्रह्म पर परम धाम को परमाधार ।।
निरवधि नित्य अखण्डल जोरी, गोरी श्यामल सहज उदार ।
आदि अनादि एक रस अद्भुत, मुक्ति परे पर सुख दातार ।।
अनंत अनीह अनावृत अव्यय, अखिल अंड अधीश अपार ।
अंघ्रि, अब्ज, आभूषण-रव करि, केतन केत लेत अवतार ।।
अचल अचिन्त्य अगम गुन-आलय, अक्षर ते अक्षर अधिकार ।
"श्रीहरिप्रिया" विराजत हैं जहाँ, कृपा साध्य प्रापति सुखसार ।।

तात्पर्य यह है कि—प्राकृत अप्राकृत जगत से अतीत सर्वोपरि धाम श्रीवृन्दावन में निकुञ्ज-स्थित श्रीराधाकृष्ण का क्रीड़ा-कालीन आभूषणों का सूक्ष्म जो कलरव है, वही तंत्र का ककार, लकार, ईकार, अर्द्ध चन्द्रविन्दु–

युक्त कामवीज है और यह कल-ध्वनि ही निकुञ्ज से बाहर आकर शब्द-ब्रह्म–प्रणव की उत्पत्ति करती है। शब्द-ब्रह्म के दो भेद हैं—(१) ध्वन्यात्मक ध्वनिरूप और (२) वर्णात्मक-वर्णरूप। प्रथम से महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा पंचभूत—प्राकृत सृष्टि की उत्पत्ति होती है। दूसरे से वेद, तंत्र, मंत्र, शास्त्र, पुराण आदि का आविर्भाव होता है। जो प्रणव से उत्पन्न होती है वह प्राकृत सृष्टि है, अप्राकृत धाम की उत्पत्ति कामवीज से मानी जाती है। उस काम-वीज की उत्पत्ति का स्थान उपर्युक्त निकुञ्जस्थ 'मञ्जु कलरव है,'—अत-एव वह सर्वोपरि है, स्वतन्त्र है—"**वृन्दावन श्रीहरिप्रिया नित्य विहार स्वतंत्र।**'

मूल श्लोक ललित गति छन्दः

तरुणारुण-करुणामय-विपुलायत-नयनं-
कमला-कुचकलशी-भर-विपुली-कृत-पुलकम्।
मुरली-रव-तरली-कृत-मुनि-मानस-नलिनं-
मम खेलतु मद-चेतसि मधुराधरममृतम् ॥१८॥

पद्यार्थ—तरुण, अरुण, करुणायुत, आयत और विशाल विलोचन जिसके।
ब्रजवाला-कुच-कुम्भ भार से हरषी रोम-राजि तन जिसके॥
जिसकी मुरली सुन मुनियों के मन सरोज हिल जाते थर-थर।
विहरे मेरे मत्त चित्त में वही सुधा-सन्दोह निरन्तर॥

भावार्थ—जिन (श्रीव्रजराज किशोर) के नयन—तरुण, (अथ च यौवन मद के कारण) अरुण तथा करुणायुत, विशाल और कर्णपर्यन्त फैले हुए हैं, जिनका शरीर वर विलासिनी—व्रज-युवति-जनों के आपीन-पुष्ट कुच-कुम्भों के संस्पर्श से अतिशय पुलकित हो रहा है, जिनकी मुरली से निकली हुई मादक तान मुनिजनों के सुस्थिर मनों को भी पद्मपलाश के समान थर-थरा दिया करती है और जिनके सामने मधु-रातिमधुर भी पराजित हो जाया करते हैं (अथवा जिसके अधर माधुर्य पूर्ण हैं—ऐसे वे परमानन्द-निधि अमृत-सन्दोह श्री ललित मोहन मेरे प्रेम मद-मत्त चित्त में सतत विलास करते रहें।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में दैन्य संचारी और इसमें हर्ष संचारी की तरंग है। पहले तो केवल नूपुर-ध्वनि की लालसा थी, इस श्लोक में श्री कृष्ण की उदारता के कारण सर्वाङ्ग-दर्शन की प्रार्थना है। "मम मद-चेतसि खेलतु" वह रसिक शेखर प्रेम-रस-मधुपान से मत्त मेरे चित्त में अविच्छिन्न

रूप से क्रीड़ा करता रहे, तथा नवीन-नवीन लीलाओं को प्रकट करता हुआ नवीन-नवीन रूप माधुरी से मेरे मन को विमुग्ध करता हुआ मेरे हृदय कमल पर सदा स्थिर भाव से विराजमान रहे ।

ब्रज के गोपी-गोप ग्वालबाल, नन्द-यशोदा और ब्रजेश्वरी श्रीराधा का समस्त परिकर एवं सखी समूह अर्थात् ब्रज के सभी लोग श्रीकृष्ण के मधुर भाव के उपासक हैं, वे श्रीकृष्ण को न ब्रह्म समझते हैं, न परमात्मा मानते हैं, न भगवान कहना पसन्द करते हैं,—यशोदा उसे पुत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं जानती, सखा मण्डल के लिये वह परम प्रेमास्पद मित्र हैं, श्री राधा और सखियों का तो वह मधुर रस का स्रोत है ही । इस भाव को छोड़ कर ब्रजवासी गण वैकुण्ठ आदि के दिव्य-दर्शन को भी तुच्छ समझते हैं ।

जब श्रीकृष्ण नन्दबाबा को वरुण लोक से छुड़ा कर लाये, तब नन्दबाबा ने ब्रजवासियों को सब वृत्तान्त सुनाया, ब्रज के गोपों ने कौतूहल वश अपने श्रीकृष्ण से आग्रह पूर्वक पूछा कि भैया गोपाल ! तू भगवान है तो यह तो बता कि हमारी गति क्या होगी,हम कौन से लोक को जायँगे,भगवान् ने अपना वैकुण्ठ दिखाने के लिये उनको यमुना में प्रवेश करने को कहा, ब्रज के गोप और ग्वारिया यमुना में प्रवेश करते ही वैकुठ में पहुँच गये, वहां वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायण का दर्शन कर कहने लगे:—

महातेज तन में प्रकाशमान जैसे भानु,
बाढ़ै चकचौंधि आँखें आँखिन सों जुरी मैं ।
देखत वैकुण्ठनाथ शंख चक्र गदा हाथ,
लागत भय भारी न कहत बात दुरी मैं ।।
डोलत, बोलत, कलोलत न 'नागर' यहाँ,
रहें चुपचाप यह देखी बात बुरी मैं ।
ऐसी न सहेंगे, ब्रज मारग गहेंगे,
अब और ना रहेंगे या टगटगा पुरी मैं ।

गोप बालकों ने कहा—भैया ! यहाँ कहाँ आ गये ? चार हाथ का बोझा कौन ढोयेगा ?

हम तो भैया न कोउ शंखहि बजाय जानें,
ये तो महाशंख लिये सबनि निहार रे ।

व्रज बतरानि हँसि गारी दैन लगै मीठी,
कैसे करि आवै देव बानी उचार रे ।।
चित्र के से मढ़े कौन ठाढ़ो रहै 'नागर' ह्यां,
कहाँ वह वृन्दावन वीथिन विहार रे ।
कैसे कै कन्हैया संग खेलन को सुख खोवैं,
ढोबै कौन इहाँ चार हाथन को भारे ।।

अतएव विल्वमङ्गल भी यही कहते हैं कि दर्शन की स्फूर्ति ही नहीं, उसका लीला वैभव भी मेरे हृदय में प्रकाशित होता रहे ।

कोई एक अनिर्वचनीय नित्य पूर्ण-परानन्दैक-रससार सर्वस्व वस्तु मेरे मन मन्दिरमें खेला करे,उस वस्तु का कोई आकार भी है क्या ? अवश्य है, उसके मधुर अधर हैं, अधर पर वंशी है, वंशी के ऊपर दो विशाल नेत्र-कमल हैं, वे मधुररस से छलक रहे हैं,वह अधर पल्लव,—जहाँ मधुर स्वयं ही अधर बन गया है,वह अमृत-अमृत नहीं—अमृत तो ये अधर हैं उस अमृत को नित्य पान करने वाले देवता आज पर्यन्त कोई भी अमर नहीं हो सके,परन्तु अधरामृत, चरणामृत, नामामृत—पान करने वाले मर करके भी अमर हो गये—अतएव वास्तविक अमृत तो यही है । यद्यपि श्री कृष्ण-विग्रह का सर्वाङ्ग ही मधुर है, तथापि माधुर्य विशेष के कारण अधर को ही मधुर कहा है । अथवा **'मधुरवस्तूनि यावन्ति प्रसिद्धान्यधारयति निकृष्टानि करोतीति मधुराधरम्''** । अर्थात् मधु, द्राक्षा, सिता, घृत, अमृत प्रभृति जितनी भी मधुर वस्तु हैं,उन सबको निकृष्ट कर देता है,फीका कर देता है—ऐसा है यह'मधुराधर' अथवा-**मधुरंरसं कमप्यनिरूप्यम् आ समन्तात् सर्वावयवेषु स्वस्यान्यस्य च धारयतीति मधुराधरम्''** अर्थात् जो एक अनिर्वचनीय मधुर रस [शृङ्गार] को अपने में तथा सबके सर्वाङ्ग में धारण करता है, वह है—'मधुराधर' अर्थात् शृङ्गाररस सर्वस्व, कामावताराङ्कुर, शृङ्गाररसाधि-देवता—यह अधर पल्लव है, एक कवि के शब्दों में मधुराधर की चर्चा सुनिये—

बिन पिये मदमाते रति रस रंग नैन,
बातें दुखियान की कानन जाय कही है ।
कमला वन रानी महारानी की सेवा करें,
दान हेम कलश पाय फूली अंग मही है ।।
मुनि मौन भङ्ग करि मुनि मौन भङ्ग करें,
मुनिन गुरु मुरली ए बाज गाज रही है ।

अमृत कित ढूंढ़े मन देख क्यों न श्याम तन,
अमृत सो मधुराधर और कहीं नहीं है ।।

अतएव जो भी इस मधुर-रस विग्रह का दर्शन, कीर्त्तन करता है, उसमें यह महा मादक—परम रस का संचार कर देता है यथा—

श्याम-श्रीर्मधु यस्य, यस्य मधु तत्कैशोरमत्यद्भुतं,
क्रीडा यस्य मधूनि यस्य च मधून्येकादशाक्षक्रियाः ।
माध्वी यस्य विलोकनाङ्गवचसां भङ्गी यदीयं वपू,
रूपं मध्वथ भूषणादि च मधु ध्यामोहयेत् कं न सः ।।

श्रीकृष्ण विग्रह में सब मधु ही मधु है 'धुमराधिपतेरखिलं मधुरम्' श्याम वर्ण मधु है, अद्भुत किशोर वयस मधु है, क्रीडाएं मधु हैं, एकादश इन्द्रियों की क्रियाएँ मधु हैं, दृग्भंगी, अंग—भंगी, वचन भंगी, मधु हैं, शरीर मधु है, रूप मधु है, भूषण मधु है और वंशी भी मधु है, वस्त्र, पीताम्बर, कटि-काछनी आदि वस्त्र मधु हैं. इतना ही नहीं—भूषणों की ध्वनि भी मधु है, वंशी की ध्वनि मधु है, चरण की रज मधु है, मुख का उच्छिष्ट मधु है, वसनाञ्चल की पवन मधु है, मोर का पंख मधु है, गुञ्जा—माला, वन-माला सभी तो मधु है,

अधरं मधुरं वदनंमधुरं, नयनं मधुरं हसितंमधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलंमधुरम् ।।

एक ही प्रकार का मधु पान करने से मनुष्य मतवाला हो जाता है। फिर इस विग्रह में तो शत-सहस्र प्रकार के मधु हैं, अतएव इसका दर्शन-श्रवण-कीर्त्तन किसको मतवाला न बन देगा ?—'विमोहयेत्कं न सः' ।

इस मधु का अनुभव सौभाग्यशाली विल्वमङ्गल को पद-पद पर हो रहा है, इसी लिये इस ग्रंथ में बार-बार और सबसे अधिक इस "मधुर" शब्द का प्रयोग हुआ है, यह आगे स्पष्ट होता जायगा ।

फिर वह अमृत कैसा है ? 'तरुणारुण करुणामय विपुलायत नयनम्' उस अमृत के तरुण, अरुण, करुण, विशाल और दीर्घ नयन हैं। तरुण हैं अर्थात् किशोर अवस्था के कारण स्वतः सहज मद-रस से भरे हुए हैं। अतएव नेत्र प्रान्त अरुण हैं, करुणा पूर्ण हैं, अपने प्रियजनों के दुखादि के असहिष्णु हैं, अतः दयाशील हैं, तथा आकार में विशाल हैं, अर्थात् दीर्घ कर्णायत हैं—

लजीले सकुचीले सरसीले सुरभीले से,
कटीले औ कुटिल चटकीले मटकीले हैं ।
रूप के लुभीले कजरीले उनमीले वर-
छीले तिरछीले से फँसीले औ गंसीले हैं ।।

ललित किसोरी भभकीले गरभीले मानो,
अति ही रसीले चमकीले औ रंगीले हैं।
छबीले छकीले अरु नीले से नशीले आली,
नैना नंदलाल के नचीले औ तुकीले हैं॥

फिर और कैसा है वह अमृत 'कमला-कुचकलशी-भर-विपुलीकृत-पुलकम्' व्रज की कमला श्रीराधिका के मंगलमय उच्च-उरोजों के स्पर्श से जिनका सर्वाङ्ग पुलकायमान हो रहा है 'कमला श्रीवरस्त्रियोः विश्व कोष में कमला पद का प्रयोग एक तो लक्ष्मी के लिये दूसरा उत्तम स्त्री के लिये होता है। अतएव "कमला वरस्त्री राधिका"—गोपाल भट्ट गोस्वामी। परन्तु व्रज की तो गोपी मात्र ही वरस्त्री कमला हैं यथा "श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषरिति ब्रह्म-संहिता" श्रीराधा को कमला संज्ञा करने वाले तीन प्रकार के वचन प्राप्त होते हैं —प्रथम-वरस्त्री होने के कारण श्रीराधा कमला हैं। श्रीराधा का रूप माधुर्य लक्ष्मी पर्यन्त को भी सम्मोहित कर देता है, यथा—

सर्व-लक्ष्मी मयी सर्व कान्तिः सम्मोहिनी परा।
देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता॥ —गोतमी-तंत्र

समस्त सौन्दर्य और कान्ति, श्रीराधा में निवास करती हैं, लक्ष्मी की शोभा भी श्रीराधा हैं—

सब सौन्दर्य कान्ति बसये ताँहाते। सब लक्ष्मीगणेर शोभा हय जाँहाते॥
—चैतन्य चरितामृत

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने भी श्रीराधा जी को लक्ष्मी के सौन्दर्य की परम चरम सीमा माना है—

श्रीराधाख्यरूपं परमं चरमं रमा देव्याः। श्रीभगवतश्च परमं चरमं रूपं प्रियस्तस्याः
—वृन्दावन महिमामृत

अर्थात् श्रीराधा रूप ही लक्ष्मीदेवी के रूप की परम शेष सीमा है, तथा श्रीराधा का आस्वाद्य प्रिय कृष्ण रूप ही श्रीभगवान का परम चरम रूप है।

श्रीराधा प्रेम की लक्ष्मी हैं, सौन्दर्य-माधुर्य सिन्धु हैं, श्रीराधा सुधा-निधिकार ने श्रीराधा जी को प्रेम लक्ष्मी कहा है—

भक्तानां हृत्सरोजे मधुररस सुधा स्यन्दि पादारविन्दा,
सान्द्रानन्दाकृतिर्नः स्फुरतु नवनव प्रेम लक्ष्मीरमन्दा॥

ब्रह्म संहिता में भी इनको अभिनव-लक्ष्मी कहा है—कि जो श्रीकृष्ण के प्रेमाधीन होकर सदा सर्वदा रममाणा हैं, वे 'रमा' देवी हैं:—**नियंतिः सा रमादेवी तत्प्रिया तद्वशं सदा** इसी कारण **कं कृष्ण सुखं तेन अलयति पर्याप्ता पूर्णा भवतीति कमला-श्री गो०भट्ट** अर्थात् 'कं' का अर्थ है—कृष्ण उनके प्रेम सुख से जो पूर्ण है, वे ही कमला हैं। वृन्दावन में श्रीराधा ही कृष्ण-सुख के द्वारा सम्यक् पूर्ण हैं, अन्य कोई उनके समान तत्सुखपूर्ण नहीं है।

गोविन्दानन्दिनी राधा राधा गोविन्द मोहिनी।
राधा गोविन्द सर्वस्व सर्व कान्ता शिरोमणि।

—चैतन्य चरितामृत

३—श्री राधा ही अंशनी, मूललक्ष्मी, परमा रमा-सर्ववन्द्या, सर्वेश्वरी हैं,—यथा—

यत्कला कोटि कोट्यंशालक्ष्म्याद्यास्त्रिगुणात्मिकाः। —वाराह तन्त्र
कृष्ण-वामांश-सम्भूता राधा रासेश्वरी परा।
तस्याश्चांशांश-कलया बभूवुर्देवयोषितः॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण

अर्थात् श्रीकृष्ण के वाम भाग से प्रकट रासेश्वरी राधा के अंश की अंशकला से समस्त देवाङ्गनाओं की उत्पत्ति हुई है—

अवतारी कृष्ण जैछे करे अवतार। अंशिनी राधा हैते तिन गणेर प्रचार॥

—चैतन्य चरितामृत

श्रीकृष्ण जैसे मत्स्य कूर्मादि अवतारों का विस्तार करते हैं, वैसे ही श्रीराधा भी समस्त कान्तागण की अंश स्वरूपिणी होकर तीन गण-लक्ष्मी-गण, महिषी गण तथा व्रज कान्ता गण का विस्तार करती हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीराधा ही रूप, प्रेम तथा तत्व में परात्परा लक्ष्मी हैं।

ऐसी जो कमला-श्रीराधा हैं, उनके कुचकलश—'सान्द्रानुराग रास-सार सरोवर के सरोज' हैं, तथा 'स्वानन्द पूर्ण रस-कल्पतरु के फल' हैं, यह चतुर्थ श्लोक में निरूपित हो चुका है। उनके स्पर्श से श्रीकृष्ण का कलेवर पुलकित हो रहा है। श्रीराधा के दर्शन तथा स्पर्श से तो क्या, उनके नीलाम्बर के छोर के स्पर्श से ही श्रीकृष्ण पुलकित एवं कृतार्थ हो जाते हैं—

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थधन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि तस्या नमोऽस्तु वृष भानुभुवोदिशेऽपि॥

—राधासुधानिधि

एक प्राचीन बंगला पद का भाव देखिये—श्री कृष्ण राधा के अनुराग रस की लीला सरिता में गोते लगा रहे हैं,'रसो वै सः'रसिक शेखर का यह स्वरूप भाव नेत्रों से हीन, मलिन एवं विषय लम्पट हृदय-दर्पण में दिखाई नहीं देता—मुकुर मलिन अरु नैंन विहीना। राम रूप किमि देखहिं दीना—रामचरितमानस। हाँ! तो आइये, भाव की दृष्टि लेकर इस लीला रस का आनन्द लीजिये, श्रीराधाजी यमुना स्नान करने गई हैं तो श्यामसुन्दर पीछे लग गये हैं,श्रीराधा प्रियतम—श्रीकृष्ण की दिव्य अद्भुत विचित्र प्रीति का अवलोकन कर अपनी प्रिय सखी से कह रही हैं—

मोर यदि सिनाना आगिल घाटे, याछिल घाटे से वाय।
योर अंगेर जल परस लागिया, वाहु पसारिया धाय।
सेई, पिरिति पिया से जाने॥

मैं उनकी प्रीति का क्या वर्णन करूँ, सखी! मैं जिस घाट पर जाती हूँ, वे उसके नीचे के घाट पर स्नान करते हैं और मेरे अङ्ग-स्पर्श किये हुए जल का स्पर्श पाने के लिये भुजा फैला कर आगे बढ़ते हैं! अहा! प्रीति तो एक प्रीतम ही जानते हैं—

वसने बसन लागिवे लागिया, एइ रज के देय।
मोर नामेर आधा आखर पाइले, हरिषि होइया लेय॥

"और सखी! जो रजक (धोबी) मेरे वस्त्रों को धोता है, उसी को वे अपना वस्त्र भी देते हैं—जिससे कि वस्त्र से वस्त्र स्पर्श हो जाय और यदि कहीं मेरे नाम का आधा अक्षर 'रा' या 'धा' उनको गिरा-पड़ा मिल जाय तो अत्यन्त हर्षित हो कर उसे उठा लेते हैं! अधिक कहाँ तक कहूँ, सखि! उनकी प्रीति की एक-एक बात विलक्षण है—

छायाय छायाय लागिवो लागिया, फिरये कतेक पाके।
आमार अंगेर वातास जे दिके, से मुखे से दिन थाके॥

—रायशेखर

मेरा स्पर्श पाने के लिये मेरी छाया के साथ अपनी छाया मिलाते हैं, इसके लिये वे बार-बार मेरी कितनी ही परिक्रमा देते फिरते हैं, और तो और, जिस ओर से मेरे अङ्ग की सुगन्धि को लेकर पवन प्रवाहित होता है-उसी ओर उस पवन का स्पर्श पाने के लिये दिन-भर उस ओर मुँह करके खड़े रहते हैं।

हासिया हासिया मुख निरखिये, मधुर कथाटि कय,
छायार सहित छाया मिशाइते, पथेर निकट रय,
आलो ! से जे मानुष नाय ।
ताहार संगे जे पिरिति करये, कि जानि कि तार हय ।।

—ज्ञानदास

"अरी सखी ! वह श्यामसुन्दर मनुष्य नहीं है । क्योंकि मनुष्य में तो ऐसी प्रीति कहीं भी देखी सुनी नहीं जाती सखी ! उससे जो प्रीति करता है, वह मनुष्य नहीं होता । यदि हो भी तो वह मनुष्य, मनुष्य नहीं रह पाता उसे वह अपने जैसा ही प्रीति-पागल बना देता है । उससे प्रीति करनेवाले को न जाने क्या हो जाता है—कुछ कहा नहीं जा सकता ।" भला जिसकी छाया के साथ अपनी छाया को मिला कर जो उस छाया का भोग, काया के द्वारा लेना चाहता है—इस प्रकार की जहाँ प्रेम-पिपासा है, वह रस-सागर श्रीकृष्ण आज छाया को नहीं साक्षात् प्रीति-काया श्री राधा को प्राप्त करके रसोन्मत्त हो गया तो आश्चर्य ही क्या ?

पाठक-वृन्द ! सावधान ! मदन जिसकी छाया से मूर्छित होता है, यह उस 'मदनमोहन' का 'मदन-मोहन-मोहिनी' महाभावस्वरूपिणी श्री-राधा के सहित दिव्य उज्ज्वल रस का काम-विलास है, प्रेम और काम में प्रकाश और अन्धकार जैसा अन्तर है, काम इन्द्रिय वासना जन्य दुःखान्त केवल संभोग मात्र है । और प्रेम पंचम पुरुषार्थ है, जिसके द्वारा अनन्तानंद स्वरूप श्री कृष्ण की प्राप्ति होती है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे वलि काम ।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम ।।
कामेर तात्पर्य-निज सम्भोग केवल ।
कृष्ण सुख तात्पर्य-हय प्रेम प्रबल ।।
परिपूर्ण कृष्ण प्राप्ति सेइ प्रेमा हइते ।
एइ प्रेमेर वश कृष्ण कहे भागवते ।।
पंचम पुरुषार्थ सेइ प्रेम महाधन ।
कृष्णेर माधुर्य रस कराय आस्वादन ।।

आगे चार श्लोक-पर्यन्त इसी क्रीड़ारस का आस्वादन है । अतएव, आइये ? श्रीराधारससुधानिधिकार की सिद्ध वाणी के द्वारा श्रीयुगल-

विहारी के श्री चरणों में कातर-प्रार्थना करते हुए आनन्द-सिंधु-सीकर का आस्वादन करें :—

"सदानन्द वृन्दावन नवलता-मन्दिर वरेष्वमन्दैः
कन्दर्पोन्मद-रतिकला-कौतुकरसम् ।
किशोरं तज्ज्योतिर्युगलमति-घोरं मन भयं
ज्वलज्ज्वालं शीतैः स्वपदमकरन्दैः शमयतु ।।

वृन्दावन के नव निकुञ्ज मन्दिर में कन्दर्पोन्मद-रतिकला कौतुकरस में निमग्न सदानन्दमय किशोराकृति वह गौर श्याम-कांति-धाम युगल-सरकार अपने आनंदमय, शीतल प्रद-स्वपद-मकरंद के द्वारा मेरी अति घोर-ज्वलंत भवज्वाला का शमन करें ।

आइये, अब इस भवज्वालापहारी परम पावन प्रशान्तकारी मधुररस उज्ज्वल-रस-लीला का अनुशीलन करें । पुनश्च वह अमृत-स्वरूप कृष्ण कैसा है कि—"मुरली-रवतरलीकृत-मुनिमानस-नलिनम्" अपनी मधुर मुरली-ध्वनि के अमृत-रस के द्वारा मुनि-जनों के पर्वत-समान दृढ़, स्थिर तथा कठोर चित्त को भी पिघलाकर कोमल तथा चंचल बना देता है । वे अपने समाधि-सुख का परित्याग कर श्रीकृष्ण के प्रति आसक्त हो जाते हैं।" योगियों के परम गुरु योगेश्वर महादेव जो समुद्र के समान गम्भीर एवं मर्यादायुक्त हैं—वे भी श्यामचन्द्र की वंशी नाद - सुधा का पान कर मर्यादा उल्लंघन कर वृन्दावन में गोपीश्वर बन जाते हैं यथा—

उदिते हरि-वक्त्रेन्दो वेणुनाद-सुधा भुवि ।
हन्त रुद्र-समुद्रेण स्वमर्यादा विलङ्घिता ।।

—विदग्धमाधव

तथा ऋषि-मुनि-कुल के आदि पिता ब्रह्मा जी जब अपने अष्ट कर्णों से इस वेणु-काकली का श्रवण करते हैं, तो उनकी शतधृति लोप हो जाती है और वे मराल-पीठ पर ही लोट पोट होने लगते हैं—यथा—

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्न-वेणव काकलीं कलयन् ।
शतवृतिरपि धृतियुक्तो मराल-पृष्ठे मुहुर्लुठति ।।

—विदग्धमाधव

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण यदि अनुग्रह करके किसी को अपने दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध में से किसी एक का भी एक आस्वा-

दन करा दें—तो शिव, शुक, सनकादिकों की भाँति ब्रह्म-समाधि पर्यन्त भी भंग होकर त्रिभंग की समाधि को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ।।

—भागवत १-७-१०

मुनि शब्द का मधुर अर्थ है—व्रज की मुनि-मौनवती, मानवती गोपीजन । उनमें भी श्रीराधा जब दुर्जयमान करती हैं, तब उन्हें मनाते-मनाते श्रीकृष्ण हार जाते हैं । चिबुक स्पर्श करते हैं, चरण स्पर्श करते हैं, विनती करते हैं—तब भी वे मौन का त्याग नहीं करतीं, उन श्रीराधा के दुर्जयमान को भी मुरली ध्वनि भंग कर देती है । राधा की एक सखी मान मनाते-मनाते जब हार गई, तब उसने मानवती राधा से कहा—

यदि रोषं नहि मुञ्चसि न मुञ्च देवि ! नात्र निर्बन्धः ।
फूत्कृतिविधूमानः स भवति विजयी हरेर्वेणुः ।।

—उज्ज्वल नीलमणि

"हे देवि राधे ! यदि तुम मान नहीं छोड़ती हो तो मत छोड़ो, मैं अब और अधिक आग्रह भी तुम से नहीं करूँगी । चित्तहारी हरि की चित-चोर मुरली ध्वनि ही अपनी फूत्कार के द्वारा तुम्हारे मान को बढ़ा कर अभी विजयिनी होती है ।"

मानस्योपाध्यायि प्रसीद सखि रुन्धि मे श्रुति द्वन्द्वम् ।
अयमुच्चाटन मंत्रं सिद्धो वेणुर्वने पठति ।।

—उज्ज्वल नीलमणि

श्री राधा ने अकुला कर सखी से कहा कि—"अरी मेरी मान-शिक्षा गुरु ! तुमने जैसा मुझे मान का पाठ पढ़ाया है । वैसे ही अब मेरा मान भंग न होने पावे, इसका उपाय भी बतादे । मेरे दोनों कर्णों को बन्द कर दे । सखी ! इस वेणु को तो उच्चाटन मंत्र सिद्ध है । यह कानों के द्वारा प्रवेश कर मेरे चित्त का उच्चाटन कर मेरे मान को भंग कर देगी ।"

ग्रन्थकार श्री विल्वमङ्गल के भाव राज्य में उक्त श्लोक का अन्तरंग लीला-परक अर्थ इस प्रकार है—पूर्व श्लोक में तो विहार कालीन भूषण-ध्वनि की स्फूर्ति के लिये प्रार्थना थी । तदनन्तर भूषण ध्वनि शान्त होने पर सुरत-केलि समाप्त हुई जानकर सखियों के सहित कुञ्ज-रन्ध्र में से लीलाशुक

मन्मथ-विजयिनी सुरतान्त छवि के नेत्र भरकर दर्शन कर रहे हैं। जलधर श्याम के अंक में श्रीराधा विद्युल्लता सी विराजमान हैं। श्रीमदनमोहन अपने कर-कमलों से मदनमोहन-मोहिनी के अंग-सम्मार्जन द्वारा उनका श्रमापनोदन कर पुनरुज्जीवित कर रहे हैं, तथा स्वयं भी पुलकित होकर मद-विह्वल हो रहे हैं। इस दिव्य लीला का दर्शन कर आनन्दोन्मत्त लीला शुक की हृत् तंत्री निनादित हो उठी, तब छन्द के रूप में उनके हृदय से यह झंकार निकली:—**"मम खेलतु मद-चेतसि मधुराधरमदृतम्"**।

मूल श्लोक वसन्त तिलक छन्दः

आमुग्धमर्ध-नयनाम्बुज-चुम्ब्यमानं-
हर्षाकुलं व्रज-वधू-मधुराननेन्दोः
आरब्ध-वेणु-रवमात्त-किशोर-मूर्त्तेः
राविर्भवन्तु मम चेतसि केऽपि भावाः ॥१९॥

पद्यार्थ—**जिसका मधुरानन मयंक व्रज वधूजनों को सरसाता हो।**
जो कमनीय किशोर वेणुधर, अधर सुधारस बरसाता हो॥
कभी बुलावे वंशी-धुनि में व्रज वनिता कदम्ब-कामायन।
अर्ध निमीलित नयन-नलिन से पीवे उनका रूप रसायन॥
भावुक कभी, विमुग्ध, हर्ष से आकुल-सा फिर हो जाता है।
यों अकथ्य आनन्द केलि कमनीय कलाधर दिखलाता है॥
लीला ललित कलित वंशीधर मेरी साँसों में रमजाओ।
मेरे मन मानस में ऐसे शत-शत भाव सरोज सजाओ॥

भावार्थ—जिनका मुख मयंक व्रज युवतिजनों के लिये माधुर्य की वर्षा करता रहता है, और जो कंदर्प-दर्प-हारी किशोर वेष धारण किये हुए हैं—ऐसे श्रीकृष्ण का कभी (रास विलास की लालसा से) वेणु वादन आरम्भ करना, फिर उसकी ललित स्वर लहरी से समावृष्ट कामिनियों को, अर्ध—निमीलित नयनारविंदों से अभिचुम्बित करना, तदनंतर आनंदातिरेक में कभी विमूढ़-सा दिखायी देना और कभी हर्ष से आकुल होकर थिरकने लगना—इत्यादि अनिर्वचनीय आनंद की सृष्टि करने वाले ये माधुर्य लीला भाव मेरे चित्त में आविर्भूत हों॥ १९॥

रसिका टीका—लीलाशुक इस श्लोक में किसी मधुरातिमधुर रासलीला-विलासी-स्वरूप के दर्शन की आकांक्षा प्रकट कर रहे हैं—

"**मम चेतसि केऽपि भावाः आविर्भवन्तु**" अर्थात् मेरे चित्त में कोई अनिर्वचनीय भाव-राशि का विशेष रूप से उदय हो ।

यह अनिर्वचनीय भाव-समूह किसका है ? "**आत्तकिशोरमूर्त्तेः**"-कोटि मन्मथ मन-मंथनकारी मनोहर—नटनागर की किशोरमूर्त्ति को सफल करने के लिये जिसने उसे प्रकाशित किया है,यह उसका भाव है । अथवा—**आत्ता-वशीकृताः किशोरमूर्तयो राधाद्या येन**"—गोपालभट्ट गोस्वामी । अर्थात् जिसने श्रीराधा आदिक किशोरी-व्रजांगनाओं को अपने रूप-गुण-वेणु-माधुरी के द्वारा वशीभूत कर रखा है, यह उसकी भाव राशि है ।

और वह किशोर मूर्ति '**आरब्ध-वेणु-रवं**' है, जो मधुर से मधुर पहले से भी अधिक मधुर वंशी बजा रही है । पहले तो मुरली में उच्चाटन और आकर्षण मंत्र भरा हुआ था जिससे गोपियों का चित्त उच्चाटन करके,उनको वन में आकर्षित कर लिया था । अब उस मुरली में मोहन एवं मादन मंत्र भर कर बजा रहे हैं, जिसके द्वारा गोपियों को देहानुसन्धान शून्य कर स्व-माधुर्य-सिन्धु में आत्मसात् कर लिया है, पुनश्च वह किशोर मूर्ति आमुग्ध है अर्थात् सर्व प्रकार से मनोहर एवं नित्य नवीन कान्ति से युक्त है । उसकी मनोहरता में जो कुछ न्यूनता भी थी,उसकी पूर्त्ति किशोरी मण्डल ने करदी, तब वह अत्यन्त शोभा को प्राप्त होकर अतिशय मनोहर बन गया—"**व्यरोचताधिकं नातिपुरुषः शक्तिभिर्यथा**"—१०-३२-१० ।

परन्तु श्री कृष्ण केवल शोभा से ही मनोहर नहीं बने, भावों से भी मनोहर बने हैं । कौन से भावों से ? "केऽपि भावाः"—कोई अनिर्वचनीय भाव है । अनिर्वचनीय क्यों ? "विकारो मानसो भावः" के अनुसार मन के विकारों का नाम ही तो भाव है, फिर वह अनिर्वचनीय कैसे ? "भगवानऽपि ····· रन्तुं मनश्चक्रे" । सर्वार्थ काम-परिपूर्ण भगवान् ने भी श्रीवृन्दावन की शरदोत्फुल्लमल्लिका युक्त शोभा के दर्शन कर मन को स्वीकार कर लिया था, अमना होकर भी मन निर्माण करना पड़ा और "**मनः स्वीकारात् मनोभवश्चापि स्वीकारः**"—**वृहत्क्रम-सन्दर्भः** । मन के उत्पन्न होने पर मनोभव को भी स्वीकार करना पड़ेगा ।

यह तो ठीक है, परन्तु अखिल ब्रह्माण्ड नायक भगवान के स्वरूप में कोई भी वस्तु प्राकृत नहीं–"**आनन्दघने श्रीविग्रहे अन्तःकरण-भावात् इच्छाशक्तिमान-स्यैव सम्भवात् लौकिककृतिसाध्यक्रिया विषयत्वाय मनश्चक्रे**"—अर्थात् आनन्द घन

भगवान् के श्रीविग्रह में "**आनन्द-मात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः**" के अनुसार कर, चरण, नासिका मुख, अन्तर बाहर, नख से शिख पर्यन्त सब आनन्दमय एवं अप्राकृत है, अतएव उसमें अन्तःकरण या मन नाम की कोई प्राकृत इन्द्रिय नहीं । "**अवर्णमगोत्रमचक्षुरश्रोत्रमपाणि पादम्**"—मुण्डक अर्थात् ! सृष्टि-स्थिति संहारादि सब अलौकिक कार्य ईश्वर की इच्छा मात्र से संकल्प मात्र से ही सम्पन्न होते हैं । परन्तु अपने प्रियजनों के साथ खेलने कूदने रास-विहार हास-परिहास एवं रूठने मचलने के लिये संकल्प से काम नहीं चलता, वहाँ तो प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होना पड़ता है, व्रज में नवनीत की चोरी संकल्प मात्र से नहीं होती । यशोदा के स्तनपान के लिये रोना ही पड़ता है । केवल संकल्प से तो दुग्ध प्राप्त होता नहीं ? ब्रह्मा के द्वारा हरण किये गये कोटि-कोटि गोप बालक और वत्सों का रूप तो आप संकल्प मात्र से क्षण भर में धारणकर सकते हैं—परन्तु बालक और बछड़ों को ढूँढने के लिये तो आपको नंगे चरणों से वन-वन भटकना ही पड़ता है । तात्पर्य यह है कि अलौकिक क्रियायें तो संकल्प मात्र से ही सिद्ध हो जाती हैं । किन्तु लौकिक क्रियाओं के लिये लौकिक चेष्टा करनी पड़ती है, तभी नर लीला की रक्षा हो सकती है और तभी वह लीला मधुर एवं मनोहर बन कर जीव के विषयासक्त हृदय को बलात् आकर्षण कर तन्मय, तद्रूप बना सकती है ।

इसी प्रकार गोपियों के साथ रासविलास भी केवल संकल्प से सम्पन्न नहीं हो सकता । मन की आवश्यकता और मन के सहित रसोचित भावों की आवश्यकता है । अतएव "**वीक्षरन्तु मनश्चक्रे**" मन को तथा मनोभव को स्वीकार करना पड़ा । आनन्दघन भगवान् का यह मन भी आनन्द-रूप ही है, मनोभव भी आनन्द-रूप ही है, तथा उस मन का देवता चन्द्रमा भी आनन्दरूप—अप्राकृत ही है ।

यह अखिल ब्रह्माण्ड नायक परात्पर परब्रह्म जगन्नियन्ता के मन का प्रादुर्भाव है—जो गोपियों के साथ रमणेच्छा से प्रकट हुआ है, "स एकाकी न रमतेइति श्रुति, वह अकेले रमण नहीं करता । यह तप्तकाम अपूर्णानन्द जीव की रमणेच्छा नहीं, यह आप्तकाम सम्पूर्णानन्द भगवान की रमणेच्छा है । यह आनन्द, भूमिका में अधः की कामलीला नहीं, उर्ध्व भूमिका की प्रेमलीला है । ह्लादिनी शक्ति का आत्म-विलास है, अतएव-आत्त-किशोर-मूर्तिः-कोटि-मदन-मोहन किशोर-स्वरूप को प्रकाशित किया है । जैसे बाल-रूप से ही वात्सल्य रस का आदान-प्रदान सम्भव है, वैसे ही यौवन भावापन्न

नव किशोर-रूप से ही मधुर रस का आदान प्रदान सम्भव है। अतएव किशोर अवस्था को मान प्रदान करने के लिये, तथा किशोर-केलि को सफल करने के लिये ही तदुचित यह किशोर मूर्ति प्रकट की है। यथा—

"सोपि कैशोरक वयो मानयन् मधुसूदनः।
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः॥

—विष्णुपुराण

"कैशोरकं मानयानः सह ताभिर्मुमोद ह"

—हरिवंश

समस्त बन्धनों से मुक्ति देने वाले भगवान् के भी हाथों को किसने बाँध दिया? माता यशोदा के वात्सल्य-प्रेम ने। ऐसे ही भगवान् को भी अमना से समना किसने बना दिया? गोपियों के असमोर्द्ध माधुर्य ने। पूर्ण परमानन्द-सर्वार्थ-पूर्ण भगवान् में भी आज रमणेच्छा जागृत कर दी—किसने? गोपियों के सर्वोत्कृष्ट मधुर प्रेम ने, षडैश्वर्यशाली भगवान को भी सुभग-वान् बना दिया किसने? सुभगा व्रजदेवियों ने। ब्रह्म को विट और जार की पदवी प्रदान कर दी—किसने? इसी गोपी प्रेम ने। अतएव रास विहार के द्वारा व्रज देवियों की सर्वोत्कर्षता घोषित हो रही है—

जयत्यतुल माधुर्यवर्षिणी विश्वहर्षिणी।
लक्ष्मी संतर्षिणी, रासक्रीड़ा गोपी प्रकर्षिणी॥

—आनंद वृन्दावन चम्पूः

अतएव भगवान् के मन में भी गोपियों के साथ रमणेच्छा प्रकट हुई, हृदय में उत्पन्न इस भाव लहरी की ओर लक्ष्य करके ही लीला-शुक प्रार्थना करते हैं कि "**आविर्भवन्तु मम चेतसि केऽपि भावाः**। अहा! ये भावमयी लहरी जिनसे भगवान का भी मन तरलित हो उठा है, मेरे हृदय में उदय होती रहे।

यह ब्रह्मानन्दामृत को भी लघु करने वाला मधुर रस है? वेद और उपनिषदों के लिये भी रहस्यमय है, श्रुतियाँ भी इसके लिये लालायित रहती हैं।

वेद उपनिषद् यश कहैं, निर्गुनहिं बतावैं।
सोई सगुन होय नंद की दावरी बधावैं॥

—सूरसागर

अविगत आदि अनन्त अनुपम अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक निवासी॥

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंश गुपाल॥

—सूर सारावली से

मायाजनित मनुष्य के मन-वाणी-बुद्धि के यह अगोचर है, यह तो वृन्दावन तथा वृन्दावन-विलासी की कृपा से ही अनुभव में कुछ आ सकता है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने भी वृन्दावन धाम की महिमा को उपनिषदों का रहस्य बताया है—

श्रीमद् वृन्दाटवि मम हृदि स्फोरयात्मस्वरूप,
मत्याश्चर्यं प्रकृतिपरमानन्दविद्यारहस्यम्।
पूर्णं ब्रह्मामृतमपि ह्रिया वाऽभिधातुं न नेति,
यत्रोपनिषदिहात्रत्य वार्त्ता कुतस्ता॥

—वृन्दावन महिमामृत

श्रीविल्वमंगल दर्शन कर रहे हैं कि भाव-समूह की लहरों में पड़ कर श्रीकृष्ण के नयन-कमल आमुग्ध-विमुग्ध हो गये हैं। उनके चारों ओर व्रज-वधुओं के कोटि-कोटि मुखचन्द्र प्रकाशित हो रहे हैं, उनके मध्य में दो नैन कमल हैं, चन्द्रकिरणों के कारण कमल खिल नहीं सकते, भला खुले रहें तो कैसे खुले रहें? इस ज्योत्स्ना-पूर को सहें तो कैसे सहें? उनको तो कमल से कली बन जाना चाहिये था। और बन भी जाते, परन्तु अन्तर में तो रमणेच्छा का भाव उदय हो रहा है उसने मुँदते हुए कमलों को पूरा मुंदने नहीं दिया, और उनको दो कमल के स्थान पर दो तृषित चकोर बना दिया है, तब वे अनन्त मुख शशि-सुधा का पान करने लगे।

"नयनाम्बुज चुम्ब्यमान ....मधुराननेन्दोः"

यहाँ नेत्रों से मुख का चुम्बन कहा है, श्रीकृष्णके पक्ष में इसके दो भाव हैं १—ऐश्वर्यमय, २—माधुर्यमय। ऐश्वर्य का भाव तो यह है कि—**"अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमन्ति"** ब्रह्म-संहिता के वाक्यानुसार श्रीकृष्ण के प्रत्येक इन्द्रिय में प्रत्येक इन्द्रिय के धर्म हैं। नेत्रों में अपना धर्म दर्शन तो है ही—रसना, श्रवण, नासिका तथा त्वचा के धर्म भी विद्यमान हैं। जब सर्प चक्षुःश्रवा हो सकता है, अर्थात् आँख से ही देख और सुन सकता है तो भगवान् की अप्राकृत इन्द्रियों में सर्व-शक्तियों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवान् नेत्रों के द्वारा गोपियों का दर्शन ही नहीं—चुम्बन भी कर रहे हैं। माधुर्यमय का भाव यह है कि नेत्रों के साथ अधर-पल्लवों

का तादात्म्य हो गया है, अर्थात् गोपियों के दर्शन में विशेषकर श्रीराधा के मुखचन्द्र के अवलोकन में श्रीकृष्ण की इतनी प्रेममयी आकुलतापूर्ण पिपासा उत्पन्न हुई है कि सर्वेन्द्रियों के धर्म एक नेत्र में ही आ गये हैं—

"न जाने सम्मुखायते प्रियाणि वदति प्रिये।
सर्वाण्यङ्गानि मे यान्ति श्रोत्रतां किमु नेत्रताम् ॥"

—पद्यावली

प्रिय की मधुमती वाणी के सुनते ही नेत्र और कर्णों की ये दशा हो जाती है—

ना जानौं पिय आय कै, जब बोलत प्रिय बात।
अङ्ग अङ्ग नैंना किधौं, कर्ण कर्ण ह्वै जात ॥

गोपियों के पक्ष में इसका अर्थ यह है कि ब्रज-बालाएँ अपने मधुर मुखचन्द्र के द्वारा श्रीकृष्ण के नेत्र-कमलों को चुम्बन करके उनको हर्षाकुल कर रही हैं, जिससे कि वे अर्द्ध-मुकुलित हो गये हैं।

अन्तरङ्ग लीला का भाव यह है कि—पुनर्केलि की लालसा से श्रीराधा श्यामसुन्दर के वाम-पार्श्व में विराजमान हैं, श्रीकृष्ण अपने अर्द्ध-मुकुलित नेत्रों से उनके मुखचन्द्र का रस पान कर रहे हैं। लीला-शुक इस अकथनीय भाव का अवलोकन करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि यह दिव्यातिदिव्य भाव मेरे हृदय में उदय हो।

मूल श्लोक पृथ्वी छन्दः

कलक्वणित-कङ्कणं करनिरुद्ध-पीताम्बरं
क्लम-प्रसृत-कुन्तलं गलित-बर्ह-भूषं विभोः।
पुनः प्रकृति चापलं प्रणयिनी भुजा यन्त्रितं
मम स्फुरतु मानसे-मदनकेलि शय्योत्थितम् ॥२०॥

पद्यार्थ— **कवलय-युगल की रुनुक झुनुक, पीताम्बर का कर से निरोध।**
श्रम से केशों का छितराना, केकी किरीट का मौन क्रोध ॥
फिर सहसा सहज चपलता का, प्रणयिनी भुजा में बँध जाना।
यों काम-केलि-पर्यङ्क-त्याग! तू मेरे मन में बस जाना ॥

भावार्थ—जिसमें एक ओर किशोरी के कल युगल-वलय की मादक झंकार हो रही हो और दूसरी ओर एक लावण्यमयी छाया अपने पीताम्बर को कर-कञ्ज से

साध रही हो—एक के कलित कुञ्चित केशों का ललित प्रसाधन छितरा गया हो और दूसरे का मयूर-पिच्छ निर्मित सुकुमार आपीड मर्दित हो गया हो। तत्पश्चात् अचानक दोनों चपल-बिम्ब एक-दूसरे के प्रणयी-बाहुपाश में बँधकर स्थिर हो गया हो—ऐसी प्रभात काल में श्रीयुगल की काम-केलि-पर्यङ्क त्याग की छटा मेरे मन में सदा-सदा के लिए बस जाए।

रसिकाटीका—पूर्व श्लोक में जो लीला-विलासोत्सव नयन-कमलों के द्वारा प्रारम्भ हुआ था—उसकी परिसमाप्ति का वर्णन इस श्लोक में है। श्रीकृष्ण मदन-केलि-शय्या से गात्रोत्थान कर रहे हैं, इस लीला-दर्शन की स्फूर्ति होने पर विल्वमङ्गल शय्या-उत्थान-माधुरी से मुग्ध होकर प्रार्थना करते हैं कि मेरे हृदय में श्रीकृष्ण की यह उत्थान-माधुरी प्रकाशित होती रहे।

वह उत्थान कैसा है कि—जहाँ कंकण मधुर-मधुर ध्वनि से बधाई दे रहे हैं; परन्तु वह बधाई स्पष्ट समझ में नहीं आती—क्योंकि ध्वनि 'कल' है। शय्योत्थित होकर एक नवगोपकिशोरी—मूर्त्ति अपने वस्त्राभूषण-केशपाशादि को यथास्थान सम्हाल रही है, जिससे कल-कंकणध्वनि हो रही है। दूसरी ओर एक नवगोप किशोरमूर्त्ति अपने कर-कमलों से खिसकते हुए पीताम्बर को निरुद्ध कर रही है। एक तो केशपाश श्रम से शिथिल और आलुलायित होकर मुखचन्द्र की शोभा को बढ़ा रहे हैं—दूसरे शिखण्डी-शिखण्ड का मद भी शिथिल हो गया है, जो मोर-चन्द्रिका मद से चूर हो कर शीश पर चढ़ी गगन में लहराया करती थी--वह अब अपनी पराजय की कथा सुनने के लिए झुक कर रह गई है।

एक और आश्चर्य का दर्शन लीला शुक को हो रहा है—वह यह है कि चपला तो शान्त है, परन्तु जलधर चपल है। रस के राज्य में, प्रीति की नगरी में, सर्व धर्म - कर्म - वस्तुमात्र विपरीत हो जाती है। देखिये, एक विपरीत छबि—

सुनहु रसिक जन इह वृन्दावन अद्भुत जोट में देखी।
जैसी कछु बनी तैसी मोपै कहि न परै निकुञ्जन महँ लेखी॥
इन्द्र नीलमणिमयतरु मानों नव जाम्बुनद लता विशेखी।
असित सुधाकर गौरचन्द्रिका भूतल थकित भये अति मेखी॥
मानहु कनक कसौटी ऊपर स्वर्णकार वृत रेखी।
मानहु तरुण तमाल नव मल्लिका नवजलधर सौदामिनी पेखी॥

को इह रूप कहाँ ते प्रकटयौ गिरिधर नागर सहज सुवेखी।
सुनि 'कृष्णदास' श्याम अरु श्यामा मम रहु इह उर अन्तर लेखी॥

जलधर चपल है—एक आश्चर्य। जलधर नित्य तृषित है—दूसरा आश्चर्य। तीसरा आश्चर्य यह है कि चपला न तो स्वयं बन्धन में रहती है, न किसी को बंधन में बांधती है, परन्तु यह चपला विलक्षण है, स्वयं बँधी है, और दूसरे को भी बाँध लिया है, यह नित्य महास्वाधीन है और महा पराधीन भी है, अतएव—"प्रणयिनी भुजायन्त्रितं"। एक की भुजाओं ने दूसरे को बाँध लिया है। इस विचित्र मनमोहन युगल-जोड़ी के दर्शन कर लीला शुक कहने लगे—"अहा! यह शय्या से उत्थित, रासेश्वरी-रस-सिंचित श्रीराधा भुजा-यंत्रित, कोटि-प्राण-निर्मञ्छित युगल-माधुरी मेरे मन-मन्दिर में अतन्द्रित रूप से विलास करती रहे।

यह मिलन पर पुनर्मिलन की निशान्त लीला की स्फूर्ति है। प्रभात काल समीप है। नन्दभवन के द्वार पर गोपकुमारों का दल एकत्रित होने लगा है। प्रथम मङ्गल-दर्शन अपने कन्हैया का जो करना है। फिर उनके साथ कलेऊ करना है, फिर वन में गौचारण को जाना है। इसी से बाहर द्वार पर उनका कोलाहल हो रहा है। उधर गृह-गृह में गोपियाँ वास्तु-पूजन करके दधि-मन्थन कर रही हैं और "गोविन्द दामोदर माधवेति" कहकर कीर्तन कर रही हैं।

अतएव सखी-सहचरी वीणा बजा-बजाकर मधुर-मधुर स्वर से गाती हुई जा रही हैं—

रजनी बीती बटोहु चलत हैं, अजहुँ कित अलसाने।
उठि जैवे कों दुहुँ डरपाने, अटकाने पट ताने॥

कह-कहकर परिहास करती हैं। तब व्रजराजकुंवर अनिच्छा से शय्या त्यागकर प्रिया-परिरम्भन करके निकुञ्ज से बाहर आकर नन्दभवन को गमन करते हैं।

अन्तरङ्ग-लीला-परक अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। श्रीराधा के सहित जो लीला-विलास पूर्व श्लोकों में वर्णित है, उसका इसमें पर्यवसान है। हाँ, यह युगल-विहार निशान्त न होकर महारासान्तर्गत है। श्रीराधा-कृष्ण रास से अन्तर्हित होकर एकान्त-विहार कर रहे हैं। गोपियाँ उनका अन्वेषण कर रही हैं। श्रीकृष्ण को अब उनके समीप पहुंचना आवश्यक हो गया है। अतएव वे शय्या त्याग कर गोपी-मण्डल में पहुँचने के लिए उद्यत होते हैं। श्रीराधा के द्वारा पीताम्बर को निरुद्ध कर लेने पर, दोनों में

आकर्षण-विकर्षण के कारण कंकणों की कल-ध्वनि हो रही है। दोनों में चांचल्य-चपलता प्रकाशित होती है, अन्त में श्रीकृष्ण हार कर पीताम्बर को त्याग पीताम्बरधारिणी के कण्ठ को स्वभुजाओं से अन्वेष्ठित कर लेते हैं और श्रीराधा भी पीताम्बर को त्याग कर 'नीलाम्बर धारी' के कण्ठ को अपने बाहु-मृणाल से सुयंत्रित कर लेती हैं। लीलाशुक इस दृश्य का दर्शन कर आनन्दोल्लासपूर्वक बधाई देते हुए याचना करते हैं कि—

"मम स्फुरतु मानसे मदनकेलिशय्योत्थितम्।"

विल्वमङ्गल कृत निम्न श्लोक भी इसी भाव का द्योतक है—

भ्रमद्भ्रमरकुन्तलारचितलोललीलालकं,
कलीकलितकिङ्किणी ललितमेखलाबन्धनम्।
कपोल फलक स्फुरत्कनककुण्डलं तन्महो,
मम स्फुरतु मानसे मदनकेलि शय्योत्थितम्॥

मूल श्लोक शार्दूलविक्रीडितम् छन्दः

स्तोक-स्तोक-निरुध्यमान मृदुल प्रस्यन्दि मन्दस्मितं
प्रेमोद्भेद-निरर्गल-प्रसृमर-प्रव्यक्त-रोमोद्गमम्।
श्रोतुं श्रोत्र-मनोहरं व्रजवधू-लीला-मिथो-जल्पितं
मिथ्या स्वापमुपास्महे भगवतः क्रीडा निमीलद्दृशः॥२१॥

पद्यार्थ— **अहा! हो उठी व्यक्त, रुद्ध भी मधुर हँसी धीरे-धीरे।**
प्रेमांकुर के मुक्त प्रसर से, रोम राजि यह लहरी रे॥
लीलाधर का कपट-शयन, यह नयन-निमीलन नाटक था।
सुनने हेतु गोपियों की निज, लीलामयी मनोज्ञ कथा॥
रोम-रोम में वंशीधर का, यही सुधारस व्यापक हो।
मोहन-मिथ्या-शयन-केलि का, मेरा चित्त उपासक हो॥२१॥

भावार्थ—श्रीकृष्ण व्रज-गोपियों के क्रीडायुक्त और मनोमुग्धकारी वार्तालाप को सुनने के लिए, जागते हुए भी मनोरञ्जन के उद्देश्य से आँख बन्द करके केवल सोने का बहाना कर रहे हैं। (इस समय गोपियों के रसासिक्त वार्तालाप को सुनने से उदय होने वाली) मुस्कराहट को वे रोकने का प्रयास तो करते हैं, फिर भी उनकी वह सुकुमार और मन्द मुस्कराहट थोड़ी-थोड़ी प्रकट हो ही रही है तथा प्रेमांकुर के निर्बाध प्रस्फुटित होने के कारण उन्हें रोमाञ्च भी हो रहा है। भक्तवर श्रीविल्वमंगल

कहते हैं कि मैं भगवान् श्रीकृष्ण की इस कपट-निद्रा की उपासना करता हूं। क्योंकि यह प्रेम-माधुरी को व्यञ्जित करने वाली एक अद्वितीय लीला है ॥२१॥

रसिकाटीका—उक्त श्लोक की व्याख्या एक प्रेमी कवि की रचना में इस प्रकार व्यक्त हुई है—

व्रज वधू कुञ्ज द्वारे हौरे वतरात मधु,
श्याम मूँदि नैंन पौढ़े कौतुक सुहायो है।
उठत उफान हियो तन मन सब भीजि गयो,
रोकत बहु जतन करि अंगन उलझायो है।
आई नैंन गण्डन में मन्द मृदु झलक हँसी,
पुलकित रोम हर्ष आनन में छायो है।
निहारि व्रजनारि जु वारि 'प्रेम' कहति हैं,
कृष्ण सों हू कृष्ण-कपट हमें अति भायो है॥

पूर्व श्लोक में लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल ने श्रीवृन्दावन-नवनिकुञ्ज मन्दिर में महाभावविशिष्ट रमण-परायण प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण की लीला-स्फूर्ति की प्रार्थना की है। अब इस श्लोक में व्रजाङ्गनाओं की परस्पर में जो वार्तालाप माधुरी है, उसके श्रवण के इच्छुक श्रीकृष्ण की कपटनिद्रा रूप लीला का वर्णन करते हैं।

लीलाशुक कहते हैं कि—हम सब संगी-सहचर मिलकर भगवान् की कपटनिद्रा की उपासना करते हैं। देखो तो सही! इन्होंने कौतुक करने के लिए कैसे नेत्र बन्द कर रक्खे हैं? अहा! यह लीला को बढ़ाने वाली, रस को पुष्ट करने वाली, अतिशय सुख देने बाली श्रीकृष्ण की कपटनिद्रा कैसा आनन्द प्रदान कर रही है! आओ—हम इसका परस्पर में कीर्तन करके परम सुख को प्राप्त होंगे।

लीलाशुक ने "भगवान् की उपासना करते हैं" यह न कह कर "भगवान् की कपटनिद्रा की उपासना करते हैं" यह कहा है। इसके द्वारा भगवान् से अधिक भगवान् की लीला का उत्कर्ष प्रकट किया है। लीला के द्वारा ही भगवान् के नाम, रूप तथा गुण जगत् में प्राप्त होते हैं और इनसे ही जीव भगवद्भजन में प्रवृत्त होता है। अवतार का कारण भी शुकदेवजी ने यही बताया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

—भागवत १०।३३।३७

मनुष्य पर ही नहीं, प्राणीमात्र पर अनुग्रह करने के लिये भगवान् अनादि काल से नर-रूप में अवतरित होकर मनुष्य के समान नाना प्रकार की क्रीडाएँ करते हैं, जिनको पढ़-सुनकर जीव उनके भजन में तत्पर होता है।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीता कृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥

—भागवत ५।१९।५

अर्थात्—"भगवान् का यह मनुष्यावतार केवल राक्षसों के संहार के लिए नहीं, अपितु मनुष्य के शिक्षण के लिए ही है, राक्षसों का नाश तो वे संकल्पमात्र से ही कर सकते हैं। यदि इन अवतारों की चित्ताकर्षिणी लीलाएँ जीवों को शिक्षा देने के लिए नहीं होतीं—तो आत्माराम-पूर्ण-परमानन्द स्वरूप भगवान् की आत्मा में सीता-हरणादि का शोक भला कैसे सम्भव था?

जैसे सीताजी के लिए मनुष्य की भाँति विलाप करके मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने जीवों के हृदय को करुणारस से तन्मय बना कर उनको भगवद्भक्ति के मार्ग पर आरूढ़ कर दिया, वैसे ही लीला-पुरुषोत्तम व्रजविहारी आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने भी मधुररस के द्वारा जीव को तन्मय बनाकर उनके लिये प्रेम-लोक का द्वार उन्मुक्त कर दिया है।

इसलिए भक्तों का जीवन भगवान् की यह माधुरी लीला ही है। भक्तों की आसक्ति भगवान् से भी अधिक उनके लीला-चरित में है। लीला द्वारा ही भगवान् के स्वरूप का चमत्कारित्व स्फुरित होता है, जिससे भूले-भटके अन्धों की आँखें भी खुल जाती हैं और वह भगवच्चरणों का दास बन जाता है। जीव के हृदय में श्रद्धा, रति और भक्ति का उदय सत्संग से होता है—

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदो भवन्तिहृत्कर्ण रसायना कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग वर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

—भागवत ३।२५।२४

अर्थात् भगवान् के पराक्रम की प्रकाशिका, हृदय को रस से प्लावित करने वाली, कानों को श्रवण-सुख से भरने वाली प्रभु की लीला-कथा के सेवन से मुक्तिमार्गियों के हृदय में भी श्रद्धा, रति और भक्ति शीघ्र प्रकट हो जाती है।

इसी कारण लीलाशुक भी भगवान् की ललित-लीलाओं का आनन्द ले रहे हैं, वे यहाँ भगवान् की मधुर मिथ्या-निद्रा के दर्शन में निमग्न हैं। आपने एक बार श्रीकृष्ण को प्रथम श्लोक में भगवान् कहा और दूसरी बार यहाँ इस इक्कीसवें श्लोक में कहा है, केवल दो ही बार भगवान् कहा है और दोनों ही बार उनका परिचय भी अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर परिपूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म के रूप में न देकर मधुर शब्दों में दिया है और भगवान् शब्द की रसमयी व्याख्या की है।

जैसे इस ग्रन्थ में 'विभु' 'प्रभु' आदि भगवत्पद वाची पदों का अर्थ सर्वत्र ही माधुर्यपरक है, वैसे ही 'भगवान्' शब्द का अर्थ भी यहां षडैश्वर्य-पूर्ण भगवान् के ऊपर प्रतिष्ठित सौभाग्यशाली एक और सुभगवान् है।

चक्रवर्ती सम्राट् जब सिंहासन से उतरकर राज्य में भ्रमण करता है और प्रजा के दुःख-सुख की खबर लेता है, तब वह मधुर बन जाता है, जब राज-ताज व राज-वेष उतार कर प्रजा के संग प्रजा बनकर खेलने लग जाता है तब वह मधुरतर बन जाता है, और जब वह उनके गले में हाथ डालकर उनके घर की ओर जाता है तो वह मधुरतम बन जाता है।

भगवान् भी निराकार से साकार रूप में आने पर मधुर हैं तथा पूर्ण भगवान् हैं। साकार से लीला-अवतार धारण करने पर वे मधुरतर बन जाते हैं, उस समय वे पूर्णतर भगवान् हैं। अवतार में भी महाराजाधिराज की तुलना में गोपाल सखा मधुरतम हैं, और वे उसी समय पूर्णतम भगवान् भी हैं तथा गोपीजनवल्लभ से राधा-क्रीडा-मृग अतिमधुर तमोत्तम है, यहाँ परिपूर्णतमोत्तम भगवान् ही माधुर्य का असमोर्द्ध प्रकाश हैं। यथा—

कृष्णस्य पूर्णतमा व्यक्तिर्भूता गोकुलान्तरे।
पूर्णता पूर्णतरता मथुरा द्वारिकादिषु॥
प्रकाशिताखिलगुणाः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः।
असर्वज्ञकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः॥

—भक्ति रसामृत सिन्धु

गोकुल के पूर्णतम श्रीकृष्णचन्द्र की भी सम्पूर्ण कलाएँ राधा-पूर्णिमा तिथि के संयोग में ही प्रकाशित होती हैं। यह चन्द्रमा की महिमा नहीं, तिथि का ही प्रताप है। इसी राका तिथि में ही चन्द्रमा रूप, रस, माधुरी से परिपूर्ण होता है। यथा—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्द-संगाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति ।
किञ्च श्याम प्रवाह वारि लहरो वीजं न ये तां बिन्दु
स्तेप्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो विन्दुं परं प्राप्नुयुः ।।

—राधासुधानिधि

राधा दास्य धरत मन नाहीं । कृष्ण मिलन वहु जतन कराहीं ।।
मावस रैन अैन अंधियारी । लख्यो चहत सो इन्दु उज्यारी ।।
मोहन रति प्रवाह की लहरें । ताको वीज न राधा सुमिरें ।।
पावहिं यद्यपि सुधानिधि मोहन । पै विन राधा मिलहिं न एक कन ।।

विल्वमंगल विचार करते हैं कि भगवान् की इस कपट-निद्रा का प्रयोजन क्या है ? व्रज बधुओं के कर्ण-मनोहर रहस्यमय कथोपकथन को श्रवण करने की कौतुक लालसा । व्रजवधू अगोचर में श्रीकृष्ण की किसी पूर्व लीला का अनुकरण करती हैं अथवा कोई नवीन लीला की योजना बनाती हैं तो कौतूहल-वश भगवान अपने नेत्र कमलों को मुकुलित करके शयन का अनुकरण करने लगते हैं ।

क्यों न करें ? ये हैं भी तो—'व्रजवधू' । व्रज के गोपों की वधू नहीं—श्रीकृष्ण को स्वप्रेम पाश में बाँधने वाली वधुयें–"**बध्नाति कृष्णं स्व-प्रेम-रसनया**" । भगवान को भी रमाने वाली, ऋणी बनाने वाली व्रज वधूयें हैं ।

ये व्रजवधूयें श्रीकृष्ण के प्रेम पाश में बँधी हुई हैं "**बध्यन्ते श्रीकृष्ण-प्रेमरसनया**"—इसी प्रेमपाश में बँधकर वे–"दुर्जरगेहश्रृंखला"–को छिन्न-भिन्न कर दुस्त्यज आर्य पथ का परित्याग कर "यथा व्रजगोपिकानाम्" (ना०सूत्र) के प्रमाण स्वरूप में प्रेमाचार्य की आद्या पदवी को प्राप्त हुई हैं ।

परन्तु जब भगवान के नेत्र बन्द हैं तो यह ज्ञात कैसे हुआ कि वे झूँठी नींद ले रहे हैं--'सो नहीं रहे ?'

इसका ज्ञान तो मन्दस्मित तथा रोमावली के दर्शन करके हो रहा है । नेत्र बन्द तो हैं, परन्तु हँस रहे हैं और नेत्रों के साथ कपोल भी हँस रहे हैं । इसका नाम है स्मित । '**स्मितं त्वलक्ष्य दशनं नेत्रगण्डविकासकृत्**—भक्ति-रसामृतसिंधु' यह स्मित मन्द होने पर भी लघु होने पर भी, विशेष प्रयत्न से दबाये जाने पर भी, कोमल होने पर भी प्रकाशित तो हो ही रही है, साथ ही भगवान के हृदय में अत्यन्त आनन्द का ऐसा वेग उमड़ रहा है कि वे अपनी सामर्थ्य से भी उसका निषेध नहीं कर पा रहे हैं, और वह निरंकुश

भाव से प्रवाहित हो रहा है, जिसके कारण श्रीअंग में रोमाञ्च का स्पष्ट प्रकाश हो रहा है। इस बनावटी कपट-निद्रा-लीला को देखकर लीला शुक कहने लगे—'**स्तोकस्तोकनिरुध्यमानमृदुलप्रस्यन्दिमन्दस्मितम्**'' मन्दस्मित तथा रोमाञ्च के दर्शन करने से विल्वमंगल को यह तो निश्चय हो गया कि ये निद्रित नहीं हैं। परन्तु इस स्मित और रोमाञ्च का कारण क्या है ?''

श्रोत्र तथा मन को सुख देनेवाली ब्रजवधू वर्ग की परस्पर रहस्यमयी प्रेमगोष्ठी ही इसका कारण है। उनके वाक्य—सुन्दर शब्द योजना, व्यञ्जना पूर्ण भाव गाम्भीर्य और माधुर्यरस से ओत प्रोत हैं। अतएव श्रोत्र तथा मन दोनों का हरण करने वाले हैं। उनको श्रवण कर-करके श्रीकृष्ण हास्य तथा आनन्द के वेग को धारण नहीं कर पा रहे,वे बाहर तन-वदन पर न्यूनाधिक प्रकाशित होकर उनकी कपट निद्रा को प्रमाणित कर ही देते हैं।

भक्तिरसामृत सिन्धु में छः प्रकार की हँसी का वर्णन है। १—स्मित-जिसमें दशनावलि दिखाई न पड़े केवल नेत्र और गण्ड कपोलों पर हँसी की झलक हो, २—हसित-जिसमें दशनावली भी दिखाई देने लगे, ३—विहसित-जिसमें दशनावली के सहित शब्द भी प्रकट हों, ४—अवहसित-जिसमें पूर्व लक्षणों के अतिरिक्त नासिका फूल उठे और नेत्र संकुचित हो जांय, ५—अपहसित-जिसमें हँसते हँसते आँखों से आँसू बहने लगें और अंश भाग में कल्प होने लगे, ६—अति हसित-सारी देह हँसी के कारण हिलने लगे।

दो लीलाओं के द्वारा श्यामसुन्दर की इस कपट निद्रा का रसास्वादन कीजिये :—

प्रथम लीला में—गोपियों का वंशी के प्रति जितना प्रेम है, उतना ही बैर भी है। वे इसका अपहरण करने के लिये सदा अवसर ढूँढती रहती हैं। श्यामसुन्दर अवसर भी दे दिया करते हैं। एक दिन श्रीराधा सखियों के साथ वृन्दावन में विहार कर रहीं थीं। श्रीकृष्ण भी संकेत पाकर यमुना तट पर एक निकुञ्ज में जा पहुँचे। श्रीराधा तथा सखियों का मृदु कोलाहल श्रवण कर आप उस निकुञ्ज में लेट गये और नेत्र मूँद लिये-मानों सो रहे हों। एक सखी फूल चुनती हुई उस कुञ्ज में आ निकली और इनके दर्शन करते ही उलटे पाँव लौट कर श्रीराधा जी को बुला लाई और निकुञ्ज के लता-जाल में लेटे हुए श्यामसुन्दर के दर्शन करा दिये। सखी ने कहा—श्रीराधे ! आज अच्छा मौका है, श्यामसुन्दर की वंशी चुरानी चाहिये :—

चोरो सखी वंशी आज दाव भलो पायो है।

यह उपकार प्यारी सदा हम मानि हैं।
बहुत अधरामृत श्याम मुरली विच च्वायो है।।

श्रीराधा ने कहा—सखियो ! **"कथं ह्रियतेऽस्य वंशिका वंशिका सुरभेर्भुजाभोगतः**—आनन्द वृन्दावनचम्पू। श्यामसुन्दर के कर कमल तो सखी नागफणि के तुल्य हैं, उनमें से वंशी छीन लेने का साहस कौन कर सकता है ?" सखियों के अतिशय आग्रह करने पर वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा जी वंशी चुराने को प्रस्तुत हो गईं और धीरे धीरे निकुञ्ज की ओर चलीं, नूपुर न बजने पावे अतः

नीचैर्न्यासादथ चरणयोर्नूपुरे मूकयन्ती,
धृत्वा धृत्वा कनकवलयान्युत्क्षिपन्ती भुजान्ते।
मुद्रामक्ष्णोश्चकितचकितं शश्वदालोकयन्ती,
स्मित्वा स्मित्वा हरति मुरलीमङ्कतो माधवस्य ।।

—पद्यावली

'नूपुर मुखमूँदि श्यामा अछन-अछन पग धरत'—श्रीराधा ने नूपुरों को बाँध दिया है, सोने की चूड़ियों को एक एक कर उतार दिया है,फिर चञ्चल चकित नेत्रों से बार-बार श्यामसुन्दर को देखती जाती हैं, इस प्रकार धीरे धीरे समीप आकर मन्द मन्द हँसती हुई राधाजी वंशी को निकाल लेती हैं। माधव की कपट निद्रा सफल हुई और एक नई लीला का अवतरण होगया। श्यामसुन्दर की वंशी चोरी चली गई, सखियों के साथ सखाओं के मंडल में भी बात फैल गई, रसिक शेखर श्रीकृष्ण को वंशी की याचना के निमित्त श्रीराधा से मिलने का एक और मौका मिल गया,अब वंशी की प्राप्ति के लिये अनुनय-विनय आदि के रूप में मधुर-रसधारा प्रवाहित हो चली।

दूसरी लीला में अरुणोदय होते ही मोहन-मुख-चन्द्र की चकोरी व्रजाङ्गनाओं की मंडली नंदभवन में पहुँच कर व्रजरानी से प्रार्थना करने लगती है कि—

अपनो री लाल जगाय यशोदा मोहन मंगलकारी।
सब व्रज कुल के प्राण जीवन धन या सुत की बलिहारी।।

उसी समय एक चतुर गोपी यशोदा के समीप आकर विनती करती है—'हे व्रजरानी ! आज तो मैं तुम्हारे लाला के मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन करके ही गोरस बेचने जाऊँगी ! कल मैं दर्शन करके गई थी तो और दिन से दूना लाभ हुआ और घर में गोधन भी बढ़ गया। आज भी दर्शन करके

जाऊँगी, श्यामसुन्दर को शीघ्र ही जगा दो, संग की सहेलियाँ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं।

गोरस के लाभ का तो एक बहाना था, बात तो कुछ और ही थी, गोपाल भीतर लेटे-लेटे सब सुन रहे थे, व्रज वधुओं की कर्णप्रिय-मनोहर कथा को सुन कर श्याम्सुन्दर के हृदय में गुद-गुदी उठ रही है,गोपी यशोदा जी से कह रही है–

हौं लाल को मुख देखन आई।
काल्ह मुख देखि गई दधि वेचन, जात ही गयो विकाई॥
दिन सों दूनों लाभ भयो घर, काजर बछिया जाई।
आई हों धाय थमाय संग की, मोहन देहु जगाई॥

यशोदाजी ने कहा—अरी गोपी ! अभी उसकी निद्रा पूरी नहीं हुई। मैं अभी नहीं जगाऊँगी, अपना काम बिगड़ता हुआ देख नटखट मोहन भीतर से ही बोल पड़े—माँ ! मेरी नींद पूरी हो गई है ! अरी गोपी ! यहाँ अन्दर आकर मेरा मुँह देख ले—

इतनी सुनत विहँसि उठि बैठे, नागरि निकट बुलाई।
"सूरदास" प्रभु चतुर ग्वालिनी, सैन संकेत बताई॥

नागर–नागरी में नैन-सैन से सभी बातें हो गईं। यह है मिथ्या-शयन की सफलता का रहस्य। इसीलिये लीलाशुक भी बोल उठे—'मिथ्यास्वापमुपास्महे भगवतः' हम भगवान के इस स्व-पर-सुखदायी मिथ्या-शयन की उपासना करते हैं।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में श्रीराधा विलास की समाप्ति पर सखियाँ निकुञ्ज द्वार पर आईं तो श्रीराधा भी कुञ्जान्तर से वहिर्गत होकर सखियों से मिलीं। उस समय श्रीराधा के साथ सखियों की मधुर उक्ति-प्रत्युक्ति को श्रवण करने की लालसा से ही श्रीकृष्ण शय्या से नहीं उठे। कुञ्ज में कपट-निद्रा के बहाने सखियों की वार्ता सुन रहे हैं।

श्रीराधा का सखियों के साथ मधुर रस का क्या आलाप हुआ—यह रसिकहृदयैक वेद्य है।

इस प्रकार से प्रथम श्लोक में मंगलाचरण द्वितीय और तृतीय श्लोक में वस्तु निर्देश तथा चतुर्थ से इक्कीसवें श्लोक तक अठारह श्लोकों में श्रीकृष्ण विरहजन्य तीव्र दर्शनोत्कण्ठा का वर्णन हुआ है। अब आगे के श्लोकमें अपनी अनन्यनिष्ठा का उल्लेख करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं—

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः

विचित्र-पत्रांकुरशालि बाला-
स्तनान्तरं याम वनान्तरं वा ।
अपास्य वृन्दावन-पाद-लास्य-
मुपास्यमन्यं न विलोकयाम ॥ २२ ॥

पद्यार्थ— **चाहे सघन लता पत्रों के भीषण वन में खो जाऊँ ।**
या युवती के चन्दन-चर्चित कुच कुम्भों पर इठलाऊँ ॥
किन्तु छोड़कर राधावर के पाद पद्म का विमल विलास ।
अन्य उपास्य न चित्त चढ़ेगा, हे व्रज-वधू-हृदय-उल्लास ॥

भावार्थ--हे प्रभो ! चाहे मैं किसी रमणी के (केसर-कस्तूरी-चन्दन आदि से चर्चित) पत्र पुष्पादि से युक्त स्तन युगल के बीच में (पहुंच कर योगी बन) जाऊँ, अथवा (परम योगी होकर किसी) लता पत्राकुरों से युक्त वन के बीच में पड़ा रहूं, किन्तु मैं राधा के आश्रय (वृन्दायाः राधायाः, वनम् आश्रयम्) श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की भाव भरी थिरकन को त्याग कर दूसरे किसी उपास्य देव को देखना भी नहीं चाहता ।

रसिकाटीका—विल्वमङ्गल श्रीवृन्दावनविहारी की मधुर लीलाओं का वर्णन करते हुए अपनी उपासना में अनन्य भावावेश से पूर्ण होकर कहने लगे—वृन्दावनविहारी श्रीराधाकृष्ण के अतिरिक्त मैं किसी की उपासना तो क्या, दर्शन तक भी नहीं करूँगा । मेरे तो वे ही एक मात्र उपास्य हैं, उनकी उपासना ही एक मात्र कर्त्तव्य है—यही इस श्लोक का सारार्थ है । इस श्लोक के बाह्यार्थ तथा अन्तरङ्ग अर्थ में तो अन्तर है ही, बाह्यार्थ भी मुख्य रूप से दो प्रकार का है ।

१—विल्वमङ्गल वृन्दावन को जारहे हैं । मधुर-रति का अंकुर उनके हृदय में प्रस्फुटित हो रहा है,बढ़ते-बढ़ते यह विल्व-लता कब वृन्दावन स्थित श्रीराधाकृष्ण के चरण प्रान्त के समीप पहुँचेगी अथवा मुझे उनकी विलास-माधुरी के दर्शन कब होंगे—ऐसी आकांक्षा कर रहे हैं । आकांक्षा के साथ ही साथ उनकी स्फूर्त्ति भी हो रही है । इतनी कृपा का अनुभव करते हुए भी प्रेम-भक्ति की उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो कर भी—आपकी दृष्टि जब अपनी ओर जाती है तो उन्हें अपनी पहले की घोर विषयासक्त अवस्था का

स्मरण हो आता है। वे अपने को महा दीन-हीन अयोग्य और कुपात्र समझ कर मानों कह रहे हैं, कि "हाय ! कहाँ यह केश-शेष-अगम्य राधाकृष्ण का विलास ? और कहाँ मैं विषयासक्त जीव ? इधर मेरा मन प्रबल,उधर माया प्रबल—क्या पता किस क्षण गर्त्त में जा गिरे ? इस विचार से आप अतिदीन और आर्त्त होकर प्रार्थना करते हैं कि"**वालास्तनान्तरं याम,वनान्तरं वा**"हे प्रभु चाहे मुझे पुनः रमणी के वक्षस्थल को स्पर्श करना पडे,अर्थात् विषयी बनना पड़े। अथवा त्यागी-महाविरक्त होकर किसी वन में जाना पड़े, यह आपकी इच्छा पर निर्भर है, आपही उर प्रेरक हैं, परन्तु मेरी इच्छा तो एक मात्र यही है और यही रहेगी कि—"**अपास्य वृन्दावनपादलास्यमुपास्यमन्यं न विलोकयाम**" वृन्दावन में जिनके चरण नृत्य कर रहे हैं, उनके अतिरिक्त मैं किसी को देखना भी नहीं चाहता। मेरी यह इच्छा पूर्ण हो सके, यह आप ही के हाथ में है, मैं तो यही आशा लिये बैठा हूँ, आशा को त्याग कर दूसरे के द्वार पर नहीं जा सकता। यही मेरी टेक है।

२—विल्वमङ्गल श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये व्याकुल होकर मार्ग में चलते-चलते कभी-कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। उनकी इस दशा को देख कर संगी-साथी समझाते हैं कि "हे स्वामिन् ! श्रीकृष्ण तो सर्व व्यापक होने से सर्वत्र ही हैं। अतएव सर्वत्र ही उनके दर्शन करने का आप अभ्यास करें। आपको तो श्रीविट्ठलनाथ, श्रीरङ्गनाथ आदि भगवत् स्वरूपों के दर्शन प्राप्त तो हुए ही हैं। आप उन्हीं का स्मरण करें, ध्यान करें, आप की यह शोकाकुल दशा हमसे देखी नहीं जाती। आप हमारे अनुरोध के प्रति ध्यान दें।

विल्वमङ्गल साथियों को समझाते हैं कि यदि मुझे पुनः महाविषय गर्त्त में पतित होना पड़े—तो स्वीकार है अथवा वृन्दावन के अयोग्य होने के कारण यदि मुझको प्रारब्ध-वश अन्य वन में भी जाना पड़े तो भी मुझे स्वीकार है। परन्तु तुम लोगों ने जो यह कहा कि श्रीकृष्ण के दर्शन सर्वत्र करने का अभ्यास करो अथवा श्रीविट्ठल, श्रीरङ्ग आदि का ध्यान धरो, हे भ्राताओ ! यह तो मुझ से हो ही नहीं सकता। इसमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं तो वृन्दावन-लास्यकारी गौर-श्याम चरणारविन्दों में समर्पित हो चुका हूँ। वे ही मेरे उपास्य हैं, प्राणों के नाथ हैं, हृदय के देवता एवं जीवन के आधार हैं। उनके अतिरिक्त मैं किसी की ओर दृष्टि उठाने योग्य रह ही नहीं गया हूँ।

श्रीभगवतरसिक जी भी यही कह रहे हैं—

नर्क, स्वर्ग, अपवर्ग, आस नहिं त्रास है।
जहँ राखो तहँ रहौं जानि सुखरास है॥
देव दया करि दान न भूलौं केलि की।
भगवतरसिक तमाल विलोकौं बेलि की॥
दुःख सुख भुगते देह नहीं कछु शंक है।
निन्दा-स्तुति करौ किन राव क्या रङ्क है॥
परमारथ स्वारथ बनौ कै ना बनौ।
अंजन ह्वै मम नैंन 'रसिकभगवत' सनौ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की भी तो यही विनती है—

कुटिल कर्म लै जाँय मोहिं जहँ-जहँ अपनी बरिआई।
तहँ-तहँ जिन मोहि छोह छाँड़िये, कमठ अण्ड की नाई॥"

—विनयपत्रिका

श्रीराधारससुधानिधिकार की भी यही टेक है—

यत्र-यत्र ममजन्म कर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथवा-
राधिकारतिनिकुञ्ज-मण्डली तत्र-तत्र हृदिमे विराजताम्॥

प्रारब्ध-कर्मानुसार मेरा जन्म स्वर्ग में—नरक में या कहीं भी क्यों न होवे, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। यह सब सुख-दुःख मैं सहर्ष भोग लूँगा। परन्तु श्रीराधा रति-रत-निकुञ्जमंडली मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे, बस—यही मेरी ऐकान्तिक प्रार्थना है। श्रीवृन्दावन-महिमामृतकार श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अस्तु मे नरक कोटिः, सिध्यतु नेष्टं, न चेश्वरो दयिताम्।
श्रीराधाचरणाम्बुजमधुरिम लोभस्तु नो भवेच्छिथिलः॥

"भले ही मुझ को कोटि-कोटि नरकों में जाना पड़े, भले ही मेरा अभीष्ट—मेरी आशा-अभिलाषायें सिद्ध न होवें, भले ही मैं धर्म-कर्म, भजन-पूजन करके भगवान् को प्रसन्न न कर सकूँ—यह जो कुछ भी प्रारब्धानुसार मेरे सम्मुख आयेंगे, उन सबको मैं सहर्ष भोग लूँगा, किन्तु श्रीवृन्दावन विहारी श्रीराधा-चरणारविन्दों में जो कोई एक महामधुररस है—उसके प्रति मेरे मन मधुकर का लोभ कदापि शिथिल न होने पावे, अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहे। वास्तव में तो प्रवृत्ति-निवृत्ति बाह्य स्वरूप हैं,

भगवत् प्राप्ति के लिये इनको त्यागना ही पड़ेगा। मुख्य तो हृदय की वासना है। वासना पवित्र होनी चाहिये, जिसमें जिसकी वासना है अन्तःकरण उसी में रमता है—

आसा जाकी जहँ बसी तहँ ताही को वासा।
गेही होय विरक्त कै, कै स्वामी कै दासा॥
कै स्वामी कै दास, महातम सब कहिवे को।
'भगवतरसिक' अनन्य वचन युगयुग गहिवे को॥
तजै निवृति प्रवृति, रहै नित तिन के पासा।
नित्य-विहार अखंड मिलन की जिनको आसा॥

विल्वमङ्गल के हृदय में दर्शन की वासना-लालसा जाग्रत हो उठी है, वे श्रीवृन्दाबन बिहारी की मधुर उपासना के अतिरिक्त इधर-उधर दृष्टि भी नहीं डालना चाहते :—

रहो काऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राननाथ श्री श्यामा, शपथ करौं तृन छिये॥
जे अवतार-कदम्ब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा, वन विहार रस पिये॥
खोये रतन फिरत जे घर-घर, कौन काज अस जिये॥
'हित हरिवंश' अनत सचु नाहिं, बिन या रजहिं लिये॥

'वृन्दावनपादलास्यम्'—के दो अर्थ हैं एक श्रीकृष्ण परक है, दूसरा राधा परक है।

१—श्रीकृष्णपरक—वृन्दावने पादयोर्लास्यं लसनं शोभा विशेषौ यस्य तम्।
यद्वा रास विलासिनानागतिविन्यास रूपं नृत्यं यस्य तम्॥
—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी

२—श्रीराधापरक—वृन्दावनपं कृष्णमादत्ते वशी करोति-तद्वृन्दावनपादम्।
दायादवत्। तादृशं लास्यं यस्य तं वृन्दावनेश्वरी-रूपम्॥
—श्रीकृष्णदास कविराज

श्रीवृन्दावन के रसिक महानुभावों का तो यह सिद्धान्त है कि श्रीराधा-पद ही लास्य-नृत्य कला के मूल हैं, श्रीकृष्ण को भी नृत्य की शिक्षा प्रदान कर श्रीराधा ने ही श्रीकृष्ण को सकल गुण-कला-निधान बना दिया है।

लाल को नचवन सिखवत प्यारी।
जैसोई सुभग वन्यो श्रीवृन्दावन तैसो शरद उज्यारी॥

मान गुमान लकुट लिये ठाड़ी, डरपत कुञ्जविहारी ।
थेई थेई करत लाल मन ऊँचयो, उरप तिरप गति न्यारी ।।
देख देख ब्रह्मादिक नारद अचरज सोच विचारी ।
'व्यास' स्वामिनी की छवि निरखत, रीझ देत कर तारी ।।

रासलीला में नृत्य करते हुए दोनों युगल सरकार परस्पर एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं :—

रास में सुघरता प्रकटत दोउन खरी ।
लाल कही 'हौं निपुण' प्रिया कही, 'हौं निपुण,
विकट गति लेत हैं, लगी आनन्द झरी ।।
तब श्री राधा ने—ठुमकि पग राखि, मुख भाखि ताता थेइ ,
अहा संगीत की रीति नागरि धरी ।
उस समय मानो—रूप घुरवा (बादल) झुक्यो उघरि ज्यों बरसि के,
देखरी देख यह होड़ इत उत परी ।।
तब तो श्रीराधा ने—तड़ित ज्यों कौंधी चकचौंधी दै लाल कूं ,
झमकि गौर अंग ते गति नौतन धरी ।
वृन्दावन हित रूप कहत सब सजनी,
'समझि,लेहु लाल प्रिया जो गति विस्तरी'

परन्तु गति को समझ कैसे लेते "गति नौतन धरी" यह गति तो श्रीकृष्ण के लिये भी नवीन थी । अतएव श्रीराधा ही श्रीवृन्दावनपादलास्य-कारी हैं । तात्पर्य यह है कि—श्रीराधाकृष्ण दोनों से ही वृन्दावन का विलास है । अतएव युगल स्वरूप को ही लीलाशुक अपना उपास्य घोषित कर रहे हैं ।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ—पूर्व श्लोक की लीला में श्रीकृष्ण कुञ्जा-न्तर में शयन कर रहे हैं तथा कुञ्ज के बाहर श्री राधा के सहित सखियों का हास-परिहास हो रहा है । लीलाशुक भी अपने को सखी रूप में वहाँ देख रहे हैं तथा श्रीकृष्ण की सेवा के लिये सखियों की ओर से किसी आदेश की मानों प्रतीक्षा कर रहे हैं । सखियों ने उनकी अधिक लालसा देख यह आदेश दिया कि तुम वृन्दावन में जाकर युगल सेवा के लिये पुष्प बीन कर लाओ तथा जिन गोपियों को रास करते हुए त्याग कर आये हैं, उनका भी समाचार लेकर आओ । आदेश को पाते ही वे अन्य सखियों के साथ चल

पड़े,कुञ्ज से बाहर आने पर सखीरूपा विल्वमङ्गल का जो प्रलाप हुआ है वह इस श्लोक में है । श्लोकान्तर्गत 'बाला' शब्द का तात्पर्य किशोरी श्रीराधा से है तथा 'स्तनान्तरं' से तात्पर्य श्रीराधा के स्तनान्तर में विराजमान श्री कृष्ण से है । इसको आगे ७६ वें श्लोक में "**राधापयोधरोत्सङ्गशायिने**" कह कर स्पष्ट कर दिया है । सखीरूपा विल्वमङ्गल निकुञ्ज में आकर विचार करती हैं कि "राधा के समीप जहाँ श्रीकृष्ण हैं, उनके समीप जाऊँ, अथवा तो फूल बीनने को वन में जाऊँ ? हृदय तो कहता है कि लौट चलूँ, उनको त्याग कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ ? परन्तु सेवा-भाव कहता है कि नहीं वन को चलो। विल्वमङ्गल रूपा सखी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सखियों के साथ परामर्श करती है । तब एक सखी कहती है कि "हमको गोपियों के समीप चलना चाहिए । वे बेचारी वन-वन में भटक रही हैं । श्रीकृष्ण के साथ उनका मिलाप कर उनको सुखी करना चाहिये" । सखीरूपा विल्वमङ्गल के हृदय में भी गोपियों के प्रति स्नेहपूर्ण भाव जागृत हो आता है और वह समवेदना से व्याकुल होकर विचार करती है कि "**बालास्तनान्तरं याम ?**" उन गोपबालाओं के स्तनान्तर में मैं भी जा पड़ूँ अथवा "वनान्तरं वा", वृन्दावन में पुष्पचयन करने चली जाऊँ ? इस प्रकार संकल्प-विकल्प करते हुए भावावेश में वे वृन्दावन के मार्ग पर जा रहे हैं, उनके हृदय में प्रिया प्रियतम के चरण चिह्नों की स्फूर्त्ति हो रही है, चरण-चिह्नों का ध्यान करते हुए कह रहे हैं—बस, ये ही मेरे उपास्य देव हैं, इनके अतिरिक्त मैं किसी को नहीं जानता, मैं तो इन्हीं की उपासना करूँगा ।

परन्तु हाय ! उनके दर्शन मुझे कब होंगे ? उन वृन्दावनलास्यकारी चारु-चरणारविन्दों का मैं कब अपने इन नेत्रों से दर्शन करूंगा ? इस प्रकार की उत्कट दर्शनोत्कण्ठा से विह्वल होकर प्रलाप स्वरूप आगे का श्लोक पाठ करते हैं ।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

सार्द्धं समृद्धैरमृतायमानैरातायमानैर्मुरली-निनादैः ।
मूर्द्धाभिषिक्तं मधुराकृतीनां बालं कदा नाम विलोकयिष्ये ॥२३॥

पद्यार्थ—**वेणु बजाता, स्वर बरसाता, लहराता नव तान तरंग ।**
नाद-सुधा-धारा से सरसाता व्रज-बल्लवियों का अंग ॥
अहा ! माधुरी छवियों के चूणामणि, कामिनि-कन्त बता ।
कब तू उतर नजर में मेरी सींचेगा लालसा-लता ॥२३॥

भावार्थ—अहा, स्वर-ग्राम-तान-आदि का अपूर्व विस्तार करने वाली, सुधा-संवलित और पूर्णता को प्राप्त स्वर लहरियों से समावृत उस बालकृष्ण को मैं अपने नेत्रों से कब देखूँगा जो मधुराकृतियों में मूर्धाभिसिक्त है, अर्थात् जो सर्वाधिक सुन्दर है।

रसिका टीका—प्रीति का स्वभाव है—वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों दीन अधीन विनम्र बनाती जाती है। भक्तिमार्ग में सिद्धि के प्रथम तीन लक्षणों का निर्देश श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के शिक्षाष्टक में मिलता है-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

तृणवत् दैन्यभाव, वृक्ष की भाँति सहनशील, स्वयं अमानी पर दूसरों को मान देने वाला भक्त ही प्रभु का नाम कीर्तन करता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है। विल्वमङ्गल के ऊपर वृन्दावनविहारी की जितनी अधिक कृपा होती जाती है, उनकी प्रीति का अंकुर जितना अधिक पल्लवित होता जाता है, उतना ही अधिक उनका दैन्य भाव भी बढ़ रहा है, वे सशंकित होकर कहते हैं—मेरी यह प्रीति-बल्ली भी कभी फूलेगी-फलेगी? क्या वह इस सौभाग्य के योग्य भी है?" इस आशंका से उन्होंने कहा—**कदा नाम विलोकयिष्ये**" क्या कभी दर्शन कर पाऊंगा? क्या यह सौभाग्य मुझ दीन हीन को प्राप्त होगा? विरह-वेदना तीव्र होने पर सखी-भावाविष्ट लीलाशुक फिर कहते हैं—प्यारे प्रभो! गोपीजनबल्लभ! क्या अपनी चरणदासी के ऊपर कभी ऐसी कृपा करोगे कि आपके मधुर नामों का गायन करते हुए मेरे नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती रहे, आपके एक-एक नाम का उच्चारण करते समय आपके दर्शन की लालसा से मेरा गला रुँध जाय, आपके दर्शन की स्फूर्त्ति में मेरा शरीर रोमाञ्च से भर जाय—

नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गद रुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति॥

—शिक्षाष्टक

बस, नाथ! मेरी यह इच्छा पूर्ण कर दो, कि मैं यमुना के किनारे तुम्हारे मधुर नामों का कीर्तन करते हुए नृत्य करता रहूँ और रोता रहूँ—

कदाहं यमुना तीरे तव नामानि कीर्त्तयन्।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष रचयिष्यामि ताण्डवम्॥

—कस्यचित्

किसी ने कहा—क्योंजी! किसका दर्शन करना चाहते हो? उसी

"बालम्' का । पण्डित जन जिसे 'किशोर' कहते हैं, मेरा तो वह "बालं" (बालम !) है 'बालम्' कहने से बालवत् चपलता, मुग्धता (भोलापन), निर्भरता, निःसंकोचता का जो एक स्वरूप नेत्रों के सम्मुख झलक, जाता है वह "किशोर" पद से नहीं झलकता। "किशोर" पद तो मत्त-मादक छवि को अंकित करता है और "बालम्" पद एक भोली-भाली छवि को प्रकट करता है।

वह मेरा 'बालम्' भोलाभाला तो है ही, साथ ही वह माधुर्य का चक्रवर्ती सम्राट् भी है। "**मूर्द्धाभिषिक्तं मधुराकृतीनां**" त्रिलोकी में जितने भी मधुराकृतिवान् हैं, रूपवान् हैं, गुणवान् हैं, सौन्दर्यवान् हैं; उनके मस्तक पर इस 'बालम्' का राज्याभिषेक हुआ है। यह श्याम रूप में, किशोर वयस में, मधुर रस में, करुणा, उदारता आदि गुणों में सम्राट-शिरोमणि है—**मधुरिम-स्वाराज्यम्**" है।

श्यामेव परं रूपं, पुरी मधुपुरी परा।
वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः॥

—पद्यावली

प्रथम तो वह स्वयं स्वरूप से ही सौन्दर्य-माधुर्यैकसीमा-सिन्धु है, परन्तु जब किसी भाव विशेष के प्रादुर्भाव में वह सिन्धु उद्वेलित होकर रस-लहरियों से व्याप्त होता है, तब वे ललित-त्रिभङ्ग-भङ्गी से अवस्थित अधरोष्ठ द्वार से उस मधुर रस को वंशी में पूरित कर उसे निनादित करने लगते हैं, तब उनके सौन्दर्य-माधुर्य की समृद्धि निःसीम हो जाती है। मैं भी अपने 'बालं' की वंशीनाद से भरी छवि के दर्शन चाहता हूँ। मुझे तो बस "**मुरली निनादैः सार्द्धं बालं**" का दर्शन हो। वह मुरलीध्वनि अपने गुणोंके गर्व से झूम रही है, अपने उच्चाटन, विमोहन, आकर्षण, वशीकरण आदि मंत्र के प्रभाव से उसने नारद, शारद, ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मीनारायण तक को भी मोहित कर लिया है, अतएव वह गर्वीली है। परन्तु गर्व के साथ वह दया-भाव से भी परिपूर्ण है। वह अमृत-रस-वारि की वर्षा के द्वारा जड़ तथा अचेतन वस्तुओं को भी जीवन प्रदान करती है, जीवन ही नहीं—श्रीकृष्ण के सर्वोच्च प्रेम रस का दान भी करती है। अहा ! मेरे प्रभु ने जो प्रेम रस अन्य अवतार-स्वरूपों में प्रदान नहीं किया वह "बालं" बनकर लुटा दिया-

सन्त्यवतारा बहवः पङ्कजनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतासु प्रेमदो भवति॥ —विल्वमंगल

अहा ! श्याम की वंशी में जैसी माधुरी है–वैसी ही चातुरी भी है। यह स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, आलाप तान आदि का ऐसा अपूर्व विस्तार करती है कि बड़े-बड़े संगीताचार्य इन्द्र, शिव, ब्रह्मा पर्यन्त भी उसके तत्व को निश्चय नहीं कर पाते हैं और मोह को प्राप्त हो जाते हैं—"**इन्द्र शिव परमेष्ठि पुरोगा कश्मलं ययुरनिश्चित तत्त्वा**"—श्रीमद्भागवत युगल गीत।

यावती निखिले लोके निनादेरस्ति माधुरी।
तावती वंशिका-नाद-परमाणौ निमज्जति॥

—लघु-भागवतामृत

ब्रह्माण्ड के समस्त नाद-कुल में जो माधुरी है, वह सम्पूर्ण माधुर्य का सागर वंशी नाद के एक परमाणु-रस के अथाह गर्भ में विलीन हो जाता है।

रास रस मुरली ही ते जान्यो।
श्याम अधर पर बैठि नाद कियो, मारग चन्द हिरान्यो॥
धरनि जीव जल थल के मोहे, नभ मंडल सुर थाके।
तृणद्रुम सलिल पवन गति भूले, श्रवन शब्द परचो जाके॥
बच्यो नहिं पाताल रसातल, कितिक उदै लौ भान।
नारद शारद शिव यह मोहत, कछु तन रह्यो न स्यान॥
यह अपार रस रास उपायो, सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायण ध्वनि सुन ललचाने, श्याम अधर सुनि बैन॥
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी, विहरत हैं वन श्याम।
सूर कहाँ हम को वैसो सुख, जो विलसति व्रज-वाम॥

अन्तरंग लीला परक अर्थ में—पूर्व श्लोक के प्रसंगानुसार विल्व-मङ्गल ने अपने सखी स्वरूप के आवेश में पुष्प-चयन करने को वृन्दावन में प्रवेश किया, वहाँ वे कृष्ण-परित्यक्ता गोपियों का अनुसन्धान कर रही हैं। पुष्प-चयन कर अन्यान्य सखियों के सहित वे मानों कुञ्ज को लौट रही हैं। इधर श्रीकृष्ण के सहित एकान्त-विलास करते-करते श्रीराधा के हृदय में यह विचार उदय हो आता है–कि अहा ! इस महासुख के अमृत-समुद्र का दर्शन मेरी सखियाँ नहीं कर पाईं। हाय ! वे हमारे विरह-ज्वर में न जाने कहाँ भटकती होंगी' :—

अत्रास्महे यदि पुनः कतिचित् क्षणास्ता,
आल्यो मिलन्ति रभसादभितो भ्रमन्त्यः।

इत्यभ्यधां प्रियतमाथ न पारयेऽहं,
गन्तुं मुहूर्त्तमिह विश्रमणं भजेव ॥

—प्रेमसम्पुट

अर्थात् हम दोनों क्षण भर यहाँ ठहर कर प्रतीक्षा करें तो हमारी सखियाँ इधर-उधर भ्रमण करती हुई शीघ्र ही यहाँ आकर हम से मिल सकती हैं—ऐसा मन में विचार कर श्रीराधा श्यामसुन्दर से कहने लगीं कि "हे प्रियतम ! मैं आगे चलने में समर्थ नहीं हूँ, आओ कुछ काल तक यहीं पर विश्राम करलें"।

तब विदग्ध शिरोमणि श्रीकृष्ण श्रीराधा के मनोभाव को समझ कर विचार करने लगे—कि इस समय इनका मन सखियों के लिये व्याकुल हो रहा है, अतएव अब इनको लेकर वन में भ्रमण करने में कोई सुख नहीं, और यदि इनकी इच्छानुसार हम दोनों यहीं विश्राम करते हैं तो गोपियाँ अवश्य यहाँ आकर देख लेंगी। देखने पर उनके मन में यदि ईर्ष्या का भाव उदय हो गया तो रास-रस भंग हो जायगा। तब श्रीराधिका की यह इच्छा कि मैं कोटि-कोटि युवतियों के साथ रासविहार करके उनको रस प्रदान करूँ—पूर्ण नहीं होगी। अतः कुछ क्षणों के लिये इनका भी त्याग कर चलूँ तो गोपियाँ इन पर कोई कटाक्ष नहीं करेंगी, तब गोपियाँ मुझ को ही दोष देंगी और मैं श्रीराधा का ऋणी भी बना रहूँगा तथा इससे श्रीराधा का सौभाग्य-प्रदर्शन भी होगा,—जो इस महारास का एक मुख्य उद्देश्य है। जैसे मैंने सब का त्याग कर इनकी सर्वोच्च प्रीति को सिद्ध कर दिया है, वैसे ही अब इनका भी त्याग कर इनके लिये ही सर्वोपरि विरह का स्वरूप प्रकट करूँ ? क्योंकि इनके विरह सिन्धु के सन्मुख गोपियों का विरह गोष्पद के तुल्य है। वे तो अपने तन मन की रुचि को सम्हालते हुए वन-वन में घूम रही है किन्तु इनसे तो एक पग भी नहीं चला जायगा, जब इसका ज्ञान गोपियों को प्रत्यक्ष हो जायगा, तब वे सब बात को भी समझ लेंगी कि संयोग-वियोग—दोनों ही अवस्थाओं में श्रीराधा का प्रेम कितना अतुलनीय है और मैं क्यों गोपियों को त्याग कर राधा को साथ लेकर अन्तर्हित हो गया था।

श्रीकृष्ण कामी हैं—जो राधिका से भी अधिक उनसे प्रेम करने वाली हम गोपियों को त्याग कर उसके साथ रमण करते हैं—ऐसा जो ईर्ष्या द्वेषपूर्ण भाव है वह भी निर्मूल हो जायगा।

कामी हरिर्भवति नो यदसौ विहाय ।
प्रेमाधिका अपि रहो रमते तु तस्याम् ॥

—प्रेमसम्पुट

विरहिणी राधा की प्रेमानल-शिखा के समीप आने पर ही उनका अपना क्षुद्र प्रेम दीपशिखावत् प्रतीत होगा, तब वे गोपियाँ श्रीराधा को अपनी स्वामिनी, सर्वेश्वरी, रासेश्वरी स्वीकार कर लेंगी, जिससे समस्त गोपीयूथ का हृदय एक विशुद्ध भाव पूर्ण उज्ज्वल-रस से परिपूर्ण हो जायगा और तब मेरा यह रास यथार्थ रस का समूह बन जायगा ।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण श्रीराधा को त्याग कर चले गये । उधर विरहिणी गोपियाँ भी श्रीराधा से आकर मिल गईं, फिर सब प्रलाप करती हुईं श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगीं ।

विल्वमङ्गल भी अन्तर्दशा में अपने सखी रूप से मानों इनके साथ ही विलाप कर रहे हैं और श्रीराधा के भाव में तादात्म्य होकर प्रलाप वचन बोल रहे हैं । बाईसवें श्लोक से पचपनवें श्लोक-पर्यन्त तैंतीस श्लोकों में इस प्रलाप का ही वर्णन है ।

इन प्रलापों में श्रीराधाजी की दिव्य उन्माद से भरी विरहावस्था का वर्णन है । विरह भाव की दश दशाएँ होती हैं :—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु ।

चिन्ताजागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता ।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशादश ॥

—उज्ज्वल नीलमणि

इन अवस्थाओं का वर्णन आगे के श्लोकों में इस प्रकार से है, चिन्ता-२३ से २६ तक, अधैर्य—२७ से ३१ तक, उद्वग—३२ से ३६ तक, मोह और व्याधि—३७ वें में, मृति [मूर्छा-प्रलाप] ३८ वें तथा ५१ से ५३ तक । उन्माद ४० से ४२ तक है, तान्वता ४३ से ५० तक है,

अन्तर्दशा में इन श्लोकों के अर्थ भी द्विविध हैं । प्रथम राधाभावापन्न विल्वमङ्गल की अन्तर्दशा का अर्थ है । द्वितीय में सखी भावापन्न विल्वमङ्गल की स्वान्तर्दशा का वर्णन है, प्रथम अन्तर्दशा में तैंतीस श्लोक श्रीराधा की सखी ललिता के प्रति हैं । द्वितीय अन्तर्दशा में एक अन्य सखी के प्रति सखी विल्वमङ्गल का वर्णन है । बाह्य दशा का अर्थ जैसा पहले उल्लेख

हो चुका है—वैसा ही साधक विल्वमङ्गल का अपने साथी वैष्णव जनों के प्रति है ।

अन्तर्दशापरक अर्थ इस प्रकार है—श्रीकृष्ण-विरहिणी राधा, ललिता सखी से कह रही हैं कि "हाय सखी ! उस नवकिशोर मदनमोहन के क्या मुझे दर्शन होंगे ? वंशी-ध्वनि से युक्त वह मुखचन्द्र कब मेरे तृषित नेत्र-चकोरों को तृप्त करेगा ? सखि ! वह किशोर वय, कितना मधुर है, कितना मीठा है ! मन को हरण करने वाला ऐसा चितचोर—सखी ! त्रिभुवन में न तो कोई है, न कोई होगा । "**सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि**" उस मधुराकृति मुकुटमणि की वंशी-ध्वनि, विश्वविमोहिनी तथा अमृतवर्षिणी है । मुरली-काकली युक्त उस मोहन-किशोराकृति के कब दर्शन होंगे ?

विल्वमङ्गल की स्वान्तर्दशा परक अर्थ में—सखी विल्वमङ्गल किसी एक अन्य सखी से पूछ रही है कि सखी ! मनोहर मुरली बजाते हुए उस किशोर नटवर-नागर के दर्शन कब होंगे ?

मूल श्लोक वैतालीयं छन्दः

शिशिरीकुरुते कदा नु नः शिखि-पिच्छाभरणः शिशुर्दृशः ।
युगलं विगलन्मधु-द्रवः स्मित-मुद्रा-मृदुना मुखेन्दुना ॥२४॥

पद्यार्थ—**सुस्मित-रेखा-रंजित, मंजुल मुख-मयंक से, करुणाकर ।**
मधुर-मधुर मादक मुरली-रव-शशि-सुधारस बरसाकर ॥
कब ये शिशिर करोगे मेरे लोचन-युगल चपल भोले ।
मोर पिच्छमय स्वच्छ मुकुट-धनु-मंडित रूप घटा कोले ॥२४॥

भावार्थ—स्मितरेखा के कारण अतिशय मृदुल कान्तिवाले अपने मुख-चंद्र से माधुर्यधारा-रूप उज्ज्वल ज्योत्स्ना की वर्षा करने वाला और मयूर-पिच्छ के आभरणों से अलंकृत श्यामल शिशु हमारे नयन-युगल कब शीतल करेगा ?

रसिका टीका—श्रीविल्वमंगल श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये व्याकुल हो कर प्रार्थना करते हैं कि—मस्तक पर मोर-मुकुट धारण किये हुए, मन्द मृदु मुसक्यान से युक्त मुखचन्द्र से मधुरस की धारा बरसाता हुआ वह भोला-सा सुकुमार शिशु मेरे नेत्रों को कब शीतल करेगा ? अर्थात् वह यदि कृपा करके स्वयं दर्शन न दे तो अब अन्य किसी उपाय के द्वारा उसके दर्शन पाने की सम्भावना भी तो नहीं है । उसके बिना कौन इन नैनों को शीतल कर सकता है—

शीश धरे शिखि पिच्छ वह, सुन्दर शिशु सुकुमार ।
मन्द हँसन मुख चन्द्र सों, नैंन सिरावो हमार ॥
दीन दुखी तव दरस विनु, देत छिनहिं छिन रोई ।
नैंनन के दुख हरन को, तुम विनु नाहिन कोई ॥
तुम से हम को एक हैं, हम से तुमहिं अनेक ।
हो प्रीतम सो कीजिए, रहै प्रेम की टेक ॥
जो मोसों मोसो करो, नाहिं कहूं मोहिं ठौर ।
तुम हो तैसो कीजिये, अहो रसिक सिरमौर ॥
कीये को सब करत हैं, दीये को सब देत ।
अन कीये को कीजिये, यहै कृपा को हेत ॥
परम तुच्छ हौं तृनहू ते, माँगत सकल सुमेर ।
तन घट में चाहत कियो, सत सागर को घेर ॥
सुगम करहिं सब साँवरे, पै सुदृष्टि जो होई ।
अन करनी करनी करहु, करनी करहु न कोई ॥

—उत्कण्ठामाधुरी

अतः हे नाथ ! बहुत देर हो गई, अब तो कृपा कर मेरे नेत्रों को शीतल करो ? अनादि काल से संतप्त ये अँखियाँ एक मात्र आप के ही रूप-सुधा सरोवर में गोते लगाकर सदा के लिये सुशीतल हो सकती हैं, आप ही तो अमृत के सिन्धु हैं—"**मधुराधरममृतम्**" हैं ।

जो मन श्याम सरोवर नहाहिं ।
बहुत दिनन को जरचो बरचो तू तबहिं भले सिराहिं ॥
नयन, वयन, कर, चरन कमल से, कुण्डल मकर समान ।
अलकावली सिवाल जाल तहँ, भौंह मीन भो जान ॥

—गदाधर भट्ट

अन्तर्दशा का अर्थ इस प्रकार है—श्रीकृष्ण विरहमें सब सखियां मृत-प्रायः हो रही हैं, परन्तु श्रीराधिका की अवस्था तो अत्यन्त ही विचित्र है । उनको ललितादिक सखियाँ सान्त्वना देती हुई कह रही हैं–सखी राधे ! धैर्य धारण करो, श्यामसुन्दर तुमको त्याग कर रह नहीं सकते । वे यहीं कहीं तुम्हारे शृङ्गार के लिये पुष्प लेने गये हैं, अभी कुछ ही क्षणों में आये जाते हैं । इस प्रकार कहते-कहते सखियों का भी धीरज टूट जाता है, और

"हा नाथ ! हा रमण ! क्वासि क्वासि ? कहाँ हो ? शीघ्र दर्शन दो" की क्रन्दन-ध्वनि उनके अवरुद्ध कण्ठों से निकल पड़ती है, विरह ज्वाला से संतप्त गोपियों के प्रति श्रीराधा जो प्रलाप वचन बोल रही हैं, उन्हीं को भावापन्न विल्वमङ्गल व्यक्त कर रहे हैं ।

श्रीराधा मानों कह रही हैं—"हे सखियो ! वह किशोर-शेखर मदन मोहन कब दर्शन देकर हमारे नेत्रों को शीतल करेंगे । उनका मुखचन्द्र,चन्द्र नहीं है-सखी, उनका मुख ही चन्द्र है ।-ये मधु, मधु नहीं है, उनके मनोहर हास से जो मकरन्द धारा क्षरित होती है-वह मधु है । ये अमृत, अमृत नहीं है, वह मेरा श्याम ही अमृत है । ये भूषण भी भूषण नहीं हैं,वह शिखिपिच्छ ही आभूषण है, उनके गण्ड कपोल लावण्य के सरोवर हैं । उनके लोल कुण्डल सरोवर के मीन हैं । वे मीन हैं अथवा हमारे मन हैं । उन पर वह मन्द-मृदु हास है अथवा मन-मीन के लिये कण्टक-बडिश है । हम तो वन-चरी गोपी हैं ही, पर दिविचरी देवांगनाएँ भी उनके रुचिर हास—विलास पर विमुग्ध हो जाती हैं । ऐसा वह श्याम-घन कब उदय होकर हमारे तन मन नयन और प्राणों को अपनी सुधा-वृष्टि से सिंचित कर हमको सुशीतल करेगा । इसी भाव के प्रवाह में पुनः वही प्रार्थना अगले श्लोक में भी करते हैं:—

मूल वसंत तिलकं छन्दः—

कारुण्य-कर्बुर-कटाक्ष-निरीक्षणेन
तारुण्य-संवलित-शैशव-वैभवेन
आपुष्णता भुवनमद्भुतविभ्रमेण
श्रीकृष्ण-चन्द्र शिशिरीकुरु लोचनं मे ॥२५॥

पद्यार्थ—**करुणा-कलित कटाक्षों से कब हे करुणेश ! कृतार्थ करोगे ?**
यौवन-तरलित बाल-विभव से कब यह रिक्त निकेत भरोगे ?
अद्भुत ललित विलास तुम्हारा जो त्रिभुवन-पोषण करता है ।
हाय न क्यों मेरी रीती आँखों में रूप सुधा भरता है ॥२५॥

भावार्थ—हे कृष्ण ! अपने तारुण्य मिश्रित शैशव के वैभव से, भुवन-पोषणकारी अपनी अद्भुत विलासधारा से और करुणा ललित कटाक्षों के निरीक्षण से मेरे लोचनों को शीतल कर दो ॥२५॥

रसिका टीका—हे श्रीकृष्णचन्द्र ! आप मेरे लोचनों को शीतल कर दें, करुणामिश्रित-कटाक्ष भरी दृष्टि धारा से तथा तारुण्य मिश्रित शैशव की वैभव-धारा से शीतल कर दें । और हे प्रभो ! त्रिभुवन-पोषणकारी अपनी अद्भुत विलास धारा से मेरे तृषित नेत्रों को शीतल बना दें ।

प्रभो ! आपकी एक-एक धारा ही त्रिभुवन के त्रिविध-तापों को हरण कर सकती है । फिर जहाँ करुणा की निर्मल गंगा, तारुण्य भरी छवीली यमुना तथा विलास की रंगीली सरस्वती की त्रिवेणी-धारा प्रवाहित हो, उसको मेरे लोचनों के शीतल करने में क्या कोई प्रयास करना पड़ेगा ? कमलको प्रफुल्लित करनेमें क्या दिनमणि को कोई प्रयास करना पड़ता है ? क्या निशाकर को कुमुदिनी के विकास के लिये कोई चेष्टा करनी पड़ती है, श्रीकृष्ण ! आप भी तो चन्द्र हैं, कुलचन्द्र हैं, और मेरे नेत्र कुमुदिनी हैं, इन को विकसित करने के लिये आपको लेशमात्र भी परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, केवल आपकी कृपा का उदय-होना चाहिए । यही मेरा अनुरोध है ।

हा हा सींचहु हरे मन लोचन ।
तुम श्रीकृष्ण जो चन्द्र कहाते, त्रिभुवन ताप विमोचन ।
करुणा भरे सहज रंग राते, नैंनन की ढरो कोरन ।।
तरुण किशोर वयस मदमाते, छुटी न शिशुता झोलन ।
मधुर विलास भुवन सुख पाते, 'प्रेम' प्रणत जन पोषण ।।

हे श्रीकृष्ण ! चन्द्र तो स्वयं आप ही हैं । यह गगन का चन्द्र,-चन्द्र नहीं है । इसको भी प्रकाश आप ही से प्राप्त हुआ है । **"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्"**—गीता । सूर्य, चन्द्र, अग्नि में आपका ही तेज है, तेज ही नहीं चन्द्रमा में रस भी आप ही का है । **"पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः"**—गीता । मैं रस रूप चन्द्रमा बन कर औषधि तृण-लताओं का पोषण करता हूँ-यह भी तो आपका ही वचन है । अतएव यह चन्द्र नहीं, चन्द्र तो आप ही स्वयं हैं—स्वयं प्रकाशशील हैं । नित्य चौसठ कला पूर्ण हैं, निष्कलंक हैं, निरातंक हैं, पद्मिनी प्राण वल्लभ हैं, अमृत रस पूर्ण हैं, अनवद्य आह्लादक हैं, तथा आत्यन्तिक तापहारी हैं ।

निष्कलङ्को निरातङ्को पद्मिनी प्राणवल्लभः ।
चतुः षष्टि कलौ भाति कृष्णचन्द्रः सह भुवि ।।

चन्द्र नाम तो वास्तविक आप का ही है, इस चन्द्र को तो केवल आप

का नाममात्र ही मिला है । नाम के नाते ही तारागण इसका मुख देखते हैं, वे सूर्य को देख कर नेत्र बंद कर लेते हैं, क्योंकि-उसको आपका नाम जो नहीं मिला ?

केवल नाते नाम के नखत लखहिं निशि चन्द ।
विन हरि नाते भानु लखि करहिं सकुच चख बन्द ।।

चन्द्र ही नहीं आप तो कृष्ण भी हैं,-आकर्षक हैं—आनन्ददायक हैं । पूर्ण चन्द्र के आकर्षण से सागर चार योजन तक ही उमड़ता है, फिर भी चन्द्रमा को कभी प्राप्त नहीं कर पाता, परन्तु आपके आकर्षण से तो जीव पचास कोटि योजन विस्तृत ब्रह्माण्ड का भेदन कर आपके श्री चरणों में पहुँच जाता है तथा ब्रह्मानन्दको लघु और तुच्छ करनेवाले प्रेमानन्दको प्राप्त कर लेता है ।

परन्तु हे श्रीकृष्णचन्द्र ! हे काले चाँद ! आपका यह नामकरण न्याय एवं व्याकरण—शास्त्र की दृष्टि से सिद्ध नहीं होता, काला है तो चाँद कैसे ? और चाँद है तो काला कैसे ? परन्तु आप ईश्वर हैं, विरुद्ध धर्म के आश्रय हैं । पंडित जनों के मत में आलोक और अन्धकार एक स्थान में नहीं रह सकते—वे तो कहते हैं कि:—

तेजोऽभावस्तम इति वदन्त्येक आचार्य्यदेश्या,
मायोल्लासं निगमनिपुणस्तन्निमित्तं वदन्ति ।
वृन्दाटव्यां प्रसरति तडित् कोटि कोटि प्रकारो,
कोऽप्याश्चर्यो विलसति महाभास्वरो ध्वान्तराशिः ।।

कोई आचार्यगण तो तेज के अभाव को ही अन्धकार कहते हैं । वेद-वादी जन कहते हैं कि माया के उल्लास का नाम ही तम है तथा तेज उसका निमित्त कारण है, अर्थात् तेज से तम है, परन्तु तेज में तम नहीं है, किन्तु वृन्दावन में कुछ विलक्षणता है, यहाँ तेज पुञ्ज में ही घोर तम राशि प्रविष्ट है, अर्थात् कोटि विद्युत-प्रकाश-सम श्रीराधा की अङ्गकान्ति से वह तम-राशि-काला चाँद आलिङ्गित रहने पर भी उस विलक्षण तमोराशि की नील ज्योति पृथक् ही जगमगाती रहती है । प्राकृत जगत में जब दामिनी दमकती है तो श्यामघन, श्याम नहीं रहता, श्वेत उज्ज्वल हो जाता है । परन्तु वृन्दावन में विद्युत-मण्डल के मध्य में घनश्याम की श्याम-ज्योति अपनी पृथक् सत्ता में अवस्थित होकर प्रकाशमान रहती है, अतएव यह

महाभास्वरोध्वान्तराशिः" है—अर्थात् जगमगाता हुआ अन्धकार है, अन्दर से कृष्ण और बाहर से गौर प्रकाश है, अतएव वह कृष्णचन्द्र है—काला चाँद है ।

सेत चन्द्र सब कोई कहत, श्याम चन्द नहिं कोय ।
ब्रज रस मंडल सुन्यो यह, उदय नित्य ही होय ॥

अतः श्री कृष्णचन्द्र ही समग्र शोभा सम्पद से युक्त कृष्णचन्द्र हैं । अथवा श्री का अर्थ है राधा । जो सर्वातिशय रूपराशि, नवयौवन वय-संपन्न और माधुर्य,लावण्य, लीला, विलास, वैदग्ध्यादि सम्पत्ति की आश्रय हैं—वह है श्री । उससे ही श्रीकृष्ण की—श्री है, शोभा-सौन्दर्य है, माधुर्य-चातुर्य औदार्य आदि धर्म हैं । 'विभु' का विभुत्व भी राधा ही हैं ।

शक्ति ही पुरुष का परिचायक है—प्रकाशक तथा अनुग्राहक भी है । चाँदनी ही चाँद का परिचय देती है, चाँद को प्रकाशित करती है, उसमें कान्ति का, अमृत का, आह्लाद का संचार करती है, और जगत् में उसके गुणों का प्रचार कर उसको जगत्प्रिय, जगद्बन्धु, तथा जगद्वन्द्य बनाती है । चाँदनी के बिना चाँद का अस्तित्व ही नहीं है । उसका होना न होना जगत् के लिये समान है । शक्ति के विना ब्रह्म की भी स्थिति ऐसी ही है ।

वृन्दावन के रसिक शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास तथा श्रीहितहरिवंश आदि सन्तों ने अपनी रसीली वाणियों के द्वारा अति सुन्दर रीति से इसका वर्णन किया है,

'सुघर भये हो विहारी या ही छाँह ते ।
जे जे गढी सुघर सुजानपन्यो की ते ते या ही वांहते ॥'
'पूर्ण पुरुष पुराण भयो, (तब) पुरुषोत्तम नाम कहायो ।
राधा राधा नाम रटत ही, नव किशोर फल पायो ॥'
'हो तो जो न राधे को रकार या के नाम संग ।
मेरे जान राधे कृष्ण, आधे कृष्ण हो जाते ॥'

राधारससुधानिधिकार ने भी यही कहा है—

राधा-दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्द—संगाशया,
सोऽयं पूर्ण-सुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति ॥

अर्थात् राधा-पूर्णिमा तिथि को प्राप्त हुए विना श्रीकृष्ण सदैव पूर्ण चन्द्र होते हुए भी प्रकाशित नहीं हो पाते ।

जै श्रीहितहरिवंश प्रताप, रूप, गुण, वय, बल, श्याम उजागर।
जाकी भ्रू-विलास-वश पशुरिव दिन विथकित रससागर ।।

अतः हे श्रीकृष्ण ! आप करुणा करके मेरे नेत्रों को शीतल करें। आप करुणा से चित्रित अनुराग से रंजित लोचन प्रान्त की एक कृपा भरी कटाक्ष धारा को प्रवाहित कर दें तो मैं शीतल हो जाऊँ ।

इस श्लोक में "**कारुण्य कर्बुर कटाक्ष**" कहा है अगले श्लोक में इसी को '**करुणावीचि निचिताः कटाक्षाः**' कहेंगे और इनकी व्याख्या स्वयं २९ वें श्लोक में भी करेंगे कि कृपा कर आप मुझ पर प्रसन्न हो गये तो फिर अन्य से क्या प्रयोजन ? और यदि आप प्रसन्न नहीं हुए तो फिर भी अन्य से क्या प्रयोजन ? एकमात्र आपका अनुग्रह ही मेरा साधन-साध्य है ।

'**तारुण्य संवलित शैशव वैभव**' पद के द्वारा यहाँ श्रीकृष्ण की वयः सन्धि सूचित की गई है—

"गई न शिशुता की झलक, यौवन झलक्यौ आय ।"

—विहारी

शैशव यौवन दरशन भेल। दुइ पथ हेरइ ते मनसिज गेल।
मदन क भाव पहिल परचार। भिनजन देल भिन्न अधिकार।
बाला सैसव तारुन भेट। लखए न परिअ जेठ कनेठ ।।
विद्यापति कह सुन बर कान। तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान ।।

—विद्यापति

अर्थात् इधर से शिशु अवस्था आई, उधर से यौवन आया । दोनों की सम्पत्ति,-रूप, गुण, विलास,माधुरी, एकत्र होकर मिलीं, उस वयः संधि का नाम हुआ—पूर्ण किशोर, अथवा नव-यौवन। यौवन के प्रारम्भ में शारीरिक अवयवों का क्रमिक विकास तत्संबंधी गुणों के विनिमय के साथ होता है—

पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्यां,
श्रोणी बिम्बं त्यजति तनुतां सेवते मध्य भागः।
धत्ते वक्षः कुच सचिवतामद्वितीयश्च वक्त्रं,
ब्रह्मगात्राणां गुण विनिमयः कल्पिता यौवनेन ।।

—सदुक्ति कर्णामृत

शैशव और यौवन की वयः सन्धि में शिशुता की चंचलता तथा मुग्धता के साथ यौवन की चपलता तथा मुग्धता का अपूर्व मिश्रण रहता है

पूर्ण यौवन में यह वयः सन्धि की सम्पदा नहीं रहती । किन्तु श्रीकृष्ण की अवस्था तो नित्य किशोर है, अतएव उनमें दोनों अवस्थाओं की चपलता और मुग्धता सर्वदा एकत्रित रहती है । अतः श्रीकृष्ण एक ही काल में बाल भी हैं, किशोर भी हैं, मुग्ध भी हैं और विदग्ध भी हैं, निरीह भी हैं और उन्मत्त भी हैं । उनके इन भावों की ओर लीला शुक ने बारम्बार संकेत किया है—"**तच्चापत्यं तत्कैशोरं ते च लीला कटाक्षाः**"—श्लोक ५५ । के द्वारा उसी का संकेत है । **आपुष्णतां भुवनमद्भुतविभ्रमम्**" पद के द्वारा श्रीकृष्ण की विलास-माधुरी का परमोत्कर्ष सूचित किया गया है। आप अपने वृन्दा-वन-विलास को सर्वतो मधुर-माधुर्य-चमत्कार के द्वारा त्रिभुवन का पोषण कर रहे हैं । त्रिभुवन में जीव से लेकर ब्रह्मा, वेद, शिव, रमा, नारायण पर्यन्त की माधुर्य आकांक्षाके उद्भावक,पोषक,पूरक एकमात्र आप ही तो हैं ।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में—श्रीराधा जी कह रही हैं कि "हे सखियो ! यह श्री-सौन्दर्य-माधुर्य—कलानिधि कृष्णचन्द्र मेरी नेत्र रूप कुमुदिनी को शीतल करें । यह चन्द्र त्रिभुवन को शीतल करता है, फिर मेरे नेत्रों को यह शीतल क्यों नहीं करता ? मेरे नेत्रों में तो श्याम के अति-रिक्त कुछ है ही नहीं, फिर भी मुझ पर वे कृपा क्यों नहीं करते ? सखियो ! उनके समान कारुणिक त्रिलोकी में कोई नहीं है । उनके नेत्र नहीं—वे तो करुणा के दो सरोवर हैं। परन्तु हाय ! कब वे अपने दृष्टिपात कटाक्ष से मुझ को शीतल करेंगे ? उनका वह मनोहर किशोर वपु उसमें वह शैशव, वह तारुण्य, वह मुग्धता, वह मादकता, वह मन्द हास, वह अद्भुत विलास जिसके द्वारा वे जगत् का पोषण तो करते हैं, परन्तु मैं ही एक अभागिनी हूँ—जो उससे वंचित हूं। हे मेरी श्री ! हे मेरे कृष्ण ! हे मेरे चन्द्र ! मेरी नेंन-कुमुदिनी को कब शीतल करोगे ? इस प्रकार दर्शन के लिये व्याकुल बिल्वमङ्गल अपने प्राणों को लालसा रूप—सरिता में डुबोते—उछालते पुनः प्रलाप करते हुए बोलेः—

मूल श्लोक शिखरिणी छन्द—

कदा वा कालिन्दी-कुवलय-दल-श्याम-तरलाः,
कटाक्षा लक्ष्यन्ते किमपि करुणा-वीचि-निचिताः ।
कदा वा कन्दर्प-प्रतिभट-जटा-चन्द्र-शिशिराः,
कमप्यन्तस्तोषं दधति मुरली-केलि-निनदाः ॥२६॥

पद्यार्थ—कब कालिन्दी कमल-कदम्बों-से वे श्याम और चंचल ।
बरसेंगे मुझ पर कटाक्ष—भर करुणा से अपना अंचल ।।
कब कन्दर्प दर्प हर हर बाल सुधाकर-सा शीतल ।
मुरली-केलि-कला-स्वरसंगम देगा अन्तस्तोष नवल ।।२६।।

भावार्थ—अहा ! वे अनिर्वचनीय करुणा तरंगों से व्याप्त एवं श्री कालिन्दीजी के कमल-कुल-सदृश-श्यामल और चपल कटाक्ष मुझे कब अपना लक्ष्य बगायेंगे ? हाय के कंदर्प का दर्प दलन करने वाले श्री शंकर की जटा-घटा के सदृश शीतल—मुरलिका के केलि निनाद मुझे एक अचिंत्य—अनिर्वचनीय आत्मतोष कब प्रदान करेंगे ।।२६।।

रसिका टीका—"हे श्रीकृष्णचन्द्र ! वह समय कब आवेगा—जब मैं कलिन्द-तनया-संभव नील कमलदल की अपेक्षा अधिक श्यामल, अधिक तरल, तथा अनिर्वचनीय करुणा लहरी से व्याप्त सुस्निग्ध आपकी कटाक्ष—धाराओं का दर्शन करूँगा ? आपकी वंक विलोकनि के ऊपर से झूलती कुटिल कुन्तल अलकावली से अतिशय सुशोभित रस भरे रतनारे युगलनयन कब देखने को मिलेंगे ?

कान्ह कमल दल नैंन तुम्हारे ।
अरुन विशाल वंक अवलोकनि, हठि मन हरत हमारे ।।
ऊपर भृकुटि कुटिल, अलकावलि, तिन पर मधुप झंकारे ।
अति सै रसिक रसाल रसभरे चित तें टरत न टारे ।।
मदन कोटि रवि कोटि कोटि ससि, हौं तिन ऊपर वारे ।
'परमानन्द' दास को जीवन, गिरिधर नन्द दुलारे ।।

कालिन्दी में तो केवल एक कमल है, आपके अङ्ग में तो अष्ट कमल हैं । किन्तु उनमें दो नैंन-कमल ही सदा करुणा रस से परिपूर्ण रहते हैं । जिस पर भी आप कृपा करते हैं–उसे प्रथम नैंन-कमल की ही करुणा रस-धारा से शीतल कर देते हैं । उसके पश्चात्, हस्त कमल, चरण कमल, अधर कमल, के द्वारा कृपा प्रदान कर उसे कृतार्थ भी करते हैं । अतएव मुझ पर भी आपके नयन कमलों के करुणा-रस-विन्दु का प्रपात हो जाय तो प्रभो आपके भंडार में कोई कमी नहीं आयेगी, क्योंकि आपके नेत्र कमल तो सदा "**किमपि करुणा वीचि निचिताः**" हैं, किसी असाधारणी करुणा की लहरियों से भरपूर रहते हैं । असाधारणी करुणा न होती तो कौन पूतना को

मातृगति प्रदान करता ? इसीलिये तो शुकदेव मुनि जैसे महाज्ञानी भी अपने ब्रह्मानन्द को त्यागकर "**कं वा दयालुं शरणं व्रजेम**" कहते हुए आपही के श्रीचरणों के ध्यान में तल्लीन हो गये। ऐसी असाधारणी करुणा यदि आपके विशाल लोचनों में न होती तो हम असाधारण संसारी जीवों का उद्धार भी कैसे होता ?

"हे हरि ! मोसौं न बिगारन को, तोसौं न सम्हारन को, मोहि तोहि परी होड़।"

—स्वामी हरिदास

ऐसे असाधारण सहज करुणा से भरे नैंन कमलों के दर्शन मुझे कब होंगे विभो ! किन्तु प्रभो ! ऐसा सौभाग्य तो मेरा कहाँ ? जो आपके साक्षात् दर्शन मुझे मिलें ? यदि साक्षात् दर्शन न हो सकें, तो इतनी-सी कृपा तो कर ही दो कि—आपकी प्रिय मुरलीध्वनि की झङ्कार ही मेरे श्रवणों में पड़ती रहे।

अहा ! क्या कभी मेरा सौभाग्य सूर्य उदय होगा—जब मैं "**कन्दर्प प्रतिभटजटाचन्द्र शिशिराः मुरलीकेलि निनदाः**" को इन कर्णों से श्रवण करूँगा ? सुना है कि आपकी मुरलीध्वनि में अनन्त गुण हैं, क्यों न हों ? "**हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता**"। आपसे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ अनन्त हैं, आपके नाम, धाम, लीला—सब ही तो अनन्त हैं। फिर मुरली के गुण भी अनन्त क्यों न होंगे ? परन्तु उनके कीर्तन करने के लिए भी तो अनन्त रसना और अनन्त काल चाहिये। अतः इस समय तो मैं आपकी प्रिय सखी मुरली के केवल तीन गुणों की ही वन्दना करता हूं। "**कन्दर्पदलनत्व शीतलत्व तथा सुश्रुत्व।**" यह अपनी कलध्वनि के द्वारा मेरे काम का दमन करे, मेरी अन्तःज्वाला को शीतल करे, तथा 'कल' के द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेम का वर्द्धन करे।

यह मुरली-ध्वनि प्राकृत कन्दर्प का दमन करती है तथा अप्राकृत कन्दर्प—श्रीकृष्ण-प्रेम का वर्द्धन करने वाली है—इस रहस्य की ओर इङ्गित करने के लिए शिव, शङ्कर, महादेव आदि नामों का प्रयोग न कर—'**कन्दर्पप्रतिभट**'—'**कामदेव का शत्रु**'—पद का प्रयोग किया गया है। यह मुरली-ध्वनि त्रितापहारी है, सुशीतल है—इसके लिए विल्वमङ्गल कहते हैं कि कामारि महादेव के शिरस्थ जटाजूट में जो चन्द्र है, प्रथम तो वही शीतल-अमृतवर्षी है, किन्तु उसके ऊपर भी जो हिमगिरि-निस्यन्दिनी मन्दाकिनी गङ्गा है, उसकी धारा से निरन्तर प्लावित रहने के कारण

चन्द्रमा और भी अधिक शीतल हो गया है, परन्तु मुरली-ध्वनि तो चन्द्रमा से भी अधिक सुशीतल है। यह मुरली-ध्वनि व्यापक होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म है तथा अस्पष्ट है। शिवजी के मस्तक पर दो चन्द्रमाओं की उपमा देकर मुरली की इस सूक्ष्म कलध्वनि की ओर ही इङ्गित किया गया है। यद्यपि श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि के सम्बन्ध में यह बात सुप्रसिद्ध है कि जब श्रीकृष्ण वंशी बजाते हैं तो इसकी ध्वनि पाताल के शेषलोक से लेकर ब्रह्मा के सत्यलोक पर्यन्त व्याप्त हो जाती है, तथा ब्रह्माण्डकटाह को भी भेदन कर विरजा के पार रमा-वैकुण्ठ पर्यन्त पहुँचकर वह लक्ष्मीनारायण के चित्त को भी चलायमान कर देती है—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुम्,
ध्यानादन्तरयन्सनंदनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलाच्चटुलयन् भोगीन्दमावूर्णयन्,
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

तथापि श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुनाई भी उसी को देती है, जिसको कि श्रीकृष्ण स्वेच्छया श्रवण कराना चाहते हैं। इस रहस्य का उल्लेख श्रीभगवान् गौरचन्द्र श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की कृपा से सिद्धि को प्राप्त कवि कर्णपूर ने अपने लीला-ग्रंथ 'श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू' में रासपंचाध्यायी के प्रसङ्ग में किया है। यथा—

सर्वाकर्षी यद्यपि युगपन्निस्वनः कृष्णवेणोः,
कृष्णेच्छास्तदपि समये श्रूयते कैश्चिदेव।
आह्वाने वा खगमृगगवां मोहने वाऽङ्गनानां
यस्मिन् यर्हि प्रसरति मनस्तत्तदाऽसौ श्रृणोति॥

अर्थात्—यद्यपि श्रीकृष्ण की यह वेणुध्वनि युगपत सर्वाकर्षिणी है, तथापि श्रीकृष्ण की इच्छा से ही किसी समयविशेष में कोई-कोई भाग्यवान् ही श्रवण कर पाते हैं। श्रीकृष्ण जब ग्वालबालों को, अथवा पशु-पक्षी गौओं को बुलाने की इच्छा से वंशी बजाते हैं—तब केवल वे ही सुन पाते हैं, और जब गोपियों को मोहित करने की इच्छा से बजाते हैं—तो केवल गोपियाँ ही सुन पाती हैं। श्रीकृष्ण की इच्छा ही श्रवण-अश्रवण में एकमात्र कारण है।

विल्वमङ्गल कहते हैं—'ऐसी जो मुरली-ध्वनि है'—वह मेरी 'काम-

ज्वाला, भवज्वाला और प्रेमज्वाला को शान्त शीतल करके मुझे कोई एक अनिर्वचनीय अप्रतिम असाधारण सुख-संतोष प्रदान करे।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—श्रीराधा तथा सकल गोपी-वृन्द श्रीकृष्ण-विरह के तीव्र ताप में दग्धीभूत हो रही हैं, ऐसी अवस्था में कोई सखी श्रीराधा आदि सखियों को सान्त्वना देने के उद्देश्य से मानो कहती हैं कि "हे सखियो ! तनक धीरज धारण करो। श्रीकृष्ण शीघ्र ही अभी आने वाले हैं। वे मधुर मुरलीवादन करते हुए मधुर कटाक्ष द्वारा हम सबको शीतल करेंगे। हे श्रीराधे ! वे तुमको दर्शन देकर अतिशय सुखी करेंगे।" सखी के इस आश्वासन से यत्किञ्चित सचेत होकर श्रीराधा उसके प्रति अनेक प्रलापपूर्ण जिज्ञासा प्रकट करने लगीं, जो इस श्लोक में वर्णित हैं। वे बोलीं—आयँगे न सखी ? कब आयेंगे ? कब मैं उनके कटाक्षों के दर्शन करूँगी ? कौन कहता है कि उनके कटाक्ष-बाण हैं ? वे बाण नहीं, विविध रसों की धारायें हैं, [**कटन्ति विविध रसान् वर्षन्त्यक्षीणि दृष्टयो येषु ते कटाक्षाः**] तन-मन, प्राण, रोम-रोम को शीतल करने वाली रस-रङ्ग की धाराएँ हैं। कालिन्दी के नीलकमलों में वह श्यामलता, वह रसार्द्रता, वह उत्फुल्लता, वह चपलता कहां ? जो मेरे श्याम के श्याम-नेत्र-कमलों में है। श्याम के नयनयुगल तो सदा ही एक अनिर्वचनीय करुणाभाव से परिप्लुत रहते हैं। उस करुणार्द्र-रसधारा से कब वे मुझे शीतल करेंगे ? हाय ! अब उनके विरह में मेरी मृत्यु समीप ही आ रही है। अभी यदि वे नहीं आये तो—

प्राण गये जो आइ हो, तौ न सरेगो काज।
अहो प्राणपति प्रेम की, उलट परेगी लाज॥
प्राण गए की कछु नहीं, मत प्रीतम दुःख होय।
यहै समझ मन में सदा, दीजत नैनन रोय॥
प्राण गए प्रीतम मिले, कहा प्रेम में स्वाद।
तन छूटे धन पाइये, मनहिं कहा अहलाद॥

सखी ! उन कमलनयन मुखचन्द्र के दर्शन मेरे भाग्य में नहीं हैं, तो न सही, पर उनकी मुरली-काकली ही कहीं दूर से मेरे तृषित कर्णों में आ पड़े—बस, उसी से मेरा दग्ध तन-मन शीतल हो जायगा। हां सखि ! क्या कभी वह मुरली बजेगी ? कब मैं उसको अपने श्रोत्र-पुटों में भर-भर कर पान करूँगी ! वह काम-ज्वर को शीतल करने वाला मुरली-निनाद केवल निनादमात्र ही नहीं है, वह केलि-निनाद भी है। उसमें कैसी-कैसी

केलि प्रकट करते हैं, कैसे-कैसे संकेत प्रस्फुटित करते हैं, "राधा-राधा" नाम ले-लेकर मुझे बुलाते हैं। वह केलि-निनाद कब मुझे फिर सुनने को मिलेगा? कब वह मुझे एक अनिर्वचनीय सुख-सिन्धु में डुबो देगा? अच्छा! मेरा नाम न लें, केलि न सुनावें - पर मुरली तो बजा दें। मैं सुन तो लूँ, बस, सुन भर लूँ। क्या मुरली बजाना भी आपने छोड़ दिया है?

इस प्रकार कल्पना-जल्पना करते-करते महा लालसा पूर्वक फिर दूसरा प्रलाप उच्चारण करने लगे—

मूल वंशस्थविल छन्दः—

अधीरमालोकितमार्द्रजल्पितम्,
गतं च गम्भीर-विलास-मन्थरम्।
अमन्दमालिङ्गितमाकुलोन्मद,
स्मितं च ते नाथ विदन्ति गोपिकाः ॥२७॥

पद्यार्थ— **भोले, तेरी चंचल चितवन, प्यार भरी बहकी बातें।**
मन्थर, धीर, विलासमयी गति, गाढ़ालिङ्गन की रातें॥
जो आकुल उन्मत्त बनादे, वह तेरी अद्भुत मुसकान।
अहा! गोपियों को ही है, बस इन सबके रस की पहचान॥२७॥

भावार्थ—अहह! तेरे चपल चितवन, तेरी रसमिक्त बात-चीत, तेरा गम्भीर विलासपूर्ण और मंथर गमन, तेरे गाढ़ आलिंगन और आकुल तथा उन्मत्त बना देने वाली तेरी मधुर मुस्कराहट—इन सबके वास्तविक आनन्द को तो केवल गोप-कुमारियाँ ही जान सकी हैं॥२७॥

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में जिस दर्शन और वंशी-ध्वनि श्रवण की विल्वमङ्गल ने आकाँक्षा प्रकट की है, उसके लिये दैन्यवश अपने को अत्यन्त अयोग्य अनधिकारी समझ कर कहने लगे—"अहा! आपको और आपकी वंशीध्वनि तथा वल्गुहास-गति एवं भ्रूविलास को तो वे गोपिका ही पहचानती हैं, जिन्होंने इनके वशीभूत होकर लोक-वेद की समस्त मर्यादा को तिलाञ्जलि दे दी है। आपके अधीर अवलोकन, नैन-बैन तथा चाल-ढाल और हास-विलास के मधुर भावों को वे ही तो जानती हैं।

तरल नैन रस बैन वे, गज गति मन्दी चाल।
हास पाश भुज बन्ध वह, जानैं इक व्रज-बाल॥

नैंन धीर अधीर कछु कछु सित असीत राते ।
प्रिया आनन चन्द्रिका मधु पान रस माते ।।

—गदाधर भट्ट

अहा ! वे धीर भी हैं, अधीर भी हैं; मोहक भी हैं, मोहित भी हैं; साधु भी हैं, चोर भी हैं—इस सबका अनुभव एकमात्र गोपिकाओं को ही होता है ।

"शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा" —श्रीभागवत १०-३१-२

आपकी "आर्द्र जल्पना" रस-रङ्ग से भीगे हुए मधुरालाप का अनुभव भी तो उन्हीं को है। तभी तो वे कहती हैं—

मधुरया गिरा वल्गु-वाक्यया बुध मनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतिरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ।।

—भागवत १०-३१-८

आपकी "गम्भीर और विलास मन्थर गति" का ज्ञान भी गोपियों को ही है, वे समझती हैं कि यह गति महा चञ्चल है, अर्थात् कुञ्ज-कुञ्ज के प्रति, गोपी-गोपी के प्रति, धावित होने वाली यह गति कैसी मत्त गजराज की सी, मद के भार से—विलास के भार से मन्थर हो रही है ।

मद गजराज को—सी चाल ।
वर भुजदण्ड सुण्ड की शोभा, हरि लीनो नन्दलाल ।।
चूरन कच कुञ्चित अनङ्ग-अंकुश से लटकत भाल ।
चौंर चारु अवतंस मञ्जरी, मद-कन श्रम जल-जाल ।।
घनन घनन घण्टिका रुनत कटि सुन्दर शब्द सुताल ।
खनन खनन शृङ्खल से नूपुर बाजत लजत मराल ।।
मुरली रव गुञ्जार सुनत ही कम्पति चित व्रजबाल ।
रिस रूसने 'गदाधर' यों ही, वन बेली बेहाल ।।

—गदाधर भट्ट

आपके श्रीअङ्ग के अमन्द गाढ़ालिङ्गन का सौभाग्य तो गोपिकाओं के अतिरिक्त किसी को प्राप्त हुआ ही नहीं । हाँ ! यह अवश्य है कि आपके श्रीचरणों का आलिङ्गन पाकर व्रज की जड़ सर-सरितायें भी आनन्द में स्तम्भित रह जाती हैं ।

इन नदियों में जो भँवर उठते हैं, उनसे इनके हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा का पता चलता है, इनका जो वेग रुक गया है

उससे पता लगता है कि इन्होंने भी प्रियतम श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुन ली है, देखो ! ये अपनी तरङ्गों के हाथों से श्रीकृष्ण के चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं, मानो उनके चरणों पर अपना हृदय निछावर कर आलिङ्गन कर रही हैं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभव भग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥

—भा० १०-२१-१५

यहाँ केवल चरणों का ही आलिङ्गन है, चरण-प्रदेश से ऊपर आलिङ्गन का एकाधिकार तो व्रज-गोपियों का ही है । इसी प्रकार व्रज के गौ-वत्स भी प्रिय वंशीध्वनि सुनकर अपने कानों को दौने की तरह खड़ा कर लेती हैं, उनके नेत्रों से आँसू छलकने लगते हैं, मानो वे अपने नेत्रों के द्वार से प्रेमास्पद श्रीकृष्ण को हृदय में विराजमान कर मन ही मन आलिंगन करती हैं, बछड़े भी गौओं का दूध पीना छोड़कर छलकते हुए नेत्रों से हृदय में श्रीकृष्ण के संस्पर्श का अनुभव करते हैं—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत, पीयूषमुत्तभित कर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥

—भागवत १०-२१-१३

गाय वृषभ बछि बाछी जिति । हरि तन इक टक चितवत तिति ॥
दृगन के मग अंग मोहन कहियाँ । बरि कै अप अपने हिय महियां ॥
पुनि पुनि तहां परिरम्भन करैं । अति सुख आनन्द अँसुवा ढरैं ॥

वृन्दावन के पक्षियों की भी यही दशा है, वे वृक्षों की डालियों पर चुपचाप बैठे निर्निमेष नयनों से श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी और मोहिनी-वंशी-ध्वनि का संगीत सुनते रहते हैं । चर-अचर, जड़-चेतन, पशु-पक्षी और नदियों की जब ये दशा है, तो साक्षात् आपके सर्वाङ्ग-परिरम्भन का असीमित चमत्कारपूर्ण विलक्षण आनन्द को प्राप्त करने वाली गोपियों की क्या दशा होती होगी ? इसका अनुभव तो गोपीजनों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता ।

प्राणों को व्याकुल तथा उन्मत्त करने वाली आपकी मन्द स्मित का सम्यक् अनुभव भी गोपियों को ही होता है । उस मन्द-हास ने तो उनके रमणी-उचित समस्त गर्व को चूर्ण करके उन्हें आपके लिए व्याकुल एवं उन्मत्त बना दिया है—

'व्रजजनार्तिहन्वीरयोषितां निजजन स्मयध्वंसनस्मित" —भा०१०-३१-६

श्रीकृष्ण की मधुर मुसक्यान का चमत्कार देखिये—

लखी जिन लाल की मुसक्यान ।
तिनहिं बिसरी वेदविधि, जप, योग, संयम ध्यान ।।
नेम, व्रत, आचार, पूजा, पाठ, गीता, ज्ञान ।
रसिक 'भगवत' दृग दई, असि ऐंचि के मुख-म्यान ।।

यह मुसक्यान मुख-म्यान से निकली हुई तलवार है ! इसकी चोट को तो घायल गोपियाँ ही भलीभाँति जानती हैं, अर्थात् तात्पर्य यह है—

"एतज्जन्यसुखानां तदेकवेद्यत्वात् तत्प्रसादलभ्यमेवैतदिति तात्पर्यम्" —श्रीचैतन्यदास

श्रीकृष्ण के नैंन, बैंन, गति-विलास-परिरम्भन-हासादि का सुख गोपियों की स्वसंवेद्य वस्तु है । उनके भावानुगत होकर उनकी कृपा से ही सम्बन्ध-प्रणाली के द्वारा उनके हृदय के भोग और भाव का सुख प्राप्त हो सकता है, अन्यथा तो—सिंधु को प्राप्त होकर भी बिन्दु ही मिलता है—

"प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः" —राधा सुधानिधि

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—श्रीकृष्ण के विरह में प्रेम की जो दस दशाएँ होती हैं, उनमें से प्रथम दशा 'चिन्ता' का वर्णन पूर्ववर्ती चार श्लोकों में हुआ है । अब इस श्लोक से दर्शन-प्राप्ति तक के श्लोक-पर्यन्त सभी श्लोक श्रीराधा की उन्माद दशा के प्रलाप हैं ।

इस उन्माद में दो मुख्य लक्षण हैं—"भ्राममयी चेष्टा तथा प्रलापमय वचन" । अर्थात् कुछ करते कुछ कर उठना, तथा कुछ कहते कुछ कह बैठना, तथा कुछ देखते कुछ देख पड़ना । परन्तु इन सबमें श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम आदि के अतिरिक्त जगत का भान भी नहीं रहता । श्रीकृष्ण-प्रेमसिन्धु का महा आवर्त्त भी तो श्रीकृष्ण प्रेममय ही होगा । इस दिव्योन्माद अवस्था का सुन्दर वर्णन हमको "श्रीचैतन्य-चरितामृत" ग्रन्थ में श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के सम्बन्ध में प्राप्त होता है—

श्रीराधिकार चेष्टा जेनो उद्धव दर्शने ।
सेइ मतो दशा प्रभुर होय रात्रि दिने ।।
निरन्तर होय प्रभुर विरह उन्माद ।
भ्राममय चेष्टा प्रलापमय वाद ।।
रोमकूपे रक्तोद्गम दन्त सब हाले ।
क्षणे अङ्ग क्षीण होय, क्षणे अङ्ग फूले ।।

चटक पर्वत देखि गोवर्द्धन भ्रमे ।
धाइया चलेन आर्त्त करिया क्रन्दने ।।
उपवनोद्यान देखि वृन्दावन ज्ञान ।
ताहाँ जाइ नाचे गाय क्षणे मूर्च्छा जान ।।

विल्वमङ्गल के इन श्लोकों में भी हमको नाना प्रकार के विचित्र प्रलाप के दर्शन होंगे, जिनके विषय में बार-बार सिद्धान्त की आलोचना करना आस्वादन व्यघातक होगा। विशेष ज्ञान के लिये 'उज्वलनीलमणि' तथा श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध का 'भ्रमर-गीत' द्रष्टव्य है।

अब प्रकृत प्रसंग पर आइये ! श्रीराधा तथा गोपीवृन्द श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती-ढूँढ़ती यमुनातट पर सम्मिलित होकर विलाप करती हुई "**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः**" वचनानुसार श्रीकृष्ण का गुणगान कर रही हैं। अन्य गोपियाँ तो गान कर रही हैं, पर श्रीराधाजी मूर्च्छितावस्था में हैं। राम के समय में ही श्रीकृष्ण ने अपने श्रीअंग की पुष्पमाला जो गोपियों को पहनाई थीं, उनमें-से एक माला को लेकर सखी ललिता मूर्च्छिता श्रीराधा को आघ्राण कराकर सचेत करती हैं, और प्रबोध कराती हुई कहती हैं कि—"हे प्राणाधिके सखी राधे ! तुम जितनी ही कोमल चित्त हो-श्यामसुन्दर उतने ही निष्ठुर हैं, तुम उसकी इस दुःखदायी चिन्ता को भुला दो, और क्षण भर के लिये स्वस्थचित्त होकर सुखी होने की चेष्टा करो, सखी राधे ! इसके अतिरिक्त चित्त में शान्ति और सुख का लाभ अन्य किसी भी उपाय से नहीं होगा।

श्रीराधा – ललिते ! बताओ तो सही, अब मैं और क्या उपाय करूँ?

ललिता—मैंने पौर्णमासी देवी से सुना है कि निराकार-निर्विशेष-ब्रह्म की उपासना से हृदय, पत्थर बन जाता है और चित्त की वृत्ति प्रीति-रहित होकर शून्य हो जाती हैं। अतएव तुम अपने चित्त को ब्रह्म के ध्यान-धारणा में लगाने का उपाय करो, सखी विशाखा इस विषय में अत्यन्त चतुर है।

श्रीराधा—सखी विशाखे ! मेरी सहायता करो ? मुझे ब्रह्मसमाधि लगाना बताओ, तब विशाखा श्रीराधाजी से कहती हैं—सखी राधे ! पृथ्वी पर बैठकर मुक्त पद्मासन लगाओ, शरीर को सीधा कर लो, नेत्रों को नासिकाग्र पर जमा लो, प्राणों को रेचक द्वारा चित्त में स्थिर करलो। अब सुनो, मैं ब्रह्म का उपदेश करती हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो और समाधिस्थ हो

यह आत्मा ही ब्रह्म है, जीव और जगत्—सब मिथ्या है। एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है। सत्, चित्, आनन्द उसका स्वरूप है। वह सर्व व्यापक स्वयं प्रकाश सत्ता है। वह निरंजन, निष्कल, निरीह और निष्क्रिय है।"

उपदेश सुनाते-सुनाते विशाखा चौंक कर कहती हैं—सखी राधे! यह क्या? मैं ज्यों-ज्यों ब्रह्म स्वरूप का निर्देश करती हूँ त्यों-त्यों तुम्हारा अंग तो पुलकित होता जाता है! नेत्रों से अश्रुधारा विगलित होने लगती है सखि! प्रिय सखी राधे! यह तुम्हारी क्या दशा है? कहाँ तो ब्रह्म धारणा से तुम्हारा हृदय प्रीति शून्य होकर वृत्तिहीन, विकारहीन हो जाना चाहिये था और कहाँ सात्त्विक-विकारों से पूर्ण होता जा रहा है! हाय! यह तो बड़ा विपरीत काम हुआ?—ब्रह्मोपदेश का फल प्रेममय विकृति?

श्रीराधा ने कहा—सखि! मैं क्या करूँ? ज्यों-ज्यों तुम निराकार ब्रह्म का उपदेश करती हो, त्यों-त्यों मेरे हृदय में वही नीरदाकार नराकार चिरसुन्दर, चिरमधुर-रसिकेन्द्र-नटवर नागर-मणि श्रीकृष्ण की ही अधिकाधिक स्फूर्ति होती जाती है। मेरी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, रोम-रोम अणु-परमाणु सब श्याममय हो गये हैं! मैं कैसे करूँ? मैं जिसको भूलने-भुलाने के लिये नेत्रों को बन्द करती हूँ,—उसी को हृदय में सोता हुआ देखती हूँ—
"जारे चाइ पासरिते से जेनो शुचे आछे चित्ते"— चैतन्य चरितामृत

सखी! यह पता ही नहीं कि मेरे प्राण कृष्णमय हो गये हैं अथवा श्रीकृष्ण ने मेरे हृदय में प्राण बन कर अवतार ले लिया है।

प्राण भये कान्हमय कान्ह भये प्राणमय,
जानि न परत यह कान्ह है कि प्रान है।

हाय सखि! न मैं श्याम को भूल सकूँगी और न ब्रह्म की भावना करके ही मैं सुखी हो सकूँगी! आह! श्रीकृष्ण-प्रेम में इतनी ज्वाला? अमृत में इतना हलाहल?—यह कैसा विपरीत सामञ्जस्य है?

कृष्ण-विरह की ज्वाला में झुलसती श्रीराधा उन्माद की अवस्था में आप से आप ही प्रलाप करती हुई कहने लगती हैं—

बंधु कि आर बलिब आमि।
मरणे जीवने जनमे जनमे प्राणनाथ हैय तुमि॥
तोमार चरणे आमार पराणे बांधिल प्रेमेर फांसि।
सब समर्पिया एक मन हैया निश्चय हइलाम दासी॥

एकुले ओकुले दुकुले गोकुले आपना बलिब काय ।
शीतल बलिया शरण लइनु ओ दुटि कमल पाय ।।

—चण्डीदास

वन्धु (प्रियतम) ! मैं और क्या कहूँ ? बस यही चाहती हूँ,—मरण जीवन और जन्म-जन्म में एकमात्र तुम्हीं मेरे प्राणनाथ होओ, प्यारे ! तुम्हारे चरण और अपने प्राणों को मैंने प्रेम के फन्दे से बाँधा है, सब कुछ समर्पित करके एक मन एकनिष्ठ होकर निश्चय पूर्वक मैं तुम्हारी दासी बनी हूँ । इस कुल, उस कुल—दोनों कुलों तथा गोकुल में अब मैं अपना किसे कहूँ, दोनों चरण कमलों को शीतल जान कर ही मैंने उनकी शरण ली है । उन दोनों चरणों को हृदय पर रख कर नयनों को मूँदे रहती हूँ ।

इस प्रकार प्रलाप करती मूर्च्छा-अवस्था को प्राप्त श्रीराधा जी को प्रतीत होने लगा कि प्रियतम श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिये दैन्यभाव से विनती कर रहे हैं, उस समय श्रीराधा मानो श्रीकृष्ण की भर्त्सना करती हुई कहती हैं—हे श्यामसुन्दर ! मदनमोहन ! प्राणप्रिय कृष्ण ! ये मूढ़ गोपीगण तो तुम्हारी चंचल दृष्टि की, तुम्हारे सरस मधुर वचनों की, तुम्हारी गम्भीर विलासमय मन्थर चाल की, तुम्हारे गाढ़ालिंगन की एवं तुम्हारे उन्मादकारी हास-विलास की—**तव कथामृतं तप्त जीवनं कवि भिरीडितं कल्मषापहम्**" कह कर प्रशंसा कर रही हैं, किन्तु वे बड़ी भोली हैं। उनको यह भी पता नहीं कि—तुम कितने शठ, धूर्त्त तथा लम्पट हो ? तुम्हारी मोहिनी दृष्टि और मन्द स्मित निश्चित ही नारी के प्राणों के लिये मृत्यु-पाश है, तुम्हारी कथाओं को अमृत वर्षिणी बताने वाले तुम्हारे भक्तों ने यदि तुम्हारे व्यवहार को पहले पहचाना होता तो वे भी निश्चय पूर्वक कहते कि उसकी चर्चा-कथा अमृतमय नहीं—विषज्वालामय है ।"

विरह-संतप्ता श्रीराधा मानिनी बनकर इस प्रकार प्रलाप वचन बोल रही हैं । उसी दिव्योन्माद की अवस्था में भ्रम वश उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण मेरे अवज्ञा पूर्ण भरे वचनों को श्रवण कर चले गये हैं ?

बस—फिर तो श्रीराधा के विरह ने प्रचंड रूप धारण कर लिया और वे हाहाकार करती हुई दर्शन के लिये प्रार्थना करने लगीं, लीला शुक की उक्ति में आगे का श्लोक इसी भाव का द्योतक है—

मूल श्लोक प्रहर्षिणी छन्दः

अस्तोक-स्मितभरमायताक्षं
निःशेषस्तन-मृदितं व्रजाङ्गनाभि ।
निःसीम-स्तवकित-नील-कान्ति-धारं,
दृश्यासं त्रिभुवन-सुन्दरं महस्ते ॥२८॥

पद्यार्थ— **जिसकी मृदु मुसकान अपरिमित, लोचन लोल विशाल अहा ।**
कब देखूँगा, त्रिभुवन सुन्दर नील तेज कमनीय महा ॥
व्रज बालाओं के उरोज-कुज से आपीड़ित हो निःशेष ।
लगता पुष्प गुच्छ से मंडित जिसका अंग अंग सविशेष ॥

भावार्थ—वह अमन्द मुस्कराहट से भरा हुआ और त्रिभुवन सुन्दर आनन्द-प्रवाह जो नील कान्ति वाला होने पर भी व्रजांगनाओं के चन्दन-चर्चित कुच-कुड्मलों के गाढ़ आलिंगन द्वारा विशेष रूप से जो असीम पुष्प गुच्छों से अलंकृत सा लग रहा है—कब मेरे हृदय स्थल में प्रवाहित् होगा ? ॥२८॥

रसिका टीका--- इस श्लोक में व्रजाङ्गनाओं के सहित श्रीकृष्ण के महारास दर्शन की आकांक्षा है । विल्वमङ्गल के हृदय में जिस लीला की स्फूर्ति होती है—उसके साक्षात्कार के लिये वे प्रार्थना करने लगते हैं । यहाँ उनको रासरसोन्मत्त गोपी-जनवल्लभ श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति हुई है; अतः उनके दर्शन के लिये प्रार्थना करते हुए बोले—

कालिन्दी के कुञ्जपुञ्ज में विलसित वह कोई एक त्रिभुवन-सुन्दर परमाश्चर्यमय ज्योति है, वह मेरे नयन-गोचर हो । वह ज्योति आकारशून्य अथवा अवयवशून्य नहीं है । उसके युगल नयन कुमुद रूप हैं, जो अपनी विशालता से स्वयं तो सुशोभित हो ही रहे हैं, किन्तु उस मधुर मूर्त्ति के अधरोष्ठ पर जो मंद-हास्य-कौमुदी प्रकाशित हो रही है, उससे वे लोचन कुमुद और भी अधिक प्रफुल्लित होकर विलोचन हो रहे हैं, तथा मद रस से परिपूर्ण होकर चञ्चल भी हो रहे हैं, वह ज्योति स्वयं श्याम होती हुई भी गौर ज्योति से निःशेष रूप से समावृत है, क्योंकि यह महारास का प्रसंग है, अतः जितनी गौर ज्योति हैं—उतनी ही श्याम ज्योति भी हैं । तथा प्रत्येक श्याम तेज, गौर तेज से आलिङ्गित है,श्याम ज्योति की श्याम कान्ति धारा, स्तवक-समूह द्वारा व्याप्त हो रही है, अर्थात् ज्यों-ज्यों व्रजाङ्गनाएँ उनका

आलिंगन करती हैं, त्यों-त्यों उनके उरोजरूपी पुष्प गुच्छों के अंगरागयुक्त चिन्हों के द्वारा वह नील कान्ति धारा भी स्तवकित होती जाती है, अर्थात् श्रीअङ्ग चित्रांकित होता जाता है।"

तात्पर्य यह है कि—वृक्ष जैसे पुष्प के स्तवकों (गुच्छों) से सुशोभित होता है, वैसे ही आज यह श्याम तमाल (श्रीकृष्ण) भी गोपियों के उरोज-पुष्प-स्तवकों की प्राप्ति होने पर अतिशय शोभा को प्राप्त हो रहा है, मूर्तिमान् शृंगाररस भी अद्भुत शृङ्गार को प्राप्त होकर महा चमत्कार-युक्त हो गया है। नील कान्ति में पीत कान्ति के मिश्रण से अद्भुत हरित-कान्ति हो गई है, काले से हरे-भरे हो गये हैं।

जामें रस सोई हरो, यह जानत सब कोय।
गौर श्याम दौउ रंग विनु, हरो रंग नहिं होय॥
मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे श्याम हरित दुति होय॥

अतएव अब वह ज्योति "त्रिभुवन सुन्दर" हो गई है। "**त्रिभुवनेष्विह-मेव रासरसाविष्टं श्रीकृष्णस्वरूपं सुन्दरम्। नहि त्रैलोक्यवर्तिना केनापि व्रजवासी-पर्यन्तेनेदृश-सौंदर्यवान् कृष्णो-दृष्ट इत्यर्थः**" —गोपाल भट्ट। त्रिभुवन में यही एक मात्र रासरस विलासी श्रीकृष्ण स्वरूप सुन्दर है। राम के अतिरिक्त ऐसे सौन्दर्यवान् श्री कृष्ण का दर्शन औरों को तो क्या स्वयं ब्रजवासियों को भी प्राप्त नहीं हो सका, महारास में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के सहज रूप-सिंधु में एक अभूतपूर्व सौन्दर्य-माधुर्य का उच्छलन (उछाल) आ गया था। उस सौंदर्य के प्रति विशेष आकृष्ट होकर शुकदेव जी ने भी तीन बार इसका उल्लेख किया है—मानों त्रिवाचा पूर्वक शपथ ले रहे हों, देखिये भागवत का रास प्रकरण—

१—अन्तर्धान के पश्चात् जब श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर गोपियों का सब समाधान किया, तब उनका सब शोक निवृत्त हुआ और वे परम आनन्दित हुईं—उन प्रसन्नवदना गोपाङ्गनाओं के द्वारा समावृत भगवान् अच्युत इस प्रकार विशेष शोभा को प्राप्त हुए जिस प्रकार शक्ति के प्राप्त होने पर पुरुष की विशेष शोभा होती है—

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥
—भागवत १०-३२-१०

इससे यह ध्वनि प्रकट होती है कि अभी तक श्रीकृष्ण ऐसे ही थे जैसे बिना शक्ति के पुरुष, और अब जब उन्हें शक्तिरूपा गोपियों का सहयोग प्राप्त हुआ तो भगवान् भी सुभग-वान् हो गये।

२--फिर जब गोपियों ने यमुना पुलिन की रजतमयी बालुका के ऊपर आँसुओं से भीगी—काजल व कुंकुम से रंगी हुई अपनी ओढ़नियों को बिछा-बिछाकर अपने प्राणनाथ को उस पर विराजमान कराया, तो गोपी परिषद में बैठे भावग्राही प्रभु ब्रजेन्द्रनन्दन उनकी उस अहंता शून्य ममता-मयी प्रीति का आस्वादन कर परमानन्द में ऐसे प्रफुल्लित हुए कि त्रिलोकी की सुषमा उनके रोम-रोम से विकीर्ण होने लगी। इसको लक्ष्य कर शुकदेव जी भी मुग्ध हो गये और बोल उठे–

तत्रोपविष्टोभगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपी-परिषद् गतोऽचितस्त्रैलोक्य लक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥

—भागवत १०-३२-१४

इस प्रकार प्रेम से पूजित भगवान् गोपियों की सभा में तीन लोक की शोभा के धाम, योगीजनों के ध्यान के एकमात्र मुख्य आश्रयभूत वपु को धारण कर प्रकाशित हो रहे हैं।

३—पुनश्च महारास लीला में दो-दो गोपी के मध्य में श्रीकृष्ण प्रकट होकर नृत्य करने लगे, उस समय तीसरी बार शुकदेव जी बोले—

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हेमानां महामरकतो यथा॥

—भागवत १०-३३-७

उसी रास-मण्डल में भगवान् देवकीनन्दन उन गोपियों के द्वारा अतिशय शोभा को इस प्रकार से प्राप्त हुए, जिस प्रकार सुवर्ण की मणियों के मध्य में मरकतमणि शोभा को प्राप्त होती है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण का माधुर्य, रासविलास में गोपियों के साहचर्य को प्राप्त करके ही परमावधि को प्राप्त हुआ है।

श्रीजीव गोस्वामी महानुभाव 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' की टीका के आरम्भ में ही लिखते हैं कि—"**रस-विशेष-परिकर-वैशिष्ट्येनाविर्भाव-वैशिष्ट्यं दृश्यते**" रस विशेष के परिकर की विशेषता से ही स्वरूप के आविर्भाव में विशेषता दिखाई देती है। इसी लिये ऐश्वर्य-परिकरों के सन्मुख ऐश्वर्य का तथा माधुर्य-परिकरों के सन्मुख माधुर्य का विशेष प्रकाश होता है।

प्रीति की भाँति माधुर्य भी उभयनिष्ठ होता है, किन्तु विषय तथा आश्रय दोनों ही स्वजातीय होंगे तभी माधुर्य का प्रकाश परिपूर्ण होगा। यदि आश्रय (भक्त परिकर) में माधुर्य नहीं है तो विषय रूप श्रीकृष्ण का ग्रहण चाहने पर भी—क्रिया करने पर भी, नहीं हो सकता। भगवान् के स्वरूप में तो समग्र श्री-सौन्दर्य-माधुर्य हैं ही, परन्तु उसको भोग करने की सामर्थ्य भी तो भगवान के समान ही होनी चाहिये, तभी उसकी सम्पूर्ण उपलब्धि हो सकेगी। जिसमें जितनी अधिक सामर्थ्य है,वह उतना ही अधिक माधुर्य का उपभोग कर सकता है, इसी लिये वैरी से अधिक प्रजा, प्रजा से अधिक दास, दास से अधिक माता-पिता, माता पिता से भी अधिक मित्र-सखा-गण, इनसे भी अधिक कान्ता—गोपी वर्ग, और इनसे भी अधिक श्री-कृष्ण के माधुर्य का विशेष आस्वादन होता है—"**राधा माधुर्य वेत्ता मधुपतिश्च, तन्माधुरीं वेत्ति राधा**—राधा सुधा निधि। इसी लिये सर्वश्रेष्ठा श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। राका तिथि रूपा श्रीराधा को प्राप्त होकर ही श्रीकृष्ण पूर्ण चन्द्र हैं। व्रज के रसिकजन शक्ति-शक्तिमान के इस मौलिक शुष्क सिद्धान्त को सरस बनाकर कहते हैं—

शंकर ह्वै कब रास रच्यो अरु बामन ह्वै कब गोपी नचाई।
मीन ह्वै कौन के चीर हरे कछुआ ह्वै कै कब वीन बजाई॥
होय नृसिंह कबै हरि जू तुम कौन की छतियन रेख लगाई।
वृषभानु सुता प्रगटी जब ते तब ते तुम केलि-कला-निधि पाई॥

बिल्वमंगल भी यही कह रहे हैं कि यह रास-विलासी-गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्ण ही त्रिभुवन को सुन्दर उज्ज्वल करने वाली तथा स्वयं सर्वोपरि सुन्दर स्वप्रकाशमय आश्चर्य ज्योति है।

श्रीकवि कर्णपूर ने भी अपने आनन्द वृन्दावनचम्पू ग्रंथ में इस कुञ्ज-क्रीड़ाकारी अंजन-घन-गञ्जन, महा महोदय की सुन्दर वन्दना की है—

विदग्ध-मुग्ध-सुन्दरी-कदम्ब-चुम्बमम्बरं,
सुमंजु-कुञ्ज-कुञ्जरं नवाञ्जनौघ-गंजनम्।
अनंग-रंग-मंगल-प्रसंग-तुङ्ग-संगरं,
रहो महो महोदयं नुमो नुमो नुमो नुमः॥

यह 'महोदय' भी ऐसे नयन-हृदय-ग्राही हैं कि कवि उनके श्रीचरणों में लोट पोट होकर नुमो नुमो, न-मैं-न-मैं-न-मैं कहते मानों उस ज्योति में ही लीन हो गये हैं।

अन्तरंग लीला-परक अर्थ में–श्रीकृष्ण के अदर्शन से विरह-ताप-दग्धा श्रीराधा परमोत्कण्ठा पूर्वक कह रहीं हैं—"हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारी उस कान्ति के दर्शन मुझे कब होंगे ? तुम्हारे मुख मण्डल पर चन्द्रकिरणों की भाँति छिटकने वाला मंद-स्मित, वे दीर्घायत युगल लोचन कब मेरे नयन गोचर होंगे ? व्रज सुन्दरियों द्वारा आलिंगित तुम्हारी वह रमणीय मूर्ति, पयोधर रूप स्तवकों से व्याप्त–नील-कान्ति-धारा-समन्वित वह त्रिभुवन-कमनीय श्रीअंग, कब मेरे नयन-पथ-गामी होगा ?

यह प्रलाप तथा आगे के तीन प्रलापों में सुजल्प नाम का चित्र-जल्प है। जिसमें सरलता के कारण गाम्भीर्य, दैन्य, चपलता तथा उत्कण्ठा पूर्वक संवाद पूछा जाता हो--उसे सुजल्प कहते हैं। इस प्रलाप में चारों लक्षण उपस्थित हैं।

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः

मयि प्रसादं मधुरैः कटाक्षैर्वंशीनिनादानुचरैर्विधेहि।
त्वयि प्रसन्ने किमिहापरैर्नस्त्वय्यप्रसन्ने किमिहापरैर्नः ॥२९

पद्यार्थ— **वंशीरव के साथ थिरकते नयन युग्म से, हे घनश्याम।**
कर दो अब तो कृपा दृष्टि की सृष्टि चातकी पर अविराम॥
जो मिल गया प्रसादन तेरा, तो फिर क्या औरों से काम।
जो मिल गया प्रसाद न तेरा, तो फिर क्या औरों से काम॥

भावार्थ—वंशी-निनाद के सहचर अपने मधुर कटाक्षों से, हे पुण्डरीकाक्ष ! अब तो कृपा कर दीजिए। हे नाथ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो फिर हमें दूसरों से क्या मतलब और यदि आप अप्रसन्न हैं, तो भी दूसरे लोग हमारे किस काम के ?

रसिकाटीका––इस श्लोक में स्वाभीष्ट पदवी की प्राप्ति के निमित्त श्रीकृष्ण कृपा की प्रार्थना है। विल्वमंगल के अनुचर वैष्णव गण मानों ऐसी शंका कर रहे हैं कि--हे स्वामिन्,आपकी ऐसी अप्राप्य-दुर्लभ-महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति कैसे होगी ? प्राप्ति का साधन क्या है ? सो तो बताइये ? विल्वमंगल इस समाधान के निमित्त ही मानो यह श्लोक उच्चारण करते हुये बोले कि—'हे नाथ ! पहले तो आप अपनी सर्वाकर्षिणी वंशी बजाकर मुझे सूचित कर देना, उसके पश्चात् अपने कटाक्ष रूप अनुचर को भेज कर मुझ को अपना प्रसाद प्रदान कर देना। जैसे वंशी ध्वनि ने व्रजांगनाओं के श्रवण में प्रवेश कर उनके प्रेम को प्रदीप्त करदिया था,उनके हृदय को,जैसे किसी ग्रह

ने ग्रसित कर लिया था और देहानुसन्धानविस्मृत करा कर आपके समीप आकर्षित कर लिया था वैसी ही कोई कृपा मुझे भी प्रदान करें। मेरी दृष्टि में तो बस यही एक वंशी-ध्वनि ही सब साधनों का साधन है, इसकी ध्वनि एक बार भी मेरे श्रवण में पड़ जाय तो यह हृदय का बहिर्मुख-प्रवाह उलट कर आपके अभिमुख हो जाय और अन्त में गोपियों की भाँति आपको प्राप्त होकर महारास-रस-सिन्धु में निमग्न हो जाय ? फिर यह चित्त एक पग भी इधर उधर नहीं जायेगा। कहीं जाने की इच्छा ही नहीं होगी, दुतकारेंगे तब भी यह लौटने का साहस नहीं करेगा।

वंशी-ध्वनि का प्रवाह स्वतः ही आपसे विमुख नहीं होने देता, क्योंकि संसार के सभी प्रवाह नीचे की ओर बहा कर ले जाते हैं, किन्तु वेणुध्वनि का प्रवाह तो प्रतिकूल—ऊपर की ओर खींचता है—

'सर्वः प्रवाहः सर्वत्र स्वानुकूल्येन कर्षकः।
वेणु-ध्वनि प्रवाहन्तु प्रातिकूल्येन कर्षति॥

—गोपालचम्पू

हे श्यामसुन्दर ! यदि आप कभी अपनी इस वंशी-नाद-लहरी के प्रवाह में पड़े होते तो पता चलता कि यह आप तो नीचे की ओर बहती हैं, परन्तु अपने बीच में पड़ी हुई वस्तु को ऊपर की ओर बहा ले जाती है। प्रवाह में पड़ने वाले को यह अपने मूल स्थान तक पहुँचा देती है। यह वंशी ध्वनि गंगासागर में बहा देने वाली गंगा नहीं है, यह तो गंगोत्री को प्राप्त कराने वाली नाद-गंगा है ? ऐसी साधन—शिरोमणि है यह वंशी-ध्वनि, अन्य समस्त साधनों में कोटि-कोटि विघ्न हैं, उनका फल भी अनिश्चित ही रहता है—ऐसा हृदयंगम करके ही विल्वमंगल इस विचित्र प्रवाहवती वंशी-ध्वनि के प्रसाद के लिये याचना कर रहे हैं कि—"हे दीनवन्धो ! मुझ सर्व साधन शून्य को एक बार अपनी वंशी तो सुना दो।

और जहाँ वंशी ध्वनि है—वहाँ मधुर कटाक्ष तो है ही। चाहें तो पहले कटाक्ष कृपा करें फिर वंशी-ध्वनि, अथवा पहले वंशी ध्वनि हो, पीछे कटाक्ष का दर्शन हो, एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना एक नहीं है। दोनों ही कारण हैं, दोनों ही कार्य हैं। वंशी की भाँति आपके कटाक्षों में भी मधु है, मादकता है, ये अन्य रस के विस्मारक हैं, प्रेम रस प्रदायक हैं। हे प्रभो ! **"अस्मज्जीवन-सर्वस्वभूत-त्वन्नामश्रवणमात्रमेव परम्। यदि पुनस्त्वं वंशी-**

नादानुचर-कटाक्षामृतेनास्मान् सिञ्चसि तदा किं वक्तव्यमिति महानुत्कर्ष चमत्कारः" —श्री गोपाल भट्ट । सकल-निगम-कल्पतरु का फल आपके मधुर-मङ्गलमय अमृतमय नाम के श्रवण-मात्र से ही जीवन का कल्याण होता है, उस पर भी यदि आप सहज करुणा करके अपनी दिव्य रसामृतमयी वंशी की ध्वनि को श्रवण कराने की तथा नयन-कटाक्षों के दर्शन कराने की कृपा कर दें तो फिर रसोत्कर्ष-आनन्दोत्कर्ष प्रेमोत्कर्ष तथा हमारा सौभाग्योत्कर्ष—सब कुछ चमत्कार पूर्ण परावधि को प्राप्त हो जाय । प्रभो ! यह केवल आपकी कृपा पर ही निर्भर है । आपके प्रसन्न होने पर ही प्रसाद की प्राप्ति होती है । इस प्रसाद से अति दुर्लभ-दुर्गम वस्तु भी सुलभ और सुगम हो जाती है। आप प्रसन्न हो जाँय तो—अन्य साधनों से प्रयोजन ही क्या ? और यदि आप प्रसन्न नहीं हैं तो अन्य समस्त साधनोंसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ? आपकी प्रसन्नता ही हमारे लिये एकमात्र साधन और साध्य है । व्रज-गोपियों ने भी यही कहा था—"हे श्यामसुन्दर ! आप ही सर्व धर्म के तथा सर्व देव के मूल स्वरूप हैं। आपकी आराधना में ही सब की आराधना है।

"अस्त्वेवमेव तदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा"

—भागवत १०-२९-३२

नारदजी भी तो यही कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

—भागवत ४-३१-१४

हरीराम व्यास जी की उक्ति भी इसी प्रकार है—

राधावल्लभ ध्याय कै, और ध्याइये कौन ?
व्यासहिं देत बनै नहिं, बरी बरी प्रति लौन ।

रहीमदास जी ने भी यही कहा है—

पात पात को सींचवो, बरी बरी को लौन ।
रहिमन ऐसी बुद्धि ते काज सरैगो कौन ?

तभी तो चतुर विल्वमङ्गल तूल को त्याग कर मूल की प्रार्थना कर रहे हैं । ब्रह्मा जी ने भी अपनी स्तुति में भगवद् कृपा को मुख्यतम साधन बताया है । यथा:—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

—भागवत १०-१४-८

हे प्रभो ! जो व्यक्ति अपनी तथा औरों की प्रत्येक क्रिया में एकमात्र तुम्हारी कृपा के ही सुन्दर खेलों को निरन्तर देखता हुआ अपने किये हुए भले-बुरे कर्मों का फल भोगता रहता है, तथा मन, कर्म, वाणी से आपको नमस्कार करता हुआ जीवन व्यतीत करता है–उसको आपके मुक्ति पद में अर्थात् परम प्रेम पद में दाय-भाग (न्यायिकभाग) प्राप्त हो जाता है ।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में–महारासमें श्रीकृष्णके अलक्षित होने पर राधा कह रही हैं––"हे प्राणनाथ ! आपका विरह अब और अधिक सहन नहीं होता, आपने जैसे तब अपनी कटाक्ष भंगी के द्वारा मुझे कुञ्ज में प्रेरित किया था, वैसे ही अब भी कृपा कर मेरे नयनों के सन्मुख प्रकट होकर वही कटाक्ष वही वंशी-ध्वनि एक बार पुनः श्रवण कराने की कृपा करें, प्रथम वंशी के द्वारा पुनः कटाक्षों के द्वारा इङ्गित करें । अथवा प्रथम कटाक्ष––पश्चात् वंशी-ध्वनि के द्वारा प्रेरणा प्रदान करें । दोनों ही मधुर हैं, दोनों ही इतर-रस-विस्मारक हैं, एवं दोनों ही प्रेम प्रदायक हैं । श्रीराधा की इस प्रार्थना को श्रवण कर श्रीकृष्ण मानों उत्तर देते हैं कि—"हे श्रीराधे ! गोपी मण्डली के मध्य में इस प्रकार कटाक्ष-पात करने पर ये सब गोपियाँ तुम पर और मुझ पर और अधिक रुष्ट होंगी । अतः ऐसी प्रार्थना मत करो, क्योंकि इस समय सखियों के साथ रहना ही उचित है । तब श्रीराधा दिव्योन्माद की अवस्था का गर्व कर दैन्य–पूर्वक उत्तर देती हैं–'हे प्राणनाथ तुम यदि प्रसन्न हो, तो फिर मुझे इन सहस्रों गोपियों से प्रयोजन ही क्या है ? (इस वाक्य से गर्व सूचित होता है) और यदि तुम अप्रसन्न ही हो ? अर्थात् मेरे समीप प्रकट न होकर अपने कृपा-कटाक्ष द्वारा मुझे कुञ्ज में प्रेरित न करोगे तो फिर इन गोपियों की प्रसन्नतासे ही मेरा क्या प्रयोजन ? ये सब निरर्थक हैं (इस वाक्य से दैन्य प्रकट होता है)।

अन्य गोपियों से पृथक् होकर श्रीकृष्ण के साथ निकुञ्ज प्रवेश की इच्छा क्या श्रीराधाजी की निज-सुख-अभिलाषा की द्योतक है ?–ऐसा समझना अपराध है, महाभाव स्वरूपिणी श्रीराधा के पास अपना तो कुछ है ही नहीं, वे तत्सुख-सुखित्व में विभोर हैं, कुञ्ज गमन की प्रार्थना भी श्री कृष्ण को सुख प्राप्ति कराने हेतु है, स्वार्थ के आवरण में प्रियतम श्रीकृष्ण का ही सुख अभिप्रेत है ।

गोपी मंडल में श्रीकृष्ण को जो सुख प्राप्त होता है—उससे शत-सहस्र गुना अधिक सुख श्रीराधा के संग से प्राप्त होता है । क्योंकि श्रीराधा

सर्वभावोद्गमोल्लासिनी हैं—समस्त नायिकाओं का भाव एक श्रीराधा में ही परिपूर्ण रूप से विद्यमान रहता है ।

"सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनी सारो राधायामेव यः सदाः ॥
'यथा स्युर्नायिकावस्था निखिला एव माधवे ।
तथैव नायिकावस्था राधायां प्रायशो मताः ॥

—उज्ज्वल नीलमणि

तात्पर्य—श्रीकृष्ण को जितना सुख अनन्त कान्ता-वर्ग से प्राप्त हो सकता है, वह समस्त सुख तथा उससे भी अधिक सुख प्रदान करने में एक श्रीराधिका ही समर्थ हैं । इसी लिये उनका नाम है राधा—"राध्नेति सकलान् कामान् तस्माद्राधेति कीर्त्तिता" जो श्रीकृष्ण की समस्त कामनाओं को अकेली ही पूर्ण करने में समर्थ हो—वह है राधा ।

इसी लिये श्रीराधा को आगम-तंत्रों में 'परदेवता' कहा है—

"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता"
"वाम भागे स्थितां तस्य राधिकां परदेवताम्"
सर्व लक्ष्मीमयी सर्व कान्तिः सम्मोहिनी पराः ।

"परस्य पुरुषोत्तमस्य तस्यैव देवतामिवाराध्यामिति—विशुद्ध रस दीपिका ।

अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी जो देवता—अर्थात् जो अभीष्टदायक आराध्यदेव है, वह पर देवता-श्रीराधा है—

कृष्णमयी कृष्ण यार भीतरे बाहिरे । जहाँ जहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे ॥
कृष्ण वाच्छा पूर्तिरूप करे आराधने । अतएव राधिका नाम राणे पुराखाने ॥
किंवा कान्ति शब्दे कृष्णेर सब इच्छा कहे । कृष्णेर सकल वाच्छा राधा तेई रहे ॥
राधिका करेन कृष्णेर वाच्छित पूरण । सर्व कान्ति शब्देर एइ अर्थ विवरण ॥
राधा पूर्ण शक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान दुइ वस्तु भेद नाहिं शास्त्र परमान ॥
जगतमोहन कृष्ण ताँहार मोहिनी । अतएव समस्तेर परा ठकुरानी ॥

—चैतन्यचरितामृत

सब ठाकुर को ठाकुर हरि है, ता ठाकुर को ठाकुर ठकुराइन ।
मान-दान दै प्रान प्रिया पति, रति जाचत परताप दुराइन ॥

— बिहारिनिदास

अतएव श्रीकृष्ण की सर्वाभिलाषा पूर्ति के लिये ही श्रीराधा की यह प्रार्थना है ।

व्रजेश्वरी आद्याशक्ति श्रीराधा की कृपा से ही शिव, शुक, सनकादि और ब्रह्मा तक सभी अपने कार्योंमें सफल हो सके हैं । इतना ही नहीं,अपितु श्रीराधा की कृपा से ही व्रजेन्द्रनन्दन व्रजविहारी श्रीकृष्ण त्रिलोकी के अधीश्वर बने हैं, और व्रजविहारी का पद प्राप्त किया है–

एक भक्त का भाव देखिये—

जाकी कृपा सुक ज्ञानी भये, अतिदानी औ ध्यानी भये त्रिपुरारी ।
जाकी कृपा विधि वेद रचे, भये व्यास पुरानन के अधिकारी ॥
जाकी कृपा तें त्रिलोकी-धनी, सु कहावत श्रीव्रजचन्द-विहारी ।
लोक घटा तें 'हठी' को बचाउ, कृपा करि श्रीवृषभानु-दुलारी ॥

सच्चा प्रेमी अपने प्रेम पात्र के प्रति यह कभी नहीं कहता कि—तुम मेरे बिना बड़े दुःखी होगे ! मेरे बिना तुम्हारा दुःख कौन दूर करेगा, इस लिये क्यों इधर-उधर सुख के पीछे भटकते हो ? मेरे पास तो आओ ! मैं तुम्हें तृप्त कर दूँगा—ऐसा कह कर वह स्वयं शाह और प्रेमास्पद को ऋणी बनाना नहीं चाहता, वह तो अपने प्रिय को मान-दान देकर भी सदा उसका दास अथवा दासी बनना चाहता है—इसीलिये वह स्वार्थ-सुख से नहीं, प्रिय के सुखास्वादन के लिये कहता है—"हाय ! प्यारे ! मैं अत्यन्त ही दुःखी हूँ । तुम्हारे बिना मेरा दुःख कौन दूर कर सकता है ? इस लिए प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दो । मेरे दुःख को दूर करो!'

श्रीराधा की प्रार्थना का तात्पर्य श्रीकृष्ण सुख में ही पर्यवसित है, 'मुझे सुखी करो'—का तात्पर्य 'तुम सुखी होओ' में है, प्रेम की भाषा, प्रेम के नियम जगत के व्यवहार से विपरीत होते हैं,इसके सम्बन्ध में श्लोक ८७ में सतीत्व-असतीत्व का प्रसंग द्रष्टव्य है ।

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः—

निबद्ध-मूर्धाञ्जलिरेष याचे नीरन्ध्रदैन्योत्तिन्नमुक्तकण्ठम् ।
दयाम्बुधें देव भवत्कटाक्ष-दाक्षिण्य-लेशेन सकृन्निषिञ्च ॥३०

पद्यार्थ— **नग्न दैन्य के प्रखर-शिखर पर चढ़कर मुक्त कण्ठ से नाथ ।**
माँग रहा हूं नत मस्तक हो और जोड़ कर अपने हाथ ॥
एक बार, बस एक बार, हे करुणाकर, ऐसा कर दो ।
निज कटाक्ष के आनुकूल्य-लव से मेरा अन्तर भर दो ॥

भावार्थ—हे करुणा वरुणालयदेव ! निराहृत दैन्य की पराकाष्टा के कारण मैं तो नतमस्तक हो हाथ जोड़ कर बार-बार यही माँगता हूं कि आप अपनी कृपा कटाक्ष की अनुकूलता के लेश-मात्र से ही केवल एक बार मेरे शुष्क हृदय को माधुर्य-प्रेम से अभिषिञ्चित कर दीजिए—मुझे अपना लीजिए।

रसिका-टीका—श्री विल्वमङ्गल का चित्त परम-दुर्लभ रसराज शृंगार-रस में आविष्ट हो रहा है किन्तु इस रस तत्व की प्राप्ति कठिन ही नहीं--असम्भव जैसी है, ऐश्वर्य-वैभव में उलझे साधक वृन्दावन के रस-तत्व को नहीं पहचान सकते, शुक सनकादि जैसे ऋषि मुनि भी भेद को नहीं समझ पाते—

शुक सनकादि न जानत भेवा। यद्यपि करत बहुत विधि सेवा।
वैभवता में सब अरुझाने। नित्य विहारी नहीं पहिचाने॥
यह रस जो समुझे सो जाने। और भजन विधि मन नहिं आने।

—ध्रुवदास

भक्त शिरोमणि लीलाशुक विल्वमङ्गल तो इस महादुर्लभ रससार की प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञा कर चुके हैं (देखिये २२ वें श्लोक में) वे कहते हैं "श्रीवृन्दावनविहारी-विहारिणी के बिना मैं अन्य किसी की ओर नेत्र उठा कर दृष्टिपात भी नहीं करूँगा, चाहे मैं घर में रहूं या वन में, भोगी बनूँ या योगी, परन्तु दर्शन की आशा-अभिलाषा का त्याग करने में असमर्थ हूँ'। निश्चय तो इतना दृढ़ है–परन्तु उपाय क्या ? उपाय तो केवल उनकी अहैतुकी कृपा ही है—

एक कृपा करि होय सो होई। साधन सिद्ध रह्यो नहिं कोई।
जितने साधन उर में धरहीं। तितने या बिच अंतर करहीं॥
सब तजि सदा मनावे याही। औरन ते मन धरि अवज्ञाहीं॥
"श्रीहरिप्रिया" परमपद चाहै। तो या बिन न आन उपा है॥

—महावाणी

विल्वमंगल इसी कृपा कटाक्ष के लिए पुनः पुनः अनेक प्रकार से प्रार्थना कर रहे हैं। पूर्व श्लोक की भाँति इस श्लोक में भी यही कृपा याचना करते हैं, वे कहते हैं—

याचौं एकहि कन को दान।
कहा घटि जैहै तुम्हरो दयानिधि, तुम सागर रसखान॥

उर सर छोटो सो भरि जैहै, पूरन होय मम काम।
तुमहि देव या रस के स्वामी, रसिक शिरोमणि नाम॥
हाथ जोरि सिर धारि प्रभु जु, करौं चरण परणाम।
एकहि वेर सुहेरहु टेर यह, 'प्रेम' सिराबहु प्राण॥

अर्थात् हे दया के सागर ! हे दान के सागर ! आप अकामी भक्तों को भक्ति प्रदान करते हैं, सकामी जनों की सर्व कामनाएँ पूर्ण करते हैं, तथा मोक्ष कामी को मोक्ष देते हैं, **'अकामः सर्वकामो वा मोक्ष काम उदारधी'** इत्यादि में प्रसिद्ध ही है। फिर मुझ अनाथ का हाथ क्यों नहीं पकड़ते !

हे शृंगार रस के देवता ! इस महान रस के दान करने का सर्वाधिकार भी तो आप ही का है। जगत् में नर-नारी, ऋषि-मुनि, देवता आदि जिस किसी को भी यह रस प्राप्त हुआ है–वह आप ही के द्वारा हुआ है। अतः यह देखो प्रभो। मैं भी अञ्जलि बाँध कर अपने मस्तक पर रखता हूँ और अत्यन्त दीनता के साथ आपको प्रणाम करता हुआ मुक्त कण्ठ से यह याचना करता हूँ कि हे देव ! हे दयाम्बुधि ! एक बार, केवल एक बार प्रसन्न होकर अपने कृपा-कटाक्ष की एक धारा में-से उदारता की एक बूँद मेरे ऊपर भी छिड़क दो नाथ ! वह एक बूँद ही मेरे लिए रस-सरोवर हो जायगा, एक कृपा-कन ही अनंत कालके लिए मेरा जीवन-धन बन जायगा, यह बाह्यदशा का वर्णन है।

अन्तरंग-लीलापरक अर्थ में–प्रणय-लालसा के कारण अतिशय दैन्य भाव के उदय होने पर श्रीराधा उन्माद की अवस्था में यह प्रलाप पूर्ण प्रार्थना कर रही हैं कि–हे देव ! हे गोपीजनवल्लभ ! हे क्रीड़ा-रस-रसिक ! तुमको प्राप्त करने की मेरी आशा तो दुस्त्यज है, परन्तु तुम्हें पाऊं तो पाऊं कैसे ? हाँ ! एक भरोसा है। तुम दयाम्बुधि हो ! अतः मुझ दीन अबला पर दया करो ! तुम रस के देवता हो, मुझे रस प्रदान करो ! परन्तु यदि प्राणेश मुझ पर अनुग्रह करने में आपकी रास-क्रीड़ा में कोई बाधा पड़ती हो तो भले ही मैं विरह ज्वाला में दहकती रहूँगी पर आप, अपने उत्सव को भंग कर मुझ को उत्सव प्रदान न करें। प्राणवल्लभ ! आप अपना रासोत्सव मेरे लिये भंग क्यों करते हैं ? आप साक्षात् प्रकट होकर रास के लिये समागत इन व्रज बालाओं के साथ मिलकर सुखपूर्वक रास विलास करें। मेरी चिन्ता न करें, मुझे तो केवल आपके उदारता पूर्ण कृपा–कटाक्ष का दर्शन

भर हो जाय, जिससे मेरे तन, मन शीतल हो सकें, आपके मन्द हास युक्त मुखचन्द्र के अवलोकन से और कटाक्ष युक्त दृष्टिपात से मैं यह समझ लूंगी कि आप मेरे अनुकूल हैं, मुझ पर प्रसन्न हैं, बस, हे प्राथनाथ ! इतनी-सी कृपा के लिये मैं अञ्जली-बद्ध हो, नत मस्तक हो, मुक्त कण्ठ से याचना कर रही हूँ कि आओ-प्रकट होकर दर्शन दो ।"

मूल श्लोक प्रहर्षिणी छन्दः

पिच्छावतंस-रचनोचित-केश-पाश
पीन-स्तनी-नयन-पङ्कज-पूजनीये ।
चन्द्रारविन्द-विजयोद्यत-वक्त्र-विम्बे
चापल्यमेति नयनं तव शैशवे नः ॥३१॥

पदार्थ— मोर पिच्छ के आभरणों से जिसका केश-कलाप कलित है ।
पीनस्तनी किशोरी-कुल के नयन-कंज से जो पूजित है ॥
रजनीनाथ-सरोज विजय को उद्यत तेरा शिशु मुख-मण्डल ।
दर्शन-हेतु सदा करता रहता मेरे नयनों को चञ्चल ॥

भावार्थ— जिसका केश-कलाप मयूर-पिच्छ के आभरणों से अलंकृत है और जो पीनस्तनी गोपांगनाओं के नयन-नीरजों से समभ्यर्चित होने के सर्वथा योग्य है तथा जिसका मुख अपने सौंदर्य-माधुर्य आदि गुणों से चन्द्रमा और कमल-दोनों को ही परास्त कर देने में सक्षम है—ऐसे आपके उस बाल-मुख मण्डल के अवलोकनार्थ मेरी आँखें अत्यन्त अधीर हो रही हैं ।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में विल्वमङ्गल अत्यन्त दैन्य के साथ श्री कृष्ण कृपा की याचना कर रहे थे । उनके स्थायी भाव मधुरा-रति में यह एक दैन्य संचारी की तरंग थी । उस तरंग के शान्त होते ही पुनः उसी माधुर्य का अनुभव करने लगे हैं, श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग सौन्दर्य-माधुर्य-चापल्य की चित्त में पुनः स्फूर्ति हो आई है, उसके आस्वादन के लिये वे मुग्ध होकर प्रार्थना करते हुए बोले—

हे सौन्दर्य सिन्धु ! आपकी यह शैशव अवस्था मेरे चित्त को चञ्चल कर रही है ।

हे मेरे किशोर ! मेरे 'शैशव' शब्द से आप रुष्ट मत हो जाना । क्या करूँ, मुझे आप को 'बाल' 'शिशु' कहने का अभ्यास-सा पड़ गया है । अहा !

आपके नव यौवन के ऊपर यह शिशुता की झलक कितनी मधुर मनोहर लग रही है इसे आपके नैन कैसे पहचान सकते हैं ? और आपके श्याम सुचिक्कण केश-कलाप के ऊपर चूड़ामणि उसके ऊपर सुरंग पाग, उस पर रत्न-जटित मयूर-चन्द्रिका और उस पर कलंगी तुर्रा फहरा रहा है, कितने सुन्दर लगते हैं आप ?—

सीस सुचिक्कन केस मञ्जु बाँध्यो कसि जूरा,
तापर गोल अमोल लसै मनि अद्‌भुत चूरा ।
तापर बाँधी पाग जरकसी कसी मरोर की,
बांकी खिरकिन दार पीत रस रंग जोर की ।
अग्रभाग सिर पेंच जराऊ ता ऊपर है कलगी,
तुर्रा पच्छिम भाग सर्व उपमा है अलंगी ।

—भगवत रसिक

और यह नटखट मोर-पंख तथा कलंगी-तुर्रा पहन कर करता क्या है—

इक टक मो तन नैंन लगावै, गावै तान लगौंही ।
हंसौं नहीं तौ मोहि हँसावै, कहि-कहि बात हँसौंही ।।
लौनी मूरति मेरो मन ललचावै, मान करों सो योंही ।
वल्लभरसिक हिये घुसि जावै,हौं जु लगी तो लगौंही ।

× × × ×

मोर पंख कर डुलें-डुलें कलंगी पुतरी लों वरजें ।
अरे यहाँ रूप-कहर-दरयाउ, आउ जिन,नाव धरम की लरजें ।।

—वल्लभरसिक

फिर उस रूप-कहर-दरियाव में पड़कर भला किसका चित्त ठिकाने रह सकता है फिर हमारा चित्त चंचल क्यों नहीं होगा ? इसके अतिरिक्त आपके चारों ओर जो किशोरी व्रजबालायें हैं, वे अपने नैंन-कमलों से आप की पूजा कर रही हैं । उस पूजा से आपकी शोभा चौगुनी हो गई है । पूजा और पुजारी से ही तो देवता की शोभा बढ़ती है, मान्यता मिलती है ।

इन नैंनों की पूजा भी अद्‌भुत है ! आपके ये नेत्र रूप और रस के फव्वारे हैं । फव्वारे तो न छूटने तक बँधे रहते हैं, पर नैंन फव्वारे न छूटने तक खुले रहते हैं और छूटने पर बँध जाते हैं ।

नैंन फुहारे रूप के, रूप-रूप बंधि जाहिं ।
इनकी छूटन में बंधनि, फिर नैंनन की आहि ।

छूटि बँधनि में बँधि बँधि छूट।
वल्लभरसिक नैन सुख लूटैं॥

इस प्रकार गोपियाँ भी नैंन कमलों के द्वारा सर्वस्व निवेदन कर आपकी पूजा कर रही हैं पूजा के दर्शन के लिए हमारे नैंन चंचल हो रहे हैं।

आपका मुख-मण्डल चन्द्रमा तथा कमल के ऊपर विजय प्राप्त कर रहा है। आप अपने चौंसठ कलाओं से युक्त मुखचन्द्र के द्वारा दशों दिशाओं को आलोकित कर रहे हैं तथा पिपासित अनन्त गोपी-दृक्-चकोरियों को चन्द्रिकामृतपान करा कर जीवन प्रदान कर रहे हैं। तथा अपने प्रफुल्ल वदनारविन्द के सरस-मधुर-मादक-मकरन्द का पान करा कर गोपी-नयन मधुकरी को उन्मादित कर रहे हैं—

नमो नमो जय श्री गोविन्द।
आनंदमय व्रज सरस सरोवर, प्रगटित विमल नील अरविंद॥
जसुमति नीर नेह नित पोषित, नव नव ललित लाउ सुख-कन्द।
व्रजपति तरनि प्रताप प्रफुल्लित, प्रसरित सुजस सुबास अमन्द॥
सहचरि जाल मराल संग रंग, रस भरि नित खेलत सानन्द।
अलि गोपीजन नैंन "गदाधर" सादर पिबत रूप-मकरन्द॥

अन्तरंग-लीलापरक अर्थ में—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये श्री राधा की दैन्यभावपूर्ण प्रार्थना का वर्णन हुआ है, उस हृदयोन्माद की अवस्था में श्रीराधा को यह प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण उनकी प्रार्थना के अन्त में यह कह रहे हैं कि "तुम जो इस प्रकार दीन होकर मुझे बुला रही हो यह ठीक नहीं है, ये सब गोपियाँ तुम्हारा उपहास जो करेंगी ?

श्रीकृष्ण के इस नर्म-वाक्य में अन्तर्निहित भावना का आदर कर श्री राधा जो उत्तर देती हैं—वह इस श्लोक में वर्णित है।

श्रीराधा कहती हैं— "हे कृष्ण ! तुम्हारी उस अतिशय सुन्दर एवं सुकुमार किशोरमूर्ति के दर्शन के लिये मेरे नयन अतिशय चंचल हो रहे हैं। शीश पर तुम्हारे शिखि-पिच्छ का शिरोभूषण है, कुसुम खचित विचित्र ढंग से रचित केश कलाप हैं, तथा चन्द्रमा से भी अधिक सुशीतल एवं कमल से भी अधिक सुन्दर और सुकुमार तुम्हारा मुख-मण्डल है—जो पीन पयोधरा किशोरी गोपबालाओं द्वारा निरन्तर पूजित हो रहा है। ऐसे तुम्हारे नटवर मोहन किशोर रूप के दर्शन के लिये मेरे नैंन लालायित हो रहे हैं।

इस में लज्जा की क्या बात है। इन समस्त गोप बालाओं की भी यही दशा हो रही है, सबकी एक सी ही अवस्था तो है,सभी तो दर्शन के लिये व्याकुल हो रहीं हैं। इस समय कौन धीरा—गम्भीरा बनी हुई है, जो मेरा उपहास करेगी ? अतएव हे प्राण-जीवन-धन ! अपने नटवर बाल-रूप से प्रकट होकर मुझ पर कृपा करो।"

मूल श्लोक वसंततिलकः छन्दः—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलं च मम वा तव वाधिगम्यम्।
तत्किं करोमि विरलं मुरली-विलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥३२॥

पद्यार्थ— **तेरा शैशव त्रिभुवन सुन्दर है, इतना तो समझेगा तू।**
अपने मनकी चंचलता से जैसा मैं परिचित, वैसा तू॥
तो बोल, अरे क्या करूँ कि जब दर्शन को मचल उठे अन्तर।
तब मुग्ध मुखाम्बुज तेरा मैं नयनों से देख सकूँ नटवर॥

भावार्थ—आपका बाल रूप तीनों लोकों में सर्वाधिक सुन्दर है, यह आप भली भाँति समझ लीजिए और मेरा मन उस बाल रूप के दर्शन के लिये कितना अधीर है यह बात न तो आपसे ही छिपी है और न मुझसे ही। हे मुरली विलासि ! ऐसी स्थिति में क्या उपाय करूँ, जिससे आपके अलौकिक मुग्ध मुखाम्बुज को मैं अपनी आँखों से देख सकूँ

रसिकाटीका—पूर्व श्लोक में "चापल्यमेति नयनं तव शैशवे नः" तुम्हारी किशोर-माधुरी के दर्शन के लिये हमारे नेत्र अत्यन्त चंचल हो रहे हैं—"इस प्रकार से आतुरता निवेदन कर अब इस श्लोक में पुनः उस कैशोर माधुरी और अपनी चञ्चलता का वर्णन करते हुए जिस उपाय से दर्शन हो सकेंगे, उसके लिये प्रार्थना करते हैं।

हे नाथ ! आपकी वह शिशुता-मिश्रित कैशोर-माधुरी त्रिभुवन में अद्भुत है, वह सुर-नर-किन्नर-गन्धर्वों में तो है ही नहीं, आपके अन्य-विविध भगवत्स्वरूपों में भी नहीं है।" स्वयं विल्वमंगल आगे "**तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं**" श्लोक (५५) में इसी तथ्य को शपथ पूर्वक करेंगे कि वह किशोर वयस, वह मुख-कमल, वह सौन्दर्य, वह मन्द-स्मित, वह लीला-कटाक्षादि मनुष्य में तो क्या देवताओं में भी दुर्लभ है—मैं सत्य-सत्य कहता हूँ—

"**सत्यं सत्यं दुर्लभं देवतेऽपि**" तथा अन्यत्र भी पुनः पुनः श्रीकृष्ण को "**त्रिभुवन मनोहर**" एवं "**मूर्तिम् जगन्मोहिनीम्**" (५४) इत्यादि पदों के द्वारा निर्देश किया है।

विल्वमंगल कह रहे हैं कि तुम्हारी यह कैशोर-माधुरी त्रिभुवन में अद्भुत है—तीन लोक से पृथक् एवं विचित्र एक निरालो ही इसकी छटा है। आप स्वयं अपनी छटा पर मोहित हो जाते हैं, इस मोहिनी-माधुरी में क्या मिठास है यह तो आप ही भली प्रकार से जान सकते हैं।

"**मम चापलं च मम वा तव वाधिगम्यम्**" और तुम्हारे दर्शन के लिये मेरा चित्त कितना अधीर अथवा उत्कण्ठित हो रहा है यह या तो मैं जानता हूँ अथवा आपको ही विदित है—तीसरे को नहीं।"

विल्वमंगल के इस कथन का अभिप्राय कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वे श्रीकृष्ण से कह रहे हैं— हे श्रीकृष्ण ! मेरे चापल्य को तो आप जानते हैं मैं तो महाविषयासक्त था, आप ही ने कृपा कर वाराङ्गना के मुख से मुझ को वैराग्योपदेश दिया। इतना ही नहीं, ज्ञान-मार्ग में न लगाकर प्रेम-पंथ पर आप ही ने मुझे बढ़ाया। आप ही ने तो उस चिन्तामणि के मुँह से मुझ को प्रथम बार अपनी महारासलीला-माधुरी का रसामृत-पान कराया था। वह रात्रि भर आपकी महारास लीलाओं का वर्णन करती रही—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

इस प्रकार वह रास-विलास का कीर्त्तन कर मुझे श्रवण कराती गई, और मैं अचेतन सा पड़ा-पड़ा श्रवण करता रहा। वह बीज जो आपने मेरे हृदय में बोया था—वही अब गुरु-कृपा से अंकुरित हुआ है, इसको और हरा भरा बना कर इसे फूल-फल प्रदान करना केवल आप की कृपा पर निर्भर है। इसी के लिये मेरा चित्त अत्यन्त अधीर हो रहा है, आपने अपनी रूप-रस-लीला-माधुरी का किंचित आस्वादन देकर मुझे कैसा पागल बनाया है, यह तो आप सब जानते ही हैं, मैं अपने मुंह से क्या कहूँ ? और मुझे अपनी अवस्था का इतना ज्ञान भी तो नहीं, जितना आपको है, आपके आगे मैं क्या कह सकता हूँ ?

"**तत्किं करोमि**" परन्तु अब मुझे यह कृपा कर बताइये कि आपके उस ऋषि-मुनि-देव-दुर्लभ मुरलीवादनकारी मनोहर—मुखारविन्द का इन नेत्रों के द्वारा साक्षाद्दर्शन करने के लिये क्या उपाय करूँ ? "**ईक्षणाभ्यां**

नेत्राभ्याम् न तु मनसा—गोपाल भट्ट । विल्वमङ्गल को हृदय में तो इस रूप के दर्शन हो ही रहे हैं, परन्तु साक्षात् मिलन तो तभी होता है—जब नेत्र से नेत्र मिलते हैं—

मिलिबो नैंनन ही को नीको ।
नन्दकिशोर हमारो ठाकुर और जगत सब फीको ।।
वेद पुरान भागवत गीता और ज्ञान पोथी को ।
खाटी छाछ हमें नहिं भावै, सूर खवैया घी को ।।

अन्तर्दर्शन से केवल मन ही कृतार्थ होता है, बाह्य इन्द्रियाँ सब अकृतार्थ रह जाती हैं । अतएव विल्वमङ्गल अपने नेत्रों के द्वारा उनका दर्शन करने के लिए अधीर होकर पूछ उठते हैं—"किं करोमि"—

कहा करौं कासों कहूं, को बूझे कित जाऊँ ।
वन वन में डोलत फिरौं बोलत लै लै नाऊँ ।।
जो वन वन डोलत रहौं, बाँधि मिलन की फेंट ।
अनजानै ही होयगी कहूँ अचानक भेंट ।।
ऊँचे स्वर सों टेरि कै कहूँ पुकार पुकार ।
कृष्ण कृष्ण गोविन्द हरि रटौं वार ही वार ।।
कोऊ नाम तो कर्ण पथ कहूँ परैगो जाई ।
बोलत बोलत कबहूँ तो बोलिहिगे अकुलाई ।।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में—श्री राधा जी को दिव्योन्माद की अवस्था में ऐसा भ्रम हुआ कि श्रीकृष्ण उनके समीप आकर कह रहे हैं कि—"हे राधे ! तुम तो गोपकुमारियों में अत्यन्त चतुर हो, परम गम्भीर हो—फिर भी तुम इतनी चंचल हो रही हो ? देखो न तुम्हारी सखियाँ तुम को कितना प्रबोध कर रही हैं, अतः शान्त हो जाओ, क्यों इतनी अधीर हो ? अन्य गोपियाँ भी तुम्हारे साथ हैं, वे तो कोई इतनी अधीर नहीं हैं ?

श्रीकृष्ण के इन नर्म वाक्यों को सुनकर अन्तर में श्रीराधा कहती हैं—"प्रियतम कृष्ण ! तुम्हारी इस किशोरावस्था का माधुर्य परम मादक तथा सर्वाकर्षक होने के कारण त्रिभुवन में परम अद्भुत है, अतुलनीय है, यह तुम को ही विदित है,—अन्य किसी को नहीं । इसी भाँति तुम्हारी प्राप्ति के लिये मेरा मन कितना अधीर और चञ्चल हो रहा है, इस बात को तुम्हीं एक जानते हो । ये सखियां जो मुझ को धीरज बँधा रही हैं, मेरे चित्त के

हमने पूर्णमासी देवी के मुख से सुना है कि इन्द्र, वरुण, कुवेर, आदि असंख्य लोकपाल तुम्हारे चरणारविन्दों में उपहार समर्पण करते रहते हैं, और जब वे तुमको एक साथ साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं तब उनके किरीट—मुकुटों का परस्पर जो संघर्ष होता है—उसकी ध्वनि के द्वारा वे देवगण तुम्हारे पादपीठ की मानों स्तुति करते हैं—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्त समस्त कामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटयर्चित पादपीठः ॥

—भागवत ३-२-३१

ऐसा तुम्हारा स्वरूप साम्यातिशय-रहित है, क्योंकि आप तो मुरली विलासी हैं । यह मुरलीधर-स्वरूप हमारे व्रज की ही अनन्य सम्पत्ति है। अतएव हे मुरलीधारी ! मोहनलाल ! अब और अधिक निष्ठुर मत बनो। कृपा करो—शीघ्र दर्शन दो नाथ ?

मूल श्लोक मनोहर छंदः—

पर्याचितामृत-रसानि पदार्थ-भङ्गी—
वल्गूनि वल्गित-विशाल-विलोचनानि ।
बाल्याधिकानि मद-वल्लवभाविनीभि—
र्भावे लुठन्ति सुकृतां तव जल्पितानि ॥३३॥

पद्यार्थ—चञ्चल और विलास विलोचन नचा-नचा कर कही गई ।
अर्थ भंगिमा से मनोज्ञ ज्यों अमृत रस से भरी गई ॥
बाल्याधिक तरलित तेरी ये बातें वल्लवियों के साथ ।
सुकृत शालियों के मन में ही मुखर हुआ करती हैं नाथ ।

भावार्थ—सुधा-धारा से ओतप्रोत और बाल सम्भाषणों से भी अधिक मनोहर एवं अर्थ भंगिमा के कारण विशेष मनोमुग्धकारी वे वार्तालाप—जिन्हें श्रीकृष्ण नेत्रों को नचा-नचा कर और पुतरियों को फैला-फैला कर व्रजांगनाओं की अन्तरंग गोष्ठी में प्रस्तुत किया करते हैं— उन प्रेमोन्मादिनी व्रजरमणियों की कृपा से किन्हीं पुण्य शालियों के भाव विभूषित मानस में ही आविर्भूत हुआ करते हैं ।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में विल्वमङ्गल को मुरलीधारी मुखारविन्द की स्फूर्त्ति हो रही थी । अब गोपियों के साथ उनके हृदय में श्रीकृष्ण के मधुमय आलाप—वाणी विलास की स्फूर्त्ति हो रही है । परन्तु प्रीति का स्वभाव है कि वह संपूर्ण रूप में सब कुछ प्राप्त होते हुए भी अभाव का ही बोध कराती है, पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण, भरे होते हुए भी खाली—यही तो प्रीति का लक्षण है—

"नेह भरी याही ते भूखी, निपट अघानी यातें भूखी ।
निपट सयानी याते भूली , बहुत मदी याते अति फूली ।।
—वल्लभरसिक

ऐसी अघाने पर भी भूखी रहने वाली प्रीति के कारण, अनुभव करते हुए भी अनुभव हीन की भाँति विल्वमङ्गल बोले:—

हे नाथ ! गोपियों के सहित आपके वे मधुर वार्तालाप तथा रस-भरी कथा की निरन्तर स्फूर्ति तो महापुण्यात्मा भक्त-जनों के हृदय में ही होती है, मुझ जैसे व्यक्ति के हृदय में उनका स्फुरण असम्भव है ।

हे नाथ ! आप जैसे परम निधि को प्राप्त कर के भी गोपियों को भला अपने सौभाग्य का गर्व क्यों न हो ? होना उचित भी है । एक ओर सकल सौन्दर्य-माधुर्य-वारिधि आप, और दूसरी ओर सकल सौभाग्य निधि व्रजाङ्गनाएँ । फिर दोनों का परस्पर मधुर-रसालाप—वह तो महान सुकृति शाली कृपा-पात्र जनों के हृदय में ही निरंतर उदय होकर क्रीड़ा करता है। अन्य इसका अधिकारी ही नहीं ।

वह वैंन सने अमृत रस के सुन्दर पद के बहु-अर्थन के ।
यह कानन के मन के हर जे, वतरात लिये संग गोपिन के ।।
बड़े लोचन ये डहडहे रस के, कर चंचल 'प्रेम' यौं बालक के ।
नहिं योगिन के न वियोगिन के उर आवत हैं कोई भागिन के ।।

श्लोक में "भावे लुठन्ति" पद है, भाव से तात्पर्य भाव-युक्त हृदय से है और 'लुठन्ति' कहने का तात्पर्य यह है कि भाव के उदय होने के कारण हृदय इतना द्रवीभूत हो जाता है कि वह नाम, रूप, लीला किसी को भी दृढ़ता पूर्वक धारण करने में असमर्थ हो जाता है । यथा—

जब ते उत्कण्ठा लता उठी हिये में आई ।
तब ते या तन कों तनक और न कछु सुहाई ।।
संयम सुमिरन सब मिटे, उलटे सबै सुहाई ।
एक लालसा मिलन की, रही अकेली आई ।।
और कहाँ ते सुमिरिये लीला रास विलास ।
'रा' अक्षर के कहत ही होत कम्प अरु स्वास ।।
नैंन सजल बानी सिथिल, उठहिं रोम अकुलाई ।
आपनहि को आपनो तन वैरो ह्वै जाई ।।

तब तो हम कछु भले हे, हुतो भजन सों हेत ।
अब गति औरे होत है, नेक नाम मुख लेत ।।
श्याम नाम जो श्रवन में, परै कहुँ ते आय ।
तौ लौं नैना रूप कों, उठैं अधिक अकुलाय ।।

—उत्कण्ठा माधुरी

इस प्रकार नाम तो नामी के मोहन रूप को हृदय में प्रकट करा कर स्वयं विराम ग्रहण कर लेता है, पश्चात् वह रूप-माधुरी मिलन-पिपासा को द्वि-गुणित कर प्रत्येक इन्द्रिय को विक्षुब्ध कर डालती है जिससे वाणी 'कृ' कह कर 'ष्ण' के आनन्द सिधु में गोता खा जाती है। तब निरन्तर नाम-कीर्त्तन कौन करे ? मन और चक्षु रूपी भृङ्ग उसके मुखारविन्द के नयनार-विन्द पर ही मुदित-मुद्रित से बन कर रह जाते हैं —फिर शिख से नख पर्यन्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग का दर्शन कौन करे ? चित्त उसके एक ही गुण प्रिय-वश्यता के चिन्तन में इतना विह्वल हो जाता है कि उसकी एक चरण-रेणु ही कहीं प्राप्त हो जाय तो उसको अपने हृदय से चिपका कर कोटि कल्प-पर्यन्त अन्ध, बधिर, मूक बन कर कृतार्थ होने के लिये लालायित हो उठता है—फिर लीला—चरितावली को धारावाहिक रूप से स्मरण करे तो कैसे करे, कौन करे ?

इस प्रकार विरहजन्य तन्मयता की अवस्था में आसक्ति की दशा में वह विरही नाम को स्मरण नहीं कर पाता—कर भी नहीं सकता, तब स्वयं नाम ही उसे स्मरण करता है और अपनी सम्पदा (नामी के रूपलीलाआदि को) उसे प्रदान कर उसके नाम ग्रहण को सफल कर देता है। ऐसे ही वह रूप का भी ध्यान नहीं कर सकता—रूप स्वयं ही उसे अपने अङ्ग-प्रत्यंग के माधुर्य सिधु में उन्मज्जन-निमज्जन कराता रहता है। वह विरही लीला का भी स्मरण नहीं कर सकता,—तब लीला स्वयं ही उसके प्रीत्यासक्त हृदय को पुण्य तीर्थ-स्थली समझ कर, वहीं अखण्ड रूप से स्फूर्ति होती रहती है, अतएव 'भावे लुठन्ति'—उसके भाव युक्त हृदय-स्थल पर लीला स्वयं लोट-पोट होती हुई विहार करती है। अथवा भाव की तरंगानुसार एक के बाद दूसरी, फिर तीसरी चौथी, लीला प्रवाहित होती रहती है—चित्त में स्थिरता प्राप्त नहीं होती—अतएव 'लुठन्ति' कहा है।

विल्वमङ्गल फिर कहने लगे—हे नाथ ! गोपियों के साथ आपके मधुर आलाप की वाक्यावली अमृत रस से सनी हुई है, ललित पदों से बनी

दुःसह दुःख को समझ नहीं पाती है, तुम्हारे वियोग में धैर्य धारण करना मेरे लिये कितना असम्भव है,—इसका इनको तनिक भी ज्ञान नहीं है। इसी लिए ये मुझ को समझा रही हैं—

"हे नाथ! अब तुम्हारा विरह मेरे लिये असह्य है। अहा! तुम्हारा वह शैशव और मेरी यह चपलता—दोनों ही जगत् में निराले हैं। इस विलक्षणता को मेरे और तुम्हारे सिवाय तीसरा कोई नहीं जानता।

"तोमारी माधुरी बल,ताते मोर मन चपल,एइ दुइ तुमि आमि जानी।
—कहा करौं कहाँ जाऊँ, कहाँ गेले तोमा पाऊँ ताहा मोर कहो तो आपनि॥

और हे मनमोहन! यह मत कहो कि "मेरे दर्शन नहीं भी हुए तो क्या हानि?" नहीं! नहीं! इससे बढ़कर तो त्रिभुवन में अन्य कोई हानि ही नहीं है। प्यारे! इन नेत्रों की सफलता आपके श्रीमुख के दर्शन करने में ही तो है। (अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम—भा० १०-२१-७) जो आँखें तुम्हारी श्रीमूर्त्ति के दर्शन नहीं करतीं, वे मोर के पंख की आँखों के समान हैं, जिनके पैर तीर्थ यात्रा नहीं करते, वे वृक्षों के समान जड़ हैं—

वर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥
—भागवत २-३-२२

"नाथ! आप यह क्या कहते हो कि—शान्त हो जाओ, स्थिर होकर ही दर्शन प्राप्त होगा, मैं व्रज में—तुम्हारे गोकुल ग्राम में ही तो रहूँगा।" 'हाँ! प्राणप्रेष्ठ! रहते तो अवश्य हो,परन्तु हम कुलवधुओं के लिए आपका यह दर्शन विरल है, दुर्लभ है। कारण कि—आप तो गोचारण के निमित्त दिन भर वन में रहते हो, और हम कुलवती नारी अहर्निश अपने घर में अवरुद्ध रहती हैं। आज तो किसी सौभाग्यवश इस रास-रजनी में हम सब बाधाओं से मुक्त होकर आई हैं। तुम्हारे चन्द्र-वदन-दर्शन का ऐसा सुयोग हमको फिर कहाँ मिलेगा? अतएव हे मनमोहन, मुरलीधारी! निठुर मत बनो! आओ दर्शन दो!

पर हाय! तुम तो बड़े ही दुराग्रही और निष्ठुर प्रतीत होते हो,—यह आपने क्या कह दिया कि मेरे समान किसी दूसरे का दर्शन कर लो"! क्या परिहास के लिए भी यही समय है? किन्तु-प्रेष्ठ! यह 'मुग्ध मुखाम्बुज त्रिभुवन में तो कहीं मिलेगा नहीं, यह तो 'विरलं' है, इसकी समता के लिए त्रिभुवन में कोई रूप ही नहीं है, इससे अधिक तो कहाँ से होगा?

बनी हुई है, गूढ़ार्थ से भरी हुई है, तथा श्रवण को सुख देने वाली और मन को हरण करने वाली है । यथा—

दुष्टः कोऽपि करोति वः परिभवं शङ्के मुहुर्गोकुले,
धावन्त्यः स्खलदम्बरं निशि वने यूयं यदभ्यागताः ।
सा का भीतिरमन्द-दानव-वधू-सिन्दूर-मुद्राहरे,
दौर्दण्डे मम भाति दिव्यत पतिक्रोडे कुरङ्गीदृशो ।।

—श्रीरूप गोस्वामी

'हे गोपियो ! तुम लोग जो रात्रि के समय वन में दौड़ती हुई शिथिल वस्त्रों से चली आ रही हो, इससे मेरे हृदय में बार-बार यह आशंका उठती है कि गोकुल में कोई दुष्ट आकर तुम लोगों को सता रहा है । परन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं, भय किस बात का ? ये मेरी प्रचण्ड दो भुजायें दानवों का संहार कर उनकी स्त्रियों की सिन्दूर-रेखा का हरण करने के लिये ही तो प्रकाशित हो रही हैं । अतएव भय का त्याग कर व्रज को गमन करो और अपने-अपने पतियों के संग विहार करो सेवा करो । अन्तरंग गूढ़ार्थ में–दुष्ट (कामदेव) गोकुल (इन्द्रियकुल)'काभीति'—आदि पद श्लिष्ट तथा द्वचर्थक हैं, इसी प्रकार निशिवने (रात्रि में वन में) 'मम दौर्दण्ड' (मेरी भुजारूपी दण्ड) 'दिव्यत पतिक्रोडे' (पति के अङ्ग में क्रीड़ा करो) आदि पद भी द्वचर्थक तथा स्वाभिलाष सूचक हैं । इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचन, पद-अर्थ, भाव, रस के द्वारा ललित एवं श्रवण-मनोहर हैं ।

केवल श्रीकृष्ण के वचनामृत ही नहीं, उनके नयन-युगल, हस्त-युगल तथा अधरोष्ठकमल भी ऐसे ही मनोहर हैं,इसको यों समझिये,व्रज-सरोजनी गोपियों के तनरूप वन-समूह पर नर्त्तनशील और लीला-विलास के लिये अत्यधिक उत्सुक एवं अनुरोध भरी दृष्टिसे चंचल आपके विशालनेत्र अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, इसी प्रकार आपके कर युगल, अधर कमल आदि अंग प्रत्यंग भी बाल्याधिक्य से चपल हैं तथा गोपीजनों को सुखकर हो रहे हैं ।

बाल्याधिकानि–पद में बाल्य से तात्पर्य बालकवत चपलता तथा मुग्ध चेष्टा से है, अधिकानि से तात्पर्य—"**अत्यधिकं कं सुखं यत्र तान्यधिकानि**" अधिक सुख से है । अर्थात् जैसे बालक के नयन-कर-पदादि-अंगों की सहज चंचलता सर्व जन प्रिय एवं सुखकर होती है । वैसे ही श्रीकृष्ण के अवयवों की चपलता उससे भी अधिक गोपियों के लिये मनोहारिणी तथा सुख-कारिणी सिद्ध हो रही है ।

विल्वमंगल कह रहे हैं कि—इस प्रकार श्रीकृष्ण के मधु-मिश्रित नानाभाँति के वचन-विलास उन्हीं रसिक भक्तजनों के हृदयमें प्रकाशित होते हैं,— जिनके हृदय भजन द्वारा अत्यंत निर्मल हो गये हैं। मेरा हृदय तो महामलिन है, इसमें उनकी स्फूर्ति, भला कैसे सम्भव है ? यही विल्वमंगल का दैन्यपूर्ण निवेदन है।

अन्तरंग-लीलापरक अर्थ में भाव यह है कि—श्रीकृष्ण नित्यप्रति गोपियों के साथ किसी न किसी अद्भुत लीला की रचना करते रहते हैं—कभी कहीं तो पथरोध कर गोपियों से दान लेते हैं, कभी वृन्दावन के वनमाली बन कर गोपियोंको पुष्प-चयन करने से रोकते हैं—उस समय परस्पर के नर्म-हास-परिहास की स्फूर्ति श्रीराधा के चित्त में हो रही है और तब वे प्रियतम की प्राप्ति के लिये अधीर होकर जो प्रलाप-बोलती हैं, वे इस श्लोक में वर्णित हैं—

श्रीराधा कहती हैं—"हे श्रीकृष्ण ! ये गोपीगण ही सौभाग्यवती हैं, क्योंकि तुम उन्हें वृन्दावन में-एकान्त में प्राप्त हो। इस सौभाग्य मद से तथा यौवन मद से विह्वल गोपबालाओं के साथ आपका कथोपकथन अमृत रस से परिपूर्ण है, उस वाक्यावली में शब्दगत और अर्थगत कितना माधुर्य है, तथा उस समय आपके प्रफुल्ल विशाल लोचन विजयी बनने के लिये कैसे चंचल और सुखकारी प्रतीत होते हैं—यह पुण्यवती भाववती गोपियों के ही हृदय में सदैव क्रीड़ा करते हैं। मेरे उद्विग्न चित्त में, विरहताप-दग्ध हृदय में तो इनकी स्फूर्ति दुर्लभ ही है।"

यह दिव्योन्माद के अन्तर्गत उद्घूर्णा-दशा का प्रलाप है। श्रीकृष्ण-दर्शन-प्राप्ति तक इसी उद्घूर्णा-दशा का प्रलाप है। नाना प्रकार की विलक्षण असमर्थ चेष्टाओं का नाम उद्घूर्णा है—"**स्याद्विलक्षणमुद्घूर्णा वैवश्य चेष्टितम्**"—उज्ज्वलनीलमणि"। पुनः इसी प्रकार प्रार्थना करते हैं-

मूल श्लोक वंशस्थविलं छन्दः

पुनः प्रसन्नेन्दु-मुखेन तेजसा, पुरोऽवतीर्णस्यकृपा-महाम्बुधेः।
तदेव लीला मुरली रवामृतं-समाधि-विघ्नाय कदा नु मे भवेत्॥३४॥

पद्यार्थ—**ले प्रसन्न मुखचन्द्र कान्तिमय हो अवतरित समक्ष अहा।**
करुणा-सागर की वंशी से रस स्रोत जो कभी बहा॥
वही वही तेरी लीलामय मुरली की पीयूषी तान।
फिर मेरी मानसी व्यथा का नाथ करेगी कब अवसान॥

भावार्थ—प्रसन्न मुखचंद और तेजस्वी कांति के साथ मेरे समक्ष अवतरित हुए करुणा वरुणालय श्रीकृष्ण का वह रास-विलास-हेतु उन्नदित मुरलिका-नाद-पीयूष मेरी अंतर्व्यथा को कब शमित करेगा ?

रसिका टीका— पूर्व श्लोक के भावानुसार विल्वमङ्गल यह अनुभव कर रहे हैं कि–श्रीकृष्ण जो व्रज सुन्दरियों के साथ मधुर-संलाप कर रहे हैं–वह मेरे भाग्य में कहाँ है ? उसका श्रवण तो किन्हीं महा सुकृति-शाली भक्तजनों के सौभाग्यमें ही है। परन्तु लीलाशुक तो यह भी कहते हैं कि यदि आपके मधुर आलाप को श्रवण करने योग्य मेरा भाग्य नहीं है तो–न सही, किन्तु प्रभो ! हास-परिहास के समय जो आप एक विशेष भाव पूर्ण संकेत से भरी मुरली बजाते हैं, वह मुरली-ध्वनि सदैव मेरे हृदय में गूँजती रहे, बस,–मैं तो उसी वंशी-नादयोग के आश्रय से परमानन्द रूप समाधि में निमग्न हो जाऊँगा ?

श्रीकृष्ण दर्शनोत्सुका श्रीराधाजी अपनी सखी से इसी भाव को व्यक्त कर रही हैं–सखी ! मैं बड़ी दुर्भागिनी हूँ। मुझे श्रीकृष्ण दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा तो–मत हो, पर यदि मेरे कान में वह वेणु-ध्वनि पड़ जाय तो सखी ! मेरा चित्त कुछ देर के लिये शान्त हो जायगा—

मम नियतिहतायास्तद्दर्शन भाग्यमस्तु वा मा वा ।
पुनरपि स वेणुनादो यदि कर्णपथे पतेत्तदेवालम् ॥

—पद्यावली

श्रीविल्वमंगल के हृदय का भाव यह है—अपने प्रेमियों को प्रसाद वितरण करने वाला प्रसन्न मुख-कमल जो निष्कलंक चन्द्रकी भाँति शीतलता प्रदान करता है, तथा अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को आलोकित करता है और जो मुख कमल पर विराजमान मुरली-ध्वनि में अपनी लीला विशेष के लिये मिलन की इच्छा से अनेक प्रकार के संकेत कर रहा है—वह वंशी मेरे चित्त की संसारासक्त जड़ समाधि को कब भंग करेगी ?

दूसरा एक भाव यह भी है कि—"**पुरोऽवतीर्णस्य कृपामहाम्बुधेः**" अर्थात् जो कृपा के महासागर हैं और जो कृपा करने के लिये ही मेरे सन्मुख अवतीर्ण हुए थे, वे अपने प्रसन्न मुखचन्द्र से निसृत मुरली-ध्वनि के उच्चाटन मंत्र से मेरी समाधि को भंग कर दें, और मुखचन्द्र की अमृतधारा-वर्षा द्वारा मेरी मानसिक व्यथा के ताप को शीतल कर दें।"

कृपा सिन्धु मुख इन्दु कब, नैंनन सन्मुख आय ।
मुरली मधुर बजाय कै, दैहैं ताप सिराय ।।

समाधि शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं, १—श्रीकृष्ण—माधुरी में सम्यक् चित्त की लय समाधि । २—**'सम्यगाधि तदप्राप्ति-मनोव्यथा'**—श्रीकृष्ण की अप्राप्ति में विरह व्यथाजन्य जो सम्यक् आधि है, सर्वाधिक मनोव्यथा है, जिसके आगे हलाहल-विष की धधकती हुई ज्वाला भी तुच्छ है-वह समाधि। **पीडाभिर्नवकालकूट कटुता** (देखो श्लोक–५) **'उतापी पुट पाकतोऽपि गरलं'** (देखो श्लोक ३७) ।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—पूर्व श्लोक के अनुसार श्रीकृष्ण की मधुर कल्पनाएँ श्रीराधा के स्मृति पथ में उदय हो रही हैं, उससे उनका चित्त निरतिशय रूप से व्याकुल हो रहा है । पूर्व दर्शन में श्रीकृष्ण के आने पर श्रीराधा मान कर बैठी थीं—अब उस मानको धिक्कारती हुई कहती हैं—प्रिय-विरह के कारण उष्ण-निःश्वास-परम्परा मेरे मुख को जला रही है, मेरा हृदय निर्मूल वृक्ष की भाँति उखड़ा जा रहा है, नींद भी मुझ अभागिन से बैर मान बैठी है, अपलक नेत्रों से प्रियतम के मुखारविन्द का चिन्तन करती हूँ—पर दीखता कुछ भी नहीं, केवल रात दिन रोती रहती हूँ सारा अंग सूखता जा रहा है, मैंने उस दिन चरणों में पड़े हुए प्रियतम की उपेक्षा कर दी थी—उसी का फल मुझे भोगना पड़ा है । सखियो ! मान में कौन सा गुण देखकर तुम सबने मुझ से मान कराया था ?—

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते,
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं रात्रिन्दिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः,
सख्यः ! कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ।।

—पद्यावली

अपने को आश्वासन देने वाली सखी से श्रीराधा पुनः जिज्ञासा कर रही हैं—क्यों सखि ! क्या सचमुच श्रीकृष्ण फिर आयेंगे ? आकर फिर मधुर मुरली बजायेंगे ? वंशी ध्वनि के द्वारा मुझे निकुञ्ज में पूर्व की भाँति पुनः प्रवेश के लिये संकेत करेंगे ? और इस प्रकार मेरी विरह-व्यथा के संताप का हरण करेंगे ? सखी वे तो करुणा के सागर हैं ! करुणा-दया-उदारता-एक उन्हीं में तो है, अन्यत्र कहीं भी नहीं, उनके प्रसन्न, उज्ज्वल, अमृत

रस-वर्षी चन्द्रमुख के दर्शन मुझे पुनः होंगे अथवा नहीं ? यह श्रीराधा की अन्तर्दशा का प्रलाप है ।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः

बालेन मुग्ध-चपलेन विलोकितेन,
मन्मानसे किमपि चापलमुद्वहन्तम् ।
लोलेन लोचन-रसायनमीक्षणेन,
लीला-किशोरमुपगूहितुमुत्सुकास्मः ।।३५।।

पद्यार्थ— **अपने बाल मनोरम चञ्चल नयनों के अवलोकन से ।**
भर देता मेरे मानस को जो अजीब सम्मोहन से ।।
नयन-रसायन जो लीला किशोर करता ज्वाला से त्राण ।
आतुर आँखों से उसके आलिंगन को उत्सुक है प्राण ।।

भावार्थ—अपनी बाल सुलभ चपल और मुग्ध चितवनों से हमारे हृदय में जो एक विचित्र ललक उत्पन्न कर दिया करते हैं, ऐसे नेत्र रसायन-रूप लीलाकिशोर का आलिंगन करने के लिये हमारी उतावली आँखें उत्कण्ठित हो रही हैं ।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक की प्रार्थना को श्रवण कर यदि श्रीकृष्ण मुरली बजाते हुए प्रकट हुए तो उस समय विल्वमङ्गल अपने प्रभु का किस प्रकार स्वागत करेंगे—यह मनोरथ इस श्लोक में व्यक्त किया गया है ।

वे कहते हैं—"अहा ! उन्होंने अपनी कोमल, मनोहर, चंचल चितवन से मेरे चित्त में दर्शन के लिये एक अद्भुत चञ्चलता की लहर प्रवाहित कर दी है, अब उनके दर्शन के बिना मेरे चित्त को शान्ति कहाँ ? अब तो जब तक उनका आलिङ्गन नहीं मिलता—केवल रोना-धोना और उनको याद करना ही जीवन का लक्ष्य है ।

हरि तेरी लीला की सुधि आवै ।
कमलनयन मनमोहिनी मूरति मन मन चित्र बनावै ।।
एक बार जाहि मिलत कृपा करि सो कैसे बिसरावै ।
मुख मुसकानि वर वंक बिलोकनि चाल मनोहर भावै ।।
कबहुँक निविड तिमिर आलिङ्गत कबहुं पिक सुर गावै ।
कबहुँक संभ्रम-क्वासि-क्वासि कहि सँगहि संग उठि धावै ।।
कबहुँक नैन मूँदि अन्तर गति मणि-माला पहिरावै ।
'परमानन्द' प्रभु श्याम ध्यान करि ऐसे विरह जगावै ।।

विल्वमंगल भी नेत्रों को बन्द कर ध्यान करते हुए कह रहे हैं-

अहा ! उस लोचन-रसायन को, उस श्याम अंजन को, अन्धे नेत्रों को ज्योति-प्रदान कर प्रफुल्लित करने वाले उस लीलामय किशोर को अपने चञ्चल नेत्रों से आलिंगन करने के लिये मैं कब उत्सुक होऊँगा ।

परन्तु यह आलिंगन श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर ही तो संभव होगा, अतः इसका अभिप्राय यह है कि आप संपूर्ण रूप में मेरे सामने प्रकट होकर दर्शन दें,जिससे आपके अंग-प्रत्यंगका ठीक-ठीक अवलोकन कर सकूँ?

एक एक अंग को अपने नेत्रों के द्वारा हृदयंगम कर उनका आलिंगन प्राप्त करूँ, जैसे गोपियों ने श्यामसुन्दर के अलग-अलग अंगों का आलिंगन किया था ।

महारास में अन्तर्धान के पश्चात् जब आप प्रकट हुए तो अपने-अपने भावानुसार गोपियों में-से किसी ने उनके हस्तकमल,तो किसी ने उनके चरण कमल पकड़ लिये कोई भुजा से, तो कोई स्कन्ध से लिपट गईं, कोई एक उनके सौन्दर्य को नेत्र रूप पात्रों में भर-भर कर पीने लगीं, और कोई एक तो श्रीकृष्ण को अपने नेत्र-द्वार से हृदय में ले जाकर आलिंगन करने लगीं ।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमील्य च ।
पुलकांग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्द सम्प्लुता ।।

भा० १०-३२-८

योगियों की भांति गोपियाँ भी प्रेमास्पद को प्राप्तकर अपने संतप्त हृदय को आनन्दित कर रही हैं-

कोउ चटपटि सौं उर लपटी कोउ करबर लपटी ।
कोउ गल लपटी कहति भलैं भलैं कान्हर कपटी ।।
कोउ नगधर बर पिय की गहि रहि परिकर पटकी ।
जनु नवघन तें सटकि दामिनी घटा सुँअटकी ।।
कोउ मुरली सँग रली रँगीली रसहिं बढ़ावति ।
कोउ मुरली कौं छैकि छवीली अद्‌भुत गावति ।।
ग्रीव ग्रीव भुज मेलि केलि कमनीय बढ़ी अति ।
लटकि लटकि वह नर्त्तनि कापै कहि आवै गति ।।

—नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी

अन्तरंग-लीलापरक अर्थ—श्रीकृष्ण-विरह में लीन श्रीराधा के प्रलाप को श्रवण कर सखियाँ कहने लगीं—राधे ! प्राणनाथ श्रीकृष्ण के लिये तुम

इतनी अधीर होकर वृथा ही अपनी व्यथा को क्यों बढ़ा रही हो ? वे तो करुणामय हैं, तुम्हारे समीप अवश्य ही आयेंगे, विश्वास करो और धीरज धरो।

इसके उत्तर में प्रणय कोपवती श्रीराधा का प्रलाप इस श्लोक में वर्णित है। वे कहने लगीं सखियो ! तुम मुझे वृथा ही दोष क्यों देती हो ! मुझे चञ्चल बना कर मेरी यह दुर्दशा कौन कर रहा है ? श्रीकृष्ण ही तो ? वही तो मेरे हृदय में प्रकट होकर अपनी चञ्चल दृष्टि द्वारा न जाने कैसे-कैसे संकेत करता हुआ मुझको अतिशय अधीर बना रहा है । वह श्याम रूप क्या मेरे ही लोचनों की रसायन है ? क्या वह तुम सबका परमास्वाद्य अमृत-रस नहीं है ? क्या वह प्राणीमात्र का आकर्षक नहीं है ? सखियो ! वह बड़ा कुटिल है ! वह मेरे नेत्रों के सन्मुख न आकर मेरे चित्त में अपनी झांकी दिखाकर मुझे सता रहा है । यह सब दोष उसी का तो है, इसी कारण मैं उसके दर्शन के लिए अधीर हो रही हूँ। हाय सखियो ! क्या कभी वह लीला किशोर नेत्रों के सन्मुख आयेगा और क्या मैं उनको अपने नेत्रों द्वारा यथेच्छ आलिङ्गन कर सकूँगी ? सखी ! मेरे हृदय में जो व्यथा है—वह न तो कहते बनती है और न ही सहते बनती है—

यह प्रेम कथा कहिवे को नहीं, कहिवो ही करो को मानत है ।
पुनि ऊपर धीर धरायो चहैं, तन आग नहीं पहचानत है ।।
कहि 'ठाकुर' जाहि लगी कसकै सो तो को कसकै उर आनत है ।
बिन आपने पाँव बिवाई फटे, कोउ पीर परायी न जानत है ।।

× × ×

देखि हमें सब आपस में सखि ! मन भावै सोई कहती है ।
ये घरहाई लोगाई सबै, निसि द्योस 'नेवाज' हमें दहती हैं ।।
बातें चवाव भरी सुनिकै, रिसि आवत पै चुप ह्वै रहती हैं ।
कान्ह पियारे तिहारे लिये, सिगरे व्रज को हँसिबो सहती हैं ।।

सचमुच यह प्रेम की व्यथा बड़ी ही विचित्र है,जिसको लगती है-वही जानता है।

आगे श्लोक में सहसा दर्शन मिलने पर विल्वमङ्गल के हृदय की दशा पुनः परिवर्तित होती है—

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः—

अधीर-विम्बाधर-विभ्रमेण हर्षार्द्र-वेणु-स्वर-सम्पदा च ।
अनेन केनापि मनोहरेण हा हन्त हा हन्त मनो दुनोषि ।।३६।।

पद्यार्थ— उन अधीर विम्बाधर के रमणीय विभ्रमों से घनश्याम ।
उस वंशी रव के वैभव से जो है हर्ष स्निग्ध ललाम ।।
वह अचिन्त्य कमनीय छटा ले क्यों भावों में आ जाते हो ?
हाय ! हाय !! मेरे पागल मन को इतना क्यों कलपाते हो ?

भावार्थ—हाय ! हाय ! वंशी की इस विचित्र, मनोहर और हर्ष स्निग्ध स्वर सम्पदा से तथा चपल विम्बफल सदृश अधर-विलास से मेरे मन को क्यों जलाये डाल रहे हो ?

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में "लीलामय किशोर" के दर्शन की जो लालसा थी–वह घनीभूत होकर श्री विल्वमङ्गल के नेत्रों के सामने लीला-बिहारी के स्वरूप में प्रकट हो जाती है, उस मधुर मूर्त्ति के दर्शन से हृदय की जो दशा होती है–उसका वर्णन करते हुए विल्वमंगल बोले—

"हाय ! हाय ! इनके दर्शन से तो मेरा मुग्ध-मन और अधिक लुब्ध होकर क्षुब्ध हो रहा है–जल रहा है ! हाय ! अब मैं क्या करूं ?" हाय ! यह कोई एक अद्भुत असाधारण अनिर्वचनीय-अतुलनीय मनोहर शोभा मेरे हृदय को व्यथित कर रही है, इसकी कोई उपमा नहीं, वर्णन की कोई भाषा नहीं ।

मन जानै कै दोऊ नैंना, कहिवे को नाहिन हैं बैंना ।
इनको कहौ कहन को पारै जो देखै सो पहले हारै ।।
कहा कहौं केहि विधि कहौं, यह हिरदै की बात ।
हरि हेरत हिय हरि गयौ, हरि सर्वत्र लखात ।।

क्या कहा ? यह मनोहरता मोहन की है, इस अनिर्वचनीयता का उद्गम स्थान वह शोभा सिन्धु है जहाँ वाणी गोता लगाते ही डूब जाती है, पर यह मोहन नाम कैसा है ? यह मन को मारने में–हरण करने में तो चतुर है, उसे सम्हालने में अनाड़ी है, इसीलिये इसका नाम मोह न है—

अधीर अधर पै चलत है, तापै वंशी बजात ।
मोमन-मोहन कौन यह, मारि हाय मन जात ।।
म हन ! मोहन ! सब कहैं, मो-हन साँचो नाँउ ।
मोहि न मोहित करि कछु क्यों कर मोहन गाँउ ।।

यह मनोहरता अधीर-बिम्बाधर के विलासपूर्ण भीगे हुए वेणु के स्वर-गान से प्रकट हो रही है । इन अधरोष्ठों में केवल विम्बफल की अरुणिमा

तथा मुसकान की मधुरिमा ही नहीं है, इनमें विलास की भंगिमा भी है, जिससे ये धैर्य-च्युत होकर अतिशय चञ्चल हो रहे हैं, उनकी यह चञ्चलता हृदय की उमंगों को वेणु में पूरित कर स्वर लहरियों को प्रेरित कर रही है। इस वेणु-ध्वनि को श्रवण कर इसका साक्षात् दर्शन कर मेरा मन उत्कण्ठा की ज्वाला-मालाओं से दग्ध होता जा रहा है, हाय ! यह कैसी विचित्रता है, देखती आँखें हैं और मरता मन है :—

अद्भुत पेंडो प्रेम को, न्याय कहत सब कोय :
नैनन सों नैना मिलै, घाव करेजे होय ॥

तात्पर्य यह है—श्रीकृष्ण के रासोन्मत्त-महाचञ्चल-मदन-मोहन-स्वरूप का दर्शन कर विल्वमङ्गल का चित्त अतिशय व्यथित-मथित हो गया है—वे रूप की चोट से घायल हो गये हैं, अतः कलेजे को थाम कर कराहते हुए कहने लगे—"**हा हन्त ! हा हन्त !! मनो दुनोषि**"—हाय ! हाय ! मेरे मन को धुने जा रहा है ?

अन्तरंग-लीलापरक अर्थ—पूर्व श्लोक में श्रीराधिका अपने नेत्रों से श्रीकृष्ण का आलिंगन करने को उत्कण्ठित हो रही हैं, अब इस श्लोक में उससे आगे की उनकी उन्माद-दशा का वर्णन है—श्रीराधाजी को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्ण उनके सन्मुख खड़े होकर कह रहे हैं—"क्यों जी ! मैंने तुमको अपनी मधुर-चितवन और मंद मुसकान से चञ्चल बना दिया है—या नहीं ?"

श्रीकृष्ण के व्यंग-वचन को सुन कर श्रीराधा प्रणय-कोप के साथ उत्तर देती हैं—"अरे कपटी ! धूर्त ! तुमको तो केवल मन-हरण करना ही आता है, उसका पालन पोषण करना नहीं आता, यह देखो तुम्हारे अधीर-विम्बाधर ! अक्षरहीन भाषा में इनका वाचाल विलास ! और अपने इस चौर्य-कार्य पर गर्वित-हर्षित होकर तुम्हारी दर्प-दुन्दुभी का यह वंशी-वादन और इसकी ये विष-रसमय स्वर-लहरियाँ ! ये सब प्रत्यक्ष में मेरे तन-मन को जला रहे हैं, परन्तु तुम खड़े-खड़े हँस रहे हो। आँच लगाना ही जानते हो प्राणनाथ ! बुझाना तो सीखा ही नहीं है।

श्रीकृष्ण—राधे ! तुम्हारा यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता, यह तो तुम्हारा भ्रम है, मेरे अधर और वंशी को वृथा ही दोष दे रही हो,

श्रीराधा—नहीं नहीं प्राणनाथ ! यह भ्रम नहीं है, तुम्हारे अधीर अधर का तो प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है, चञ्चल मूक-विलास सूर्य की भाँति

स्पष्ट ही तो है, और यह तुम्हारा वंशी कलरव ! कौन कहता है—यह अस्फुट है ? इसका तो एक-एक स्वर स्फुट सुनाई देता है ।

फिर सावधान होकर श्रीराधा कहती हैं—"परन्तु हाँ ! प्राणवल्लभ ! यह सब मायामय-इन्द्रजाल प्रतीत होता है, क्योंकि ये केवल मन को ही हरण करते हैं, हृदय की ज्वाला को शान्त नहीं करते, इसीलिये तो मैं कहती हूँ कि तुम कपटी हो, क्रूर हो, तुम चोर की भाँति व्याध की भाँति हृदय में छुप-छुप कर अपना कार्य करते हो, सन्मुख प्रकट होकर भी दूसरे का हित नहीं करते । हाय ! हाय ! तुम कितने निष्ठुर हो—जो जला तो रहे हो, पर शान्त नहीं करते—हा हन्त, हा हन्त मनो दुनोषि ।

रोम-रोम तन जरि उठे, बरि-बरि उठे शरीर ।
कब छिरकहुगे आन के, कृपा कटाच्छन नीर ।।
कहि-कहि काहि सुनाइये, सहि-सहि उपजहिं शूल ।
रहि-रहि जिय ऐसे जरै दहि-दहि उठे दुकूल ।।

उत्कण्ठा-माधुरी

विरह की दश दशाओं में यह उद्वेग-दशा का प्रलाप है । अब अगले श्लोक में मोह और व्याधि दशा का वर्णन है । इनमें शरीर का शीतल पड़ जाना, कान्ति का बदल जाना, घन-निश्वास, निश्चलता, पतन, आदि के लक्षण प्रकट होते हैं—इससे आगे नवीं दशा मूर्च्छा तथा दसवीं दशा मृत्यु है, जो आगे वर्णित है ।

मूल श्लोक वसन्ततिलकं छन्दः

यावन्न मे निखिलमर्मदृढ़ाभिघातं,
निःसन्धि बन्धनमुपैति न कोऽपितापः ।
तावद्विभो भवतु तावक वक्त्र चन्द्र-
चन्द्रातपद्विगुणिता मम चित्त धारा ।।३७।।

पद्यार्थ— दृढ़ अभिघात न करता मेरे मर्मों पर जब तक यह ताप ।
शिथिल न करता संधि बन्धनों को हे वेणु विलासी ! आप—
तब तक मुझे दिखा दो अपना सुख मयंक मोहन प्यारा ।
चन्द्रातप से दुगुनी शीतल कर दो यह जीवन-धारा ।।

भावार्थ—हे विभो ! जब तक आपका यह विलक्षण विरह संताप मेरे समस्त

मर्मस्थल का निष्ठुरता से विध्वंश नहीं कर देता तथा मेरे संधिबन्धों को नहीं उधेड़ देता, तब तक (अर्थात् ऐसा होने से पहले ही) मेरी शोक संदग्ध चित्त दशा को अपने मुखचन्द्र का दर्शन कराकर चाँदनी से भी दुगुनी शीतल करें दीजिए।

रसिका टीका—श्री विल्वमङ्गल के हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित है, उनका तन मन संतप्त हो रहा है, वे उसी दशा में आर्त्त-क्रन्दन करते हुए प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं—

हे दयामय ! हे दुखहारी प्रभो ! हे सर्व समर्थ विभो ! जब तक आपके विरह की दहकती ज्वाला मेरे प्राणों के मर्म स्थानों को ध्वंस नहीं कर देती, तथा हस्त-चरण आदि देह की ग्रन्थियों को छिन्न-भिन्न नहीं कर देती, उससे पूर्व ही आप मेरे चित्त की संतप्त-धारा को अपने स्निग्ध एवं अति शीतल मुख चन्द्र की चन्द्रिका से आच्छादित कर उसे द्विगुणित-आह्लादित तो कर दें–बस, यही कामना है, मेरे चित्त की धारा जो इस समय विरह की ज्वाला से खौल रही है, वह आपके मुख चन्द्र की चाँदनी से निश्चित ही शीतल हो जायेगी, शीतल ही नहीं आनन्द से सराबोर होकर मेरे रोम-रोम को रस से, प्रमोद से भर देगी।

कबीर जी की भाषा में विल्वमङ्गल का विरह इस दशा को प्राप्त हो गया है कि :—

रक्त माँस सब भख गया, नेक न कीनी कान।
अब विरहा कूकर भया, लागौ हाड़ चबान॥

इसी से विल्वमंगल आशंकित होकर पुकार रहे हैं कि—हे दुःखहारी प्रभो ! मेरी सुध लो ? और शीघ्र ही दर्शन देकर मेरी ज्वाला को शान्त करो, नहीं तो यह विरह कूकर अब मेरी हड्डी-पसलियों को चबा कर मुझे समाप्त ही किया चाहता है। हा नाथ ! ऐसी दशा में क्या यह देह जीने योग्य रह जायेगी—जरा सोचो तो सही—

जिन रसना नामावली करी सदा गुन-गान।
जिन कानन अमृतमय करी कथा रस पान॥
जिन हाथन सों हेत सौं टहल करी बहु भाँति।
जे लोचन मुख माधुरी निरखि न कभू अघात॥
जिन ऐसो साधन कियो वह निहफल क्यों जाय।
सो सरीर क्यों साँवरे दीजे सलिल बहाय॥

चतुर शिरोमणि हो बड़े तुम ही करो विचार।
ताकी यह गति बूझिये कै कृमि विट कै छार॥
परम सनेही होंहि जो सो शरीर तजि जाहिं।
बधिक सदेह पठाइये, यह विवेक तुम माहिं॥

—उत्कण्ठा माधुरी

अन्तरङ्ग-लीला-परक अर्थ में—श्रीकृष्ण के विरह रूप प्रबल मार्तण्ड के ताप से दग्ध-हृदया श्रीराधा दशमी दशा को प्राप्त होने से पूर्व प्रलाप कर रही हैं—

हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह की यह कैसी ज्वाला है, यह न तो मैं कह सकती हूँ और न अब अधिक सह ही सकती हूँ, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेरे प्राणों के मर्मस्थलों को छेदन कर देगी तथा देह के सन्धि स्थलों को चूर्ण-विचूर्ण कर देगी। अतः ऐसा होने से पूर्व ही तुम अपने मुखचन्द्र से मेरी इस ज्वाला को सुशीतल कर दो। तुम्हारे शीतल-मुखचन्द्र के बिना इस विरहाग्नि की शांति का कोई उपाय नहीं है,

ओह ! यह तुम्हारे विरह की ज्वाला कितनी तीव्र है, कितनी दुःसह है, यह क्या वस्तु है ? समझ नहीं आता।

उत्तापी पुट-पाकतोऽपि गरलं ग्रामादपि क्षोभणे,
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्न-शल्यादपि।
तीव्रः प्रौढ-विसूचिका-निचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली,
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेष-जन्मा ज्वरः॥

—ललितमाधव

यह तुम्हारा विरह सम्पुट-पाक से भी अधिक उष्ण है। जिस अग्नि से सुवर्ण तो पिघल जाता है परन्तु सुवर्ण को तपाने वाला पात्र नहीं पिघलता, उस सम्पुट पात्र (पाक) से भी अधिक उष्णता लिये यह तुम्हारा विरह है। वह पाक तो जब तक अग्नि में रहता है तभी तक दाहक रहता है, परन्तु तुम्हारा विरह तो सदैव दाहकता से भरा रहता है। यह काल-कूट विष से भी अधिक मोहकारी है। काल-कूट तो एक ही बार पान करते समय दुःख देता है—फिर तो वह चिरकाल के लिये मृत्यु की गोद में सुलाकर शान्ति प्रदान करता है, परन्तु तुम्हारे विरह विष में तो वह शान्ति भी नहीं है, और यह तुम्हारा विरह वज्र से भी अधिक दुःसह कठोर है, हृदयवेधी शूल से भी अधिक तीक्ष्ण है, तथा घोर-विसूचिका रोग से भी अधिक तीव्र दाहक है।

तुम्हारे विरह में उक्त पाँचों प्रकार के दोष तो एकत्रित हैं—पर उनका गुण एक भी नहीं है, यह तुम्हारा विरह-संताप मेरे मर्म स्थलों को चूर्ण-विचूर्ण करता है. परन्तु मृत्यु और उसके उपरान्त मिलने वाली शान्ति प्रदान करने में यह असमर्थ है ।

श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से उत्पन्न महाविरह-ज्वाला से देह की सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं, बँधी हुई ग्रंथियाँ खुल जाती हैं—यह अत्युक्ति नहीं, ध्रुव सत्य है । श्रीमहाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव इसके साक्षी हैं । उनकी दशा का वर्णन श्रीचैतन्य चरितामृत ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित है :—

एइ दश दशाय प्रभु व्याकुल रात्रि दिने ।
कभु कोन दशा उठे स्थिर नहे मने ।।
प्रभु पड़िया आछे दीर्घ हात पाँच छय ।
अचेतन देह नासाय श्वास नाहि वय ।।
एकेक हस्त पाद दीर्घ तिन हात ।
अस्थि ग्रंथि भिन्न चर्म आछे मात्र तात ।।
हस्त पाद ग्रीवा कटि अस्थि सन्धि जतो ।
एकेक वितस्ति भिन्न होइया छे ततो ।।

श्रीमहाप्रभु विरह की दश-दशाओं में दिन रात व्याकुल रहते थे। पता नहीं कब कौन-सी दशा प्रकट हो जायेगी, कुछ पता ही नहीं रहता। एक दिन समुद्र तट पर प्रभु अचेत पड़े हुए थे, शरीर पाँच-छः हाथ लम्बा हो गया, नासिका में श्वास की गति बन्द होगई, एक-एक हस्त-चरण, तीन-तीन हाथ लम्बा बढ़ गया, अस्थि तथा ग्रन्थियाँ खुलगईं, केवल माँस पिण्ड-मय देह अवशेष रह गया । हस्त, चरण, ग्रीवा तथा कटि की संधि खुल कर अस्थियाँ एक-एक विलस्त लम्बी हो गई हैं ।

इसी अवस्था की आशंका श्रीराधा की उपर्युक्त प्रार्थना में है । इस श्लोक में मोह और व्याधि की दशा वर्णित है । आगे के श्लोक में आसन्न मृत्यु का प्रलाप है—

मूल श्लोक बसन्ततिलकं छन्दः

यावन्न मे ननुदशा दशमो कुतोऽपि,
रन्ध्रादुपैति तिमिरी-कृत-सर्व-भावा ।
लावण्य-केलि-सदनं तव तावदेव,
लक्ष्या-समुत्क्वणित वेणु मुखेन्दुबिम्बम् ॥३८॥

पद्यार्थ— **जब तक दशमी दशा विरह की किसी बहाने से आकर।**
मेरा सब अस्तित्व तिमिर में मिला नहीं देती नागर॥
तब तक मुझे दिखादो अपना वह मुखचन्द्र विम्ब अभिराम।
वेणु-सुधा-धारा बरसाता रसमय सुखद केलि का धाम॥

भावार्थ—हे मुरली मोहन ! जब तक किसी बहाने से विरह की दसवीं-दशा-मृत्यु आकर मेरे समस्त अस्तित्वों को गहन अन्धकार में विलीन न कर दे तब तक मुझे वंशी की स्वरलहरियाँ विकीर्ण करते हुए अपने उस मुख-मयङ्क का दर्शन करा दीजिए—जो उन समस्त लावण्यमयी लीलाओं का केन्द्र है।

रसिका-टीका—दर्शन प्राप्ति के अभाव में विरह-ज्वाला से दग्ध-हृदय विल्वमङ्गल अपनी मृत्यु की आशंका करते हुए अत्यन्त ग्लानि, दैन्य तथा उत्सुकता के साथ अन्तिम दर्शन के लिये पुनः विलाप करते हुए कहने लगे—

हे नाथ ! जब तक किसी निमित्त को लेकर, किसी कर्म-दोष के कारण दशवीं दशा-मृत्यु मेरे नेत्रों के सन्मुख उपस्थित समस्त पदार्थों को अन्धकार में लीन नहीं कर देती अर्थात् मेरी मृत्यु नहीं होती—उससे पूर्व ही आप अपने मुखचन्द्र का दर्शन करा दें। हे प्रभो ! जब तक मैं शब्द-श्रवण तथा स्पर्श-अनुभव करने की शक्ति से रहित नहीं होता, तब तक उससे पूर्व ही आप मधुरातिमधुर वंशी-ध्वनि सुनाते हुए मुझे दर्शन देने की कृपा करें।

मुझे मृत्यु से तो भय नहीं, परन्तु दर्शन के बिना मेरी मृत्यु होगई तो जन्म-जन्मान्तरों में यह कसक मुझे पीड़ा देती रहेगी, अतः मेरे नेत्रों की पिपासा को एक बार तृप्त कर दो नाथ ! वह सौंदर्य-लावण्य की निवास-स्थली, क्रीड़ा की विलासस्थली आपका मुखचन्द्र, केवल एक बार मुझे दर्शन करा दो प्रभो !

बिना प्राण प्यारे भये दरश तुम्हारे हाय,
देख लीजों आँखि ये खुली ही रह जायँगी।

और आपकी वह वंशी, जिसने आपको संसार में भगवान से मु-भगवान बना दिया है और जिसकी ध्वनि से पाषाण भी द्रवीभूत हो जाते हैं, ऐसी—"**उत्क्वणित वेणु**" की ध्वनि भी एक बार सुना दो ? परन्तु कानों में मृत्यु की गुञ्जार होने से पूर्व ही मुरली की झंकार सुना दो—बस फिर मेरी मृत्यु भले ही हो जाय—यदि इस प्रकार मेरी मृत्यु हो तो

मैं कृतार्थ—धन्यातिधन्य हो जाऊँगा। मयूर-पिच्छ धारण किये हुए, ललित-त्रिभङ्ग खड़े वंशी के स्वरों से मधुर ध्वनि करते हुए मेरे सामने आप विराजमान हों - तब मेरी मृत्यु हो—

व्यत्यस्यपादमवतंस वहि वहँ साचो कृतानन-निवेशित-वेणुरन्ध्रम्।
तेजः परं परम कारुणिकं पुरस्तात्प्राण-प्रयाण-समये मम संनिधत्ताम्॥

—विल्वमंगल

प्राण प्रेष्ठ ! बस यही कामना है, मृत्यु के समय यमुना के तट पर कदम्ब-छाँह के नीचे आप खड़े हों—

कदम की छाँह हो, यमुना का तट हो। अधर मुरली हो माथे पै मुकुट हो॥
खड़े हों आप एक बाँकी अदा से। मुकुट झोके में हो मौजे हवा से॥
गिरे गरदन ढुलक कर पीत पट पर। खुली रह जाँय ये आँखें मुकुट पर॥
गर्ज इस तरह हो अंजाम मेरा। तुम्हारा नाम हो और काम मेरा॥

अन्तरङ्ग-लीलापरक अर्थ में दशमी दशा प्राप्त होने पर श्रीराधा मृत्यु की आशंका से प्रलाप करती हुई प्रार्थना करती हैं—

'हे नाथ ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब मेरे प्राण अवश्य ही निकल जायेंगे, मृत्यु का कारण और कुछ न होकर तुम्हारे विरह की धधकती ज्वाला ही होगी। परन्तु मेरे हृदय में यह पीड़ा बनी ही रहेगी कि आपके सौंदर्य-माधुर्य पूर्ण मुखचन्द्र का सुधा पान करने को प्राप्त नहीं हुआ। हे नाथ ! यदि तुम इस समय भी आ सको तो आ जाओ, ताकि आपके सौंदर्यामृत की धारा से मेरी मृत्यु ज्वालामुखी न होकर सुखकर हो जायेगी।

यावन्न जीवितमिदं बहिरेति लोलं, तावद्विमुच्य रूपमक्षिपथं प्रयाहि।
नो चेदजीवितमिदं वपुरस्मदीयं, वोढासि सत्यमहहांसतटेन सत्यम्॥

—आनन्द वृन्दावन चम्पूः

"हे नाथ ! अब धैर्य का बाँध टूटना ही चाहता है ! अब यह मत कहो कि—"क्षण भर ठहर जाओ, मैं आ रहा हूँ"। अब यह प्राण पखेरू उड़ने ही वाले हैं। परन्तु जब तक यह प्राण उड़ नहीं जाते, तब तक तुम रोष को त्याग कर मेरे नेत्रों के सन्मुख प्रकट हो जाओ, मेरे प्रियतम ! हाय, हाय ! यह क्या कहते हो कि "प्राण चले ही जाँयगे तो क्या हानि होगी ?" क्या मैं नहीं जानती हूँ कि मेरे इस शरीर के प्रति तुम्हारा कितना अगाध प्रेम है—मुझसे भी अधिक तुम मेरे शरीर को चाहते हो ? यह तुम्हारे मुख से ही मैंने कई बार सुना है—

तुमहू न चाहत आपको एतो, मन जेतो चाहौं यों कहत विहारी ।

—सूरदास मदनमोहन

अतएव यदि तुम न आये और मेरे प्राण छूट गये, तो समझ लेना-जैसे शिवजी सती की देह को लेकर हिमालय के शिखर पर घूमते फिरे थे। वैसे ही तुम भी मेरे निर्जीव शरीर को अपने कन्धे पर उठा कर वन-वन में बिलखते भटकोगे। हाय ! आपके उस भावी विरहजन्य दुःख की कल्पना कर मेरे प्राण निकलना ही नहीं चाहते, पर क्या करूँ प्राणनाथ ! यह विरहताप भी तो नहीं सहा जा रहा, पिंजड़े में बन्द पक्षी की भाँति मेरे प्राण जल रहे हैं और तड़फड़ा रहे हैं।

प्राण गये जो आइहो तो न सरेगो काज ।
अहो प्राणपति प्रेम की उलट परेगी लाज ।।
प्राण गये की कछु नहीं, मति प्रीतम दुःख होई ।
यहै समझि मन में सदा दीजै नैनन रोई ।।
पल में, छिन में, निमिष में जो न आइहो नाथ ।
फिरि पाछे पछताइहो कछु न परैगो हाथ ।।

इस प्रकार कहती हुई श्रीकिशोरीजी "हाय ! प्राणनाथ ! दर्शन दो, कह कर पछाड़ खाकर गिर जाती हैं।

श्रीराधा की मूर्च्छितावस्था दशमी दशा के समीप पहुँच चुकी है, अब जो दशा बिगड़ती जा रही है, वह आगे के श्लोक में वर्णित है।

मूल श्लोक बसंततिलकं छन्दः

आलोल-लोचन-विलोकित-केलि-धारा-
नीराजिताग्र-चरणैः करुणाम्बु-राशेः ।
आर्द्राणि वेणु-निनदैः प्रतिनाद-पूरै—
राकर्णयामि मणि-नूपुर-शिञ्जितानि ।।३६।।

पद्यार्थ— **अहा ! सुन रहा कृपासिन्धु के मणिमय नूपुर की झंकार ।**
मुरली रव से अभिसिञ्चित हो जो लगती अतिशय सुकुमार ।।
लोल लोचनों के अवलोकन की लीलामय धारा से ।
थिरकाते चरणाग्र आ रहे शायद प्राण-सितारा से ।।

भावार्थ—अहा ! चपलनेत्रों की चितवन के क्रम से अपने श्रीचरणों के अग्र-

भाग को थिरका कर बजाई हुई वंशी की प्रतिध्वनित-स्वर-लहरियों से स्निग्ध हुई कृपासिन्धु श्रीकृष्ण के मणिमय नूपुरों की ध्वनि मेरे कानों में पड़ रही है।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल जब महा विरह-सागर में डूबे जारहे हैं, तब परम करुणामय श्रीकृष्ण के आभूषणों की ध्वनि उनको सुनाई पड़ती है और उनके डूबते हुए चित्त को एक अवलम्ब मिल जाता है। प्रेम रस-रसिक श्रीकृष्ण जिसको अपना प्रेम प्रदान कर कृपापात्र बनाना चाहते हैं, उसके हृदय को विरह के ताप से शोधन करते हैं। विरह की आग तभी दहकेगी—जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में से किसी एक का यत्किंचित् भोग शेष होगा। आप दासी पुत्र नारद को एक बार दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये और जाते-जाते यह भी कह गये कि—

सकृद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥

—भागवत १-३-३२

इसीलिये जब विल्वमंगल की दर्शनोत्कण्ठा चरम सीमा को प्राप्त हो गई, तब करुणामय ने उनको अपने दिव्य आभूषणों का एक और अनुभव प्रदान किया। यह एक दृष्टि से उनकी विरहाग्नि को शान्त करने के लिये जल धारा है तो दूसरी दृष्टि से विरह की वृद्धि के लिये घृत-धारा है। भूषणों की झंकार-श्रवण से प्राणों की रक्षा होगी और विरहाग्नि की वृद्धि से हृदय पूर्ण रूप से विशुद्ध होकर दर्शन प्राप्ति के योग्य भी बन जायगा।

इसी कारण तो विल्वमङ्गल ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रेम-पंथ में अपना शिक्षा-गुरु स्वीकार करते हुए प्रथम श्लोक में उनकी वन्दना की है। वह शिक्षा किस प्रकार हो रही है—उसी का प्रसंग इन श्लोकों में चल रहा है। पाठक-गण इसी दृष्टि से विल्वमङ्गल की बाह्य-साधक-दशा का अनुशीलन कर ग्रन्थ का रसास्वादन करें।

श्रीविल्वमङ्गल कह रहे हैं—"अहा! मेरे प्रभु श्रीकृष्ण परम कारुणिक एवं कृपा के धाम हैं। मुझ दीन की दुःखार्द्रदशा उनसे नहीं सही गई। इसीलिए शायद वे आ रहे हैं? उनके मणिमय नूपुरों की मधुर-झङ्कार मेरे कानों में आ रही है, केवल नूपुर-ध्वनि ही नहीं, उसके साथ वंशी-ध्वनि भी मिली हुई है।

यह सामने दृष्टिगोचर होने वाला कौन पुरुषभूषण है? जिसकी भ्रलता की नृत्यकला से मुख की शोभा मधुर है, जिसके कर्णफूल अशोक की

कलिका से खचित हैं, जिसका श्रीविग्रह निकषपाषाण (कसौटी के पत्थर) के तुल्य है, यह तो अपनी वंशी-ध्वनि के द्वारा मुझे विवश बना रहा है—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्री, कंकेल्लि-कोरक करम्बित-कर्णपूरः ।
कोऽयं नवीन-निकषोपलतुल्यदेहो, वंशीरवेण सखि ! मामवशी करोति ।।

—पद्यावली

अहा ! वह देखो ? वे खड़े हैं ! वे वंशी में कुछ मधुर-मधुर गा रहे हैं, वंशी-ध्वनि के साथ चरणों से ताल दे रहे हैं, इसी लिये उनके नूपुर बज रहे हैं, छम-छम की ध्वनि सुनाई दे रही है मानों नृत्य हो रहा है। अहा ! अपने चञ्चल-चपल लोचन-युगल से चरण के अग्रभाग का अवलोकन भी कर रहे हैं, मानो नयनारविन्दों से चरणारविन्दों की आरती उतार रहे हों। अहा ! मेरे करुणासिन्धु की यह संगीतमयी छवि कितनी मनोहर है। जय हो, नाथ ! आपके दिव्य श्रीचरणों में मेरा भूयो-भूयो प्रणाम है।

इस प्रकार भावावेश में जब उन्होंने श्रीचरणारविन्दों को स्पर्श करना चाहा तो स्फूर्ति लुप्त हो गई और बाह्य दशा का ज्ञान हो गया, तब वे पुनः विलाप करते हुए बोले–"प्रभो ! इस प्रकार मुझे भ्रम में मत डालो। मैं तो आपको उसी प्रकार वंशी और नूपुर बजाते हुए देखना-सुनना चाहता हूँ। परन्तु हाय ! यह संभव भी होगा या नहीं ? वह झङ्कार मैं कब सुन सकूँगा—सुनूँगा न प्रभो !"

अन्तरङ्ग-लीलापरक अर्थ में—पूर्व श्लोक में हम देख चुके हैं कि दर्शन की लालसा में श्रीराधा मूर्च्छित हो गई हैं। तब सखियों ने उनके मुखारविन्द में श्रीकृष्ण चर्वित-ताम्बूल प्रदान कर उनको सचेत किया और बोलीं—"सखि राधे ! सावधान होओ ! शान्त होओ ! तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण पधारे हैं। तुम नेत्र खोल कर दर्शन तो करो।" सखियों के प्रबोध-वचनों को सुन कर श्रीकिशोरी नेत्र खोलने के लिये अनेक प्रयत्न करती हैं, किन्तु नेत्रों की तो समाधि लगी है, खुलते ही नहीं हैं, निमीलित नेत्रों से ही सखियों की बात का उत्तर दे रही हैं।

श्रीराधा कहती हैं--"सखियो ! सच-सच बतलाओ—क्या वे आ गये हैं ? हाँ, हाँ ! वे तो करुणानिधि हैं, मेरे दुःख से दुःखित होकर अवश्य आये होंगे, परन्तु मैं तो तब आया हुआ समझूँगी—जब उनके मणिमय नूपुरों की मधुर झङ्कार मेरे कर्ण-रंध्र को रस से आप्लावित कर देगी। जिस झङ्कार

में कटि की किंकिणी तथा मुख की वंशी ध्वनि भी मिश्रित होगी। वे आये हैं तो झङ्कार सुनाई क्यों नहीं देती ? ध्वनि के श्रवण किये बिना ये नेत्र नहीं खुलेंगे, श्रीराधा फिर प्रलाप करने लगती हैं—

मूल श्लोक वंशस्थविलं छन्दः

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैक-बन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैक-सिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥४०॥

पद्यार्थ— हे देव ! दयित ! हे त्रिभुवन मङ्गलकारी !
हे कृष्ण ! चपल ! हे करुणासिन्धु मुरारी !
हे प्राण-रमण ! नयनाभिराम हे स्वामी !
हा हा ! कब दर्शन दोगे अन्तर्यामी ॥

भावार्थ—हे देव (लीला रसिक) ! हे प्रियतम ! हे त्रिभुवन के एक मात्र आत्मीय बन्धु ! हे कृष्ण !(मन-प्राण को आकर्षित करने वाले) ! हे चपल ! (सर्वतन्त्र स्वतन्त्र) ! हे करुणा के महासागर ! हे प्राणाधार ! हे आत्मा में रमण करने वाले ! हे नयनाभिराम ! आह ! पता नहीं, आप कब मेरी दृष्टि के पात्र बनेंगे ?

रसिका टीका—विल्वमङ्गल कह रहे हैं—"हे कृपासिन्धो ! आपके नूपुरों की ध्वनि को सुन कर मुझे विश्वास हो गया है कि आप पधारे हैं, जब इतनी कृपा मुझपर हुई है तो अब मेरे नेत्रों के आगे साक्षात् प्रकट हो कर मेरी अभिलाषा को पूर्ण कर दीजिये न ? छुप-छुप कर नूपुर क्यों बजाते हो ? देव ! प्रकट होकर के दर्शन दीजिये न ?

क्या इसीलिये आपका नाम 'देव' है ? हाँ ! हाँ ! आप बड़े खिलाड़ी, बड़े कौतुकी, क्रीड़ा-प्रिय हैं। तभी तो मेरे साथ भी आप यह सब खेल खेल रहे हैं। परन्तु आप प्रकाशशील 'देव' भी तो हैं। अतएव मेरे नेत्रों के सन्मुख अपने को प्रकाशित भी तो करो नाथ !

आप 'देव' ही नहीं, 'दयित' (अत्यन्त प्रिय) भी हैं। पूजा के ही देवता नहीं, प्राणों के भी देवता हैं। आप देवता होने पर भी अभिमानी नहीं, दयावान हैं। आप ऐसे दयालु हैं कि बलि-भेंट-पूजा की तो बात ही दूर रही पत्र-पुष्प-दल-जल-ये भी न हों, तो भी आप एक भाव पर ही रीझ कर अपने को विक्रय कर देते हैं—

तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीड़ीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ।।

फिर आपकी वह दयालुता कहाँ गई ? मुझ दीन-हीन पर भी वह दया की दृष्टि कर दीजिए !

आप कृपा के सागर है, दया के भण्डार हैं, इसमें संसार के दीन-दुःखी दरिद्र प्रमाण हैं। आप ही त्रिभुवन के निःस्वार्थ तथा सच्चे मुख्य बन्धु हैं—

निज स्वारथ के मीत सब यहै जगत की चाल।
नारायण बिन स्वारथी हितू नंद के लाल ।।
खरो खरो सब लेत हैं परखि पारखी सार।
खोटे 'व्यास' अनन्य को ग्राहक नंदकुमार ।।

—व्यासजी

संसार केवल सुख का ही बन्धु है, आप तो सदा-सदा के बन्धु हैं और सब के बन्धु हैं, अतएव मेरे भी बन्धु हैं। फिर हे भुवनैकबन्धो ! मेरे नेत्रों के सन्मुख आने की कृपा कब करेंगे।

क्या यह भी मुझे ही बताना पड़ेगा कि आप जगद्बन्धु कैसे हैं ? यह तो आपका मधुर कृष्ण नाम ही सिद्ध कर रहा है। आकर्षण करना और आनन्द देना—यही तो आपके दो कार्य हैं, अथवा एक ही कार्य है— आनंद के लिए आकर्षण करना। भाई-बहिन को, माता-पुत्र को, पति-पत्नी को, कामी-काम को, चकोर-चन्द्रमा को, चातक-मेघ को, भक्त-भगवान को परस्पर किसने बाँध रक्खा है ? आपने ही तो। कृष्ण ने ही तो—

ऊपर बादल नीचे पपैया, बँधे प्रेम के आन।
ऊपर चन्द्रमा नीचे सागर, लहराते यही तान ।।
जगत में प्रेम ही है भगवान ।।
प्रेम के पंख से उड़कर पंछी पहुँच जाय हरिधाम।
'प्रेम' के चुम्बक से खिंच करके, उतर आँय भगवान ।।
जगत में प्रेम ही है भगवान ।।

आप ही तो सब की आत्मा हैं, निरतिशय प्रिय वस्तु हैं। आप ही के लिये स्त्री, पुत्र, धन, जन आदि सर्व विषय प्रिय हैं। अतएव मुख्य बन्धु तो आप ही हैं—आप ही वह आनन्द हैं, आप ही वह प्रेम हैं, जिसके लिये सारा संसार पागल होकर विपरीत दशा को दौड़ रहा है। मैं भी उसी ओर दौड़

रहा था, परन्तु आपने कृपा कर मेरी आँखें खोल दीं और मुझे अपनी ओर खींच लिया ! अतएव हे मेरे कृष्ण ! अब मेरे नेत्रों के सन्मुख आने में इतना संकोच क्यों ? इतना विलम्ब क्यों ?

परन्तु हे कृष्ण ! सर्वत्र आप और आपका खेल होने पर भी आप सहज प्राप्य नहीं हैं, क्योंकि आप बड़े चपल हैं ! चपला विद्युत यदि पकड़ में आ सके तो आप भी पकड़े जा सकते हैं। वस्तुतः आप स्वच्छन्द हैं, अतएव बंधन-रहित चपल हैं।

"तो फिर ऐसे चपल की प्राप्ति की आशा क्यों करते हो ? छोड़ो इसे, भाई ! छोड़ें कैसे ? यह छूटता ही नहीं है, एक ही लालच है सभी कहते हैं कि वे करुणासिंधु हैं,अतः "हे करुणैकसिन्धो !" आप भले ही चपल हैं, परन्तु हैं तो करुणा के सिन्धु ! आपके अतिरिक्त करुणा का सिन्धु कहीं है ही नहीं, विन्दु ही विन्दु हैं, होवे भी कहाँ से ? करुणामें सामर्थ्य भी तो हो,तब ही तो करुणा होगी सार्थक अन्यथा वह दूसरों का उपकार न कर सकने के कारण केवल करुणावानके हृदयको दुःख ही देती रहती है। आपमेंजैसी अपार करुणा है, वैसी ही अपार सामर्थ्य भी है। संसार का महासामर्थ्यशाली दयालु जीव भी भवबन्धन से मुक्ति देने में असमर्थ है। करुणा की दया का दान तो केवल आप ही कर सकते हैं।

दयालोरसमर्थस्य दुःखमेव दयालुता। त्रैलोक्याभयदक्षस्य सा तवैकस्य शोभते।

अतएव मुझे भी पूर्ण विश्वास है कि आप मुझ पर कृपा करेंगे। परंतु विश्वास होने पर भी धैर्य धारण करना असम्भव लगता है, अतएव–"**हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।**"

"हे देव, मैंने आपके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में—जो कुछ अल्पाधिक मुझे ज्ञात है, वह निवेदन किया। मैं अधिक जानता ही क्या हूँ। मेरे लिये तो इतना ज्ञान ही पर्याप्त है कि आप मेरे नाथ, रमण, नयनाभिराम, तन, मन, प्राण और सर्वस्व हैं।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—सखियों के प्रबोध कराने पर श्रीराधा नेत्र खोलकर उठ खड़ी होती हैं और चारों ओर देखती हुई कहती हैं–कहाँ हैं वे ? सखियो ! उनकी नूपुर-ध्वनि तो श्रवण में आरही है, परन्तु उनके दर्शन क्यों नहीं होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि–वे यहीं-कहीं कुञ्ज में किसी गोपी के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ?

ऐसा कहते-कहते उन्माद के आवेश में उनको ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण किसी गोपबाला के साथ अपनी सम्भोग छवि का प्रदर्शन कराते हुए सन्मुख उपस्थित हुए हैं। इस दृश्य को देखकर तिरस्कार व अपमान समझ कर राधिका को कोप हो आता है, उसी समय श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। तब श्रीकिशोरी उनके दर्शन के लिये व्याकुल होकर प्रलाप करने लगती हैं। उसमें कहीं स्तुति है, कहीं निन्दा है, कहीं मान है और कहीं है दैन्यता— इस प्रलाप में विविध भावों का संघर्ष है, जिसे काव्य शास्त्र में भावशावल्य कहते हैं।

श्रीकृष्ण को अपने समीप आगत जान कर व्यंग करती हुई श्रीराधा बोलीं—"हे देव ! तुम तो अन्य गोपियों के साथ क्रीड़ा करने वाले हो। वहीं जाओ न ! मेरे पास आने की जरूरत ही क्या है ?।" फिर श्रीकृष्ण को न देखकर बोलीं – 'हे दयित ! हे मेरे प्राणप्रिय ! क्या आप चले गये ? मुझसे रुष्ट होकर चले गये ? हाय हाय ! दयित ! दयामय ! पुनः दर्शन दो !"

श्रीकृष्ण मानों पुनः आ गये और कुछ विनती कर रहे है, ऐसा जान कर प्यारीजी असूयाभाव से कटाक्ष करती हुई फिर बोलीं-'हे भुवनैकबन्धो ! आप आ गये ? किसी सौभाग्यवती के प्रति कृपा करने चले गये थे क्या ? क्यों न जाते ? आप एक मेरे ही बन्धु तो नहीं हैं, सकल भुवन के बन्धु हैं। आपने सब गोपियों को अपनी वेणुध्वनि से आकर्षित किया है, अतएव उनके समीप रहना ही उचित है, जाइये, वहीं जाइये। यहाँ क्यों आये ?"

इस उपहास से श्रीकृष्ण मानो चले गये, तब तो मानिनी राधा व्याकुल होकर बोलीं—'हे कृष्ण ! हे श्यामसुन्दर ! तुम तो सर्व चित्ताकर्षक हो, अतएव तुमने मेरा भी चित्त हरण कर लिया है, चित्त के बिना मान वृथा होता है। अतएव मैं मान परित्याग करती हूँ एक बार मुझे दर्शन दो ?"

श्रीकृष्ण मानों फिर आगये और कहने लगे 'हे प्रिये ! मैं कहीं गया नहीं था। मैं तो तुम्हारे समीप ही था। तुम प्रसन्न होओ ! वृथा ही मुझको दोष मत दो, श्रीराधा इसे मिथ्या कपट-व्यवहार समझ पुनः कुपित होकर कहने लगीं—"हे चपल ! मुझे तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं है क्योंकि आपका स्वभाव चञ्चल है, तुम्हारी गति भी स्थिर नहीं है। अतएव हे मधुप ! चपल-राज ! जिस गोपी के साथ अभी तक सुखपूर्वक थे, वहीं विहार करो।"

श्रीकृष्ण इस अपमान से मानो फिर चलेगये ऐसा जानकर अत्यन्त दीन

होकर फिर प्राणेश्वरी प्रार्थना करने लगीं—"हे करुणा के एकमात्र सागर! मैं अपराधिनी हूँ, परन्तु तुम तो परम करुणावान् कोमल हृदयवान् हो! मेरे दोष की ओर न निहार अपनी सहज दया से मुझे दर्शन दो।"

श्रीकृष्ण मानो प्रकट हो गये और कहने लगे—हे प्रिये! तुम तो मुझ पर वृथा सन्देह करके मान करती हो और व्यङ्ग वचन बोलती हो! प्रसन्न होकर हँसो-बोलो! श्रीराधा अपने मन के भाव को गोपन करके बोलीं—"हे नाथ! आप तो व्रजवासियों के रक्षक हैं, फिर आपसे क्यों नहीं बोलूँगी? किन्तु मुझ जैसी हतभागिनी आपसे न भी बोली तो इससे आपकी हानि ही क्या है? आपके साथ बोलने वाली तो बहुत हैं। इसलिये आपको मेरे साथ वार्त्तालाप करने का अवसर भी कहाँ है? आपको तो व्रज में अनेक कार्य हैं। आप तो व्रज के प्राण स्वरूप हैं व्रजवल्लभ हैं।

इस वक्रोक्ति से श्रीकृष्ण पुनः अन्तर्धान हो गये-ऐसा जान श्रीराधिका चिन्ता करने लगीं—"हाय हाय! मैंने बार बार श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया। वे जब भी आये—मैं उनका बार-बार अपमान ही करती गई। अब कदाचित वे नहीं आयेंगे। हाय हाय! नाथ! ऐसा मत करना। तुम भी मान न कर बैठना। तुम्हारे मान से मेरी गति कहाँ है? आओ प्राणनाथ! अब के मैं स्वयं तुमको अपने हृदय से लगा लूँगी! तुम तो मेरे रमण हो। आकर अपना वैदग्ध्य प्रकट करो।

श्रीकृष्ण प्रकट हो गये हैं—ऐसा जान कर श्रीमती राधिका ने उनके आलिंगन के लिये दोनों भुजाओं को आगे बढ़ाया। परन्तु श्रीकृष्ण कहाँ? वह तो एक स्फूर्ति थी—उदय हुई और लोप हो गई, भुजा बढ़ी और जहाँ की तहाँ रह गई। बाह्य ज्ञान हो आया। तब अत्यन्त व्याकुल होकर विलाप-प्रलाप करती हुई बोली—हे नयनाभिराम! हे नयन सुखकर प्राणनाथ! कब तुम मेरे नयनगोचर होओगे? तुम तो मेरे जीवन-सर्वस्व, प्राण स्वरूप हो। मुझे क्षमा करो? मेरे तप्त नयनों को सुशीतल करो।

श्रीकृष्णदास कविराज ने विरहदग्धा श्रीराधा के हृदयगतभाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

मोर वाक्य निन्दा मानि, कृष्ण छाड़ि गेला जानि, सुनो मोर ए स्तुति वचन।
नयनेर अभिराम, तुम मोर धन प्राण, हा हा पुनः देह दरशन॥

—चैतन्य चरितामृत

मूल श्लोक बसंततिलकं छन्दः

अमून्य-धन्यानि दिनान्तराणि
हरे त्वदालोकनमन्तरेण ।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो
हा हन्त ! हा हन्त !! कथं नयामि ॥४१॥

पद्यार्थ— हे अनाथ के बन्धु हाय हे करुणा सागर !
निष्ठुर बिना तुम्हारे दर्शन किए गुणागर ॥
थोथे और अभागे ये दिन-रात-घड़ी-पल ।
कैसे करूँ व्यतीत, नाथ कुछ हाथ न सम्बल ॥

भावार्थ—हे दीनबन्धु ! हे करुणा सागर ! हे हरि ! आप ही बताइए कि बिना आपके दर्शन किए ये निस्सार दिन-रात और अभागे घड़ी-पल, हाय-हाय कैसे व्यतीत करूँ ।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल पूर्ववत् अपने भाव के अनुसार पुनः प्रार्थना करते हुए बोले—हे अनाथ बन्धु ! हे करुणा के एकमात्र सिन्धु ! आपके दर्शन के बिना ये दिन, ये रात, ये घड़ी–ये याम, ये पल, ये क्षण—सब अधन्य हैं, अमङ्गलस्वरूप हैं, नित्य दुःखप्रद हैं । जो धन को प्राप्त करे वही तो धन्य है, अतः वही देश धन्य है,वही काल धन्य है,वही पात्र धन्य है, जो आपसे धनी बना हुआ है । समस्त भुवन में निर्धन होने पर भी वही एक मात्र धनी है—जिसके हृदय में आपके श्रीचरण नित्यविहार करते हों तथा जिसकी प्रेम डोर में बँधे हुए आपके श्रीचरण अन्यत्र जाने में असमर्थ हो गये हों ।

सकल-भुवन-मध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निज-लोकं सर्वथाऽतो विहाय प्रविशति हृदि तेषां भक्ति-सूत्रोपनद्धः ॥

—श्रीमद्भा० माहात्म्य-पद्मपुराण

नाथ ! मैं भी तो नित्य इन्हीं आपके श्रीचरणों में विज्ञापन कर रहा हूँ कि आप अपनी कोई भी एक रूप–माधुरी के सहित मेरे हृदय में "**चिरं चकास्तु**" सदैव प्रकाशमान रहें, जिससे कि मैं मेरा जीवन, मेरी शेष आयु के दिन-रात चरणरूप परम धन से धन्यातिधन्य हो जाँय, परन्तु आप तो अपनी एक-एक बाँकी झाँकी दिखाकर चपला की भाँति चमक कर अन्तर्हित हो जाते हैं । अब बताइये ! मैं अपने दिन किस अवलम्बन पर व्यतीत करूँ ?

हे अनाथ बन्धो ! हम जैसे अनाथ के एक-मात्र आश्रय स्थान आप ही तो हैं। आप ही एक-मात्र निष्किंचन-प्रिय हैं, सुदामा के सखा हैं, पांडवों के बंधु हैं। हे हरे ! आपके बिना मेरे इस दुःख को कौन हरण कर सकता है, कौन मुझे प्रेम प्रदान कर सकता है ?

हे करुणैकसिन्धो ! आप करुणा और सामर्थ्य दोनों के पारावार सागर हैं ! आपके एक विन्दुमात्र से, एक लव-मात्र से ही मैं धनी एवं धन्य बन जाऊँगा। यह सत्य है कि मैं एक विषय का कीट होकर भी प्रेम-पारिजात की कामना कर रहा हूँ :—

परम तुच्छ अति हीन हौं, माँगत सकल सुमेर
तन घट में चाहत कियो शत सागर को घेर ।।

—माधुरीदास

तथापि मुझे आपकी एक-मात्र कृपा का भरोसा है तथा—सर्व समर्थ करुणा का पूर्ण विश्वास है।

सुगम करहिं सब साँवरे पै सुदृष्टि जो होई।
अन करनी करनी करहु करनी करहु न कोई ।।

—माधुरीदास

कहिये प्रभो ! मेरी यह विनती कब स्वीकार होगी ? हे हरे ! कब आप मेरे दुःखों को हरण करेंगे ? कब आप मेरे नयन-पथ-गामी बनेंगे ?

हाय ! मैं अपने मन की पीड़ा किससे कहूँ, कौन मेरा हितैषी है जो मेरी बात कान लगाकर सुनेगा ! मेरे चित्त की चोट को पहचानने वाला कौन है, जो दिल पर बीत रही है—उसका विश्वास भी कौन करेगा।

सखी ! मेरे मन की को जानै।
का सौं कहूं सुनै जो चित दै, हित की बात बखानै ।।
ऐसो को है अन्तर्यामी, तुरत पीर पहचानै।
नारायण जो बीत रही है, कब कोई सच मानै ।।

—नारायणदास

प्राणनाथ ! मेरी दशा पर कुछ तो दया करो और अब कब तक तड़फाओगे ?

प्यारे दर्शन दीजो आय।
जल बिनु कमल, चन्द बिनु रजनी, ऐसे तुम देखे बिनु सजनी।
आकुल व्याकुल फिरूँ रैंन दिन, विरह कलेजे खाय ।।

दिवस न भूख नींद नहिं रैना, मुख सों कहत न आवै बैना ।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिल कर तपन बुझाय ।।
क्यों तरसावो अन्तर्यामी, आप मिलो किरपा कर स्वामी ।
मीरा दासी जन्म जन्म की, पड़ी तिहारे पाय ।।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—श्रीराधा विरह संताप से अत्यंत विकल होकर प्रलाप कर रही हैं । "हे हरे ! तुम चित्त को चुराने में ही चतुर हो, मेरे प्राणों को हरण करके तो ले गये, पर अब मेरे दुःख को भी तो हरण करो ! "मेरा दुःख क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है ? मेरा दुःख यही है कि तुम्हारे दर्शन बिना इन अधन्य दुर्दिनों को कैसे व्यतीत करूँ ? तुम्हारे बिना एक-एक क्षण का समय युग के समान प्रतीत होता है—"त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्" (भागवत १०-३१-१५) । तुम्हारे दर्शन के बिना एक-एक पलक कल्प के समान बीत रहा है, सारा जगत शून्य के समान दिखाई देता है, यह जीवन अधन्य अमङ्गलमय भाररूप प्रतीत होता है । बताओ नाथ ! कैसे मैं इन कष्टमय दिनों को व्यतीत करूँ ? तुम्हीं कोई उपाय बताओ ?

प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम्हारे दर्शन के बिना हृदय में आग जल रही है, वर्षा की धारा की भाँति नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित है, फिर भी यह आग बुझती नहीं और अधिक दहकती जा रही है, एक-एक निमिष मेरा युग-युग के समान बीत रहा है ? सारा संसार सूना-सूना सा लगता है । बोलो ! अब मैं क्या करूँ ?

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायिताम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं, गोविन्द विरहेण मे ।।

—चैतन्य महाप्रभु शिक्षाष्टक

"क्या कहा—घर में जाकर सुखपूर्वक रहो ?" प्रियतम ! हमारा घर कहाँ ? और कौन हमारा है घर में ? जो हैं वे तो सब के सब दुःखदायी हैं । इसीलिये बुद्धिमान पुरुष नित्य-प्रिय आप में ही अनुराग करते हैं ।

कुर्वन्ति हि त्वयिरतिं कुशलाः स्वआत्मन् ।
नित्यप्रिये पति-सुतादिभिरार्तिदैः किम् ।। —भागवत

हम तो पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव और सर्वस्व का त्याग कर अनाथ बनी हुई हैं । हे अनाथ बन्धो ! तुम ही हमारे नाथ हो, बन्धु हो, सर्वस्व धन हो ! तुम्हारे बिना सब अधन्य हैं, यह जीवन अधन्य है । हमें धन्य करो नाथ ! हम पर अनुग्रह करो ।

किन्तु प्राणनाथ ! तुम्हारे चाहने वाले सभी भक्त तुम्हें वेदर्दी कहते हैं। क्या यह सच है ? सच ही जान पड़ता है,मैं कब से तुम्हें पुकार रही हूँ ? तुमने अपनी चितवन से चित्त को तो चुराया ही है—अब आँखें क्यों चुराते हो, घायल कर फिर राह बताते हो—

वेदर्दी तोहि दरद न आवै ।
चितवन में चित बस करि मेरो, अब काहे को आँखि चुरावै ।।
कब सौं परी द्वार पै तेरे, विन देखे जियरा घबरावै ।
"नारायण" महबूब साँवरे, घायल करि फिरि गैल बतावै ।।

—नारायणदास

हाय हाय ! आप यह क्या कहते हो कि तुमने धर्म का त्याग किया है। मैं तुम पर अनुग्रह नहीं कर सकता ? तो सुनो प्रियतम ! तुम से प्रेम करने में हमने धर्म का त्याग नहीं किया—अपितु श्रेष्ठ धर्म का पालन किया है, इस पर भी तुम जो चाहो सो कहो। हम विवाद नहीं करेंगी, चुपचाप सब सुन लेंगी। परन्तु हमारा प्रश्न तो इतना ही है कि यदि हमने अपना धर्म छोड़ा तो यह छुड़ाया किसने ? हे हरे ! तुमने ही तो बीज बोया है, "**चित्तं सुखेन भवताऽपहृतम्**"—भागवत। हमारे चित्त को चुराने वाले आप ही तो हैं। हमारे धर्म के ध्वंसकारी भी तो आप ही हैं, परन्तु फिर भी हम आपको रंचक मात्र भी दोष नहीं देतीं, हम तो स्वयं ही दोषी हैं, आप सदा निर्दोष हो। हमने तो धर्म त्याग दिया—परन्तु आप अपने धर्म का त्याग मत करो, आपका धर्म है 'करुणा'। आप ही एकमात्र करुणा के सिन्धु हो। आर्त्तजनों के दुःख को हरण करने के लिये ही तो आप व्रज में प्रकट हुए हो—"**व्यक्तो भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातः**"—भागवत। क्या हम धर्म-त्यागिनियों को स्वीकार करने में आपके करुणा-धर्म का लोप हो जायगा।

अतएव हे करुणैकसिन्धो ! हे आर्त्तबन्धो ! हे हरे ! अनुग्रह करके हमारे दुःख को हरण करो—दर्शन दो ? तुम्हारे विना जीवन का एक-एक पल भार रूप हो रहा है। हाय ! हाय ! हमारे दिन कैसे व्यतीत होंगे ?

यही दैन्यात्मक विज्ञप्ति अगले श्लोक में भी है—

मूल श्लोक हरिणी छन्दः

किमिह कृणुमः कस्य ब्रूमः कृतं कृतमाशया,
कथयत कथामन्यां धन्यमहो हृदयेशयः ।

मधुरमधुर-स्मेराकारे मनोनयनोत्सवे
कृपण-कृपणा कृष्णे तृष्णा चिरं वत लम्बते ॥४२॥

पद्यार्थ— **मैं क्या करूँ, किससे कहूँ, आशा न अब रह पायगी ।**
कुछ अन्य चर्चा ही करो शायद तपन बुझ जायगी ॥
पर हाय ! यों गहरी तृषा बुझ पायगी कैसे बता ।
जो मुग्धतर, लोचन मनोहर श्याममुख पर लम्बिता ॥

भावार्थ—हाय ! हाय !! क्या करूँ ? किससे कहूँ ? अब दर्शन की आशा करना भी व्यर्थ है । कुछ दूसरी बात-चीत ही शुरू करो । पर खेद, यह छलिया तो हृदय में ही छुपा है, इसे कैसे भुलाऊँ ? हाय वे मधुरातिमधुर मुस्कराहट से युक्त आकार वाले, वे मन और नयनों को आनन्द देने वाले श्रीकृष्ण मेरी दर्शन लालसा को उत्तरोत्तर बढ़ा ही रहे हैं ।

रसिका टीका—"हाय ! प्यारे श्रीकृष्ण के दर्शन तो हो नहीं रहे इधर दर्शन की लालसा-तृष्णा बढ़ती जा रही है—"**किमिह कृणुमः**"—अब क्या करूँ ?—**कस्य ब्रूमः**—किससे कहूँ ? कहना भी कठिन है, और ऐसा है भी कौन जो इस दुःख दर्द को मिटा सके ? हाय, न कह ही सकता हूँ, न सह ही सकता हूँ, कैसा विचित्र रोग है यह ? एक बार लगता है—तो छूटता ही नहीं है, हाँ ! अब समझा । तुम्हें दयालु कृपालु कहने वाले सब झूँठे हैं, कौन कहता है कि तुम करुणा के सागर हो, तुमको रसिकशेखर तो क्या रसिक कहना भी भूल है, व्रज से लौटकर उद्धव ने ठीक ही कहा था—

करुणामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूँठी ।
जब ही ज्यों नहीं लखौ तबहिं लौं बाँधी मूठी ॥
मैं जान्यौं ब्रज जाइकैं तुम्हरो निर्दय रूप ।
जो तुमको अवलम्बहीं, बाको मेलौ कूप ॥
कौन यह धर्म है ।

—नन्ददास

सचमुच तुम तो बड़े ही निर्दयी हो—कितना रोया, कितना गाया, न जाने कितनी आशा-अभिलाषाओं को हृदय में संजोये बैठा रहा, लम्बी प्रतीक्षा में अनगिनत साधनाओं से तुम्हारे दर्शन की भीख माँगता रहा-परंतु सब निष्फल । अब अपनी करनी—मैं किसके आगे सुनाऊँ—**कस्याग्रे कृतं ब्रूमः** अतः मौन रहना ही उचित है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ ।
बकनो वृथा और पत खोनो, सबै चवाई गाऊँ ।।
कठिन दरद कोऊ नहिं हरि है, धरि है उलटो नाऊँ ।
यह तो जो जाने सो जाने, क्यों कर प्रगट जनाऊँ ।।
रोम-रोम प्रतिनैंन सबन मन, केहि धुनि रूप लखाऊँ ।
बिना सुजान शिरोमणि री किहि,हियरो काढ़ि दिखाऊँ ।।
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों, कहि निज दशा रोआऊँ ।
"हरीचन्द्र" पिय मिलैं तो पग परि, गहि झटपट समझाऊँ ।।

इस प्रेम की पीड़ा को हृदय में छुपा कर ही रखना पड़ता है—

'परमानन्द' प्रेम की बातें काहू सों नहिं कहिये ।
जैसे वृथा भूख बालक को, अन्तर जिय में सहिये ।।

अब आशा करना वृथा है । छोड़ दो उसकी तृष्णा, कोई भी उसकी आशा मत करो । कहो, कोई दूसरी पुण्यकथा कहो,क्या कृष्ण-कथा के अतिरिक्त त्रिलोकी में कोई सुन्दर गाथा ही नहीं है ? उससे हृदय को शान्ति तो मिलेगी—**कथयत कथामन्यां धन्यामहो हृदयेशयः ।**

उस निर्मोही की तो चर्चा ही छोड़ दो, उधर देखो भी मत, और मत उसका नाम लो, मत उसके रास्ते पर जाओ, यदि तुम मेरी हितकारी बात नहीं मानोगे तो धोखा खाओगे–वह दिगम्बर वेषधारी नटखट धूर्त्त तुम्हारा सर्वस्व हरण कर तुम्हें अकेला छोड़ देगा, फिर तुम बीहड़ों में भटकते-पत्थरों से शिर पटकते रहना, पर वह नहीं मिलेगा—

मायात पान्था पथि भीम रथ्या, दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्त हस्तोऽपि नितम्ब बिम्बे, धूतः समाकर्षति चित्त वृत्तिम् ।।

—विल्वमंगल

परन्तु अहो ! वह तो हृदय में ही काम बन कर बैठ गया है ।

मन में जो रहै ताको दीजिये विसार, मन आपै वसै जामें ताको कैसे के विसारिये ।

वही तो मेरे चित्त को आकर्षण कर रहा है—प्रतिक्षण तृष्णा को बढ़ा रहा है, क्या करूँ ? कोई उपाय भी नहीं, वह देखो, उधर खड़ा-खड़ा अपनी मधुर मुसकान के द्वारा मेरे मन को बलात् खींच रहा है,उसका यह रसोल्लास युक्त मधुर मुख मेरे मन और नयन के लिये,उत्सव रूप हो गया,उसकी प्राप्ति अभी तक नहीं हुई,तथापि मेरी आशा का अन्त नहीं यह तृष्णा ऐसी कृपणा

है—दरिद्रा है कि प्राप्ति होने पर भी तृप्ति नहीं मानती, फिर अप्राप्ति में तो तृप्ति कैसी ! अतएव उसकी न तो प्राप्ति होती है और न ही उसका त्याग होता है, आशा और तृष्णा-ही एकमात्र जीवन का भरोसा है, जैसे वृक्ष से पत्र गिरते जाते हैं, और उनके स्थान पर नये पत्र लगते जाते हैं, ऐसे ही आशायें उधर एक-एक करके व्यर्थ होती जाती हैं, और दूसरी ओर एक-एक करके नई अंकुरित होती रहती हैं, परन्तु हाय ! अंकुर अंकुरित होकर ही रह जाता है, उसे पल्लव, पत्र, पुष्प-फल की प्राप्ति नहीं हो पाती ! न होवे, न सही—परन्तु आशा के नये-नये अंकुर तो उगते रहें, तृष्णा की नई नई तरंगें उठती तो रहें, कृष्ण में कृष्ण को लेकर कृष्ण की लालसा से तृष्णा नित्य बढ़ती रहे, चाव चटपटी का अन्त न होने पावे, यही विल्वमङ्गल की प्रार्थना है—

यह बाढ़त है दिन ही दिन, मेरी आशा तृष्णा दरश बिन ।
कहा करौं वह तो नहीं आवै, कासों कहौं मुख कही न जावै ।।
मन काहे तू आस लगावै, तजि कर सुक्ख लहै न किन ।।
कोई न वाकी कथा सुनावो, पुन्य कथा औरहिं कोई गावो ।
जरन जिया की कछु तो सिरावो, आन उपाय नहीं या बिन ।।
हाय ! यह अचरज कहा भयो है, हिय में मेरे बैठि रह्यो है ।
हँसि हँसि हियरा अधिक दह्यो है, कैसे रहै जीवन वा बिन ।।
भूलि सकौं ना लाख भुलाये, यह ना छोड़े लाख छुड़ाये ।
पल पल तृष्णा कृष्ण बढ़ाये, कठिन निवाहन 'प्रेम' पन ।।

विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस तृषाकुलित प्रतीक्षा का वर्णन बंगला पद में देखिये—

मुख फिराय रवो तोमार पाने, एइ इच्छाटि सफल करो प्राने ।।
केवल थाका केवल चेये थाका, केवल आमार मनटि तुले राखा ।।
सकल व्यथाय सकल आकांक्षाय, सकल दिनेर काजेर मांझ खाने ।।

× × ×

प्रभु तोमार लागी आँख जागे ।
देखा नाई पाइ पथ चाई, से जेनो भालो लागे ।।
धूला नेवसिया द्वारे, भिखारी हृदय हारे,
तोमारि करुणा माँगे ।
कृपा नाइ पाइ सुधु चाइ, से जेनो भालो लागे ।।

श्रीकृष्ण प्रेम तो कोटि-कोटि जन्मों के साधनों से भी अप्राप्य है, किन्तु एक तृष्णा रूप साधन से वह सुलभ है, कृष्ण-भाव-रस-भाविता मति और कृष्ण दर्शन के लिये आतुरता यदि मिल जाय तो श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं, पर यह तो कोटि जन्मों के सुकृतों से भी नहीं मिलती—

क्रियतां यदि कुतो लभ्यते कृष्ण-भाव-रस-भाविता मतिः ।
तत्र-लौल्यमेवमेकलं मूल्यं, जन्म कोटि-सुकृतैर्न लभ्यते ।।

—विल्वमंगल

कृष्ण रङ्ग रस प्रेम को, लेओ चाह के मोल ।
चाह बिना सब धूर है, कोटि नेम ज्यों ढोल ।।

और इसीलिये प्रेमी अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिये लोक-परलोक की मान मर्यादा का उल्लङ्घन कर अपने तन-मन प्राण को प्रियतम के चरणों में न्यौछावर कर देता है—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रङ्कनि कलङ्कनि कुनारी हौं ।
कैसो नरलोक परलोक वर लोकनि में,
लीन्हीं में अलीक लोक-लीकनि तें न्यारी हौं ।।
तन जाउ मन जाउ देव-गुरु जन जाउ,
प्रान किन जाउ टेक टरति न टारी हौं ।
वृन्दावनवारी वनवारी की मुकुटवारी,
पीत पटवारी वाही मूरति पै वारी हौं ।।

अन्तरङ्ग लीला-परक अर्थ में—प्रबल भावावेश के आवेग में श्रीराधा सखियों के प्रति वचन कह रही हैं—हे सखियो ! अब क्या उपाय करना चाहिये ? श्रीकृष्ण तो दर्शन देंगे नहीं, उनका विरह मुझे अब असह्य हो रहा है । क्या करूँ ? कैसे उनके दर्शन पाऊँ ? और किसको अपने हृदय की कथा सुनाऊँ ? कौन ऐसा समर्थ है जो मेरे कष्ट को दूर कर सके ? तुम तो स्वयं ही मुझ-जैसी विरह-दुःखिता हो ! अब किसको पूछूँ ? कहाँ जाऊँ ?

कहा करौं कहाँ पाऊँ व्रजेन्द्रनन्दन । कहाँ मोर प्राणनाथ मुरली बदन ।।
काहारे कहिवे कथा के वा जाने दुःख । व्रजेन्द्रनन्दन विनु फाटे मोर बुक ।।

—चैतन्य चरितामृत

मरम की पीर न जाने कोय ।
कासौं कहौं कौन पुनि मानै, पैठि रही घर रोय ।।

काऊ जरनि न जाननिबारी, बे महरम सब लोय ।
अपुनो कहत सुनत नहीं मेरो, केहि समझाऊँ सोय ।।
लोक लाज कुल की मरजादा, बैठि रही सब खोय ।
'हरीचन्द' ऐसेहिं निबहेगी, होनो होय सो होय ।।

—बाबू हरिश्चन्द्र

सखियो ! अब मैं इस आशा—पिशाचनी का त्याग करूँगी, इसी ने मुझे क्लेश में डाल दिया है, बस यह आशा ही परम दुःख है, आज पर्यन्त आशा-पाश में बँधकर जो कुछ किया—सब निष्फल हुआ । अतएव अब आशा का त्याग ही उचित है । किसकी आशा ? किसकी चाहना ? उस अकृतज्ञ कपटी-क्रूर की ? नहीं, उसकी तो वार्ता ही मत करो ! उसकी वार्ता का परित्याग करो ! हमने अपना धर्म, धैर्य, लज्जा, भय, कुल, मान—सर्वस्व उसके लिये विसर्जन कर दिया, पर वह हमको एक बार दर्शन भी नहीं दे सकता है ? अतएव छोड़ो, उसकी चर्चा मत करो और कोई पुण्य कथा कहो ! जिससे चित्त को शान्ति मिले—कहते-कहते श्रीराधा के हृदय में श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति हो आई और पुनः श्रीराधा व्यथित तथा विस्मित होकर बोलीं—अहो !

जाहार कथा चाइ पासरिते । सेतो शुइया आछे चित्ते ।।

—चैतन्य चरितामृत

जिसकी कथा मैं भुलाना चाहती हूँ वह तो मेरे हृदय में ही समाया हुआ है । वह सोया नहीं, जाग रहा है और काम बाणों से मुझको विह्वल कर रहा है—**हृदयेशयः कामः शत्रुरयं मारयति** । अब क्या करूँ ? अब तो बचने का कोई उपाय नहीं है । यह तो नयन-मन हरणकारी मधुर-मधुर मुसकान के द्वारा मेरी आशा-तृष्णा की और भी अधिक वृद्धि कर रहा है, मेरे प्राण इससे मिलने के लिये आकुल हो रहे हैं । हाय ! क्या उपाय करूँ ?

वा मुख देखन को अहो कीजै कौन उपाय ।
कहा करौं कासौं कहौं परी कठिन अति आय ।।
ए लोचन आतुर अधिक उनहिं पीर कछु नाहिं ।
जल ते न्यारो मीन ज्यों तरफि तरफि अकुलाय ।।
कान कथा, मन ध्यान, रसना नाम अधार धरी ।
नैननि गति नहिं आन बिनु देखै मुख माधुरी ।।

—उत्कण्ठा माधुरी

'हरीचन्द' एक व्रत नेम प्रेम ही को लीनो,
रूप की तिहारे ब्रज भूप हौं उपासी हूँ।
ज्याय लेरे प्रानन, बचाय लै, लगाय लै अंक,
एरे नन्दलाल तेरी मोल लई दासी हूँ॥

पुनः अपने भाग्य का कोसते हुए लीला शुक कहने लगे—

मूल श्लोक वंशस्थविलं छन्दः

आभ्यां विलोचनाभ्यामम्बुरुह-विलोचनं बालम्।
द्वाभ्यामपि परिरब्धुं दूरे मम हन्त दैवसामग्री॥४३॥

पद्यार्थ—उस कमल विलोचन बालकृष्ण का दर्शन।
इन दो आँखों से उस छबि का आलिंगन॥
है दूर, दूर तर हमसे हाय हमारा।
सौन्दर्य सिन्धु का इन्दु अलौकिक प्यारा॥

भावार्थ—उस कमल-विलोचन मदनमोहन का अपनी इन दो आँखों से आलिंगन करने के लिए जिस दिव्य सौभाग्य की आवश्यकता है—वह मुझसे कोसों दूर है।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल के नेत्र साक्षाद्दर्शन के लिये लालायित हो रहे हैं, प्राण विह्वल हो रहा है, परन्तु चपला की चमक जैसी एक क्षणिक स्फूर्ति उनके हृदय में द्विगुण अन्धकार के द्वारा हाहाकार मचा रही है। तब अपने भाग्य में दर्शन दुर्लभ हैं, ऐसा आक्षेप करते हुए वे बोले कि—"हाय हाय! यह तो "दैवीसामग्री" है—अतः अति दूर है। कोटि-कोटि सुकृतों से भी प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। ऐसी वस्तु का मैं अपने हृदय में प्रकाश और विशेष प्रकाश और चिरकाल के लिये प्रकाश चाहता हूँ, उस प्रकाश को निबद्ध करना चाहता हूँ,— कैसे सम्भव है? उधर तो वह वस्तु स्वतंत्र है, इधर मेरा भाग्य अति मन्द है!

वह दैवी सामग्री क्या है? तो वह है—'**अम्बुरुह विलोचनं बालम्**'—कमल-नयन किशोरमूर्त्ति! उसके नयन तरुण हैं, ईषद अरुण हैं तथा करुणा पूर्ण हैं, परन्तु मेरे लिये तो कठोर ही हैं! तभी तो दूर ही दूर रहते हैं, समीप नहीं आते हैं!!!

"हाँ नाथ! आपका "शरीर से आलिङ्गन तो दूर है ही, क्योंकि यह तो किसी सर्वोपरि सौभाग्यशाली को ही मिलता है, परन्तु—"**आभ्यां द्वाभ्यां**

विलोचनाभ्यामपि परिरब्धुं दूरे"–हाय ! मेरे तो नेत्रों को भी आलिङ्गन प्राप्त होना दूर है, मुझे तो दर्शन मिलना भी दुर्लभ हो गया है—

पद धाय गहौं, हिय लाय रहौं, सब ताप दहौं, यह भाग्य कहाँ ?
कर शीश लहौं, सुनि बैन रहौं, मधु नैंन चहौं, यह भाग्य कहाँ ?
हे कमलनयन हे बाल मधुर ! रस पान करौं यह भाग्य कहाँ ?
भुज सों भरि भेंटहुँ जोई सोई, नैनन भेंटौं यह भाग्य कहाँ ?

भगवान का सर्वोपरि पुरस्कार भक्त को आलिङ्गन प्रदान करना है, तथा जीव का सर्वोपरि सौभाग्य अपने प्रभु का आलिङ्गन प्राप्त करना है। भगवत्पार्षद श्रीहनुमान ने लंका से लौट कर श्री सीताजी का संवाद सुनाया, तब श्रीराम बोले—

प्रति उपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा ।।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेऊँ करि विचार मन माहीं ।।

जगदीश्वर के पास जब कुछ देने को नहीं रहा तब कहने लगे—

इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुत।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानर-पुङ्गवम् ।।

मारुति ! मैं तुमको अपना सर्वस्व प्रदान करता हूँ—ऐसा कहते हुए प्रभु ने अपने श्रीचरणों में पड़े हुए हनुमानजी को बलपूर्वक उठा कर अपने हृदय से लगा लिया और कहने लगे—

परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः।
अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरि-पुङ्गव ।।

—अध्यात्मरामायण

'हे हनुमान ! संसार में मुझ परमात्मा का आलिङ्गन प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, तुम मेरे भक्त हो, परम प्रिय हो।' अतः तुमको मैं अपना आलिङ्गन प्रदान कर रहा हूँ।

विल्वमङ्गल के हृदय का अभिप्राय भी यही है कि साक्षात् हृदय से हृदय मिलाकर आलिङ्गन तो दुर्लभ है—तो वह नहीं सही परन्तु नेत्रों के द्वारा तो आपका आलिङ्गन प्राप्त हो जाय ! यह सौभाग्य-सम्पदा भी मेरे लिये अति दूर है।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—विरह-विह्वला प्रिया श्रीराधा मूर्च्छित

अवस्था में भूमि पर पड़ी हैं, नेत्र मुँदे हुए हैं, शरीर का प्रत्येक अङ्ग जैसे यंत्र से जकड़ गया है। मन में अतिशय कष्ट है। सखियाँ उन्हें सान्त्वना देती हुई पूछ रही हैं–सखिराधे ! तुम्हारी आहार में रुचि नहीं रही, सांसारिक समस्त विषयों से तुम्हारी उत्कृष्ट निवृत्ति हो गई है,तुम्हारे नेत्र नासिका के अग्रभाग में लगे हुए हैं, तुम्हारा मन भी अब एकनिष्ठ हो गया है, तुम्हारे मौन ने सारे संसार को सूना-सा कर दिया है—राधे ! बताओ तो सही बहिन ! तुम योगिनी हो या वियोगिनी ?—

आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा,
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद् विश्वमाभाति ते,
तद्ब्रूयाः सखि ! योगिनी किमसि भोः किंवा वियोगिन्यसि ॥

श्रीराधा की दशा को और अधिक बिगड़ती हुई देखकर सखिगण पुनः श्रीराधा को सावधान करती हुई कहती हैं–हे राधे ! थोड़ा धैर्य धारण करो, श्रीकृष्ण अब आ ही रहे हैं। वे तुमसे मिलने को अति उत्कण्ठित और व्याकुल हैं। वे शीघ्र ही तुम्हें आलिङ्गन प्रदान कर सुखी करेंगे, तुम भी उनको अपना आलिङ्गन प्रदान कर सुखी होना।

तब श्रीराधा कहती हैं–सखियो ! शरीर से तो क्या आलिंगन करूँगी, मुझे तो नेत्रों के द्वारा भी आलिंगन नहीं मिल रहा है, ये मेरे नेत्र तो खुलते ही नहीं हैं। वे यदि आये भी तो हाय ! न मैं इन भुजाओं को उठाकर उनसे मिल सकूँगी और न नेत्र खोल कर उनका दर्शन ही कर सकूँगी। "हाय ! मेरे लिये उस दैवीसामग्री-स्वरूप सुकुमार कमलनयन के दर्शन भी दुर्लभ हैं ! वे आवें, भले आवें, तुम सब उनके दर्शन कर लेना, परन्तु मेरा यह सौभाग्य कहाँ ? जो उनको नेत्र खोल कर देख सकूँ ?

मेलिते न पारिआँखि, ताते कहे हय दुःखी, जेबे आइसे तबे आइसो हरि।
जो देखिबे से देखउ, आमार कि करे जीउ, आँखि आमि मेलिबारे नारि ॥

—यदुनन्दनदास

श्रीराधा की यह विरह-दशा दश–दशाओं में से अतिशय व्याधि की दशा है, जिसमें मनोव्यथा के साथ ही शरीर अत्यन्त क्षीण तथा असमर्थ हो जाता है।

मूल श्लोक प्रहर्षिणी छन्दः

अश्रान्तस्मितमरुणारुणाधरोष्ठं
हर्षार्द्र-द्विगुणमनोज्ञ-वेणु-गीतम् ।
विभ्राम्यद्विपुल-विलोचनार्ध-मुग्धं,
वीक्षिष्ये तव वदनाम्बुजं कदानु ॥४४॥

पद्यार्थ— **जो मधुरस्मित युक्त सदा ही जिसके विम्बाधर अरुणाभ !**
हर्ष स्निग्ध द्विगुण सुन्दर है जिसके वेणु गीत का लाभ !
लोल विशाल विलोचन जिसके अर्ध निमीलित अतः ललाम !
कब तेरा वह आनन पंकज देख सकूँगा, हे घनश्याम !

भावार्थ—निरन्तर मुस्कराहट की वर्षा करने वाला, अतिशय अरुण अधर वाला, उल्लास से अभिसिञ्चित होने के कारण द्विगुणित मनोहर वेणुगीत का विस्तार करने वाला एवं चपल, अर्ध-निमीलित आँखों के कारण विशेष विमुग्ध दिखाई पड़ने वाला वह तुम्हारा मुखारविन्द कब देख सकूँगा ?

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में विल्वमंगल कह रहे हैं कि मेरे भाग्य में नेत्रों से भी दर्शन पा लेना दुर्लभ हो गया है, परन्तु मन नहीं मानता, आशा नहीं टूटती—मेघ की निष्ठुरता से चातक का प्रण छूट नहीं जाता—अतएव विल्वमंगल भी पुनः उसी दुर्घट के घटने की आशा करते हुए कहने लगे–'हाय ! तुम्हारे वदन-कमल के मुझे दर्शन कब होंगे ? होंगे न ?' नहीं होंगे तो—ना सही, हम तो अपना काम किये ही जायेंगे—

तुम बोलो न बोलो सुनो न सुनो हमें दाबि हिया को कराहनो है ।
तुम ओर हमारी लखो न लखो हमें रूप पयोनिधि चाहनो है ॥
तुम आन मिलो न मिलो हम सों हमें पग धूरि लै भूरि सराहनो है ।
रटि नाम तिहारो ही "दीन" बने हमें नेह को नातो निबाहनो है ॥

हाँ प्रभो ! आपका मुख कमल अतिशय आनन्द के कारण निरन्तर मन्द-स्मित है। अर्थात् सब समय सब अवस्था में एक रस मन्द-मृदु-मुसकान से आपका मुख कमल मधुर-मनोहर बना रहता है और आपके विम्बोष्ठ कितने अरुण हैं, इन्हें देखकर अरुणिमा भी लज्जित होती है, इन अधरोष्ठों की अरुणताकी उपमा किससे दी जाय ? ये तो अरुण से भी अधिक अरुण हैं, और अरुण ही अरुण हैं—

प्यारे के सुर्ख अधर देखे गूँचों की उड़ गई धड़ी धड़ी।
नग मीना जटित अरे जालिम यह फूलों की सी छड़ी छड़ी ।।
मुस्कान विहारी की 'शीतल' कहि अमृत कीसी झड़ी झड़ी।
झुमकाहट दशन अनोखे की मुक्ताहल कीसी लड़ी लड़ी ।।

हाँ ! इसीलिये तो यह मुखारविन्द— **'हर्षार्द्र द्विगुण-मनोज्ञ-वेणु-गीतम्'** है, अर्थात् हर्ष के कारण अत्यन्त स्निग्ध होने से द्विगुणित मनोहरता को प्राप्त हो रहा है, क्योंकि यह वेणु गीत से युक्त है। प्रथम तो आपकी वंशी ध्वनि ही सहज मनोहर है, अन्य साधारण वंशी-ध्वनियों से यह विलक्षण है, क्यों कि यह आनन्द रसमय है, उस पर भी जब आप अपने आनन्द के लिये किसी अन्तरङ्ग लीला-रस के आवेश में उसे अत्यन्त हाव-भाव के साथ बजाते हो तो यह ध्वनि विशेष मनोहर हो जाती है। वास्तव में तो आप स्वयं ही आनन्द रसमय हैं,इसीलिये वंशी भी मनोहर है। परन्तु वंशी कहती है यह मनोहरता श्रीकृष्ण की फूँक से निकलती है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक बंगला पद का भाव देखिये—

वंशी बोले मोर नाहिक गौरव, केवल फूँकेर जोरे मोरे कलरव।
फूँक कहि लो आमि फाँकि, शुधु हाओया खानि,
जे जन बाजाय तारे केह नाहिं जानि ।।

किसी ने कहा—वंशी ! तू इतनी मनोहर क्यों है ? वंशी ने भोले से स्वरों में उत्तर दे दिया—यह मेरा गौरव नहीं है, मैं तो केवल फूँक के जोर से ध्वनि मात्र कर देती हूँ। गौरव तो फूँक का ही है। फूँकने कहा—मेरा भला क्या गौरव ? मैं तो केवल वायु मात्र हूँ। फूँक ने फिर कहा—यह दुनियाँ भी कैसी है—जो केवल हमारी ही प्रशंसा करती है, जिसकी फूँक है जो मुझे बजाता है, उसको कोई जानता पहचानता ही नहीं ? जिसकी फूँक से मैं स्वयं अपने को खो बैठती हूँ—उसे कोई नहीं खोजता।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—पुनः श्रीराधा श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होने पर उत्कण्ठित होकर प्रलाप करती हैं कि— हे श्रीकृष्ण ! मेरी देह की तो यह दशा हो गई है कि उठना-बैठना भी कठिन हो गया है, नेत्र खोलने तक की सामर्थ्य नहीं रही है। परन्तु हाय ! अब भी तुम्हारे मुख-कमल के दर्शन नहीं हो रहे हैं। क्या इस जन्म में सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा ? हाय सखि ! श्यामसुन्दर प्राणधन श्रीकृष्ण नहीं आते तो न आवें ! मेरे प्राण उनके विरहमें भले ही चले जाँय ! मुझे इसका न शोक है न भय है, पर मेरे हृदय पर एक

असह्य वज्रपात हो रहा है कि पुनः एक बार भी उस मुख-चन्द्र के दर्शन मुझे नहीं हुए—

नायाति चेद्यदुपतिः सखि नैतु कामं, प्राणस्तदीय-विरहाद् यदि यान्ति यान्तु ।
एकः परं हृदि महान् मम वज्र-पातो, भूयो यदिन्दुवदनं न विलोकितं तत् ।।

—पद्यावली

लीलाशुक पुनः उस करुणामय किशोर रूप के दर्शन की लालसा से प्रार्थना करते हैं—

मूल श्लोक बसन्त तिलकं छन्दः

लीलायताभ्यां रस-शीतलाभ्यां,
नीलारुणाभ्यां नयनाम्बुजाभ्याम् ।
आलोकयेदद्भुत-विभ्रमाभ्याम्,
काले कदा कारुणिकः किशोरः ।।४५।।

पद्यार्थ— **लीला विकसित, रस शिशरीकृत, मद से अरुण, विलास भरे ।**
नील तारिका कलित ललित नयनारविन्द से हाय हरे ।।
कब किस काल किशोर कारुणिक ! मुझको जरा बता तो दो ।
देखोगे इस दीन-हीन को एक बार समझा तो दो ।।

भावार्थ—वह करुणा-सागर किशोर मूर्ति (श्रीकृष्ण) अद्भुत विभ्रमों से युक्त लीला से विकसित और रस से शीतल अपने अरुण-श्याम नयनारविन्दों से मुझे किस समय देखेंगे ?

रसिका टीका—विल्वमंगल अपनी दैन्यता के कारण नम्र होकर निवेदन कर रहे हैं कि—"**आलोकयेत् कदा काले कारुणिकः किशोरः**"—हे नाथ ! मैं तो सर्व प्रकार से अयोग्य हूँ, परन्तु आप तो सर्व प्रकार योग्य हैं—समर्थ हैं, समर्थ ही नहीं करुणावान् भी हैं। आपके एक करुणा—कटाक्ष के कण से सूखा सरोवर सजल हो जाता है, सूखे तरुवर हरे-भरे हो जाते हैं, क्या वह आपकी—करुणा दृष्टि कभी मेरे ऊपर भी होगी ? क्या आप कभी मेरी ओर भी निहारेंगे ? आपकी कृपा तो कृपण-गामिनी है, और मैं महा दीन-कृपण हूँ, फिर भी आप मेरी ओर दृष्टिपात नहीं करते।

कुबिजा को सूधो करो, ध्रुव सदेह गयो लोक ।
ये बातें सुनि सुनि सबै, मिट्यो हिये को शोक ।।
पारवती के खण्ड में सबै युवति हैं जाहिं ।
हमको इती कठिन कहा, श्री वृन्दावन माहिं ।।

आपकी दृष्टि पड़ते ही सब वानक आप ही स्वयं जुट जायेंगे—

कुविजा को सूधी करी, ध्रुव सदेह गयो लोक।
ये बातें सुनि सुनि सबै, मिट्यौ हिये कौ शोक॥
पारवती के खण्ड में, सबै युवति है जाहिं।
हमको इती कठिन कहा, श्री वृन्दावन माहिं॥

आपके श्रीधाम वृन्दावन में कौन सी वस्तु दुर्लभ है? अतएव हे करुण किशोर! कब मेरी ओर कृपा दृष्टि करोगे?

कीये की सब करत हैं, दीये को सब देत।
अनकीये को कीजिये, यहै कृपा को हेत॥

—उत्कण्ठा माधुरी

इस करुणामय किशोर स्वरूप की विशेषता क्या है? आपके नयन-कमल लीला के कारण विशाल हैं, रस के कारण शीतल हैं, मद के कारण अरुण हैं, मध्य में नीलतारका से युक्त हैं, विलास मय हैं। इसी कारण इनकी विशालता अद्भुत है।

'लीला' का अर्थ 'हाव'—शृङ्गार रस की विशेष क्रिया है। **"हेलालीलेत्यमी हावाः क्रिया शृङ्गारभावजाः–इत्यमरः**। विभ्रम के अथवा हाव के कारण भ्रान्ति होती है–**"विभ्रमो भ्रान्तिहावयोः"—इति मेदिनी**। जिस सौन्दर्य-लावण्य के दर्शन से सब कुछ भूला जाता है, वेशभूषा का भी विपर्यय हो जाता है,–उसका नाम विभ्रम है। **"अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः**। वंशी-ध्वनि श्रवण करके गोपियों को भी यही विभ्रम हो गया था। आपके नयन-कमल ऐसे ही अद्भुत विभ्रम से विकासयुक्त हैं।

श्रीगदाधर भट्टजी के सुपुत्र और प्रसिद्ध वाणीकार श्रीवल्लभरसिक जी ने अपनी वाणी में नयन-विलास का अद्भुत निगूढ़ वर्णन 'बारहवाट अठारह पैंडे' प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया है। इसमें से कुछ उद्धरण दशम श्लोक के **"अपाङ्गरेखाभिरभंगुराभिः"** की व्याख्या में दिये गये हैं, यहाँ 'विभ्रम' पर उनकी अपूर्व वाणी देखिये—

जब लग अँखियाँ लखियाँ नाहीं, राखो पकरि पकरि कर मेंडें।
जब अँखियनि अँखियाँ लखियाँ तो बारहवाट अठारह पैंडें॥

नयन-विलास अर्थात् लीला के हाव-भाव भी देखिये :—

ये अँखियाँ बोलें अरु डोलें। लेंहि, देंहि सब करें किलोलें।
ज्यों ज्यों भावे, त्यों त्यों खेलें। नैनन की ग्रीवा भुज मेलें॥
चंचल इनको सहज सुभावे। अंचल इनको इन अति भावे।
अँखियाँ बात कहन को आवें। तब रसना के मदहिं भुलावें॥
जब नैननि को बैना भूलें। तब नैननि में नैना भूलें।

अंग अंग रँगनि भरें, ये अंखियां शिरमौर।
रंग रंग के अंग को, एही परखें ठौर॥

इनकी समुझन समुझ कहावें। सो समझन की समझ भुलावें॥
इनकी जानन इनहुँ न जानी। इनको जानन जानी जानी॥
नाहिंन इनतें कछुना छानी। इन छानी सो छानी छानी॥

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में - श्रीराधाजी का प्रलाप पूर्ववत् प्रवाहित हो रहा है, उनकी दशा अत्यन्त करुणाजनक हो चुकी है, सखियाँ कह रही हैं—"हे श्रीराधे! तुम इतनी हताश क्यों होती जा रही हो! तुम ही तो हमारे प्राण हो! हमारी ओर देख करके ही कुछ तो धैर्य धारण करो? श्री कृष्ण अभी निश्चय ही आयेंगे और तुम्हारी ओर प्रेमपूर्वक अवलोकन करेंगे। उनके आगमन करते ही तुम में शक्ति आ जायेगी, तुम्हारे नेत्र खुल जायेंगे, तुम्हारी क्षीण भुजाएँ बलिष्ठ हो जायेंगी, तुम प्यारे को हृदय से लगा लेना। अतएव निरर्थक चिन्ता को त्यागकर धैर्य धारण करो।"

सखि! दोष उनका नहीं है, मेरा भाग्य ही ऐसा है, जब वे आये थे, तब मैं मान-गुमान के वश उन्हें निहार न सकी, प्रिय सखी! वन के मोर कोयल, पपीहा आदि सभी ने मुझे प्रियतम के आने की सूचना दी थी, तुम सबने भी मुझे अनेक प्रकार से समझाया था कि—प्यारे श्यामसुन्दर आयेंगे तो तुम संकोच छोड़कर उन्हें आलिङ्गन प्रदान करना, प्रियतम को सुखी बनाकर स्वयं सुखी होना—पर सखी! मैं क्या कहूँ! जब वे आये तो मेरे अङ्गों पर बैठी निगोड़ी लाज मेरी बैरिन बन गई, न तो मैंने उन्हें आते समय देखा और न जाते समय ही मेरे पलक उठ सके :—

बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखीं सब जुगति नई नई।
'द्विज देव' की सौं लाज बैरिन कुसंग इन,
अंगिनिहीं आपने अनीती इतनी ठई॥

हाय इन कुञ्जन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समें मैं दुख दाइनि भई री लाज,
चलन समें मैं चल पलन दगा दई॥

पुनः श्रीराधा भावावेश में सखियों से कहती हैं—हाँ सखियो! क्या वे किशोर मूर्त्ति अपने नेत्र-कमलों के द्वारा मुझ दुःखिनी की ओर अवलोकन करेंगे? हाँ, वे करुणामय हैं–देखेंगे तो अवश्य! परन्तु हाय! कब देखेंगे? यदि अभी-अभी मेरे प्राण बहिर्गत हो गये तो फिर कब.....?

"हाँ मैं जानती हूँ कि उनके नयन-कमल रस से परिपूर्ण हैं। उस रस से वे मेरे ताप को शीतल कर मुझ में शान्ति का संचार कर सकते हैं। उनके नेत्रों में हावभावमय लीला का प्रवाह है, उससे वे मुझे प्रेरणा दे सकते हैं, उनके नेत्रों में अनुराग का मद परिपूर्ण है, उससे वे मुझको भी उन्मादिनी बना सकते हैं, हाँ! उनके नेत्रों में एक अद्भुत विभ्रम है, मोहिनी माया है, उससे वे मुझको तन्मय कर सकते हैं, परन्तु कब? सखियो! यह सब कब होगा? मेरे प्राण तो प्रयाण करने को छटपटा रहे हैं, परन्तु वे तो दर्शन नहीं दे रहे हाँ! वे सहज करुणामय हैं—अपराध को ग्रहण नहीं करते हैं, अतएव दर्शन देंगे, जरूर देंगे, जरूर देंगे; परन्तु कब? हाय कब.....?" यों कहते कहते श्रीकिशोरीजी मूर्छित हो गई हैं। इसके अनन्तर का जो प्रलाप है वह आगे के श्लोक में वर्णित है :—

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

बहल-चिकुर-भारं बद्ध-पिच्छावतंसं,
चपल-चपल-नेत्रं चारु-बिम्बाधरोष्ठम्।
मधुर-मृदुल-हासं मन्दरोदार-लीलं,
मृगयति नयनं मे मुग्ध-वेषं मुरारेः॥४६॥

पद्यार्थ— मोर पिच्छ से सदा अलंकृत कोमल केश कलाप सघन।
अधर मनोहर बिम्बाफल-से, अतिशय चञ्चल चारु नयन॥
मन्दर-सी उदार लीलाएँ, मधुर मृदुल मुसकान, हरे!
तेरे मुग्ध वेश को मेरे नयन खोजते चाह भरे॥

भावार्थ—जिसका सघन केश कलाप माथे पर बँधे हुए मोर मुकुट से अलंकृत

है, जिसके नेत्र अतिशय चपल हैं, जिसका अधर-ओष्ठ बिम्बाफल के सदृश मनोहर है, जिसकी मुस्कराहट मधुर और मृदुल है, मुरारि के उस मनोहर वेश को मेरी दृष्टि खोज रही है।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण के मुखकमल की माधुरी का वर्णन करते-करते उनके दर्शन के लिये जो हृदय उत्कण्ठित हुआ था फिर उसी का वर्णन करते हुए बिल्वमङ्गल कहने लगे :—

"**मे नयनं मुरारेर्मुग्धवेषं मृगयति**"—मेरे नेत्र मुरारि की मनोहर मूर्त्ति का अन्वेषण कर रहे हैं, वह मधुरमूर्त्ति कहाँ छुपी है? कब उसके दर्शन होंगे? इस आशा से मैं चारों ओर नेत्रों को विस्फारित कर फाड़-फाड़कर देख रहा हूँ! कदाचित् कहीं उनकी झाँकी मिल जाय? परन्तु हाय!

गिरिवर पुर वीथिन सबै रह्यो निहारि निहारि।
कोउ कहूं नहिं पाइये, वा मुख की उनिहारि॥
वा मुख की आसा लगी, तजी आस सब लोक।
अब श्वासा हू जायगी, जो न बने संजोग॥

—उत्कण्ठामाधुरी

मेरे नेत्र उस परम मनोहर मुरारी स्वरूप की खोज कर रहे हैं, जिसका सर्वाङ्ग भूषण से भूषित है, जिसकी मृदु-मुसक्यान हृदय में रस घोल देती है, जो अपनी लीलाओं द्वारा रस की वर्षा कर प्रेम प्रदान करता है—

मेरे नैना खोजत डोलैं।
कहाँ मुरारी मोहन मनहर, कहि कहि कै यूँ बोलैं॥
जूड़ा दै सिर केश कस्यो है, भूषण करत किलोलैं।
लोचन लोल लगौहैं लागत, लेत मनहिं बिन मोलैं॥
अरुण बिम्बधर सुघर मनोहर, हँसतहिं मृदु मधु घोलैं।
विविध भाँति लीला रस बरसत, 'प्रेम' की ग्रन्थिन खोलैं॥

पीछे सप्तम श्लोक में "**मुरारेर्मधुरिम्णः**" है, और यहाँ "**मुरारेर्मुग्धवेषं**" है। उसमें भी माधुर्य के साथ मुरारि का सम्बन्ध है, इसमें भी मनोहरता के साथ मुरारि का सम्बन्ध है। अतएव—'**मुरारि से मुरा—कुत्सा तदरिः परम-सुन्दरः**—यह अर्थ ही प्रसंगसंगत होगा।

हां! सचमुच उस मुरारि का वह वेष अत्यन्त ही मनोहर है। उसके

मस्तक पर सघन-सुचिक्कण-श्याम-सुकुञ्चित-केशपाशों का जूड़ा रचित है, उसके मध्य-मध्य में भाँति-भाँति के पुष्प खचित हैं, तथा उसके ऊपर मयूर-पिच्छ का शिरोभूषण संनिबद्ध है। उसके नेत्र स्वभाव से ही चंचल-चपल हैं, खंजन-मीन-गन-गंजन भी हैं, तथापि वे अपने नटवर-शृङ्गार के पुनः-पुनः अवलोकन तथा सर्वतः चकित दृष्टि के संचालन से उनके नेत्र चपल से भी चपल, अतिशय चपल, प्रतिपद - अत्यधिक - चपल होते जा रहे हैं। बिम्बफल के समान उनके अरुण-ओष्ठाधर स्वभावतः मनोहर हैं, तथापि मधुर मृदुल हास से और भी अधिक मनोहर हो रहे हैं, अतः वह मुरारि कल्पतरु के समान उदार लीलाधारी तथा आनन्द-रसामृत-प्रदानकारी बने हुए हैं।

"**मन्दरोदार लीलम्**"—का अर्थ टीकाकारों ने तीन प्रकार से किया है।

(१) **मन्दर (कल्पवृक्ष)** के समान उदार (नाना विध रस प्रदायिनी) लीलम् (लीलाएँ करने वाला) अर्थात् कल्पवृक्ष के समान अनेक प्रकार की रसप्रदायिनी लीलाएँ करने वाले।

(२) **मन्दर (मन्दराचल)** के समान उदार लीलाएँ करने वाले, अर्थात् समुद्र-मन्थन के लिए देव-दानवों ने मन्दराचल का उपयोग किया था और उससे अपना अभीप्सित-अमृत प्राप्त किया था, उसी प्रकार भक्तवृन्द अथवा व्रज-सुन्दरियों के लिए श्रीकृष्ण उनकी अभीप्सित लीलाओं का विस्तार करते हैं। और ये ही लीलाएँ अन्य साधारण भक्तों के कान में पड़ती हैं तो वे आकृष्ट हो जाते हैं, लीलाश्रवण में उनका मन लगने लगता है और वे भगवत्परायण होकर फिर नई लीलाओं की अभिलाषा करने लगते हैं। भक्तवत्सल फिर उनकी अभीप्सित नई लीलाओं का विस्तार करते हैं। इस प्रकार भक्त की चाह और भक्तवत्सल की लीलाओं की शृंखला निरन्तर अविच्छिन्न रूप में चलती रहती है। व्यासजी महाराज ने कहा है :—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

—भागवत १०-३३-३७

यही करुणा सागर का मन्दराचल के सदृश औदार्य है कि भक्त उसे जिस भाँति चाहे उस भाँति नचा सकता है, उनसे जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है।

(३) मन्दराचल के द्वारा जैसे क्षीर सागर का मन्थन करके उसके रत्नों का अपहरण किया गया था, उसी प्रकार अपनी महती-लीलाओं के द्वारा हृदय को मन्थन कर धैर्य, धर्म, लज्जा, शील आदि रत्नों का हरणकर्त्ता तथा चित्तरूप समुद्र में महा-क्षोभ उत्पन्न करने वाले श्रीकृष्ण हैं।

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में-मूर्च्छा प्राप्त श्रीराधिका को सान्त्वना देने के लिये सखियाँ कहने लगीं—"हे राधे ! उठो, उठो ! देखो, ये श्रीकृष्ण आगये !" श्रीराधा उठकर चारों ओर देखती हैं, और उच्च स्वर से कहने लगती हैं-"कहाँ हैं मुरारि ? कहाँ हैं सखियो ! मेरे नयन चारों ओर उनके परम सुन्दर मनोहर रूप को ढूँढ़ रहे हैं ! हाय ! वे नयनगोचर तो नहीं हो रहे हैं। सखियो ! आये हैं तो कहाँ गये ? मुझे दर्शन करादो न उनका ! वह मेरे भूषण के भूषण मुरारि ! वह उनकी काली घुंघराली अलकावली, वह मस्तक पर मोर मुकुट, वे चंचल चपल नयन युगल, वह अरुण-तरुण-बिम्बाधर, वह मृदुल मधुर हास, वह आनन्द-रसप्रद-विलास, इनसे सुशोभित वह सुन्दरता की राशि मेरे मुरारि कहाँ हैं ? उसने मेरे हृदयागार की समस्त रत्न-राशि को अपहरण कर मुझे विक्षुब्ध कर दिया है। विलम्ब अब सहा नहीं जाता ? एक-एक पल कल्प के समान व्यतीत हो रहा है ! शीघ्र ही दर्शन कराओ उसके !!

मूल श्लोक वंशस्थविल छन्दः

बहल-जलदच्छाया-चौरं विलास-भरालसं
मद-शिखि-शिखा-लोलौत्तंसं मनोज्ञ-मुखाम्बुजम्।
किमपि कमलापाङ्गोदग्र-प्रसङ्ग-जडं जग—
न्मधुरिम - परीपाकोद्रेकं वयं मृगयामहे ॥४७॥

पद्यार्थ— **सघन मेघ-छाया का हर्त्ता, जो सुमनोज्ञ विलास-भरा।**
मत्तमयूरपिच्छ से भूषित, जिसका आनन हास-भरा॥
जो व्रजराज लली के बलित विलोचन से जड़ हुआ मनोरम।
उसी माधुरी के परिपाकाधिक्य रूप को खोज रहे हम॥

भावार्थ—सघन घन के सौन्दर्य ने जिसके रूप को चुराया है, जो विलास के भार से अलसाया हुआ है, जिसका मनोरम मुख-कमल उन्मत्तमयूर की चंचल चन्द्रिकाओं से अलंकृत है और श्रीकिशोरी कृपाकटाक्ष के समक्ष जो अपनी सहज चपलता भूलकर

जड़ीभूत-सा हो जाता है, उस अखिल विश्व के माधुर्य-परिपाक-प्रवाह श्रीकृष्ण को हम खोज रहे हैं।

रसिका टीका—इस श्लोक में भी पूर्व प्रसङ्ग ही चल रहा है। परन्तु यहाँ उस मुरारि के माधुर्यमय परमोत्कर्ष का विशेष निरूपण हुआ है। जिस वस्तु का अन्वेषण विल्वमंगल कर रहे हैं वह है-"**महा-चौर शिखामणि**", उसको ढूंढ़कर पकड़ लेना कितना कठिन है? इसी तत्त्व को काव्य की सरस भाषा में वर्णन करते हुए विल्वमंगल कह रहे हैं-कि हे भ्राताओ! हम "**मधुरिमपरिपाकोद्रेक**"—को खोज रहे हैं। अर्थात् परम पूर्णतम माधुर्य को ढूँढ़ रहे हैं, उस सौंदर्य-सिन्धु ने काम-रति, चन्द्रमा, पद्म, हंस, भृङ्ग, सिंह, मीन, पल्लव, मयूर, नीलमणि, मेघ, आदि के सौन्दर्य-माधुर्य-चातुर्य का अपहरण कर-उनको निरस्त कर दिया है, अर्थात् ये सब वस्तु श्रीकृष्ण की रूप-गुण-माधुरी के सन्मुख अत्यन्त तुच्छ हैं। देखिये, श्रीकृष्ण का दर्शन कर सभी लज्जित हो रहे हैं—

उपमा हरि तन देखि लजाने।
कोउ जल में कोउ बन में रहै दुरि, कोऊ गगन समाने॥
मुख निरखत शशि गयो अम्बर को, तडित दशन छवि हेरो।
मीन कमल कर चरन नयन डर, जल महिं कीन बसेरो॥
भुजा देखि अहिराजु लजाये, विवरहि पैठे धाई।
कटी निरखि केहरि डर मान्यो वन वन रहे दुराई॥
गारी देहिं कविन के वरनत श्रीअंग पटतर देत।
सूरदास हमको विरमावत, नाम हमारो लेत॥

और भी देखिये—उस मधुर-रस के महापाक-शृङ्गार को प्रेमीजन खोज रहे हैं:—

श्यामता लुनाई तन, श्याम घन कांति हरे, भरे रसालस अंग चपलता भुलानी है।
फूल गुच्छ पुच्छ मोर, अच्छ अवतंस शीश, फूल मुख पद्म मनोहरता लजानी है॥
चलत चतुराई, खाई मूरि-सी ठगी रहैं, कमला जब भौंह कमान तानी है।
मधुररस महा पाक श्रृङ्गार रस राज, ताकों हम खोजें 'प्रेम' महा रस दानी है॥

अतएव "**मधुरिमपरिपाकोद्रेकम्**-का प्रथम अर्थ है माधुर्य का परिपाक। जिसके द्वारा अन्य वस्तुओं को अपने हरण की शङ्का उदय होती है, वे श्रीकृष्ण- "**तेषामुद्गतोद्रेकः शङ्का यस्मात्तम्**"—अर्थात् इन वस्तुओं के माधुर्य के चौर हैं, परम-माधुर्य-शिरोमणि श्रीकृष्ण।

द्वितीय अर्थ—मधुर रस के परिपाक का जिसमें आधिक्य है वह है—**मधुरिम परिपाकोद्रेकः कृष्णः।** एक इक्षु रस ही क्रम से—गुड़, शक्कर, खाँड़, चीनी, मिश्री तथा कन्द बन जाता है, यहाँ जैसे मूल में इक्षुरस एक ही होता है, फिर भी शुद्धि के भेद से मिठास में भेद हो जाता है। तथा कन्द (ओला) के रूप में परिपाक दशा को प्राप्त होकर, परम विशुद्धि के कारण सर्वाधिक मधुर होजाता है, इसी प्रकार एक ही रति या प्रेम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य भेद को प्राप्त होकर शुद्ध से शुद्ध, मधुर से मधुर बनता हुआ, क्रमशः शृङ्गार में परिपाक दशा को प्राप्त होता है, तब वह परम विशुद्ध रस कहा जाता है, इसी को सर्वोपरि महा मधुरतम रस कहते हैं, यथा—

दास्य सख्य वात्सल्य आर जे शृङ्गार। चारि भावे चतुर्विध भक्तइ आधार॥
निज निज भावे सवे श्रेष्ठ करि माने। निज निज भावे करे कृष्ण सुख आस्वादने॥
तटस्थ होइया हृदि विचार यदि करि। सब रस हइते शृङ्गारे अधिक माधुरी॥

—चैतन्य चरितामृत

व्रजभावना के उपासक रसिकाचार्यों ने भी क्रमशः इसी रस को सर्वश्रेष्ठ रूप में स्वीकार किया है, रस का पूर्ण विकास शृङ्गार में ही है :—

ज्ञान शान्त रस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखा दास तिनते अधिक, जिनके प्रीति प्रकाश॥
अद्भुत बाल चरित को जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस व्रज वनितन के हेत॥
सर्वोपरि है मधुर रस, युगलकिशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं, मिटत न कबहुँ हुलास॥

वयः प्राप्त युगलकिशोर के अंग-अंग में प्रतिक्षण तरङ्गायित-रस-माधुरी का एक बार आस्वादन कर लेने पर फिर साधक को साँझ-सबेरे का भान नहीं रहता :—

नौतन वैस किशोर छवि, बसत है जिहि उर नित्त।
पौगंड बाल लीलाहू, भावत नहिं तेहि चित्त॥
महा मधुर रस माधुरी नव नव वयस किशोर।
अद्भुत रस में मगन हैं, नहिं जानत निशि भोर॥

—हित ध्रुवदास

इसी कारण शृङ्गाररस को अंगीरस कहा गया है और अन्य रस इसके अंग हैं। जैसे पृथ्वी तत्त्व में अन्य चार महाभूतों के गुण भी हैं, वैसे ही शृङ्गाररस में अन्य चार भावों के गुण भी विद्यमान हैं, अतएव शृङ्गाररस अंगी है, रसाधीश है और है माधुर्य का परिपाक।

श्रीकृष्ण इस "**मधुरिम परिपाक**" के, इस महामाधुर्य-शृङ्गाररस के उद्रेक हैं, उद्गम स्थान हैं, "**कामावतारांकुर**" तथा "**शृङ्गाररससर्वस्व**" हैं,

और श्रीकृष्ण कैसे हैं?—"**बहलजलदच्छायाचौरं**" हैं। अपनी अंग-कान्ति के द्वारा सघन मेघ कान्ति का अपहरण करने वाले हैं। अथवा इससे अधिक सरस तथा तत्त्वपूर्ण अर्थ यह है कि मेघ ही जिनकी कान्ति को चुराने वाला है। अथवा 'छाया' का अर्थ-क्रान्ति न करके छाया ही लिया जाय तो यह अर्थ होगा कि श्रीकृष्ण के अङ्ग की कान्ति की समानता तो मेघ कर ही क्या सकता है, उनकी छाया में जो श्यामता है, उसकी भी समता वह नहीं कर सकता, चोर चोर ही रहेगा, वह कभी भी वस्तु का धनी नहीं बन सकता है। प्रतिबिम्ब में शोभा बिम्ब की ही तो है।

भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है कि मेरे ही तेज के किसी क्षुद्र अंश से त्रिलोकी में रूप, रस, बल-वीर्य गुण आदि का विस्तार है। **यद्यद्विभूति-मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा**"—गीता १०-४१।

और कैसे हैं श्रीकृष्ण? "**विलासभरालसम्**"—लीलाविलास के भार से अलसप्रायः हैं, अर्थात् उनमें चपलता का अभाव है। अतएव यह साधारण अवस्था का वर्णन नहीं, यहाँ तो किसी लीलायित अवस्था का संकेत है; क्योंकि सामान्य दशा में तो वे चपलातिचपल हैं। साथ ही वे मत्त मयूर के पुच्छगुच्छ के सहित नाना प्रकार के पुष्प-गुम्फित शिरोभूषण से अलंकृत हैं तथा उनका मुखकमल परमाश्चर्य रूप में मनोहर है। कमला अर्थात् श्रीराधा के नेत्र कटाक्ष के कारण वे जड़वत् चेष्टाहीन बने हुये हैं—ऐसे कोई एक परम माधुर्यमूर्त्ति-पुरुष का हम अन्वेषण कर रहे हैं।

श्रीराधा के नेत्र कटाक्षों से वे जड़वत् कैसे बने हुए हैं, इसमें भी विशेष लीला की सूचना है, जो आगे अन्तर्दशा के अर्थ में वर्णित है। तृतीय श्लोक में "**चपलापाङ्गच्छटामन्थरम्**" में इसी का कथन हो चुका है। यहाँ इस प्रसङ्ग पर 'श्रीराधारस सुधानिधि' ग्रन्थकार का भाव भी देखिये—

ययोन्मीलत् केली विलसितकटाक्षैककलया,
कृतो वन्दी वृन्दाविपिन कलभेन्दो मदकलः ।
जडीभूतः क्रीडामृग इव यदाज्ञालवकृते,
कृती नः सा राधा शिथिलयतु साधारणगतिम् ।।

वे श्रीराधा हमारी साधारणी गति पर अंकुश लगाने की कृपा करें—अर्थात् संसार के प्रति मन की अधोगति का निरोध कर अपने चरणों में बाँध लें, पर यह कैसे होगा ! अवश्य होगा ? क्योंकि उनमें यह अद्भुत सामर्थ्य है, भला जो अपनी कृपा-कटाक्ष की कोर से एक निमिषमात्र का दृष्टिपात कर वृन्दावन के मदमत्त करिशावक श्रीकृष्ण को शान्त और स्तब्ध बना देती है, उसे बन्दी-सा बना लेती है और वह अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर अपनी ऐश्वर्य-शक्ति को भूलकर उनका लीलामृग बन जाता है, उनके इङ्गित पर नृत्य करने लगता है, ऐसी जो सर्व-समर्था श्रीराधा—उनके लिये मेरे मन-मतंग को शान्त कर देना कौन-सा बड़ा कार्य है ?

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में :—पूर्व श्लोक में यह वर्णन हो चुका है कि मूर्छिता श्रीराधा सखियों के–श्रीकृष्ण आ गये—ऐसा कहने पर उठकर चारों ओर श्रीकृष्ण को देख रहीं हैं। तब सखियाँ उनको समझाती हैं कि "हे श्रीराधे ! श्रीकृष्ण आये अवश्य हैं, परन्तु अपने परिहासप्रिय स्वभाव के कारण यहीं कहीं कुञ्ज में छिपे हुए हैं। चलो, सब मिल कर उनको ढूँढ़ें।" श्रीराधा सखियों के साथ श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने चल पड़ती हैं।

श्रीमद्भागवत में यह कथा वर्णित है कि श्रीराधा के साथ गोपियों का मिलन होने पर गोपियों ने पूर्व की भाँति वन-वन में श्रीकृष्ण का अन्वेषण किया था और जहाँ तक ज्योत्स्ना का प्रकाश प्राप्त था, वहाँ तक ढूँढ़कर आगे अन्धकार होने के कारण वे यमुना तट पर लौट आई थीं ! यथा—

"ततो विशत् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ।।"

—भागवत १०–३०–२४

सखियाँ श्रीराधा के साथ वन-वन में श्रीकृष्ण के बारे में तरुलताओं से प्रश्न करती हुई भ्रमण कर रही हैं। तरुलताएँ मानो प्रश्न करती हैं—"अरी गोपियो ! तुम इस गम्भीर रजनी में कैसे मतवाली-सी भटक रही हो ?" इस प्रश्न के उत्तर में अपने भावों का गोपन कर गोपियाँ जो उत्तर

देती हैं, उसी की विल्वमंगल को स्फूर्ति हो आती है और वे इस श्लोक का पाठ करने लगते हैं।

तरु-लताओं के पूछने पर गोपियाँ उत्तर देती हैं—अरी वन सम्पदाओ तुलसी ! मालती ! मल्लिके ! तुमने हमारे चोर को छुपा लिया है, हम उसी को ढूँढ़ रही हैं !

तरुलता—तुम्हारे चोर का नाम क्या है और पहचान क्या है ?

गोपियाँ—उसका नाम और पहचान ? बताना बहुत कठिन है, क्योंकि चोर का नाम बताना और उसकी पहचान करना—अपने शिर और विपत्ति उठाना है, अतः चोर का नाम लेना उचित नहीं, पर हम इतना जानती हैं कि वह तुम्हारा भी कुछ चुराता है, तुम्हें भी तड़फाता है, हे लताओ ! तुमने उसे कहीं देखा हो तो बता दो !

तरुलता—चौंककर, अरे उस धूर्त का पता पूछ रही हो, गोपियो ! उस शठ की चर्चा मत करो, वह तो सबको सताता है।

गोपियाँ—इसीलिये तो हम उसे ढूँढ़ रही हैं, आज उसे पकड़कर हम शिक्षा देना चाहती हैं, देखो न ? श्रीराधा की क्या दशा हो रही है ?

तरुलता—सखियो ! निश्चय ही वह रसिकशेखर कहीं गह्वर-कुञ्ज में किसी अन्य गोपी के साथ विलास करता होगा, तुम उसका पीछा मत करो, उसको खोजने में तुम्हारी मान-मर्यादा कलङ्कित हो जायगी।

गोपियाँ—यह मान-मर्यादा भाड़ में जाय, हमें तो अपने चोर को ढूँढ़ना है, तुमने जो कहा—वह किसी गोपी के साथ कुञ्ज में होगा। सो तो उसे किसी सामान्य गोपी से तो प्रयोजन ही क्या ? वह तो केवल कमला (श्रीराधा) का ही सेव्य है, एक मात्र श्रीराधा के नेत्र कटाक्ष से वह स्तब्ध रह जाता है, अन्य किसी गोपी का प्रभाव उस पर नहीं है।

तरुलता—गोपियो ! ऐसा है तो फिर वह चोर श्रीराधा को छोड़कर छुप क्यों गया है ?

गोपियाँ—यह उसकी आदत है, चोर चोरी करने के बाद छुपना चाहता है। चोरी की गई वस्तु का आस्वादन छुपकर ही प्राप्त होता है।

तरुलता—उस चोर ने तुम्हारी ऐसी क्या वस्तु चुरा ली है, जिसके लिये तुम इतना व्याकुल हो रही हो ?

गोपियाँ—अरी वनदेवियो ! हमारा तो उसने सर्वस्व हरण कर लिया है, हमारे मन रूपी महारत्न को उसन चुराया है, उसके बिना हमको एक क्षण भी चैन नहीं है, जब तक हम अपने महारत्न को प्राप्त नहीं कर लेंगी तब तक हम उसका पीछा नहीं छोड़ सकतीं ! इसी कारण वह हमारे भय से कहीं दूर जाकर छुप गया है।

तरुलता—अरी धर्मशीलाओ ! क्यों वृथा ही किसी को चोरी का कलंक लगा रही हो, यह क्यों नहीं कहती हो कि तुम अपने आप ही अपना मन उसके ऊपर न्यौछावर कर चुकी हो !

गोपियाँ—अरी लता वल्लरियो ! तुम बड़ी भोली हो, आखिर तुम्हारे अन्दर कुछ तो जड़त्व है ही, तुम यह नहीं जानतीं कि मन को खींचा जाता है, हृदय की तिमिराच्छन्न कन्दरा में से भी उसे चुराया जाता है, तुम भी तो उसे धूर्त्त और शठ बता रही हो ! तुम्हें भी तो वह धोका देता है न ?

तरुलता—सखियो ! अच्छा, यह बताओ ! क्या कहीं अन्यत्र भी उसने चोरी की है ? या केवल तुम्हारे मन का ही हरण किया है ?

गोपियाँ—हाँ ! हाँ ! वह तो स्वभाव से ही चोर है, उसने न जाने किस-किस का क्या-क्या चुराया है, वह तो चोरों का चक्रवर्ती है, उसने चन्द्र, कमल, काम, रति, मयूरपिच्छ, गुञ्जामाला, वनमाला, इन्द्र धनुष, मेघमाला आदि का सब कुछ चुरा लिया है, इतने सामर्थ्यशाली पुरुषों का उसने तत्वांश चुराया है तो हम अबलाओं का हृदय-धन हरण कर लेना कौन से आश्चर्य की बात है ?

तरुलता—सखियो ! ऐसे शक्तिशाली चोर का पता लगाना कठिन है ? वह तुम्हारी दृष्टि से दूर ही रहेगा !

गोपियाँ—वह कितना ही दूर भागे, हम उसे पकड़ ही लेंगी ! क्योंकि उसके दीप्तिमान अङ्ग की कान्ति को कोटि-कोटि तिमिर-घन भी आच्छादित नहीं कर सकते, उसके मस्तक पर लहराता हुआ मयूरपिच्छ दूर से ही संकेत देकर बुला लेता है। दूर रहने पर भी वह भाग नहीं सकता ! क्योंकि उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विलास भार से शिथिल हो गये हैं, अतः आलस्य भरे अङ्गों के कारण वह दौड़ नहीं सकता।

तरुलता—सखियो ! वह निश्चित ही गोवर्धन की सकरीली अन्धकार पूर्ण कंदरा में छुप जायगा, तुम उसे ढूँढ़ नहीं पाओगी !

गोपियाँ—यदि वह गिरि-कन्दरा में प्रवेश कर जाय तो शीघ्र ही पकड़ में आ जायगा, क्योंकि कोटि-कोटि चन्द्र से भी अधिक उसके अंग की कान्ति कन्दरा के द्वार से छिटकती रहेगी, तब हम सहज में ही उसे कन्दरा में पाकर उससे मनमानी करेंगी और अपनी वस्तु छीन लेंगी ?

तरुलता—सखियो ! तुम हमारा कहना मानो, इस समय लौट जाओ क्योंकि रात्रि का समय है, चोर बलवान है, तुम अबला नारी हो, तुम्हारा मन तो उसने ले ही लिया है—कहीं तन भी ले लिया तो ?

गोपियाँ—हँसती हुई कहती हैं, अरे वन के वृक्ष और लताओ ! हम इसीलिये तो कहती हैं कि तुम्हारा जड़त्व तो उस नटखट चपल-चंचल किशोर के सम्पर्क से और बढ़ गया है, तुम सोचो तो सही—जिस कमला (वर स्त्री श्रीराधा) के कृपा-कटाक्ष मात्र से ही वह स्वयं जड़ीभूत हो जाता है दृष्टि पड़ते ही जहाँ का तहाँ स्तब्ध रह जाता है, श्रीराधा के दर्शन मात्र से जो स्वयं मूर्च्छित हो जाता है—वह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता—अतः हम आज उसे ढूंढकर ही विश्राम लेंगी, जब तक हमारा चुराया धन हमारे पास वापस नहीं आता, तब तक उसे खोजने में हमारी साधना निरत चलती रहेगी ।

मूल श्लोक बसन्त तिलकं छन्दः

परामृश्यं दूरे पथि पथि मुनीनां व्रज-वधू-
दृशाऽदृश्यं शश्वत् त्रिभुवन-मनोहारि-वदनम् ।
अनामृश्यं वाचामनिशमुदयानामपि कदा
दरीदृश्ये देवं दरदलित-नीलोत्पल-रुचिम् ॥४८॥

पद्यार्थ— **मुनियों की चिन्तन-पद्धति से दूर न जो निगमों ने पाया ।**
त्रिभुवन सुन्दर मुखवाला, व्रजबालाओं ने नयन नचाया ॥
अर्द्ध प्रफुल्लित नील-कमल की अमल कान्ति-सी जिसकी काया ।
आगम गिरा अगम्य देव के दर्शन को यह मन ललचाया ॥

भावार्थ—विभिन्न मुनियों के अनन्त उपासना मार्ग जिसके पास पहुंचाने की अपेक्षा दूर भटका देने वाले हैं, वेद की वाणियाँ भी जिसका विवेचन नहीं कर सकतीं—वही त्रिभुवन-मनोहर-मुख-वाला और ईषद् विकसित नीलोत्पल की कान्ति-वालाकमनीय देव, जो व्रजवधू की दृष्टि से सदैव ही गोचर होता रहता है—उसे मैं कब अनन्त बार देखूंगा ।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में माधुर्य की दृष्टि से श्रीकृष्ण के परमोत्कर्ष का वर्णन हुआ है, इस श्लोक में ऐश्वर्य की दृष्टि से उसका निरूपण है। अर्थात् श्रीकृष्ण जैसे नयनाभिराम परम मनोहर हैं, वैसे ही वेद-वेदान्त अगोचर भी हैं। इस महा महिमा का हृदय में स्मरण होते ही विल्वमङ्गल में दैन्य भाव का संचार हो आता है और दृष्ट वस्तु भी अदृष्ट के समान प्रतीत होने लगती है, हृदय में दर्शन की लालसा जागृत हो आती है। अर्थात् हृदय में श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होने पर भी प्रेम के स्वभाव के कारण वे यही सोचते हैं कि मुझे उनके दर्शन नहीं हो रहे हैं? यह सब मेरा भ्रम ही है। भला कहाँ वह ऋषि-मुनियों की अलभ्य वस्तु, वह श्रुतियों का गुप्त धन, और कहाँ मैं साधनहीन विषयासक्त जीव! अतएव अत्यन्त दीन होकर इस श्लोक में पुनः वही प्रार्थना करते हैं कि—

हाय! मैं उस देव का कब भली-भाँति पुनः पुनः दर्शन करूँगा? किस देव का? उसी का, जो बड़े-बड़े मननशील मुनियों की विचारमालाओं से अत्यन्त दूर रहता है, परन्तु सदा व्रजबालाओं के नयनों के सन्मुख खड़ा रहता है, जिसका मुख-कमल त्रिभुवन मनोहारी है, और जिसका वर्ण ईषद् विकसित नील-कमल के समान है, परन्तु जो श्रुति वाक्यावली के अगोचर है, उस देव के दर्शन मैं नयन-मन-प्राण भर कर कब करूँगा?

श्याम रूप देखिबे की साध मेरे हिये में,
देख्यो बहु बार पै न देख्यो एक बार है।
मुनिन के पंथ सों दूर दूर डोलै वह,
गोपिन के नैंन पथ नाचै लाख बार है॥
लोट पोट तीनि लोक होत मुख जोइवे पै,
लौटि जात देह वानी मानै मन हार है।
नैंन भरि देखौं कब 'प्रेम' श्री विहारी देव,
नीरे नीरे नीरज से नैंना वारो बार है॥

वह 'देव' है, **दीव्यति द्योत्यत इति देवः** अर्थात् असाधारण कान्ति तथा क्रीड़ा से युक्त है। वह पर-प्रकाशवान् स्वप्रकाश वस्तु है, उसके ही प्रकाश से चन्द्र, सूर्य, अग्नि, नेत्र आदि में प्रकाश है।

प्रकाश तो इतना, परन्तु वर्ण है—नील! यह विरोधाभास केवल श्रीकृष्ण में ही है, अन्यत्र नहीं, स्वयं विल्वमङ्गल ने अपने एक ग्रन्थ में विरोधाभासालंकार के द्वारा इस "नील देव" का चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है—

संसारे किं सारं ?—संसार में सार क्या है ?
कंसारेश्चरण युगल परिवसनम्—कंसारि कृष्ण के चरण युगल का सेवन,
ज्योतिः किमन्धकारे ?—अन्धकार में ज्योति क्या है ?
यदन्धकारेरनुस्मरणम्—अन्धकार का अनुक्षण स्मरण,

पच्चीसवें श्लोक की व्याख्या में इस अन्धकार की उपमा "कृष्णचन्द्र" काला चांद के द्वारा की गई है ! श्रीकृष्ण के 'नील' वर्ण से तात्पर्य शृङ्गार-रस से है, तथा 'कमल' से तात्पर्य सौगन्ध्य तथा सौकुमार्य से है। कर्पूर मिश्रित-कमल की जो सुगन्धि है वह श्रीकृष्ण के हस्त कमल, चरण कमल, अधर-कमल प्रभृति में है।

इस प्रकार से श्रीकृष्ण का वर्ण नील है तथा उनका सर्वाङ्ग त्रिभुवन मनोहर है। अर्थात् त्रिलोकी में जितने भी मन हैं उन सबका मोहित करने वाला है। अथवा त्रिलोकी के विषय में जिसका मन है उसको हरण करने वाला है।

इतना सब सौन्दर्य हरण करने के कारण ही वह वर्णनातीत है अतएव **'परामृश्यं दूरे पथि-पथि मुनानां**—महा कवीन्द्र व्यासादिक मुनिगण की वाणी भी उस सौन्दर्य को स्पर्श करने में असमर्थ है।

देव लोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल डरिये।
सहज माधुरी अंग अंग की कहे कासौं पट तरिये॥

—हित हरिवंश

अथवा महा मननशील व्यास वशिष्ठादि मुनियों की विचारधारा से भी जिस श्याम स्वरूप का स्पर्श नहीं हो सकता है—ऐसा वह दुर्वितर्क्य है। तात्पर्य में नाना मुनियों के नाना मत हैं परन्तु उस तत्व के सम्बन्ध में सब अनिश्चित हैं, अथवा एकाङ्गी हैं। ब्रह्माजी कहते हैं :—

यस्यावतार कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥

—भागवत २-६-३७

अर्थात् हम—ब्रह्मा, शिव, सनकादिक, नारद, व्यास आदि भगवान के अबतार तथा लीला चरित का कीर्त्तन ही कीर्त्तन करते हैं, परन्तु तात्विक रूप से हम भी उन्हें नहीं जान पाते हैं, ऐसे अगम अगोचर होकर भी जो सकल जीव के लिये सुगम इन्द्रिय-गोचर अवतार रूप में प्रकट हुए हैं उनके लिए बारम्बार नमस्कार है।

अथवा मुनियों के द्वारा निर्धारित पथ-ज्ञान, योग, कर्मादि साधनों के द्वारा भी श्रीकृष्ण का स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता, नारदजी ने प्राचीनबर्हि राजा से कहा था कि "प्रजापतिगण के पिता ब्रह्मा, भगवान् शम्भु, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापति गण, नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनकादिक-जन, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ और मुझ सहित समस्त ब्रह्मवादीगण, जो बड़े-बड़े शास्त्रोपदेष्टा हैं, वे सबके सब तप विद्या तथा समाधि के द्वारा अन्तर्यामी भगवान् को देखते, सुनते, समझते हुए भी देख, सुन और समझ नहीं सके हैं। यथा—

अद्यापि वाचस्पतयस्तपो विद्या समाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥

—भागवत ४-२९-४४

जैसे ऋषि मुनियों के लिये श्रीकृष्ण स्वरूप दुर्लभ है, वैसे ही वह "**अनामृश्यं वाचामनिशमुदयानामपि**"—निरन्तर प्रकाशशील जो वेदवाणी है, उससे भी उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि वह अगोचर है, स्वयं वेद के वक्ता ब्रह्माजी तो आपके चरण चिह्नों से विभूषित व्रज-रज में जन्म लेने की इच्छा से बार-बार कह रहे हैं कि "हे भगवान् मुकुन्द! जो रज व्रज में सर्वत्र सुलभ है, उस आपकी पद-रज को मेरे वेद आज तक ढूँढ़ ही रहे हैं—

तद्भूरिभाग्यमिहजन्म किमप्यटव्यां, यद् गोकुलेऽपिकतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द, स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

—भागवत १०-१४-३४

व्रज-रज से स्नेह करने वाले भक्तों की तो कामना ही यह है कि व्रज की रज शरीर में लपेट कर रसिकों के समाज में तुम्हारी बाँकी झाँकी का दर्शन करते रहें :—

व्रज धूरि ही प्रान सौं प्यारी लगै, व्रजमंडल मांहि बसाये रहो।
रसिकों के समाज में मस्त रहूं, जग जाल सौं मोहि बचाये रहो॥
नित बांको ए झाँकी निहारा करूँ, छवि छाक सौं नाथ छकाये रहो।
अहो! बांकेविहारी यही विनती, मेरे नैनों से नैना मिलाये रहो॥

तात्पर्य यह है कि—"**रसो वै सः**" "**रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**"—वह ब्रह्म रस-स्वरूप ही है, इस रस को प्राप्त करने पर ही जीव आनन्द को प्राप्त होता है—बस ये दो-चार सूत्र ही तो वेद को ज्ञात हैं। इससे अधिक

रसिक-ब्रह्म की रासलीला से वेद भी अपरिचित हैं। यदि किसी को परिचय मिला है तो गोपी भाव का वरण करके ही मिला है।

वेद तथा वेदज्ञ मुनियों के मन-वाणी के अगोचर जो श्रीकृष्ण स्वरूप है, वह "व्रज वधूनां दृश्यादृश्यं शश्वत्"—"व्रजबालाओं की दृष्टि के गोचर ही नहीं, उनके चरणों में लोटता है, तभी तो कहा है कि :—

"मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तं पालयति यशोदा निकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥"

"कोई एक रसमय श्याम फल है उसको मुक्त मुनिगण खोजते फिरते हैं, वह फल देवकी रूपिणी बेलि में प्रकट होता है। यशोदा उस फल को पुष्ट करती है, और गोपियाँ उसका यथेच्छ रसोपभोग करती हैं"—

किसी एक पंडित ने भगवान् की प्राप्ति के लिये वेद की दीर्घकाल तक आराधना की, अन्त में उसको कहीं सत्संग में यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि द्वापर युग के अन्त में वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म को तो व्रज की गोपियाँ अपने नयनों से हरण कर व्रज को ले गई हैं, तब वह बोला कि वेद का सारभूत कण तो चला गया, अब इन पलालों (पुआलों) में कण कहाँ ? जो मैं इनको बीनने का व्यर्थ परिश्रम करूँ ?

श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिनुमः।
अह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म॥

वह पंडित व्रज में आकर अपने परब्रह्म को ढूँढ़ने लगा। खोज करते-करते पंडित थक गया, पर उसे ब्रह्म नहीं मिला, वह आश्चर्यचकित था कि मैंने श्रुतियों में पढ़ा है, वैसा अलख पुरुष तो यहाँ मुझे कोई मिला नहीं, परन्तु हाँ ! एक नव गोपवधू के वस्त्राञ्चल में छुपा हुआ एक श्याम वर्ण का बालक अवश्य दिखाई पड़ता है, यह कैसा बालक है जो मेरे चित्त को बलात् खींच रहा है, बालक का दर्शन करते ही पण्डित के मुख से निकल पड़ा—'मिल गया !, अब मिल गया !! मुझे परब्रह्म मिल गया, जो मुझे वेद रूप विशाल वृक्ष की डाली-डाली में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिला था, वह यहाँ गोपी के अञ्चल से ढका हुआ मिल गया" :—

निगमतरोः प्रति शाखं मृगितं न तत्परं ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटी परांचले नद्धम्॥

फिर तो उस पण्डित ने अपने सहपाठियों को भी जाकर यह मंगल-संवाद सुनाया और उनसे कहा कि वेद की डाली-डाली पर मृग की तरह

कूदना छोड़ो, यहाँ ब्रह्म को मत ढूँढ़ो, तुम्हारा ब्रह्म तो वृन्दावन की गली-गली में नाचता फिर रहा है।

हमारी श्रुतियों ने भी गोपी बन कर ही अपने चुराये हुए धन, ब्रह्म को वहीं से प्राप्त किया है। अतः तुम भी वहीं जाओ —

निगमद्रुमे मृगय मा, वृन्दाविपिने द्रुमे द्रुमे पश्य।
वनिता भूत्वा श्रुतिभिरिहैवावलोकितं ब्रह्म॥

व्रज-रस-सरिता में अवगाहन करने वाले भावराज्य के निवासी भावुक-रसिक भक्तों ने जब व्रज में ब्रह्म की खोज करना प्रारम्भ किया तो वे वहाँ जा पहुँचे जहाँ अन्य के प्रवेश की तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्म भी सेवा का अवसर ढूँढ़ता है, पर बिना आज्ञा के प्रवेश नहीं मिलता, उन्हीं का एक पागल भक्त खोजता हुआ वहाँ जा पहुँचा, जहाँ सेवा-रस में निमग्न ब्रह्म अपने ब्रह्मभाव को भी भूल बैठा है :—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यौ पुरानन गाननि, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहू न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत-हेरत हारि परयौ रसखानि, बतायो न लोग लुगायन।
देख्यौ दुरयौ वह कुञ्ज-कुटीर में, बैठ्यौ पलोटतु राधिका पायन॥

—रसखान

तात्पर्य यह है कि—शुद्ध प्रेम के रसमय पथ के द्वारा ही श्रीकृष्ण का दर्शन सम्भव है। यह स्वरूप केवल प्रेम के अधीन है। मुनिगण ज्ञान योग कर्म प्रभृति साधनों से विमुग्ध होकर उन-उन मार्गों पर विचरण करते हैं—अतएव प्रेम-रस-पथ का ज्ञान उनको प्राप्त नहीं होता, और जब उनको इस पथ का ज्ञान ही नहीं तो विपरीत पथ में अनुसरण करने वाले को इस रस-मूर्त्ति श्रीकृष्ण की प्राप्ति कैसे सम्भव है? दूसरी ओर व्रजवधूगण हैं, विशुद्ध प्रेम-रस-पथ विहारिणी होने के कारण श्रीकृष्ण का नित्य दर्शन प्राप्त करती हैं। अतः उनके द्वारा प्रदर्शित राग-मार्ग का अनुसरण करने से ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति सुगम है। श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्थापित सिद्धान्त में राग-मार्ग को ही श्रेय प्रेय का देने वाला कहा है, जिसमें व्रजभावानुसारी वैष्णवरसिकों के लिये मार्ग प्रशस्त हुआ है।

व्रजगोपियों द्वारा आविष्कृत लोकवेदातीत एक सुन्दर रमणीय मधुर-उपासना की पद्धति ही श्रीकृष्ण-स्वरूप का दर्शन कराने में समर्थ है—क्योंकि यहाँ भगवान व्रजेन्द्रनंदन ही परम-आराध्यदेव हैं और वृन्दावन ही

साधनस्थली है, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है और भागवत ही परम प्रमाण है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्याःकाचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिताः ।
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्.
श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

लीलाशुक विल्वमंगल भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं :—

या शेखरे श्रुतिगिरां हृदियोगभाजां, पादाम्बुजे च सुलभा व्रजसुन्दरीणाम् ।।

—विल्वमंगल

व्रज के रसिक महानुभाव भी यही कहते हैं :—

शेष महेश सुरेश न जानै, अज अजहुँ पछिताय ।
यह रस रमा तनक नहिं पायो यदपि पलोटत पाय ।।
श्रीवृषभानु सुतापद पंकज जिनके सदा सहाय ।
यह रस मगन रहत वे तिनपै, "नंददास" बलि जाय ।। —नन्ददास

यह रस ब्रह्मलोक पाताल अवनिहु दरसन नाहिं ।
या रस को कमलापुर के तरसत हैं मन माहिं ।।
सो रस रासेश्वरी कृपा सों प्रेमीजन अवगाहिं ।
'रसिक' लख्यो जो सुख वृन्दावन सो त्रिभुवन में नाहिं ।।

है यह रस रसिकन की सम्पति दम्पति युगलबिहारी ।
कृपासाध्य साधन सों दुर्लभ, लोक वेद ते न्यारी ।।—वल्लभरसिक

कष्ट तपस्या पढ़न लिखन सो, बूढ़त मूढ़ गँवारी ।
सरस माधुरी मगन भावना पावन प्रीतम प्यारी ।।—सरस माधुरी

नित्य किशोर रूप निधि सींवाँ, विलसत सहज मेलि भुज ग्रीवाँ ।।
तिन विच अन्तर पलको नांहीं । तऊ तृषित प्रीतम मन मांहीं ।।
या सुख पर नांहिन सुख औरे । जेहि उर रचे रसिक सिरमौरे ।।
श्रीहरिवंश चरन उर धारे । सो या रस में मन अनुसारे ।।

अतएव विल्वमंगल भी कह रहे हैं कि ऐसे दुर्ज्ञेय दुरूह श्रीकृष्ण का कब मैं उनकी कृपा से पुनः पुनः अतिशय रूप से दर्शन करूँगा। परन्तु केवल उनकी कृपा से ही कार्यसिद्धि नहीं होगी। मूल में उनकी कृपा होने पर भी कृपा पंगु है, उनकी कृपा बिना भक्तों की कृपा के प्राप्त नहीं होती, भक्त ही उसके वाहन हैं। और इसी तरह प्रेम की कृपा के लिए

'गोपी' ही वाहन है, उनकी कृपा से उनके नेत्रों के द्वार से ही सब कोई उस वृन्दाविलासी के दर्शन करने में समर्थ हो सकते हैं, अतः मैं कब उनकी कृपा प्राप्त कर देव के दर्शन कर सकूँगा ? कब मेरा यह अन्वेषण सफल होगा ?

एतादृशमतिदुर्ज्ञेयमपि देवं कदा तत्कृपया परोक्षतो ज्ञात्वा दरीदृश्ये । केवलयापि तत्कृपया न दृश्यत इत्याह—व्रज वधूनां श्रीराधादि व्रज सुन्दरीणां दृशा चक्षुषा हेतुभूतेन दृश्यम् । तासां कृपया तथा विहरमाणानां सर्वे पश्यन्तीति भावः ।

—गोपालभट्ट गोस्वामी

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—सखियों के साथ श्रीराधा श्रीकृष्ण का अन्वेषण करती-करती अतिशय निराश होकर विकल हो गई हैं और सखियों से कह रही हैं—हाय सखियो ! वह समय कब आवेगा जब मैं उस क्रीड़ा-परायण देव श्रीकृष्ण का पुनः पुनः दर्शन करूँगी ? मैं तो आज पर्यन्त उनके नेत्र भरकर दर्शन भी नहीं कर सकी हूँ । न जाने सखियो ! तुम कैसे उनके दर्शन कर पाती हो, मैं तो उनको देखते-देखते थक गई, पर कुछ भी नहीं देख पाया, उन्हें देखने की मेरी साध जैसी की तैसी ही बनी है, सखी ! मेरी यह प्यास कभी नहीं बुझेगी ? तुमने उन्हें देखा होगा—पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है ।

पूर्वराग के प्रसंग में श्रीराधा सखियों से कह रही हैं :—

तुम देखे मैं नहीं पत्यानी ।
मैं जानत मेरी गति सब ही, इहै साँच अपने मन आनी ।।
जो तुम अंग अंग अवलोक्यो, धन्य धन्य मुख अस्तुति गानी ।
मैं तो अंग एक अवलोकति, नयननि दोउ आये भर पानी ।
कुण्डल झलक कपोलनि आभा, इतने ही माँझ रही विकानी ।
एक टक रही नैन दोउ रूँधै, सूर श्याम को नहिं पहिचानी ।।

विरही के मिलन में भी और एक विरह भरा रहता है, प्रिय के साथ गलबाहीं लगाकर मिलने पर भी विरही वियोग का ही अनुभव करता है, श्रीराधा कहती हैं—सखी ! श्याम कब आकर मुझसे मिले, मुझे कुछ पता ही नहीं :—

कबरी मिले श्याम नहिं जानौं ।
तेरी सौं कहि कहति सखीरी, अब हूँ नहिं पहिचानौं ।।
खिरक मिलै कै गोरस बेचत, कै अबहिं कै कालिह ।
नैनन अन्तर होत न कबहूँ, कहति कहारी आलि ।।

एको पल हरि होत न न्यारे, (तथापि) नीके देखे नाहिं ।
सूरदास प्रभु टरत न टारे, नैनन सदा बसाहिं ।।

जो नयनों में सदा बसे हुए हैं, एक पल के लिये भी अलग नहीं हैं, उन श्यामसुन्दर को कब "दरी दृश्ये"—यङ् प्रत्यान्त दृश्-धातु। पुनः-पुनः "नीके" दर्शन कब करूँगी—यह उत्कण्ठा श्रीराधा के हृदय को व्यथित कर रही है। अहो! श्रीकृष्ण दर्शन कैसा दुर्लभ है कि लाख बार देखने पर भी एक बार भी देखा-जैसा नहीं लगता है :—

अहो श्रीकृष्णदर्शनमति दुर्लभं यतो दृष्टोऽपि दृष्टवत्प्रतीत्यभावात्

—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी

जन्म अवधि हम रूप निहारिनु नयन ना तिरपित भेलो ।
लाख लाख युग हियाय राखिनु, तबु हिया जुडानन गेलो ।।

—विद्यापति

सखियाँ श्रीराधा से कहती हैं—राधे! तुम व्याकुल मत होओ, भले ही वह मुनियों के पथ से अगम्य हो, वेद के लिए भी दुरूह हो, परन्तु हम व्रज वधू हैं और वह व्रजराज कुंवर है। हम गोपी हैं, वह गोपाल है—हमारी उसकी जाति एक है। हमारे लिए वह कैसे दुर्गम हो सकता है? हम उसको अवश्य ही प्राप्त करेंगी?

तब श्रीराधा कहती हैं, हाँ-हाँ! सखियो! निश्चित ही वह यहीं कुञ्ज में छिपे हुए हैं। तभी तो व्रज के मुनि—ये पक्षीगण उनका दर्शन कर आनन्द में स्तब्ध होकर मार्ग में तरु लताओं पर जहाँ तहाँ निश्चल भाव से मौन हुए बैठे हैं। "**प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्**—भागवत १०-२१-२४। पर हाय! उस नीलेन्दीवदन के दर्शन मुझे कब होंगे? कब मैं उनको निरखूंगी, परखूँगी? अब तो एक-एक क्षण का विलम्ब असह्य हो रहा है।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

लीलाननाम्बुजमधीरमुदीक्षमाणे,
नर्माणि वेणु-विवरेषु निवेशयन्तम् ।
दोलायमान-नयनं नयनाभिरामं,
देवं कदा नु दयितं व्यतिलोकयिष्ये ।।४६।।

पद्यार्थ— **ललित विलासों से मुख पंकज, लोचन लोल न धीर धरें ।**
प्रियतम प्यारे वंशी में स्वर भर-भर कर परिहास करें ।।

नयनों के अभिराम, श्याम दोलायमान जिनके लोचन।
रूप-सुधा की प्यासी इन आंखों को कब देंगे दर्शन॥

भावार्थ—जिसका मुख-कमल हावभाव-रूप मकरन्द से ओत-प्रोत है, जिसकी चितवन अत्यन्त अधीरतामयी और चपल है, जो वंशी के छिद्रों में मधुर-मधुर परिहास के स्वर भरता रहता है, उस नयन नचानेवाले, आँखों के तारे प्रियतम प्यारे को मैं आँख भरकर कब देखूंगा॥४६॥

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में जो दर्शन के लिये उत्कण्ठा है, वही इस श्लोक में भी है—"**कदा नु दयितं देवं द्युतिलोकयिष्ये**"। अहा! कब मैं उनकी ओर देखूँगा, और वे मेरी ओर देखेंगे? कब हमारी आँखें चार होंगी? कब वह जीवन की धन्य घड़ी आयगी कि जब—

मन मोहिनी अदा से मोहन दस्त शीश पै फेरो।
रसिक सहचरि शरण तुम्हारी नेह नैन भरि हेरो॥

अजी तुम किसको देखना चाहते हो? "देवं"—द्योतमान—स्व-प्रकाश देवता को, मेरे नैनों के ज्योतिः स्वरूप को मैं देखना चाहता हूँ।

कैसे देखना चाहते हो?—"देवं",—क्रीडन्तं—क्रीडा करते हुए, रास-विलास करते हुए!

तो क्यों देखना चाहते हो?— "दयितं"— प्राणों का प्रियतम जो है—"प्राणस्य प्राणः—प्राणों का भी प्राण वही तो है।

कहा देखन पेहौं देव।
हम तुमको तुम हमहिं देखौ, नैननि को फल देव॥
हाव भाव रस भरित कमल मुख, बतरावत बिनु बैन।
हेरन चाव सों फेरन इत उत, भाव भरे रस नैन॥
लगि मधुरे मुरली कर्णन सों, करत हास रस बात।
नयन मनोहर प्राणन प्रियवर, और न प्रेमहिं भात॥

क्या वह तुम्हें दर्शन देगा? क्यों नहीं वह तो "दयित" है—**संजात दयं वहु दातारं वा**—वह सहज दयालु है तथा परमोदार दाता भी है। इस लोक में जो दाता कहलाने वाले हैं, वे तो अपने को बचाकर दान देते हैं, परन्तु उस प्रेम लोक का दाता तो स्वयं अपने को ही दे डालता है-और वह भी दो बूँद आँसू और एक चुल्लू जल पर ही बिक जाता है :—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा, विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।

अच्छा ! तो यह बताइये ? आप अपने किशोर मूर्त्ति से किस प्रकार का दृष्टि-दर्शन चाहते हैं ? अर्थात् वे किस प्रकार से तुम्हारी ओर देखें ? इस पर लीला शुक विल्वमंगल कहने लगे :—

"लीलाननाम्बुजमधीरमुदीक्षमाणं"—नाना प्रकार के हाव-भाव-लीला-युक्त मुख-कमल से, तथा चंचल, एवं रँगराती, मदमाती, किसी सेवा के लिये ललचाती, हुक्म फरमाती हुई उत्कृष्ट दृष्टि से देखें। इतना ही नहीं,—**"नर्माणि वेणुविवरेषु निवेशयन्तम्"**—अपने ओष्ठाधर को वंशी के कर्णों में लगा कर उसके अन्तर में कुछ नर्म-संकेत को, कुछ हास-परिहास को उसमें किसी के नाम को उच्चारण करते हुए दर्शन दें।

और वंशी के कान फूंकने के कारण से—**"दोलायमाननयनं"**—उनके नयन बड़े ही चंचल हो रहे हों, चंचल ही नहीं, मद-रस से घूर्णायमान—ढुलमुल भी हो रहे हों। अतएव—"नयनाभिरामं"-सुन्दर से विशेष सुन्दर बन रहे हों—इस रूप से वे मेरी ओर देख रहे हों और मैं उनकी ओर देख रहा हूँ—बस इतनी-सी अभिलाषा है।

"व्यतिलोकयिष्ये' पद में—"क्रिया व्यवहारे व्यतिः" अर्थात् एक ही प्रकार के कार्य का नाम 'व्यति' है। मेरे नाथ ! बस—मैं तो यही चाहता हूँ कि आप मुझे अपना बना लीजिये, किस प्रकार आप मुझे अपनावेंगे ? यह भी बता देता हूँ, मेरी अन्तिम लालसा-अभिलाषा तो यही है कि आप मुझे इस प्रकार अपना बना लीजिये —

क्षितिपति मोल लेत पशु पक्षिन इहि विधि कबै लहोगे।
रवि दुहिता सुर सरित भूमि जिमि, रस उर कबै बहोगे॥
पकरत भृङ्ग कीट को जैसे तैसे कबै गहोगे।
सहचरिशरण मराल मानसर मन इमि कबै रहोगे॥
कहि कहि वचन विहँसि माथे पर कर को कबै धरोगे।
करुणाकर चित चोर कहावत चित को कबै चुरोगे॥
हरखि हमारी आँखिन में सुख सुषमा कबै भरोगे।
"सहचरिशरण" रसिक आशिक मोहि मोहन कबै करोगे॥

—सहचरीशरण

इस पद में "कबै-कबै" "कदा-कदा" का नाम ही लालसा है, जो प्रेम मार्ग का एकमात्र साधन है—**"नात्र शास्त्रं न युक्ति च तल्लोभोत्पत्ति लक्षणम्"**

लोभ का कारण लालसा है, लोभ से ही प्रेम प्राप्त होता है; शास्त्र से युक्ति-विचार से अथवा अन्य साधन या धर्म से नहीं।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—रास में अन्तर्धान से पूर्व श्रीराधा को निकुञ्ज में चलने की प्रेरणा करने के लिये श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार से कटाक्ष द्वारा इङ्गित किया था, तथा श्रीराधा ने भी अपनी नयनभंगी से जो सम्मति सूचित की थी,-इस समय विरह संतप्ता श्रीराधा के हृदय में उसी परस्पर-निरीक्षण की स्मृति जागृत हो उठी है और उन्होंने जो प्रलाप वचन कहे हैं-वह विल्वमंगल के भावाविष्ट चित्त में उदय हो आये हैं तभी उन्होंने इस श्लोक का पाठ किया है।

श्रीराधा कह रही हैं कि 'हे सखियो! क्रीड़ा परायण उस प्राणप्यारे प्रियतम श्रीकृष्ण के सहित कब परस्पर अवलोकन होगा? अर्थात् वे कब मुझे उसी प्रकार कुञ्ज में चलने की प्रेरणा करेंगे और मैं कब उसका अनुमोदन करूँगी?

श्रीकृष्ण का मुख कमल शृङ्गार-रस पूर्ण नाना हाव-भाव से युक्त है, तथा निरक्षर-संकेत रूप भंगी से युक्त हो रहा है। वे श्रीराधा को कुञ्ज में प्रेरणा करने के लिये ऊर्ध्व दृष्टि द्वारा संकेत कर रहे हैं—उनके नेत्र उदीयमान हैं, इस संकेत को कोई गोपी देख न ले–इसलिये उनके नेत्र दोलायमान हैं, इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं! कुञ्ज में चलने के लिये किया गया संकेत ही एक नर्म परिहास है, जिसे वे अपनी वंशी में भरकर बजा रहे हैं। इसी कारण वे परम नयनानन्दकारी हो रहे हैं ऐसे श्रीकृष्ण का दर्शन मुझे कब प्राप्त होगा?

मूल श्लोक वंशस्थविलं छन्दः

लग्नं मुहुर्मनसि लम्पट-सम्प्रदाय–
लेखावलेहिनि रसज्ञ-मनोज्ञ-वेषम्।
रज्यन्मृदु-स्मित-मृदूल्लसिताधरांशु—
राकेन्दु लालित-मुखेन्दु मुकुन्दबाल्यम् ॥५०॥

पद्यार्थ— **जिसका रूप रसज्ञ-मनोरम, निशानाथ लालित मुखचन्द।**
रागमयी सुकुमार मुस्कुराहट से लसित अधर छबिछन्द॥
वह मुकुन्द का चंचल बचपन इस मन में रम गया गँभीर।
जो मन इस लम्पट-परम्परा पर लकीर का हुआ फकीर॥

भावार्थ—जिसकी अधर-कान्ति अनुरागमयी मृदु-मधुर मुस्कराहट से उल्लसित है और जिसका मुखचन्द्र चन्द्रकिरणों के लावण्य द्वारा लालित है–मुकुन्द का वह मनोरम वेश वाला बचपन, लम्पट सम्प्रदाय की परम्परा का आस्वादन करने वाले मेरे इस मन में गड़ गया है।

रसिका टीका—विल्वमंगल का हृदय श्रीकृष्ण की अनेक चंचल मधुर-लीलाओं की स्मृतियों से परिपूर्ण है, उनके नयन कैसे चंचल हैं, अधरों का चापल्य कैसा है, वंशी कैसी चंचल है, हाथ-पैरों में कैसी थिरकन है, उनके चरित्र कैसे मन-मोहक हैं। आगे अनेक बार इसी बात को कहेंगे और पीछे भी प्रत्येक श्लोक में इसी चंचल-चरितावली का वर्णन हुआ है। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए इस श्लोक में भी विल्वमंगल कहने लगे—"**मुकुन्द बाल्यं मे मनसि मुहुर्लग्नं**"—मुकुन्द का कैशोर-चापल्य मेरे मन में पुनः पुनः लग गया है, अमिट रूप से छप गया है, अब उसका छूटना असम्भव है क्योंकि एक तो मेरा मन लम्पट-सम्प्रदाय की श्रेणी का आस्वादन करनेवाला है, दूसरा वह दैव भी स्वयं लम्पट चूड़ामणि है। प्रथम तो सामान्य जनों के मन को मुग्ध करने वाला उसका नटवर वेष है, दूसरे उनके मुखचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य प्रभृति गुणों पर मुग्ध होकर स्वयं पूर्णचन्द्र उनकी सेवा कर रहा है, उनकी आरती उतार कर अपने को उन पर न्यौछावर कर रहा है—"**आरात्रिकवदात्मानं करोति**"—**श्रीगोपालभट्ट**। एक अद्भुत बात और है— राग रञ्जित मृदुहास से, मधुपूर्ण तथा हर्ष से उल्लसित ओष्ठाधरों से कौमुदी-धारा प्रवाहित हो रही है, ऐसा जो मुकुन्द का 'बाल्यं' है, किशोर अवस्था के चपल-चरित्र हैं, वे मेरे मन में बस चुके हैं, फिर-फिर कर लग गये हैं और सदा के लिये लग गये हैं।

"मनसि लग्नं" का अर्थ है, मन में लगा हुआ, अर्थात् वह मन में घुसा हुआ है, इसीलिये अब उसको निकालना अपने हाथ में नहीं है, यदि मन उसमें लगा होता, घुसा होता तो हम उसको निकाल सकते थे, हटा सकते थे, परन्तु यहाँ तो 'भूत' की भाँति मन में वह स्वयं लगा हुआ है उसी का आवेश है मन पर। अब वही छोड़े तो मन छूटे। अन्यथा ये मन त्रिकाल में छूट नहीं सकता।

मन पंछी तब लौं उड़ै विषय वासना माहिं।
प्रेम बाज की झपट में जब लौं आवत नाहिं॥

तात्पर्य यही है कि यह प्रेम की पकड़ है, ज्ञान की नहीं। कृपा की पकड़ है, साधन की नहीं, मार्जारी—ग्रह है, मर्कट-ग्रह नहीं।

वह "मुकुन्द" है अर्थात् 'मु'-से मुक्ति तथा 'कु'—से भुक्ति को देने वाला है अथवा स्मरण मात्र से मुक्ति को देनेवाला है, मुक्ति की अपेक्षा इस मुकुन्द की लीलाओं का स्मरण अधिक आनन्ददायक है, उस आनन्द के सन्मुख मुक्ति भी तुच्छ है, वह परम प्रेमानन्द व सेवानन्द को प्रदान करता है। यही "मुकुन्द-बाल्यं की विशेषता है। अतएव विल्वमंगल अन्यत्र एक श्लोक में कहते हैं कि—अरे मन! तू प्रातःकाल उठ कर 'मुकुन्द" का चयन किया कर। वह 'मुकुन्द' निखिल-निगम-वल्ली का मूल कन्द है—

अयि परिचिनु चेतः प्रातरम्भोजनेत्रं, कबर-कलित-चञ्चत्पिच्छ-दामाभिरामम्।
बलभिदुपल-नीलं वल्लवीभागधेयं, निखिलनिगमवल्लीमूलकन्दं मुकुन्दम्॥

श्रीमद्भागवत् में 'मुकुन्द' पद का प्रयोग प्रायः मुक्ति और भक्ति के सम्बन्ध में ही हुआ है, ऐसे उन्नीस प्रयोग हमारी दृष्टि में आये हैं, उनमें से कुछ देखिये—

"यम-नियमादि अष्टांग योग द्वारा यह मन ऐसा शुद्ध नहीं होता जैसे मुकुन्द की सेवा से होता है :—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥—भागवत १-६-३६

उस भिक्षु ने भी आत्मनिष्ठा में स्थित होकर यही निश्चय किया था कि मैं इस अपार भवसागर को मुकुन्द-पद-सेवन से पार कर लूंगा :—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दांघ्रि निषेवयैव॥

—भागवत ११-२३-५८

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सन्यास ग्रहण के पश्चात् इसी श्लोक का पुनः पुनः उच्चारण किया था। जो सब धर्मों का परित्याग कर परम शरण्य मुकुन्द भगवान की शरण में चला जाता है—वह ब्रह्मऋण, देवऋण, भूत-ऋण, पितृ-ऋण आदि सब ऋणों से मुक्त हो जाता है :—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

—भागवत ११-५-४१

मुकुन्द चरण के स्पर्श से कुब्जा उत्तम रमणी बन गई, अर्थात् सर्व कल्मष से मुक्त होकर दिव्य बन गई थी, (१०-४२-८) कंस वध के उपरान्त कंस के भय से देश-विदेश में छुपे हुए यादव गण जब मथुरा लौट आये और आनन्दपूर्वक निवास करने लगे तो वे अहर्निश 'मुकुन्द' के मुखाम्बुज-सुधा का पान करते-करते वृद्ध भी युवा और अति बलवान हो गये थे।"

भक्तराज प्रह्लाद ने दैत्यों के बालकों से कहा है कि—देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व कोई भी हो, वह मुकुन्द के चरण के भजन से ही हम जैसा स्वस्तिमान हो सकता है, अर्थात् परम कल्याण को प्राप्त कर सकता है, हे असुर बालको ! मुकुन्द को प्रसन्न करने के लिये द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व जाति, कुल, ज्ञान ये सब पर्याप्त नहीं है, वह तो केवल एक अमला भक्ति से ही प्रसन्न होता है, अन्य सब तो बिडम्बना मात्र हैं। श्रीगोविन्द के चरणों में एकान्तभक्ति और उनके भक्तों का दर्शन, बस इस लोक में मनुष्य का अपना सबसे बड़ा स्वार्थ यही है—

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन् मुकुन्द चरणं स्वस्तिमानस्याद् यथा वयम् ॥
नालं द्विजत्वंदेवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् प्रंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

—भागवत ७,७,५०-५१-५२-५५

नारदजी ने भी युधिष्ठिर से यही कहा है कि—भगवान् मुकुन्द का भजन करने वालों को मुक्ति देकर पीछा छुड़ा लेते हैं, भक्ति तो कदाचित् ही देते हैं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥

—भागवत ५-६-१८

नारदजी ने व्यासजी को उपदेश देते हुए भी यही कहा कि मुकुन्द के चरणों का सेवन करने वाला भक्त अन्य चरण-विमुख जनों की भाँति कदापि संसार को प्राप्त नहीं होता, वह तो मुकुन्द के चरणों के आलिंगन के आनन्द

का आस्वादन करता हुआ कभी भी उसको छोड़ने की इच्छा नहीं करता है, क्योंकि रस-लोभी को जब परम रस प्राप्त हो जाता है, तब वह छूट नहीं सकता, क्योंकि 'रस' रूप मुकुन्द ने उसे पकड़ लिया है,—"**पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः**"—भागवत १-५-१६। अतएव विल्वमंगल भी इसकी साक्षी दे रहे हैं। "**मुकुन्द बाल्यं मुहुर्मनसि लग्नं**"।

विल्वमंगल ने मन के विशेषण के रूप में '**लम्पट-सम्प्रदाय-लेखावलेहिनि**' पद का प्रयोग किया है, इसके दो मुख्य अर्थ हैं—

१—प्रथम अर्थ—'लेखा' का अर्थ लिपि तथा श्रेणी लेने से—कृष्ण विषयक मधुर-प्रीति-रस-लम्पट जो सम्प्रदाय, अर्थात् परम्परागत जो सजातीय समूह, उनमें जो रस की लेखा है, अर्थात् रसमयी लिपी का समूह है, या नाना प्रकार के रस की जो श्रेणी है, उसको आस्वादन करना ही जिसका स्वभाव है-ऐसा यह मेरा मन। अर्थात् अन्य संग त्याग कर रसिकों का संग करने का, तथा अन्य शास्त्र त्याग कर रसमयी वाणी के आस्वादन करने का स्वभाव मेरे मन का हो गया है। क्योंकि प्रयोजन के अनुकूल साधन तथा संग होने पर ही वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान से प्रयोजन है तो ज्ञानी का संग और प्रेम का साधन होना चाहिये। प्रेम से प्रयोजन है तो प्रेमी का संग और प्रेम का साधन होना चाहिये। प्रयोजन के विपरीत साधनों का आचरण करने से हानि होती है, लक्ष्य के अनुकूल ही साधन और संग होने चाहिए। श्रीमाध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य श्री ईश्वरीपुरी जी कहते हैं—

धन्यानां हृदि भासतां गिरिवरप्रत्यग्रकुञ्जौकसां,
सत्यानन्दरसं विकार-विभवव्यावर्तमन्तर्महः।
अस्माकं किल वल्लवी-रति-रसो वृन्दाटवी-लालसो,
गोपः कोऽपि महेन्द्रनीलरुचिरश्चित्ते मुहुः क्रीड़तु॥

साधन द्वारा प्रकृति के विकारों से रहित विशुद्ध अन्तःकरण को प्राप्त पर्वत की गुफाओं में बैठे योगियों के हृदय में सत्यानन्द-रसमय ज्योति प्रकाशित होती हो तो बारबार होती रहे, हम उनको धन्य-धन्य कहते हैं, परन्तु हमारे चित्त में तो गोपियों के प्रीति-रस का लम्पट, वृन्दावन-प्रिय जो कोई एक महेन्द्र-नीलमणि की कान्तिवाला गोप है, वह निरन्तर क्रीड़ा करता रहे, बस यही कामना है।

भाई! ये दुनियादारी की तकरार हमसे मत करो, हम तो युगल-जोड़ी पर प्राण निछावर कर चुके हैं:—

अब तकरार करो मति यारो लगन लगी चित चंगी ।
जीवन प्राण जुगल जोरी के जगत जाहिरा अंगी ।।
मतलब नहीं फिरश्तों से हम रसिक दिलादे संगी ।
'सहचरिशरन' रसिक सुलतांबर मेहरबान रसरंगी ।।

और भी देखिये 'भगवत रसिक' जी क्या कहते हैं—

बेगम अगम निगम कहैं, सुगम लाडिली लाल ।
नित्य अनन्त अनादि के 'भगवत रसिक' दलाल ।।
भगवत रसिक दलाल मिलै इनसे सो पावै ।
जप तप योग समाधि ध्यान हरि हाथ न आवै ।।
करि उपाय पचि मरै, तरे भवसागर शम दम ।
मिलहिं न श्यामा श्याम कहहिं कोविद बे गम ।।

क्योंकि वेदवेदान्त की अगम्य वस्तु के दलाल रसिकजन ही तो हैं। इसी कारण सब प्रकार के संग का नाम सत्संग नहीं सत्संग वही है जहाँ :—

इष्ट मिले और मन मिले, मिले भजन की रीति ।
मिलिये ध्रुव निशंक ह्वै, कीजै तिनसौं प्रीति ।।
बहुत मिलै सो संग नहिं, न्यारो न्यारो भाँति ।
युगल प्रेम रस मगन जे, तेई अपनी पाँति ।।
बहुत भाँति के मत जहाँ, तिनहिं न समुझे संग ।
नव किशोरता माधुरी, बिना न अपनो रंग ।।

—ध्रुवदास

इसीलिये विल्वमंगल का मन भी रस-लम्पट-सम्प्रदाय-श्रेणी में आबद्ध होकर वाणी का आस्वादन कर रहा है—"**बेद रसिकन की बानी**"—**व्यासदास**।

श्रीगोपालभट्टजी ने अपनी कृष्णवल्लभा टीका में 'लेखा' पद का अर्थ 'लेख' किया है जिसका तात्पर्य यह है कि—मधुररस लम्पट सम्प्रदाय का लेख अर्थात् वेदान्तवेद्य रसस्वरूप श्रीकृष्ण का आस्वादन करना ही जिसका स्वभाव है—ऐसा मन। 'रसो वै सः'—रसिक-चूड़ामणि में अत्यासक्त मेरा मन।

'लम्पट' शब्द का अर्थ है स्वतंत्र-स्वेच्छाचारी तथा अभीष्ट विषय में परमासक्त,—यथा मधुकर। वह पुष्परस में परमासक्त है तथा पुष्पवन में स्वच्छन्द भ्रमण करता है, इसीलिये वह लम्पट है। भगवत कथा रस में आसक्त जनों को भी श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में लम्पट कहा है—

"श्रीभागवतपीयूषपानाय रस लम्पटाः"—अतएव व्यासदेव लम्पट हैं, शुकदेव लम्पट हैं, परीक्षित लम्पट हैं, पृथु लम्पट हैं सनकसनन्दादि लम्पट हैं, शेष लम्पट हैं, नारद लम्पट हैं, शिवजी भी लम्पट हैं, और सबके गुरु—श्रीकृष्ण भी लम्पट हैं, वे अन्य सब तो एक श्रीकृष्ण के मधुर-रस के ही प्रति आसक्त हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो सबके प्रति आसक्त हैं अतएव वे महा लम्पट हैं।

अन्तरंग लाला परक अर्थ में—श्रीकृष्ण के माधुर्यसिन्धु में श्रीराधिका निमज्जित होकर पुनः मोह दशा को प्राप्त होने वाली हैं—यह देखकर सखियाँ बोलीं—"हे प्राणप्रिय सखी ! श्रीकृष्ण विषयक चिन्ता को एक क्षण के लिये त्याग कर जरा धैर्य तो धारण करो। इसके उत्तर में श्रीराधाजी के प्रलाप वचन इस श्लोक में वर्णित हैं। श्रीराधा कहती हैं—सखियो ! श्रीकृष्ण विषयक चिन्ता क्षण भर के लिए भी छूट जाय, यह कैसे सम्भव है ? उस मुकुन्द का चापल्य मेरे मन में संलग्न हो गया है—'अहा ! वह मुकुन्द ! उसके मुख पर कुन्द (चमेली) की सी हँसी खिली रहती है—वह हँसी मेरे मन में लग गई है, बस गई है, उसकी वे चपल लीलाएँ मेरे मन में लग रही हैं, लिपट रही हैं, चिपट रही हैं, घुल-मिलकर एकमेक हो रही हैं—

"अब कैसे निरबेरि जात है मिल्यो दूध अरु पानी।"—सूर

कीन्हे हू कोटिक जतन, अब गहि काढ़े कौन।
मो मनमोहन रूप मिलि, पानी में को लौन॥—बिहारी

अतएव सखियो ! मन छूटे तो भले ही छूट जाय–उसकी चिन्ता नहीं, परन्तु मन के रहते तो उसका छूटना कदापि सम्भव नहीं, उसके माधुर्य का रस-रंग मानो तो मंजिष्ठ राग (मजीठ का रंग) है, जो शुभ्र मानस पटल पर ऐसा रञ्जित हो गया है कि मन भले ही फट जाय, परन्तु रङ्ग का छूटना नितान्त असम्भव है, अतः बताओ ! अब मैं क्या उपाय करूँ ?

हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ, संसार हित रंग कसूंभ दिन दुती को।
कहत हरिदास हित कीजै बिहारी जो सौं, और निबाहु जानि जन जी को॥

—श्रीस्वामी हरिदास

श्याम रंग राँची ब्रजनारी। और रंग सब दीनीं डारी॥
कुसुम रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भगिनी अरु भ्राता॥
दिना चार में सब उड़ि जैहैं। श्याम रंग अजरामर रैहैं॥

—सूरदास

"और सुनो सखियो ! यह मेरा मन मेरे वश में नहीं है। यह महा-लम्पट है। श्रीकृष्ण में परमासक्त है तथा परम स्वतन्त्र है। मेरे लिये इसको रोक कर अन्य विषय में लगाना असम्भव है।

अथवा विचारे इस मन का ही क्या दोष है ? यह तो क्षुद्रातिक्षुद्र है। बड़े बड़े आत्मवादी रस-विज्ञजनों का चित्त भी श्रीकृष्ण के लावण्य पर आसक्त हो जाता है। वह वेणु, वनमाला, मोरपिच्छ आदि धारण कर जब नटवर वेश में प्रकट होता है तो त्रिभुवन का मन मोहित हो जाता है, ऐसे परमोत्कृष्ट धन को प्राप्त कर मेरा कंगाल मन महाधनी हो गया है। अब क्या वह उसे छोड़कर पुनः कंगाल बनने की कल्पना कर सकता है ? कदापि नहीं।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

अहिमकर-कर-निकर-मृदु-मुदित-लक्ष्मो—
सरस-तर-सरसिरुह-सदृश-दृशि देवे।
व्रज-युवति-रति-कलह-विजय-निज-लीला—
मद-मुदित-वदन-शशि-मधुरिमणि लीये ॥५१॥

पद्यार्थ— **तरुण-अरुण के रश्मिजाल से विकसित वैभव वाले—**
अतिशय सरस सरोरुह के सम जिसके नयन निराले।
व्रजबाला-रतियुद्ध-विजय पर आत्मकला से हर्षित—
जिसका मुख मयंक—मन उसकी शोभा से आसंजित ॥

भावार्थ—जिसके नयन, बालारुण के रश्मिजाल से विकसित सुकुमार वैभव के कारण अतिशय सरस बने हुए कमल के तुल्य हैं और जो व्रजयुवतियों के साथ रति-समर में होने वाली विजय की कारणभूत अपनी कथाओं पर फूला नहीं समा रहा है, उस दिव्यमुखमयङ्क की मधुरिमा में मेरा मन निमग्न हो रहा है।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में वर्णित श्रीकृष्ण की चापल्य-माधुरी के आस्वादन काल में प्रत्येक अंग की माधुरी का आस्वादन स्वयमेव हो रहा है। प्रत्येक अंग मधुर तथा उसका चापल्य भी मधुर है—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

विल्वमंगल इस मधुरता का उपभोग करते हुए यही अनुभव कर रहे हैं कि माधुर्यसिन्धु श्रीकृष्ण का चापल्य ही क्यों ? सर्वाङ्ग ही मधुरातिमधुर

है। मेरा मन किस किस अंग को पकड़े और किस-किसको छोड़े, इस माधुरी में यदि मन लीन हो सके, दूध और पानी की तरह मिल सके–तो कदाचित् उसकी सर्वाङ्ग माधुरी का आस्वादन कर सकता है। और अब मेरा मन ऐसा ही होने जा रहा है। इस मन की हिलगन बड़ी कठिन है, एकबार मन के हिलगने पर धर्म-कर्म, जाति-पांति, लाज तथा कुलमर्यादा सब नष्ट हो जाते हैं —

हिलगन कठिन है या मन की।
जाके लखे देखि मेरी सजनी, लाज जात सब तन की॥
धर्म जाउ अरु हँसो लोक सब, अरु आवौ कुल गारी।
सो क्यों रहै ताहि विनु देखें, जो जाकौ हितकारी॥
रस लुबधक एक निमिख न छांड़त, ज्यों आधीन मृग गाने।
"कुम्भन दास" सनेह मरम इहिं, गोवर्धन धर जाने॥

इसके अतिरिक्त मन का और कर्त्तव्य ही क्या है और अन्य आश्रय भी कौन-सा है, यह प्रेमासक्ति की अत्यन्त आर्त्त अवस्था है, यह केवल वियोग में ही नहीं, संयोग में भी प्राप्त होती है, इसी आर्त्ति के कारण विल्व-मंगल लीन हो जाने की एक ही लालसा को तीन श्लोकों में बार-बार प्रकट कर रहे हैं।

"**मधुरिमणि लीये**"—मैं तो इस माधुर्य के सिन्धु में लीन हो रहा हूँ। माधुर्य-सिन्धु की विशेषताओं का वर्णन करते हुए प्रथम प्रस्तुत श्लोक में नयन और मुख की शोभा का वर्णन करते हुए बोले कि—सूर्य-किरणों के द्वारा अल्प विकसित, अतिशय शोभित, सरसतर कमल के समान श्रीकृष्ण के नेत्र युगल हैं तथा युवतियों के सहित रति-कलह में विजयिनी लीला के कारण गर्व से उनका मुख-चन्द्र प्रफुल्लित हो रहा है और वह देव कान्तिमान एवं क्रीड़ा परायण है। इस देव के मुख-कमल को निरन्तर देखने पर भी जी नहीं भरता—

कमल मुख देखत कौन अघाय।
सुन री सखी! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाय॥
मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनु फूली बन जाय।
गोवर्धन के अंग अंग पर, "कृष्णदास" बलि जाय॥

कमल सूर्य से विकसित होता है, परन्तु यदि प्रातःकाल का सूर्य होगा तो किरणें शीतल होंगी जिससे कमल का यथोचित विकास नहीं हो सकेगा,

यदि मध्याह्न काल का सूर्य होगा तो उसकी प्रखर किरणों से कमल शुष्क हो जायगा, अन्तर में मकरन्द से पूर्ण होने पर भी बाहर से वह कोमल न होकर कर्कश-सा हो जायगा। इसीलिये "अहिमकर" शब्द के प्रयोग से ऐसे सूर्य का कथन किया है कि जिसकी किरणें न तो शीतल ही हैं और न उष्ण ही हैं, ऐसे 'अहिमकर' सूर्य के 'कर-निकर'-किरणों के द्वारा जो प्रफुल्लित कमल है उसके विकसित, स्निग्ध तथा मकरन्द-परिपूर्ण होने के कारण उससे श्रीकृष्ण के लोचन की उपमा दी गई है, अन्य किसी सूर्य से खिले हुए कमल की उपमा श्रीकृष्ण के मुख-कमल के योग्य नहीं है। इससे कवि की भावुकता, सरसता और कविता का माधुर्य गुण परिस्फुटित होता है।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में–श्रीकृष्ण के माधुर्य सिन्धु में श्रीराधिका के नयन-मन-प्राण-इन्द्रिय सब डूबे जा रहे हैं—वे तल्लीन होती जा रहीं हैं, ऐसी अवस्था में अपने प्रलय की आशंका करती हुई श्रीराधिका बोलीं—"सखियो ! तुम लोगों के साथ मेरा यह अन्तिम मिलन है। अब मेरे जीवन की कोई आशा नहीं है, क्योंकि मेरे इन्द्रिय, मन, प्राण—सब श्रीकृष्ण के माधुर्य-सिन्धु में लीन होते जा रहे हैं।"

सखि हे ! कृष्ण लीला माधुर्य सिन्धु ते।
डूबिया रहिवो आमि निश्चय जानि ह तुमि ॥
एइ देखा तो सवा सहिते ॥ —यदुनन्दनदास

देखो, सखी ! वह देव किसी मधुर-मनोहर-क्रीड़ा के लिये मचल रहा है। हृदय में भावोल्लास होने के कारण उसकी कांति भी विशेष उज्ज्वल हो रही है, अधिकन्तु क्या ? वह मेरे प्राणों का देवता है, मेरी पूजा का देवता है। उसके माधुर्य-सिन्धु में मैं अब लीन होती जा रही हूँ।

गोपियों के सहित हाव - भाव - हास - परिहास - नृत्य-रति - कलह में श्रीकृष्ण की जो मधुर विजयिनी लीलाएं हैं उनके गर्व अथवा हर्ष के कारण उनके मुख-चन्द्र पर एक अपूर्व मधुरिमा प्रकाशित हो रही है, उसमें मैं अब लीन होने वाली हूँ। सखियो ! तुम्हारे साथ यह मेरा अन्तिम मिलन है।

आगे के दोनों श्लोकों में भी इसी प्रलय-आशंका का वर्णन है—

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

कर-कमल-दल-कलित-ललित-तर-वंशी—
कल-निनद-गलदमृत-घन-सरसि देवे।

सहज-रस-भर-भरित-दरहसित-वीथी-
सतत वहदधरमणि-मधुरिमणि लीये ॥५२॥

पद्यार्थ— **कर-पंकज के अँगुलिदलों में उलझी ललित वेणु कलनाद—**
विगलित सुधा-अथाह सरोवर में निमग्न मानस निर्वाद ।
सहज रस भरित हसित-विथिका पर जो कल क्रीड़ा करती-
भव्य माधुरी अरुणाधरमणि की—वह मेरा मन हरती ॥

भावार्थ—कर-पंकज के अंगुली-रूप दलों में उलझी हुई अतिशय ललित मुरली के मोहक निनाद के रूप में निर्झरित होने वाले अमृत के अथाह सरोवर स्वरूप दिव्य और सहज, रसभरित एवं प्रस्फुटित मुस्कराहट-रूप वीथिका में निरन्तर क्रीड़ा-करने वाले अधर-मणि के माधुर्य में मेरा मन निमग्न हो रहा है ।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक की तरह इसमें भी विल्वमंगल कह रहे हैं कि—"मैं तो अब श्रीकृष्ण के माधर्य सिन्धु में लीन हो रहा हूँ, डूबा जा रहा हूँ, पूर्व श्लोक में वर्णित मुख-चन्द्र के सहित नयन कमल की माधुरी में चित लीन हो रहा था, इस श्लोक में अधरामृत एवं वंशी नादामृत लहरी में चित्त लीन होता जा रहा है ।

वह श्रीकृष्ण देव कैसा है ? उसके हस्त ही कमल हैं, अंगुलियाँ ही कमल के दल हैं जिनमें अति ललित वंशी कलित (घृत) है, वह कल-कल ध्वनि-सी मुखरित है, जिस ध्वनि में से सुधापूर्ण सुर धुनि विगलित है, और इस सुधा का घनी भूत सरोवर है—वह देव श्रीकृष्ण !

"कर-कमल-दल" श्रीकृष्ण रूपी रस-सरोवर के हस्त कमल, जल-सरोवर स्थित कमल के, सौन्दर्य, सौकुमार्य, शैत्यादि विलास के गुरु हैं । इस बात को स्वयं विल्वमंगल ही आगे ६५ वें श्लोक में कहेंगे ।

पुनः वह देव कैसा है कि—सहज स्वाभाविक माधुर्य रस के भार से भरित (पुष्ट) उसका जो मन्द हसित (हँसी) है, वही मानो वीथी (परंपरा) है, जिनमें से अधर रूपी मणि की माधुरी निरन्तर प्रवाहित हो रही है, अर्थात् अधर पर मृदु-मधुर-हास की तरंगें एक के ऊपर एक निरन्तर उठ रही हैं, जिसके कारण मुखचन्द्र अतिशय मनोहर बन गया है, उस माधुर्य सिन्धु में मेरा मन लीन होता जा रहा है ।

नाभि भँवर चारु छवि लहरैं, गरज मुरलिका भावै ।
बंकविहारी नाम सलौना, नेह नदी चलि आवै ॥

रूप कद्दर दरियाव परैं दृग पैरि पार नहिं पावै ।
मन मल्लाह को क्या कुब्बत जो पकरि बाहिरे आवै ।।

श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग की माधुर्यता और कोटि-कोटि काम को लजाने वाली लावण्यता श्यामसुन्दर के श्रीविग्रह से फूटी पड़ रही है :—

कोटि काम-लावण्य-धाम, अंग साँवरे पिय के ।
जे जे जाकी दृष्टि परे, ते ते भये तित ही के ।।
कोउ जो अलक छवि उरझे, अजहूं नाहिं न सुरझे ।
ललित लटपटी पगिया, तकि तकि तहँ तहँ मुरझे ।।

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में—अन्तर्द्धान होने से पूर्व श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को कुञ्ज में प्रेरणा करने के लिये जैसा मधुर हास्य युक्त वंशी नाद किया था, उसकी स्फूर्ति हो आने पर उस माधुर्य में लीन होती हुई श्रीराधा कह रही हैं कि "सखियो ! यह जो रस से उल्लसित कान्तिमान तथा क्रीडा-रस प्रिय देव है, उसकी मधुर स्मित धारा अपने स्वाभाविक माधुर्य गुण से पूर्ण व पुष्ट हो रही है अर्थात् श्रीकृष्ण के पद्म-राग-मणि के तुल्य अधर की माधुरी निरन्तर प्रवाहित हो रही है ।

मुख पर कछुक अमी निधि माई मोहन चित के चोर ।
नंददास मेरे नैंन भये तहां वारिधि–मीन–हिलोर ।।

प्रियतम के अधरों पर खेलने वाली माधुरी के अगाध सौंदर्य का जब से अवलोकन किया है, तब से और कुछ सुहाता ही नहीं है—

तब तें और कछू न सुहाय ।
सुन्दर श्याम जबहिं ते देखे, खरिक दुहावत गाय ।।
आवति हुती चली मारग सखि, हौं अपने सतभाय ।
मदन गुपाल देखिकै इकटक, रही ठगी मुरझाय ।।
विसरी लोक-लाज गृह-कारज, बंधु पिता अरु माय ।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरधर घर, तन मन लियौ चुराय ।।—चतुर्भुजदास

इस प्रकार यह श्रीराधा का विलापयुक्त प्रलाप है, अगले श्लोक में भी यही वर्णन है ।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

कुसुम-शर-शर-समर-कुपित-मद-गोपी—
कुच-कलस-घृसृण-रस-लसदुरसि देवे ।

मद-मुदित-मृदु-हसित-मुषित-शशि-शोभा-
मुहुरधिक-मुखकमल-मधुरिमणि लीये ॥५३॥

पद्यार्थ— **कामदेव के शर से आहत कुपित मदभरी गोपी के—**
कुचकलसों के संघर्षण से लसित वक्ष वाले नोके,
मोद मदभरे मृदुल हास से जो हरता विधु कान्ति विमल—
उस प्रिय की मुखकमल मधुरिमा में, मैं डूब रहा प्रतिपल ॥

भावार्थ—रतिरंग में कामदेव के बाणों के आघात से कुपित हुई उन्मत्त गोपियों के कलश-तुल्य उन्नत उरोजों के संघर्षण से रस रंजित (स्तनों पर लगे हुए राग से अनुरंजित) हुए वक्ष वाले और मादकता के कारण विशेष आकर्षक मृदुल मुस्कराहट के द्वारा निरन्तर चन्द्रमा के सौंदर्य का हरण करने के कारण अधिकाधिक वर्धनशील मुख-कमल के माधुर्यवाले देवाधिदेव श्रीकृष्ण में मेरा मन निमग्न होता जा रहा है।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक की भाँति यहाँ भी विल्वमंगल स्वतन्मयता के आवेश में ही कहने लगे हैं—कि कुसुमधन्वा कामदेव के बाणों से समर में कुपित श्रीकृष्ण उसको परास्त करने की इच्छा से यौवन मद एवं मधुपान से उन्मत्त तथा गोपी के पुनः पुनः परिरम्भण से जिनका वक्षस्थल उरोज-मंडल के कुंकुम रस से चित्रित होकर शोभायमान होता रहा है तथा जो अपने विजय के गर्व से स्फीत अथवा हर्ष से प्रफुल्लित मृदु हास्य के द्वारा चन्द्रमा की शोभा को हरण करता हुआ अपने मुखकमल की मधुरिमा को क्षण-क्षण में निरतिशय रूप में वृद्धि कर रहा है—उस उज्ज्वल कान्तिमान, क्रीड़ाशील श्रीकृष्ण में मेरा मन डूबा जा रहा है।

"कुसुमशर" से यहाँ प्राकृत कामदेव से तात्पर्य नहीं है, वह काम तो रासविलास का दर्शन करने मात्र से मूर्च्छित हो गया था —

पंचबाण जिहि पाणि में, देखि गयी इह रंग।
तेहि बाण तिहि फिरि लगे, जरजर भये सब अंग ॥
विवस भयो सुधि रही न कछु, मोह्यो महाअनंग।
लज्जित ह्वै रह्यो नमित अति, करत न शीश उत्तङ्ग ॥ —ध्रुवदास

प्राकृत कामदेव तो श्रीकृष्ण चरणारविन्दों पर अपना मस्तक रखकर बन्दी बना हुआ है, फिर वह भला उनके हृदय पर कैसे आरूढ़ हो सकता है, उनकी दिव्य-लीला में कैसे प्रवेश कर सकता है? यह तो मदन के मोहन

महाकामदेव श्रीकृष्ण का परमोज्ज्वल, कामगन्धशून्य विलास है। श्रीमद्-वल्लभाचार्यजी श्रीमद्भागवत के–**प्रहस्य सदयं "गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्"**–**आत्माराम होने पर भी गोपियों को रमण कराया**—की टीका में लिखते हैं कि इस रमण में क्रियाएँ सब लौकिक जैसी हैं, पर वह सब होने पर भी काम भाव का सर्वथा अभाव है"—**'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते'**।

भगवान् की इस लोकोत्तर दिव्य-रसमयी लीला में सर्वत्र रस ही रस है, पर उसके आस्वादन का लाभ लौकिक दृष्टि से देखने पर नहीं मिलता, अन्तःदृष्टि के द्वारा ही उसे देखना चाहिये, और श्रद्धापर्वक भगवान के शरणापन्न होकर ही रासलीला प्रसङ्ग का आस्वादन करना चाहिये, भागवत में आये 'काम' या 'रति' शब्दों का अर्थ कभी भी लौकिक इन्द्रिय लिप्सा-पूर्त्ति नहीं है, वास्तव में गोपियों के परम त्यागमय प्रेम का ही 'नामान्तर' काम है—**"प्रेमैव गोप रामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्"** और भगवान श्रीकृष्ण का 'आत्मरमण' अथवा उनकी दिव्य क्रीड़ा ही 'रति' है। रासपंचाध्यायी के प्रसङ्ग में स्थान-स्थान पर– 'आत्मनि यो रममाणः' 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' अखिल देहिनामन्तरात्मदृक्' और 'विभु' 'परमेश्वर' 'लक्ष्मीपति' 'भगवान' 'योगेश्वर' 'आत्माराम' 'मन्मथमन्मथ' आदि पदों का प्रयोग हुआ है।

षडैश्वर्यपूर्ण दिव्य रसराज भगवान श्रीकृष्ण का यह दिव्यतम रास वस्तुतः न तो विषयीपुरुषों का इन्द्रिय रमण है, न योगियों का आत्मरमण। यह तो भगवान का परम विशुद्ध निजस्वरूपानन्द-वितरण है, इसीलिये तो शुकदेवजी ने रासलीला के श्रवण-वर्णन का महान एवं अपूर्व फल बतलाया है—'हृद्रोग काम का समूल नाश और प्रेमरूपा पराभक्ति की प्राप्ति ही इसका फल है। फिर जिसका फल काम नाशक हो, उसको कामगाथा कैसे कहा जा सकता है, श्रीशुकदेवजी कहते हैं :—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः,
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथवर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

—भागवत १–३३–४०

किसी भावुक भक्त ने अपनी भावना को कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

सत्य काम अवरुद्ध-सुसौरत हरि ने किया पवित्र विहार।
सत्संकल्प चिन्मयोलीला-रस-मय मधुर नित्य अविकार॥
नहीं रमण यह था कदापि विषयासक्तों का इन्द्रिय-भोग।
नहीं आत्माराम योगियों का भी आत्मरमण संयोग॥
काम विजय का भी न कहीं था कुछ भी यहाँ कल्पना-लेश।
क्योंकि यहाँ उस नीच काम का हो सकता न कदापि प्रवेश॥
था विशुद्ध वितरण माधव का निज स्वरूप-आनन्द महान।
था यह परम रसास्वादन का निज में ही निज का सुविधान॥
आस्वादक आस्वाद्य न दो थे था मधुमय लीला-संचार।
था यह एक विलक्षण पावन परम प्रेमरस का विस्तार॥
मधुर परम इस रस-सागर में गोपीजन का ही अधिकार।
परम त्याग का मूर्त्त रूप लख जिन्हें किया हरि ने स्वीकार॥

और जो इस शुद्ध मधुर-रस के एक कण का भी आस्वादन कर लेता है, उसके समस्त शोक-मोह-लोभ-विषाद नष्ट हो जाते हैं, उसके जीवन में सर्वथा काम रोग का अभाव हो जाता है और भावराज्य में प्रवेश पाकर श्री राधारानी का अनुचर होकर नित्य-निकुञ्ज का सेवा-अधिकारी बन जाता है :—

भाव प्राप्त हो वह होजाता राधारानी का अनुचर।
सभी दोष मिट होती उसमें प्रकट गुणावलि शुचि सत्वर॥
पाता वह फिर नित निकुञ्ज में अति दुर्लभ सेवा-अधिकार।
जिसके लिये सदा ललचाते ऋषि-मुनि-तापस छोड़ विकार॥

—'राधामाधव चिन्तन'

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—श्रीकृष्ण की सम्भोगान्तःकालीन माधुर्य की स्फूर्ति होने पर श्रीराधिका का यह प्रलाप है कि—इस अपूर्व शोभासिन्धु में मैं लीन हो जाऊँगी। "गोपी" पद से साधारणतः गोपाङ्गना मात्र का ग्रहण किया जाता है, परन्तु यहाँ विशेषार्थ में श्रीराधा ही अभिप्रेत हैं। अपना नाम न लेकर सामान्य पद 'गोपी' द्वारा निर्देश करना रसविदग्धता है। अन्य अर्थ पूर्ववत् ही है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः

आनभ्रामसित-भ्रुवोरुपचितामक्षीण-पक्ष्मांकुरे-
ष्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोरिन्दीं मृदौजल्पिते।

आताम्रामधरामृते मद-कलामम्लान-वंशी-स्वने-
ष्वाशास्ते मम लोचनं व्रज-शिशोर्मूर्तिं जगन्मोहिनीम् ॥५४॥

पद्यार्थ— **भ्रकुटी कुटिल अश्वेत सघन उन्नत पक्ष्मांकुर ।**
लोचन चंचल सानुराग, सुकुमार मधुर स्वर ।।
अधरामृत अरुणाभ, वेणु अम्लान सरस कल ।
जगमोहनि वह मूर्ति नयन की आशा संबल ।।

भावार्थ—श्याम भ्रकुटियों पर से बाँकी, सघन पक्ष्मावली पर से उन्नत, सानुराग नयनों पर से चपल, मृदुल अभिभाषण पर से ऐश्वर्यमयी अधरामृत पर से अरुणाभ और अम्लान वंशी-निनाद पर से मदकलित—ऐसी श्रीव्रजभूषण की माधुरीमूर्ति का मेरे लोचनों को बड़ा विश्वास है ।

रसिका-टीका—विल्वमंगल के हृदय में जो माधुर्य-सिन्धु की स्फूर्ति हो रही थी और जिसमें वे आत्मसात होकर लीन होने ही वाले थे, वह स्फूर्ति लोप हो गई । तब सम्पूर्ण वाह्य दशा को प्राप्त होकर पुनः दर्शनोत्कण्ठा में यह श्लोक और अगला श्लोक कहा है 'मेरे नेत्र व्रजकिशोर की विश्वमोहनी मूर्त्ति के दर्शन करने के लिये लालायित हो रहे हैं—बड़ी आशा लगाये बैठे हैं । वह मूर्त्ति कैसी है तो सुनिये :—

१—उसकी भ्रकुटि कुछ झुकी हुई बाँकी है तथा श्याम है । वह भ्रकुटि मानों तो कन्दर्प विजयी कार्मुक (कमान) है, जिसकी प्रत्यञ्चा (डोर) कभी ढीली ही नहीं होती, सदैव चढ़ी ही रहती है । ये कमान-बाण जगद्-विजयी कामदेव के भी विजयी हैं, अतएव वह मूर्ति जगन्मोहिनी है । यह स्वतः सिद्ध है ।

वदन सदन आनन्द चन्द चारुता लजानी ।
नैंन मैंन सरपैंन भौंह धनुहीं जनु तानी ।। —गदाधर

लख्खी सोधें भिन्नी अलकें अख्खीं पलक विसाड़ीं ।
जुट्टी जुट्टी भोंहनि सोंहनि लुट्टी मती असाड़ी ।।
रोम रोम तुझ प्रेम जोग से मैं कौंम नेम सब छाड़ीं ।
हाल निहाल शाल संग लीये 'बल्लभरसिक' नुसाड़ी ।।—वल्लभरसिक

२—उस मूर्ति के पक्ष्मांकुर घन हैं, अर्थात् उसकी पलकों की रोमावलि सघन हैं, काली-काली भ्रूपंक्ति से उसकी शोभा में चार चाँद लग गये हैं ।

३—उसके लोचन-युगल अति चंचल तथा अनुराग-पूर्ण हैं। अर्थात् क्षण-क्षण में अपने हृदय का नवीन-नवीन उमङ्गों की तरङ्गों से नयन तरलित हो रहे हैं अतएव वह 'जगन्मोहिनी' है।

४—सुकुमार, अल्प तथा मधुर-स्वारस्यपूर्ण पदों की जल्पना (कथन) से उस मूर्त्ति के मुख कमल पर स्निग्ध, सरस-मन्दहास प्रकट हो रहा है—अतएव वह "जगन्मोहिनी" है।

५—जल्पना के कारण उसके ईषद्-अरुण-अधरामृत पूर्णरूप से अरुण हो गये हैं।

६—और वह मूर्त्ति अम्लान है अर्थात् भाव को स्पष्ट व्यक्त करनेवाली वंशी ध्वनि के कारण वह मद (गर्व एवं हर्ष) से परिव्याप्त है, वह मूर्ति मदभरी, रसभरी, आनन्द भरी है अतएव जगन्मोहिनी है।

'जगन्मोहिनी' का अर्थ पूर्ववर्त्ती श्लोकों में अनेक बार हो चुका है, तथा अगले श्लोक में इसकी व्याख्या पर बिल्वमंगल शपथ ग्रहण करने वाले हैं यहाँ पर श्री प्रबोधानन्दजी के प्रसिद्ध श्रीवृन्दावन महिमामृत ग्रंथ के दो श्लोक इस प्रसंग में उद्धृत किये जाते हैं :—

वृन्दारण्येऽति चित्रं प्रकटयति निजं रूपमाश्चर्य-वेशौ,
राधा-कृष्णौ यदाऽऽलीततिभिरतिरसं रासरङ्गप्रविष्टौ।
सर्वे निर्वेदमापुर्विधि-प्रमुख सुरास्थूत्कृत-ब्रह्मभावा—
श्रिन्तां भेत्तु मुनीन्द्रा विभुरपि रमया विह्वलस्तर्ह्यलुण्ठत् ॥

रसिकशेखर श्रीरास बिहारी वृन्दावनचन्द्र की जगन्मोहिनी माधुरी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—सखी मण्डली के सहित मधुर रसमय रास-स्थली में आश्चर्यमय वेशभूषा से विभूषित जब प्रिया प्रियतम श्रीराधा-कृष्ण प्रवेश करते हैं, तथा वृन्दावन भी अपने अति विचित्र रसमय स्वरूप को प्रकट करता है, तब ब्रह्मादि समस्त देवगण मोक्षानन्द के प्रति थूत्कार कर निर्वेद (मोह) को प्राप्त हो जाते हैं, मुनीन्द्रगण ध्यान से विरत हो जाते हैं तथा लक्ष्मी सहित विभु नारायण भी विह्वल होकर भूमि पर लुण्ठित (लोट पोट) होने लगते हैं।

श्रीमद् वृन्दावनेऽस्मिन् निज रस विभवैर्व्यक्ति मायाति लोके,
लोकेशाः शक्र मुख्या य इह भुवि भुवो येऽतलेऽथ स्वयम्भूः।
सर्वे कृष्णानुराग प्रमथितहृदया द्रष्टुमन्यन्नशेकु—
र्विस्मृत्याधीश भावं स्वभुवि स भगवान् कृष्ण मग्न श्रियाऽभूत्॥—(१२,४९-४१)
—वृन्दावन महिमामृत

उस रासलीला के प्रकट होने पर परम-शोभा-सम्पद-शाली इसी वृन्दावन में अपने अपूर्व रस वैभव के साथ भूतल पर प्रकट होने पर इन्द्र प्रमुख लोकपाल गण, जो इस भूलोक में अथवा पातालादि लोकों में निवास करते हैं, तथा स्वयम्भू ब्रह्मा प्रभृति—सबके हृदय कृष्णानुराग में अतिशय मथित हो गये और वे कुछ भी दर्शन नहीं कर सके। केवल देवताओं की ही ऐसी अवस्था नहीं हुई, वैकुण्ठाधीश श्रीभगवान् नारायण भी स्वधाम में "मैं स्वयं ईश्वर हूँ"—इस भाव को विस्मरण कर श्रीलक्ष्मी के सहित श्रीकृष्ण के भाव में निमग्न हो गये थे। अतएव व्रजकिशोर की यह मूर्त्ति जगन्मोहिनी तो है ही—"मधुरिमा का स्वराट् भी है।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में—श्रीकृष्ण विरह में विलाप करती-करती श्रीराधिका भूमि पर पतित होकर मूर्च्छित हो जाती हैं। सखीगण अनेक प्रकार से उन्हें प्रबोध कराती हैं, परन्तु वहाँ तो अवस्था ही विचित्र है, जहाँ चेतना ही नहीं है वहाँ प्रबोध किसको कराया जाय? कुछ क्षणों के पश्चात् श्रीराधा निमीलित नेत्रों से किंचित् सावधान होकर अर्धमूर्च्छित अवस्था में अपने आप में ही कहने लगीं—

"हाय! इस दशा में भी मेरे नेत्र उसके दर्शन की आशा-पिपासा से व्याकुल हो रहे हैं, हाय! हाय! यदि मैं सर्वथा लीन हो गई तो व्रजकिशोर की यह शैशव-चापल्यपूर्ण मूर्त्ति के दर्शन मुझे कैसे प्राप्त होंगे? इन नेत्रों को भी भला मैं क्या दोष दूँ। वह मूर्त्ति ही ऐसी है जो समग्र विश्व को मोहित कर लेती है, उसका-सा सौन्दर्य-माधुर्य जगत में कहीं भी नहीं है। उसकी वे भौं-कमान, उसकी दृष्टि से निकले कटाक्ष-बाण, वे लोल भरे अनुरागी नयन वह मृदु-मधुर-रसालाप, कान्तिमान अरुण-अधर, वह अम्लान-वंशी नादामृत से प्रमुदित मुखचन्द्र कितना सुघड़ है, कितना आकर्षक है, सचमुच वह त्रिभुवनमोहन है—हाँ उसी के दर्शन के लिये मेरे नेत्र भी तृषातुर हो रहे हैं।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः

तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं, तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः।
तत्सौन्दर्यं सा च सान्द्र-स्मित-श्रीः-सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि॥५५॥

पद्यार्थ— वह किशोर वय और मुखाम्बुज ऐसा सुन्दर!
ऐसी करुणा! ललित विलोकन इतनो सुमधुर!
यह सौन्दर्य, सान्द्र इतनी मुसकान-मधुरिमा!
किसी देव से भी न सुलभ है इनको उपमा॥

भावार्थ—वैसा किशोर वेश, वह मुखारविन्द, वैसी करुणा, इतनी लीला-ललित कटाक्षावलियाँ, वह सौन्दर्य और वह सघनस्मित का वैभव—वास्तव में ये गुण समस्त देव-समूह में भी दुर्लभ हैं।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण की मूर्त्ति को 'जगन्मोहिनी' कहते हुए विल्वमंगल उसके दर्शन की आशा-पिपासा प्रकट कर रहे थे, तब उनके अनुचरों ने स्वामी की मूर्च्छित अवस्था देखकर कहा—'स्वामिन्! क्या श्रीविट्ठलनाथ अथवा श्रीरंगनाथ की मूर्त्ति में वह सौन्दर्य-माधुर्य नहीं है, जो श्रीकृष्ण में है?'

इसके उत्तर में ही विल्वमंगल ने इस श्लोक का पाठ किया है, वे कहने लगे कि-"भ्राताओ! मैं सत्य-सत्य शपथ पूर्वक सत्य कहता हूँ, तुम विश्वास करो, कि वह कैशोर-माधुर्य, वह उसका मुख-कमल, वह उसकी करुणा, उनके वे लीला कटाक्ष, वह सौन्दर्य और वह मन्दस्मित की अपूर्व शोभा देवताओं में भी दुर्लभ है। यह सत्य है, सत्य है।

यहाँ "तत्, ते, सा,' वह-वह-वे-वे, पदों के अनेक अर्थ सम्भव हैं। उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य अर्थ इस प्रकार हैं :—

१—"वह-वह, वे-वे"—से तात्पर्य वही जो मैं स्वयं अनुभव कर चुका हूँ, जो मेरे हृदय में चुभे हुये हैं, गड़े हुए हैं, परन्तु वाणी जिसको व्यक्त करने में असमर्थ है। बस 'वह' 'वह' ही है—"**मन जाने कै दोउ नैना। कहिवे को नाहिन हैं बैना॥**" अतएव—'वह' 'वे'—कहकर पूर्वदर्शन-प्राप्त वस्तु का निर्देश मात्र करते हैं।

पूर्वदर्शन में लीलाशुक विल्वमङ्गल ने जो कुछ देखा है—वह भुलाया नहीं जा सकता—

नैना वह छवि नाहिन भूले।
दया भरी वह चहुँ दिशि चितवनि नैन कमल दल फूले॥
वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरे।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखनि चहुँ ओरे॥
वह धीरी गति कमल फिरावनि, कर-लै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि, पीत पिछौरी काछे॥
परवश भये फिरत हैं नैना इक छिन टरत न टारे।
'हरिचन्द' ऐसी छवि निरखत, तन मन धन सब बारे॥

और अब न जाने कितना समय उन नंदनंदन श्रीकृष्ण को देखे बिना व्यतीत हो गया—

केते दिन ह्वै जु गये बिन देखे।
तरुण किशोर रसिक नँदनन्दन कछुक उठत मुख रेखे॥
वह शोभा वह कान्ति वदन की, कोटिक बदन विशेखे।
वह चितवनि वह हास्य मनोहर, वह नटवर वपु भेखे॥
श्यामसुन्दर मिलि संग खेलन की आवत जिया अपेखे।
'कुम्भनदास' लाल गिरधर बिनु जीवन जन्म अलेखे॥

उक्त दोनों पदों में केवल रस का ही भेद है—अन्यथा दोनों पदों को हम श्लोक की व्याख्या के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। श्लोक के सब विषय—किशोर अवस्था, मुखकमल, करुणा, नेत्र कटाक्ष, सौन्दर्य तथा मन्दस्मित ज्यों-के-त्यों इन पदों में भी वर्त्तमान हैं।

इस श्लोक पर बंगला ग्रन्थों में जो टीकाकारों ने व्याख्यायें की हैं, वे इस प्रकार हैं —**तत् कैशोरं**—वह प्रसिद्धि प्राप्त किशोर अवस्था। यद्यपि श्रीभगवान् के समस्त स्वरूप किशोराकृति हैं, तथापि नन्दनन्दन वृन्दावन-विहारी मुरलीधर श्रीकृष्ण की किशोरता में असमोर्द्ध गुण होने से वह रूप सर्वाधिक श्रेष्ठ माना गया है, अतएव जगत्प्रसिद्ध है—कि वह आत्माराम मुक्त-मुनियों के चित्त का भी आकर्षक है, लक्ष्मीनारायण-पर्यन्त देव-गन्धर्व आदि का भी आकर्षक है। यह बात पूर्व श्लोक की व्याख्या में भी कह चुके हैं कि यह कैशोर-माधुरी अन्यत्र दुर्लभ है।

३—**तच्च वक्त्रारविन्दं**—यहाँ तत् का अर्थ है अद्भुत। नयन, गण्ड, अधर, भ्रू-विलासादि की माधुरी से युक्त वह रासविलासी मुखकमल अद्भुत है—यह अद्भुतता अन्यत्र दुर्लभ है।

४—**तत्कारुण्यं** - यहाँ 'तत्' का अर्थ है निरुपाधि अर्थात् अहैतुक। जगत् की करुणा में दुःख की अपेक्षा है, अर्थात् दूसरे के दुःख को देखकर के ही मनुष्य के हृदय में करुणा का उदय होता है, परन्तु भगवान् की करुणा में दुःख हेतु नहीं है। वहाँ निरपेक्ष—करुणा है, दुःखी और सुखी, भक्त और अभक्त सबके ऊपर उनकी समान करुणा है, हमें इसका अनुभव नहीं होता है। ऐसी निरुपाधि करुणा अन्य देवताओं में दुर्लभ है।

५—**ते च लीला कटाक्षाः**—यहाँ 'ते' शब्द से तात्पर्य चंचल भ्रू-भङ्गिमा से है। अर्थात् वे कटाक्ष सामान्य सहज दृगभङ्गी नहीं हैं, अपितु वे लीला-

विशेष के लिये चंचल भ्रू-भङ्गी-युक्त कटाक्ष हैं। ये भी अन्यत्र दुर्लभ हैं।

६—**तत्सौन्दर्यं**—यहाँ 'तत्' शब्द से रासक्रीड़ारत अथवा सुरतान्त सौन्दर्य लक्षित है। सौन्दर्य का साधारण अर्थ तो प्रत्येक अंग का यथायोग्य सन्निवेश है—"**भवेत् सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम्**" (भ. र. सि.) परन्तु यहाँ लीला विशेष से उल्लसित कान्तियुक्त सौन्दर्य से तात्पर्य है—यथा "**तत्रातिशुशुभे ताभिः भगवान्**" (भागवत १०.३३.७) "**व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा**" (भाग. १०.३२,१०) यह छवि भी अन्य देवों में दुर्लभ है, अति दुर्लभ है।

७—**सा च मन्दस्मितश्री**—यहाँ 'सा' का अर्थ अलौकिक है। मन्द-स्मित तो समस्त भगवत्स्वरूपों में है ही, परन्तु श्रीकृष्ण का वह मन्दस्मित अलौकिक सान्द्र आनन्दरस से पूर्ण है—जो मन्मथ के मन को भी मन्थन कर देने वाला है—यह भी लीलाविशेष का महामाधुर्योद्गार से उल्लसित रसस्मित युक्त है—अतएव यह भी अन्य देवताओं में अति दुर्लभ है।

अन्यत्र दुर्लभ होने का एक कारण यह भी है कि इस ग्रन्थ में आद्यो-पान्त रासविलासी श्रीकृष्ण की माधुरी का ही वर्णन हुआ है। यह रास-विलास अन्यत्र देवताओं में नहीं है, जगत्पति नारायण में भी नहीं है, स्वयं श्रीकृष्ण में भी व्रज के अतिरिक्त अन्य रूपों में नहीं है। जब अन्यत्र रास-विलास ही नहीं है तो, हृदय में वह रसोल्लास कहाँ से होगा? उल्लास के बिना वह सौन्दर्य-माधुर्य छटा की घटा कहाँ?—**मूलं नास्ति कुतो शाखा**। भगवान के एक होने पर भी, देश, काल, पात्र, प्रयोजन आदि भेद से लीला में भेद हो जाता है लीलाभेद से आकृति स्वभाव-स्वरूप में भेद और आकृति-भेद से सौन्दर्य-माधुर्य-चातुर्य आदि में भेद अपरिहार्य है—इसका विचार पूर्व श्लोकों में भी यत्र तत्र हो चुका है।

इसीलिए रसिक भक्त कवि नागरीदासजी कहते हैं कि परमेश्वर के नाम, रूप, गुण की शोभा वृद्धि तो व्रज से ही हुई है —

कब बैकुण्ठ माँहि गायन चराय आये, कौन रिझवार वहाँ बाँध्यौ प्रेम पाश ते।
कब बैकुण्ठ माँहि मोहिनी बजी है वेनु, प्यारिन के हेत रास रंग के विलास ते॥
कब बैकुण्ठ माँहि केलि कीनी इहाँ जैसी, कहूं कैसी कैसी जिय 'नागर' हुलास ते।
व्रज के सम्बन्ध रूप लीला सब जग गाई, पाई परमेश्वर हू शोभा व्रज वास ते॥
व्रज ही में मोरन के पुच्छ को मुकुट धारचो, व्रज ही में रासकेलि करन हुलास ते।
व्रज ही में जूरा दै बनायौ नटवर बेश, व्रज ही के लोगन कूँ बाँधे प्रेम पाश ते॥

ब्रज ही के फूलनि सिंगारे रहत द्यौसनिशि, ब्रज ही के 'नागर' कहावें गुनरासि ते।
ब्रज के सम्बन्ध रूप लीला सब जग गाई, पाई परमेश्वर हू शोभा ब्रज वास ते॥

सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि—इस वाक्य में देवता पद से तात्पर्य स्वर्ग के देवगणों से लेकर वैकुण्ठाधिपति भगवान नारायण पर्यन्त समझना चाहिये। नारायण स्वरूप में भी क्योंकि वह सौन्दर्य-माधुर्य नहीं है जो श्रीकृष्ण में है, वैसे दोनों रूप एक हैं, किन्तु एक ऐश्वर्यमय है तो दूसरा माधुर्यमय है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड में लिखा है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही वैकुण्ठ तथा गोलोक में परिपूर्णतम रूप से विराजमान हैं; किन्तु वैकुण्ठ में आप चतुर्भुज कमलाकान्त के रूप से दर्शन देते हैं और गोलोक एवं गोकुल में द्विभुज-राधाकान्त के रूप से स्वयं विद्यमान हैं, यथा :—

परि पूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम्। वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूप भेदाच्चतुर्भुजः॥
गोलोके गोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम्॥ (६-१३-१४)

अर्थात् श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य रूप श्रीमन्नारायण है तथा माधुर्य रूप स्वयं हैं। दोनों रूप तत्त्वतः एक होने पर भी रस को अभिव्यक्ति माधुर्य रूप में ही होने से द्विभुज श्रीकृष्ण रूप ही चित्ताकर्षक एवं श्रेष्ठ है—'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में श्रीरूप गोस्वामी का वचन है —

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्ण-रूपमेषा रसस्थितिः॥

इस श्रेष्ठ रूप के सम्बन्ध में पद्मपुराण के पाताल खण्ड में बारहवें अध्याय में एक कथा वर्णित है कि एक समय श्रीमहादेवजी ने श्रीमन्नारायण से प्रार्थना की कि—

तद्रूपं ते कृपा-सिन्धो परमानन्द-दायकम्।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्त्तिमत्सर्वतोधिकम्॥
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं तद् ब्रह्मेति विदुर्बुधाः।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुभ्यां परमेश्वरः॥ (५८-५९)

आपका जो परमानन्दमय, सर्वानन्द का आश्रय, सर्वश्रेष्ठ, मूर्त्तिमान, नित्य रूप है और जिसको पण्डितजन निर्गुण, निष्क्रिय, शान्त परब्रह्म भी कहते हैं, उस रूप के मैं इन नेत्रों से साक्षात् दर्शन करना चाहता हूँ। तब श्रीमन्नारायण भगवान ने श्रीमहादेवजी से कहा—तुम यदि वास्तव में उस परमानन्दमय रसमूर्त्ति का दर्शन करना चाहते हो तो वृन्दावन में प्रवेश प्राप्त

करो, इतना कहकर नारायण अन्तर्द्धान हो गये। महादेवजी वृन्दावन पहुँचे तो उनको श्रीराधाकृष्ण के दिव्य-रूप का दर्शन प्राप्त हुआ, तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्द-विग्रहम्॥
निरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
यदन्त्युपनिषत् सङ्घा इदमेव ममानघम्॥—(६६-६७)

हे महादेवजी! यह तो मेरा रूप आपने आज देखा है, यह अलौकिक है, यह घनीभूत विशुद्ध प्रेम है और यह सच्चिदानन्द विग्रह है। इसी मेरे विशुद्ध रूप को उपनिषद्-समूह अरूप, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय और परात्पर कहते हैं।

अतएव यह श्रीकृष्ण ही परात्पर देव हैं—परमाराध्य तत्त्व हैं। 'गोपाल तापनि उपनिषद्' में कहा है—"**कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत् तंय जेदिति**", अतएव विल्वमंगल का यह कथन सत्य ही है कि—**'सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि'**—यह शपथ केवल भावावेश का प्रलाप नहीं अपितु शास्त्र सम्मत सत्य है।

अन्तरङ्ग-लीला-परक अर्थ में—"**अहिम-कर-कर-निकर**" इत्यादि तीन श्लोकों में जिस माधुर्य-सिन्धु श्रीकृष्ण की हृदय में स्फूर्ति होने से श्रीराधिका उसमें निमज्जित हो रहीं थीं, उसके दर्शन की उत्कण्ठा पूर्व श्लोक की भाँति इस श्लोक में भी है। श्रीराधिका सखियों से शपथपूर्वक कह रहीं हैं कि यह सौंदर्य-माधुर्य अन्यत्र दुर्लभ है।

इसका एक दूसरा अर्थ भी है जिसका आशय यह है कि— श्रीकृष्ण का पुनर्दर्शन तथा उनके साथ पुनर्विलास अब सम्भव नहीं है" इस भावना से विकल होने पर भी सौभाग्य सूचक श्रीराधा के वाम नेत्र, उरु, भुजा आदि में स्पन्दन होने लगा, वे फड़कने लगे। इस पर वे दैव को उपालम्भ उलाहना दे रही हैं, कि—"हे देव! तुम मुझको यह क्या शुभ सकुन दिखा रहे हो? अरे देवताओ! तुम तो स्वयं भाग्य के मारे हो। क्योंकि श्रीकृष्ण के मुख-कमल के दर्शन, उनके अरुण-कटाक्ष, वह सुरतान्त उनकी सुखप्रद-लीला, वह मनोहारी मधुर हास्य, तुमको दुर्लभ है। फिर तुम उसको मुझे कैसे प्राप्त करा सकते हो? जब वह तुमको ही दुर्लभ है, स्वयं नारायण को

भी दुर्लभ है, फिर मेरे लिये वह कैसे सुलभ हो जायगा ? नहीं-नहीं ! मैं सत्य-सत्य कहती हूँ सखियो ! उसके दर्शन अब मुझे अति दुर्लभ हैं।" यहाँ नैराश्य-पूर्ण दैन्य संचारी भाव है।

तेईसवें श्लोक से इस श्लोक पर्यन्त कृष्ण-विरहिणी गोपियों को पुनः श्रीकृष्ण दर्शनोत्कण्ठा के भावावेश में विल्वमंगल के ये प्रलाप वचन हैं। बाह्य दशा के प्रथम प्रकार में पूर्व राग की अवस्था का वर्णन हुआ है। अब यहाँ से आगे के श्लोकों में द्वितीय भेद-स्फूर्त्ति का साक्षात्कार-भ्रम वर्णित है।

मूल श्लोक प्रहर्षिणी छन्दः

विश्वोपप्लव-शमनैक-बद्ध-दीक्षं,
विश्वास-स्तवकित-चेतसां जनानाम् ।
प्रश्यामं प्रति नव-कान्ति-कन्दलार्द्रं,
पश्यामः पथि पथि शैशवं मुरारेः ॥५६॥

पद्यार्थ— **जो जन दृढ़ विश्वास लिए हरि पर निर्भर हैं—**
उनके विघ्न-शमन को वे कटिकस तत्पर हैं ।
अनुक्षण नूतन कान्ति-कन्दला सरस श्याम घन—
उस मुरारि का शैशव विभव विलोकूँ वन-वन ॥

भावार्थ—(श्रीहरि के) विश्वास पर निश्चिन्त चित्तवाले भक्तजनों के समस्त विघ्नों को निरस्त करने में जो दीक्षा-ग्रहण किये हुए हैं और प्रतिक्षण नूतन कान्ति के प्रस्फुटन से जो तरल हो रहा है ऐसा श्रीश्यामसुन्दर का अतिशय श्याम शैशव-वैभव सर्वत्र ही प्रत्येक निकुञ्ज वन वीथिका में मैं देख रहा हूँ।

रसिका टीका—यहाँ पाँच श्लोकों द्वारा स्फूर्त्ति में साक्षात्कार के भ्रम का वर्णन है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विल्वमंगल सुदूर दक्षिण-प्रदेश से चलकर व्रज के समीप पहुँच रहे हैं। मथुरा मण्डल के समीप होने पर भाव प्रावल्य के कारण विल्वमंगल को सर्वत्र श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति होने लगी है, जिसमें उनको साक्षात्कार का भ्रम हो रहा है, विल्वमंगल की बाह्य दशा का यह दूसरा प्रकार है।

पूर्व श्लोक में "तत्कैशोरादिकं"—पदों के द्वारा श्रीकृष्ण की कैशोर-माधुरी को देवताओं में भी दुर्लभ बताया। पुनः उसी कैशोर-माधुरी की स्फूर्त्ति नेत्रों के सन्मुख होने पर विल्वमंगल कहने लगे—"**पश्यामः पथि पथि**

शैशवं मुरारेः" मुरारि श्रीकृष्ण के कैशोर अर्थात् किशोर वयपूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य, चापल्यादि का हम प्रत्येक पथ में दर्शन कर रहे हैं अथवा अनुभव कर रहे हैं।

वह मुरारि कैसा है—वह **'प्रश्यामं'** है अर्थात् उज्ज्वल श्याम वर्ण विशिष्ट है तथा **"प्रतिनवकान्ति कन्दलाद्र"**, प्रति क्षण नव नव कान्ति के उद्रेक से सदैव सरस और स्निग्ध है।

साधारण श्याम वर्ण में उज्ज्वल कान्ति नहीं होती, इसीलिये यहाँ पर श्रीकृष्ण के श्याम वर्ण की विशेषता प्रकट करने के लिये 'प्र' उपसर्ग तथा **"प्रतिनव कान्ति कन्दलाद्र"**—विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसी अर्थ को जहाँ तहाँ **"श्याम तेज" "नीलमहः" "कृष्णचन्द्र" "भास्वर ध्वान्तराशिः" "उज्ज्वल अन्धकार"** आदि वाक्यों के द्वारा सूचित किया गया है। यहाँ एक पद में इस श्याम अंग की उज्ज्वल लावण्य धारा का दर्शन करिये—

श्याम निकट बैठी सन्मुख श्यामाजू कंचनमणि आभूषण पहिरें।
यों प्रतिबिम्बित साँवल तन में, जनु स्नान करत बैठी जमुना में गहिरें॥
अंग अंग आभास तरंगित गौर श्याम शोभा की लहरें।
'सूरदास मदनमोहन' पिय हिय माहिं रहि, मोपै कहि न जाय, मेरी दृष्टि न ठहरें॥

इसका नाम है—प्रतिक्षण नवीन-नवीन कान्ति की तरंगमालाएँ। इस प्रकार मुरारि के अद्भुत उज्ज्वल वर्ण का वर्णन कर अब उसके स्वभाव का वर्णन करते हैं :—

"विश्वासस्तवकितचेतसां जनानां विश्वोपप्लव शमनैकबद्धदीक्षम्"

विश्वास के कारण प्रफुल्लित चित्तवाले भक्तजनों की समस्त आपत्ति-विपत्ति को शान्त करने के लिये मानो मुरारि ने दीक्षा ग्रहण कर रक्खी है अर्थात् दृढ़ विश्वास के साथ जो जन श्रीकृष्ण के ऊपर निर्भर रहते हैं, श्रीकृष्ण भी उनके समस्त विघ्नों का निवारण करने में कृत संकल्प हैं।

विश्वास के कारण भक्त का हृदय सदा सर्वावस्था में प्रफुल्लित रहता है, वह सुख-दुःख में समान भाव से रहता है। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देखिए :—

श्रीनिवास पण्डित के घर के आँगन में भगवान् गौरांगदेव भक्तमंडली के साथ संकीर्त्तन कर रहे हैं। इधर अन्तरगृह में श्रीनिवास के इकलौते पुत्र की मृत्यु हो जाती है, भक्त पंडित घर की स्त्रियों से कह देते हैं कि यदि तुमने विलाप किया और उससे प्रभु का संकीर्त्तन-रस भङ्ग हुआ तो मैं गङ्गा में

कूद कर डूब मरूँगा"। यह सुनकर सब स्तब्ध रह गये और संकीर्त्तन उसी प्रकार आनन्द से प्रसन्नतापूर्वक अर्द्धरात्रि तक चलता रहा। इसका नाम है दुःखावस्था में भी प्रफुल्लितचित्त रहना, ऐसे विश्वासी भक्तों की रक्षा करने के लिये ही प्रभु ने दीक्षा ले रक्खी है—श्रीनिवास पंडित का ही एक और दृष्टान्त देखिए—

महाप्रभु एक बार पण्डित श्रीनिवास से बोले—भैया! कुछ गृहस्थ के कार्य की भी देखभाल किया करो, सदा कथा-कीर्त्तन में लगे रहने से निर्वाह कैसे होगा?" भक्त पंडित एक, दो, तीन ताली बजा कर मौन हो गये, कुछ नहीं बोले, तब प्रभु ने कहा—"इन तालियों का क्या अर्थ है?" उत्तर मिला—"एक दिन, दो दिन, तीन दिन तक उपवास चलेगा, चौथे दिन कलश बाँध गंगाजी में कूद जाऊँगा"!! भक्त की दृढ़ता को देखकर भगवान् भी अपनी टेक पर आ गये और हुँकार करते हुए बोले—

प्रभु बोले कि बोलिला पण्डित श्रीवास। तोमार कि अन्न दुखे हबे उपवास॥
यदि कदाचित लक्ष्मी ओ भिक्षा करे। तथापि ओ दारिद्र नहिंरे तोरघरे॥
सुखे श्रीनिवास तुमि बसे थाको घरे। आपनि आसिबे सब तोमारि दुआरे॥

—चैतन्य भागवत

इसका नाम है भक्त का दृढ़ विश्वास तथा भगवान् का भक्त की रक्षा के लिये दृढ़ संकल्प।

जो भक्त अटल विश्वास के साथ अनन्यभाव से प्रभु का चिन्तन-स्मरण करता है, भगवान उसके योग-क्षेम का वहन करते हैं:—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—गीता ९-२२

भगवत-शरणागति के छः अंगों में भी यह कहा गया है कि—"प्रभु मेरी सर्व प्रकार से रक्षा करेंगे" यह दृढ़ विश्वास रहना चाहिये। यथा—

आनुकूलस्य संकल्पः, प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्वेवरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्यो षड्विधाः शरणागतिः॥

अतः प्रथम श्रद्धा और विश्वास हो तब प्रभु की कृपा प्राप्त होती है, पश्चात् समस्त आपद्-विपद् की शान्ति तथा अभय पद की प्राप्ति है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहि न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह बिश्राम ।।

—रामायण

अन्तरङ्गलीलापरक अर्थ में—पूर्व के श्लोक में, विरहिणी-गोपियों का श्रीकृष्ण को अन्वेषण करते समय का प्रलाप वर्णित है। अब पाँच श्लोकों में श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति में साक्षात्कार का भ्रम वर्णन किया जाता है। श्रीकृष्ण की अप्राप्ति पर अत्यन्त निराशा के कारण श्रीराधा के पुनः मूर्च्छित होने पर सखियाँ समझाती हुई बोलीं—"प्रिय सखी राधे! श्रीकृष्ण तो अति करुणामय हैं। उन्होंने कैसी-कैसी विपदाओं में बार-बार हमारी रक्षा की है, फिर वे हमको दुःख कैसे दे सकते हैं? वे तो हमारे रक्षक, सहायक और पालक हैं। वे अभी अवश्य ही कहीं कुञ्ज से अकस्मात् प्रकट हो जायेंगे और हमको दर्शन देकर सुखी करेंगे"। इस प्रकार के प्रबोध वचनों को श्रवण कर श्रीराधा सखियों के साथ श्रीकृष्ण की उन सब लीलाओं का कीर्त्तन करने लगीं, जिनके द्वारा उन्होंने व्रजवासियों के अनेक विघ्नों का निवारण किया था—

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषभयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।

—श्रीमद्भागवत १०-३१-३

विष जल ते व्याल ते अनल ते दामिनी झरते ।
एक बार नहिं सहस बार, तुम राखा करते ।।
अहो मित्र ओ प्राणनाथ यह अचरज भारी ।
अपने जन को मारि करो किन की रखवारी ।।

—नन्ददास

इस प्रकार विरहोन्माद की अवस्था में विलाप करती हुई श्रीराधा चारों ओर अवलोकन करने लगीं कि-कहीं श्रीकृष्ण आ तो नहीं रहे है? इसी समय श्रीकृष्ण के नहीं आते हुए भी उनको यह भ्रम हो गया कि—"श्रीकृष्ण आ रहे हैं, अतः इस स्फूर्त्ति को साक्षात्कार मान कर बोलीं"—"**पश्यामः पथि पथि शैशवं मुरारेः**" मुरारि श्रीकृष्ण के कैशोर-चापल्य के दर्शन हमें पथ-पथ में हो रहे हैं। "हमें" बहुवचन का प्रयोग इसलिये है कि श्रीराधा यह समझ रही हैं कि जैसे मुझको दर्शन हो रहे हैं, वैसे ही अन्य सखियों को भी हो रहे होंगे, अतएव-'**वयं पश्यामः**'।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः

मौलिश्चन्द्रक-भूषणो मरकत-स्तम्भाभिरामं वपु—
र्वक्त्रं चित्र-विमुग्ध-हास-मधुरं बाले विलोले दृशौ ।
वाचः शैशव-शीतला मद-गज-श्लाघ्या विलास-स्थिति—
र्मन्दंमन्दमये क एष मथुरावीथीं मिथो गाहते ॥५७॥

पद्यार्थ— **सिर पर मोरपिच्छ के भूषण मरकतमणि-सा वपु अभिराम ।**
चित्र विमुग्ध हास मधुरालय मुख चल बाल विलोकन वाम ॥
शैशव सुभग वचन, गजवर-गति-विजयशील सविलास गमन ।
मथुरा पथ पर मंथर-मंथर यह कौन आ रहा लिए स्वजन ॥

भावार्थ—मयूरपिच्छ से अलंकृत भाल, मरकत मणियों से निर्मित स्तम्भ के समान अभिराम देहयष्टि, विचित्र और आकर्षक मुस्कराहट से विभूषित मुखकमल, अतिशय चपल नयनारविन्द, बाल-माधुरी से अभिषिचित बातचीत और मदमस्त हाथी की भी प्रशंसनीय विलास लसित गमन-स्थिति ! अरी सखी ! ऐसा यह कौन मथुरा-मार्ग पर अपनी एकान्त प्रणयिनी के साथ चला जा रहा है ।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक की भाँति स्फूर्त्ति में साक्षात्कार का भ्रम होने पर विल्वमंगल कहने लगे—यह कौन मथुरा के मार्ग पर अकेला मन्द-मन्द गति से पद संचालन करता हुआ विचरण कर रहा है ।

श्रीकृष्ण अब कुछ समीप आये तो सर्व प्रथम हमारे चिर-परिचित मयूर महाराज का जगदीश के शीश पर दर्शन हुआ, तब विल्वमंगल बोले—"अहा ! इसके शीश पर मोर पंख की चन्द्र कला का भूषण है ।" श्रीकृष्ण जब और समीप दिखाई पड़े तो बोले—"अहा ! इसका शरीर तो मरकत मणि के स्तम्भ से भी अधिक देदीप्यमान है ।" जब अति समीप आगये तो बोले-"ओ-हो-हो ! इसका मुख तो तिलक पत्रांकुर की विचित्र रचना से अत्यन्त मनोहर तथा मन्द मन्द हास्य के कारण अत्यन्त मधुर हो रहा है । और अहा ! ये इसके नेत्र तो बालक के नेत्र जैसे कोमल हैं; परन्तु चञ्चल होने के कारण युवा के नेत्र-जैसे (विलोले) हैं । और यह कुछ-कुछ मृदु मन्द ध्वनि में बोल भी तो रहा है । ये इसके वचन हैं, अथवा किशोरता, सुकुमारता के शीतल फूल झड़ रहे हैं, और देखो न ! यह कैसे मन्द मन्द, लटके-लटके हस्तों को झुलाते-हिलाते, मदमाते से गज-गति को लजाते चल रहे हैं ।

मद गजराज की सी चाल ।
वर भुज दण्ड भुण्ड की शोभा हर लीनी नंदलाल ।।
घनन घनन घण्टिका रणित कटि सुन्दर सुखद सुताल ।
खनन खनन नूपुर शृङ्खल से बाजत लजत मराल ।।— गदाधरभट्ट

ओ हो ! अब निश्चय होगया कि ये तो श्रीकृष्ण ही हैं, जो वृन्दावन की वीथियों में से (मथुरा की ओर से) निकल कर मेरी ओर आ रहे हैं—

यह कुञ्जन के मारग से कौन आ रहा है, यह कर को झुलाते क्या करि आरहा है ।
यह मस्तक पर मोरन की चन्द्र-सी कला है, यह दमकता हरा तन हरी आरहा है ।।
यह मुख पर तिलक चित्र क्या ही रचा है, यह हँसता हुआ मन हरी आरहा है ।
यह खंजन सी अँखियाँ ज्यों उड़ उड़ के बोलें, यह बादल-सा बालक झड़ी लारहा है ।।
लो दो चार मुख से भी फूल झड़ रहे हैं, जले 'प्रेम' तन मन तरी लारहा है ।।

इस श्लोक में "मिथो गाहते" पद में "मिथो" शब्द का अर्थ दो टीकाकारों ने 'रहसि' (एकान्त, अकेला) किया है। परन्तु सुबोधिनी टीका में श्रीचैतन्यदासजी ने "**परिजनैः सहितं**" अर्थात् श्रीकृष्ण अकेले नहीं, परिकर सहित हैं, यह अर्थ किया है।

श्लोक में आये "**बाले**" शब्द को श्रीकृष्णदास कविराज ने बाह्यार्थ में विशेषण माना है तथा अन्तरङ्ग अर्थ में "सम्बोधन" माना है। यहाँ श्रीकृष्ण के विग्रह को मरकतमणि की उपमा दी गई है, यह ग्रन्थकार का अपना दर्शन का अनुभव है।

"**मरकत-स्तम्भाभिरामं वपुः**"—श्रीकृष्ण के श्रीअंग का स्वाभाविक वर्ण "मरकत-मणि तुल्य" नहीं है, उनके अंग की कान्ति "इन्द्र नीलमणि" तुल्य है। 'मरकत मणि' हरे रङ्ग के 'पन्ना' का नाम है। इसे हरितमणि भी कहते हैं, जैसे इन्द्र-नीलमणि को 'नीलम' कहते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण को जहाँ कहीं मरकत मणि तुल्य कहा गया है वहाँ उसके दो कारणों में से एक अवश्य ही होगा—(१) श्रीकृष्ण सुवर्ण अलङ्कारों से सुसज्जित हैं अथवा (२) गोपी-साहचर्य से वर्ण बदल गया है। सुवर्ण-अलङ्कार की पीतिमा (पीली कान्ति) से श्रीकृष्ण के विग्रह की नीलिमा न्यून होकर के हरित हो गई है। दूसरे गोपियों की अथवा श्रीराधा के अंग की गौर कान्ति का श्रीकृष्ण की नील कान्ति से मिश्रण होने पर श्रीकृष्ण की नील-कान्ति हरित वर्ण की हो गई है। वे नीले वर्ण से, श्याम रङ्ग से, हरे बन जाते हैं। जैसे महारास में दो-दो गोपियों के मध्य में आप मरकत मणि बन गये थे —

तत्रातिशुशुभेताभिर्भगवान् देवकीसुतः । मध्ये मणीनां हेमानां महामरकतो यथा ।।

—भागवत १०-३३-७

श्रीराधा की स्वर्णकान्ति से युक्त होने पर श्यामकान्ति हरित वर्ण हो जाती है—इस सम्बन्ध में अन्य भावुक कवियों की वाणी का आस्वादन भी करिये—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागर सोय ।
जा तन की झांई परै, श्याम हरित द्युति होय ।।—बिहारी
जा में रस सोई हरो, यह जानत सब कोइ ।
गौर श्याम दोउ रंग बिन, हरो रंग नहिं होइ ।।

× × × ×

राधाभासो मरकतमयीं कुर्वते कृष्णकान्तिम् ।
कृष्णस्याऽऽभा अपि च हरितं कुर्वते धाम तस्याः।।

स्थाने स्थाने यदि निवसतस्तौ पृथक् गौरनीला-
वेकस्थाने यदि बत तदा तुल्यभासौ विभातः ।। –अलंकार कौस्तुभ

श्रीराधा के अङ्ग की कान्ति श्रीकृष्ण की कान्ति को मरकतमयी (हरित) कर देती है। और श्रीकृष्ण की कान्ति भी श्रीराधा की कान्ति को हरित कर देती है। यदि ये दोनों पृथक्-पृथक् हों तब तो इनकी कान्ति गौर तथा नील (श्याम) है, परन्तु जब ये दोनों एकत्र हो जाते हैं तो दोनों समान कान्ति से विशेष शोभा को प्राप्त होते हैं, अर्थात् दोनों "हरे" हो जाते हैं, मन तो हरा है ही-तन भी हरा हो जाता है। अतएव दोनों ही हरि हैं तन से, मन से तथा गुण से।

इस श्याम-पीत-मिश्रित हरित वर्ण के प्रसङ्ग में एक कवि के भावों में श्रीराधा-कृष्ण का पारस्परिक मनोविनोद भी सुनने योग्य है, जो प्रेमी रसिकजनों का उल्लास वर्धक है श्यामतमाल पर विद्युल्लता की भाँति सुशोभित श्रीराधा श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग के साथ एकीभूत होने में वर्णनातीत रसास्वादन का अनुभव करती है, पर एक दिन शयन-सेज पर जब श्रीकृष्ण ने राधाजी को अपनी ओर आकर्षित करना चाहा तो परिहास प्रिया श्रीराधा ने कह दिया—प्रियतम ! तुम्हारा वर्ण श्याम है, तुम्हारे साथ सोने में मैं भी सांवली हो जाऊँगी। इतना कहते ही चतुर चक्र-चूड़ामणि, वाक्पटु, श्रीकृष्ण ने कहा—प्रिये ! सोने का रङ्ग ही कसौटी पर चढ़ता है, कभी भी कसौटी का रङ्ग सोने पर नहीं चढ़ता, श्यामरंग की कसौटी पर स्वर्णलता राधा का ही रङ्ग चढ़ेगा–श्याम का नहीं—

एक दिना श्रीराधामोहन, पौढ़े हुते दोऊ एक ही भौने।
श्याम कही आवौ मेरी ओरे, राधा कही यह बात न हौंने॥
सांवरी होऊंगी सांवरे संग ते, बावरी ! बात बताई है कौने।
सोने को रंग कसौटी चढ़ै, पै कसौटी को रंग चढ़ै नहिं सौने॥

इस श्लोक में भी इन्हीं कारणों से श्रीकृष्ण को **'मरकतमणि-स्तम्भाभिराम'** कहा गया है।

श्लोकान्तर्गत "मथुरा वीथीं" को विभक्त करके टीकाकार श्रीकृष्ण-दास कविराज गोस्वामी ने "मथुरा" पद को "कः एष" का विशेषण करके **'पश्यतां मनो मथ्नातीति मथुरा"** दर्शन करने वालों के मन को मन्थन करने के कारण मथुरा'—ऐसा अर्थ किया है अतः श्रीकृष्ण स्वयं ही मथुरा हैं-अर्थात् दर्शनकारियों के मन को हरण करने वाले हैं।

गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद् में मथुरा पद का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'जिस ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा समस्त जगत् मथित होता है अर्थात् जगत् का हरण हो जाता है, उस ब्रह्म-ज्ञान की सार वस्तु अर्थात् श्रीकृष्ण का जहाँ नित्य निवास है वह है मथुरा'—

मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्म ज्ञानेन येन वा।
तत्सारभूतं यद्यस्या मथुरा सा निगद्यते॥

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—स्फूर्ति में साक्षात्कार का भ्रम होने के कारण श्रीराधा को ऐसा प्रतीत होने लगा है कि कुञ्ज के पथ से श्रीकृष्ण मन्द मन्द गति से आगमन कर रहे हैं, परन्तु उनके प्रत्येक पद में नवीनतम माधुरी की स्फूर्ति होरही है, अदृष्टपूर्व झाँकी को देखकर श्रीराधा सखियों से जिज्ञासा करती हैं कि यह पुरुष कौन है ? जो कुञ्ज की वीथी में मन्द-मन्द मनोहर-गजगति-विलास-भंगी-पूर्वक गमन कर रहा है"।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः

पादौ वादविनिर्जिताम्बुज-वनौ पद्मालयालम्बितौ—
पाणी वेणुविनोदनप्रणयिनौ पर्याप्तशिल्पश्रियौ।
बाहू दोहद-भाजनं मृग-दृशां, माधुर्यधारांकिरौ,
वक्त्रं वाग्विषयातिलङ्घनमहो बालं किमेतन्महः॥५८॥

पद्यार्थ— **अम्बुज विजयी चरण-युगल में है पद्मा का सदा निवास।**
कला-ललित कर पल्लव में है करता वेणु-विनोद विलास॥

किशोरियों की कल्पलता हैं भुजा युगल माधुर्य अथाह।
मुख-मयङ्क वाणी का अविषय कैसा अद्‌भुत ज्योति प्रवाह॥

भावार्थ—इन श्रीचरणों ने सौन्दर्य, सौकुमार्य, शैत्यादि की प्रतियोगिता में पंकज वनों को परास्त कर दिया है—तभी तो कमला ने कमलों का आश्रय त्याग कर इन चरणों का सहारा लिया है, ये कर-पल्लव वेणु वादन के व्यसनी और अद्भुत कला-वैभव से अलंकृत हैं, मृग-नयनियों की मनोकामना को सफल करनेवाली ये भुजाएँ माधुर्य-धारा की वर्षा करने वाली हैं और यह मुख-मयंक तो इतना अद्‌भुत है कि इसका सौन्दर्य तो शब्दों में बाँधा ही नहीं जा सकता—आहा यह बाल-ज्योति-प्रवाह कैसा अनौखा है।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक की भाँति यहाँ भी स्फूर्त्ति में साक्षात्कार का भ्रम है। श्रीकृष्ण को आगमन करते हुए अवलोकन कर उनके अतिशय ज्योतिर्मय माधुर्य से चमत्कृत होकर पहले न देखे हुए की भाँति विल्वमंगल बोले—"अहो! यह कैसी अद्‌भुत ज्योति है? यह क्या विशुद्धसत्त्वमय भगवज्ज्योति है, अथवा ब्रह्मज्योति है? नहीं-नहीं, यह तो 'बालं' 'किशोराकृति'—ज्योति है, निरवयव नहीं, सावयव ज्योति है! अहो! इसके चरण युगल ने तो कमल के वन को वाद-विवाद में परास्त कर दिया है, इसीलिये प्रतीत होता है कि कमला ने भी कमल-वन त्याग कर इसके चरण-कमलों का ही एक-मात्र आश्रय ले लिया है, इसके हस्त युगल की वंशी-वादन में अतिशय प्रीति है, अतएव यह कल-हंसी सदैव इसके कर-कमलों में विहार करती रहती है, ये हस्तयुगल भी, मानो शोभा की सीमा हैं, शिल्प की भी सीमा हैं, समस्त कला-कलाप में परम कुशल हैं और ये भुजाएँ तो कल्पतरु की दो शाखाएँ हैं, गोपियों के प्रेम की परम कृपा-पात्र हैं, उनके सर्व-मनोरथों की आधार हैं। इनमें से कैसी माधुर्य-धारा निर्झरित हो रही है?

जब शरद काल के सरवर में, युग कमल नाल की शोभा है।
या पारिजात की दो शाखें, शृङ्गार-दान की गोभा है।
खिल रहीं चम्पक दल कलियाँ जिन देखी जानें जोभा है।
भुज लाल विहारी की 'शीतल' लख चंचरीक मन लोभा है।

श्रीकृष्ण के समस्त अङ्गों से ऊपर मुखकमल की शोभा तो वाणी के विषय से अतीत है। अन्य अङ्गों का तो यथा कथञ्चन वर्णन सम्भव भी है, परन्तु इस मुख का माधुर्य तो सर्वथा वाणी के अगोचर ही है। ऐसा है यह ज्योतिर्मय बालक, किशोराकृति श्रीकृष्ण! वह त्रिभङ्ग ललित, मनमोहन,

प्रियतम श्रीकृष्ण जब एक बार हृदय कन्दरा में प्रवेश कर जाता है तो निकालना कठिन होता है, क्योंकि कोई भी बांकी वस्तु एक बार अटकने पर निकलती नहीं है, फिर इस किशोराकृति के तो सभी अङ्ग टेढ़े (बाँके) हैं, अङ्ग ही नहीं समस्त आभूषण भी तिरछे हैं कैसे निकल सकता है ? एक कवि के शब्दों में उसकी तिरछी झाँकी देखिये—

तिरछा है किरीट कसे उर में, तिरछा बनमाल पड़ा रहता है।
तिरछी कटि काछनी है जिसमें, सुख-सिंधु सदा उमड़ा रहता है॥
तिरछे पद कंज कदम्ब तरे, तिरछे दृग तान खड़ा रहता है।
किस भाँति निकाले कहो दिल से, तिरछा घनश्याम अड़ा रहता है॥

फिर उस अनन्त सौन्दर्य सागर में गोते लगाने पर जो एक असीम सुख प्राप्त होता है, उसे छोड़कर भला कोई अन्यत्र क्यों भटकेगा, कामधेनु को छोड़कर कौन बुद्धिमान बकरी दोहना चाहेगा, सूरदासजी ने एक बार उस रससिन्धु में गोता लगा कर कह दिया—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥
कमल-नयन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करीलफल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ—में श्रीराधाजी का यह प्रलाप वचन सखियों के प्रति है। अन्य अर्थ पूर्ववत् ही है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः

एतन्नाम विभूषणं बहुमतं वेषाय शेषैरलं—
वक्त्रं द्वि-त्रि-विशेष-कान्ति-लहरी-विन्यास-धन्याधरम्।
शिल्पैरल्पधियामगम्य-विभवैः शृङ्गार-भङ्गी-मयं-
चित्रं चित्रमहो विचित्रमहहो चित्रं विचित्रं महः॥५९॥

पद्यार्थ— **जब स्वयं हुआ मुख आभूषण, तब शेष विभूषण व्यर्थ बने।**
दो तीन कान्ति-रेखा से सज्जित धन्य अधर माधुर्य-सने॥
अल्पज्ञों के अनबूझ - विभवयुत शिल्पों से रति रंगायित।
कैसा यह चित्र-विचित्र तेज पर होता तेज तरंगायित॥

भावार्थ—जब (श्रीकृष्ण का) मुखारविन्द ही सौन्दर्य सम्पादन में विशेष अलंकार-स्वरूप है, तब अन्य अलंकार उसके लिए व्यर्थ ही हैं। उनके अधर दो-तीन (अरुण,-श्वेत-श्याम-वर्णवाली) कान्ति-लहरियों के विन्यास से धन्य-धन्य हो रहे हैं। अल्प बुद्धि वाले साधारण देव जिसके वैभव को समझने में नितान्त असमर्थ हैं शिल्प की शृंगार भंगिमाओं से अलंकृत यह श्याम ज्योतिः प्रवाह चित्र-विचित्र परम विचित्र और चरम विचित्र है।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग-माधुर्य का वर्णन कर विल्वमंगल की वाणी उपराम को प्राप्त हो गई। तथापि प्रति पद में उस श्रीमुख के अधिकाधिक नव-नव सौन्दर्य का अनुभव कर वाणी पुनः अपना साहस सँभाल कर वर्णन करने को जो अग्रसर हुई तो पुनः अवरुद्ध हो गई और केवल चित्र है ! अहो चित्र है ! विचित्र है ! अहो विचित्र है ! चित्र भी है और विचित्र भी—ऐसा यह एक तेज है, कह कर शान्त हो गई।

यह है श्रीकृष्ण के मुख का वर्णन—**चित्रं चित्रं चित्रं अथवा मधुरं मधुरं मधुरं !!!**

"चित्रं चित्रमहो"—अहो यह तेज चित्र है। "**विचित्रमहते**"—अहो चित्र ही नहीं, विचित्र भी है, अर्थात् विविध प्रकार की शिल्प चातुरी से युक्त है, "**चित्रं विचित्रं महः**" तथा चित्र में विचित्र और विचित्र में चित्र तेज है। कैसे है ? इसका वर्णन सुनिये—

यह तेज चित्रं है, अर्थात् परमाश्चर्यजनक है, क्योंकि १) साकार होने के प्रथम चित्र (आश्चर्य) तो मुख है तथा (२) सगुण होने से दूसरा चित्र विविध वर्ण है। प्रथम चित्र मुख-कमल है, यह समस्त आश्चर्य का आश्चर्य है क्योंकि यह मुखचन्द्र पर विभूषण स्वरूप है। यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग स्वभावतः भूषण स्वरूप हैं, तथापि यह मुखचन्द्र विशेष भूषण स्वरूप है। इसके भूषण के लिये तिलकादि शृंगार रचना-विशेष का प्रयोजन ही क्या ? अथवा कुण्डलादि हेम-मणिमय अलंकारों का ही क्या प्रयोजन ? क्योंकि यह मुख ही वेश-भूषा के लिये अलम् 'पर्याप्त' है। बिना भूषण के ही महाभूषण स्वरूप है। ऐसा वेषरचना में चतुर रस मर्मज्ञ जनों का निश्चित अभिमत है, अतः यह (बहुमतम्) है।

इन्दीवरोदरसहोदरमेदुरश्रीर्वासोद्रवत्कनकवृन्दनिभं दधानः।
आमुक्तमौक्तिकमनोहरहारवक्षाःकोऽयं युवाजगदनङ्गमपंकरोति ।।

—पद्यावली

रस शास्त्र में रूप की परिभाषा यह की गयी है कि जो भूषण को भूषित कर दे, गहने को भी गहना बना दे वह रूप है, **विभूषणं विभूष्यं स्याद्येन तद् रूपमुच्यते**"—भ.र.सि.द.वि. १–१३४। श्रीकृष्ण का रूप भी ऐसा ही है। और भी कहा—"**भूषणं भूषणाङ्गम्**"—भागवत।

कृष्णस्यमण्डनतिर्मणिकुण्डलाद्या नीताऽङ्गसंगतिमलंकृतये वराङ्गि !
शक्ता बभूव न मनागपि तद्विधाने, सा प्रत्युत स्वय मनल्पमलंकृताऽऽसीत् ॥

—भक्ति रसामृत सिन्धु

यह प्रथम चित्रता (आश्चर्य) है, यह चित्र (मुख) विचित्र अधर के द्वारा सुशोभित है, अधर ऐसे हैं जो स्मित के शुक्ल वर्ण, अधर के अरुण वर्ण तथा कपोलों के नील वर्ण—ऐसे दो-तीन प्रकार की लावण्य छटा की घटा से रमणीय (धन्य) हो रहे हैं। द्वितीय चित्रता यह है कि इस विचित्र अधर से वदन भी विभूषित हो रहा है। अतएव–"**चित्रं चित्रमहो**"।

तीसरा—"**विचित्रमहह**" कहकर विचित्रता का वर्णन किया है। इसके पश्चात् यह दिखाते हैं कि वह—'शिल्पैरल्प ... भङ्गीमयम्' है अर्थात्—श्रीकृष्ण के ज्योतिर्मय इस विग्रह में जो शिल्प वैभव के द्वारा शृङ्गार भंगिमा है, वह अल्प-बुद्धि वाले पुरुषों की समझ में तो आ ही नहीं सकती, वहाँ तो ब्रह्मादिक–पर्यन्त की भी बुद्धि के अगम्य है।

शिल्प वैभव की व्याख्या इस प्रकार है—अरुण अधर-कमल के ऊपर शुक नासा, उसके ऊपर दो नयन-कमल, उनके ऊपर चारों ओर नील-कमल दल समान ललाट, पार्श्व में गण्डस्थल, कपोल युगल, चिबुक दल, तथा उनके मध्य में दाड़िम बीज के सदृश उज्ज्वल दन्तावली—इसका नाम है– शिल्प-वैभव, अर्थात् रचना-कौशल। इस कौशल के द्वारा जो शृङ्गार भङ्गी, अर्थात् वेश-भूषा की परिपाटी बनी है, वह यहाँ प्रचुर मात्रा में है, अर्थात् श्रीकृष्ण में विचित्र अंग सौन्दर्य तथा विचित्र शृङ्गार है।

अथवा शृङ्गार भङ्गि का अर्थ शृङ्गार रस पूर्ण अपाङ्ग दृष्टि, कुटिल भ्रू-विलास, मृदु हास्य, नर्म परिहास वाक्य, वेणु ध्वनि, नृत्य–गति, संगीत प्रभृति हैं, उनसे संयुक्त श्रीकृष्ण का जो शिल्प वैभव (माधुर्य, ऐश्वर्य, महिमा-प्रभृति) है, वह अल्प बुद्धि वाले ब्रह्मादि-पर्यन्त को भी अगोचर है। ब्रह्मा-जैसे विश्व-शिल्पी के वैभव से अतीत श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य, महिमाशाली है। स्वयं ब्रह्मा तो कह रहे हैं कि "हे पशुपांगज ! हे नन्दगोप-कुमार ! तुमको जानने का जो गर्व करते हों, वे भले ही करें, मैं अधिक क्या कहूँ, मेरे लिये तो तुम्हारा वैभव मन-वाणी-देह से अगोचर ही है—

जानन्त एव जानन्तु किम्बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुसो वाचो वैभवं तव गोचरः॥

—भागवत १०-१४-३८

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण ज्योतिर्मय होने पर भी विग्रहवान् हैं, अतएव चित्र हैं, अपूर्व आश्चर्य मय हैं तथा विविध वर्ण तथा शृङ्गार युक्त हैं, अतएव विचित्र है, विशेषरूप से चित्रित हैं–माधुर्य मंडित हैं। तथा युगपत चित्र-विचित्र हैं अतः **"चित्रं विचित्रं महः"** हैं।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—यहाँ श्रीराधाजी को स्फूर्त्ति होने पर उक्त-वाक्य-प्रलाप पूर्ण उक्ति के हैं। शेष अर्थ समान ही है। श्रीराधा को पूर्व दर्शन की स्फूर्त्ति हो रही है, इस स्फूर्त्ति में मानो वे साक्षात् दर्शन कर रही हैं, उन्होंने एक अलौकिक दिव्य शरीरधारी ज्योति का नेत्र भर कर अवलोकन किया है, तभी तो वे अपनी प्रिय सखी ललिता से कहती हैं—सखी ललिते! देखो तो यह कौन मेरे चित्त को खींच रहा है, इसके श्रीविग्रह की कान्ति दिव्य नील-कमल के मध्य भाग के सदृश स्निग्ध है, और द्रवित सुवर्ण सदृश कान्तिवाला पीतवस्त्र धारण किये है, जिसका विशाल वक्षस्थल मनोहर मुक्ता हारों से जड़ा हुआ है—ऐसा यह कौन युवक है? जो अपनी लोकोत्तर शोभा से सम्पूर्ण जगत् को अनङ्गमय बना रहा है।

लीलाशुक पुनः केवल स्फूर्त्ति में साक्षात्कार का अनुभव कर कहने लगे हैं—

मूल श्लोक प्रहर्षिणी छन्दः

अग्रे समग्रयति कामपि केलि-लक्ष्मी–
मन्यासु दिक्ष्वपि विलोचनमेव साक्षि।
हा हन्त! हस्त-पथ-दूरमहो किमेत–
दाशा-किशोरमयमम्ब जगत्त्रयं मे॥६०॥

पद्यार्थ— **भाव-किशोर-मयी जगती है—केलि विभव उसकी छाया।**
आगे-पीछे—सभी ओर उसने नयनों को उलझाया॥
अहो! किन्तु वह इन हाथों से सदा दूर ही दूर रहा।
हाय अम्ब, यह कैसा अचरज! क्या रहस्य, समझा न अहा॥

भावार्थ—ये तीनों लोक मुझे भावनामय किशोर से व्याप्त दिखाई दे रहे हैं। उसका विलास-वैभव समग्ररूप में मेरे सामने प्रस्तुत है–सामने ही क्यों? अन्य दिशाओं में भी ऐसा ही है—इस बात की साक्षी मेरी आँखें हैं। हाय! हाय!! किन्तु वह

किशोर-वैभव मेरी हाथ की पहुँच के बाहर ही रहता है—मैं उसे स्पर्श नहीं कर पा रहा हूँ, पकड़ नहीं पा रहा हूँ। हाय मैया! यह क्या रहस्य है?

रसिका टीका—इस श्लोक में भी स्फूर्त्ति द्वारा साक्षात्कार का वर्णन हुआ है, श्रीकृष्ण को अपने सन्मुख उपस्थित देख कर विल्वमंगल प्रसन्नता-पूर्वक कहते हैं कि—"अहा! मेरे सन्मुख श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय केलि-शोभा का प्रकाश कर रहे हैं, अर्थात् अपूर्व सौन्दर्य-माधुर्य-विलास सहित प्रकाशित हो रहे हैं। अहो! सन्मुख ही क्यों, यह तो इधर भी हैं और उधर भी हैं, अरे यह तो सब ओर दिखाई दे रहे हैं। परन्तु एक श्रीकृष्ण सर्वत्र कैसे हो सकते हैं? नहीं-नहीं मेरे नेत्र धोखा खा रहे हैं, पर एक और अनेक के ये नेत्र ही तो साक्षी हैं। परन्तु उस दर्शन की पुष्टि मैं स्पर्श से कर लेता हूँ! प्रत्यक्ष में सन्देह कैसा? पर हाय! हाय! यह क्या हुआ? मैं ज्यों-ज्यों हाथ बढ़ाता हूँ त्यों-त्यों ये एक हाथ दूर ही दूर रहते जाते हैं, मेरे हाथ तो आते नहीं हैं, और सामने से जाते भी नहीं हैं। अहो अम्ब! यह क्या लीला है? सत्य है या भ्रम है? मैं जिधर देखता हूँ उधर ही मुझे श्रीकृष्ण दिखाई देते हैं! यह त्रिभुवन के पति मेरी आशा-अभिलाषा की प्रति मूर्त्ति, मेरे प्राणों के देवता किशोर-कृष्ण के रूप में परिणत हो गये हैं—किशोर श्याममय हो गया है।"

यहाँ "अम्ब" पद विषाद का सम्बोधन माना है, तथा आकाश की ओर देख कर कहा गया है, ऐसा दो टीकाकारों ने कहा है, परन्तु 'श्रीकृष्ण-बल्लभा' टीका में 'अम्ब' को भगवती कृपा का सम्बोधन माना गया है। श्रीकृष्ण का मुझे साक्षात् दर्शन हो रहा है ऐसा मानकर विल्वमङ्गल आनंद पूर्वक कह रहे हैं कि हे माता! आप श्रीकृष्ण के प्रेम-रस में निमग्न जनों का लालन-पालन करने वाली श्रीकृष्ण की कृपा शक्ति हो! आपकी ही प्रसन्नता से मुझे त्रिभुवन में आशामय किशोर के दर्शन हो रहे हैं।

तर्हि कथं खिद्यसे? तो फिर दुःखी क्यों हो रहे हो, दर्शन होने पर तो प्रसन्न होना चाहिये?

"हा हन्त! हस्त-पथ-दूरमहो किमेतत्"—**"नो जानामि"**—श्री० गो० भट्ट दुःखी इसीलिये हूँ कि मैं अपने हाथों से जिसे स्पर्श करना चाहता हूँ, वह मुझसे एक हाथ दूर ही रहना चाहता है, यह कैसा आश्चर्य है, मैं इसे विचार द्वारा निश्चय ही नहीं कर पा रहा?

सच बात तो यह है कि तुम से नाता जोड़ना ही दुखःदायी होगया, मैं तुम्हारे नामों को न पुकारता और नहीं तुम्हारी कथाओं को सुनता, न तुम से प्रेम करता, न तुम्हारा दर्शन ही करता—तो आज मेरी ये दशा नहीं होती, किसी भावुक ने ठीक ही कहा है—

जिसने हरिनाम से नेह किया, वह नाता स्वधाम से तोड़ता है।
'हरेकृष्ण' कथा की प्रथा में पड़ा, व्यथा पीड़ित चित्त मरोड़ता है ॥
किया कीर्त्तन प्रेम में पागल हो, फिरता सबसे कर जोड़ता है।
फिर भी कहूं क्या मन मेरा सखे !, मनमोहन मोह न छोड़ता है ॥

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में—यह श्रीराधाजी की उक्ति है। वे श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति में साक्षात् दर्शन जैसा आनन्द प्राप्त कर अपने को परम-भाग्यवती मानती हैं। वे समझ रही हैं कि दर्शन सचमुच हो रहे हैं, इसका निर्णय करने के लिये वे चारों ओर दृष्टि डालती हैं तो वहीं श्रीकृष्ण शोभा की स्फूर्त्ति हो आती है, सर्वत्र श्रीकृष्ण के दर्शन होने पर सन्मुख के दर्शन को सत्य मानकर श्रीकृष्ण को स्पर्श करने के लिये वे अपनी भुजाओं को बढ़ाती हुई दौड़ती हैं, परन्तु वह मूर्त्ति हाथ नहीं आती, मूर्त्ति आगे दौड़ती हुई एक हस्त के अन्तर पर ही सदा रहती है। अन्त में सन्देह होने पर विस्मित होकर आकाश की ओर दृष्टि उठाकर परम दीन-दुःखी होकर कहती हैं—"हाय ! मुझे तो यह त्रिजगत किशोरकृष्णमय प्रतीत हो रहा है" !

यहाँ तक—पाँच श्लोक स्फूर्त्ति में साक्षात्कार के भ्रामक हैं। यह रास में अन्तर्हित श्रीकृष्ण की अन्वेषणकारिणी गोपियों का भ्रम है।

विल्वमंगल श्रीकृष्ण विरह में गोपी-भाव-विभावित होकर इस भाव के प्रलाप-वचनों को बोलते चले जा रहे हैं। अब आगे ६१ वें श्लोक से ६७ वें श्लोक पर्यन्त पुनः दर्शनोत्कण्ठा के प्रलाप से परिपूर्ण श्लोक हैं।

मूल श्लोक तोटक छन्दः—

चिकुरं वहलं बिरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम् ।
अधरं मधुरं वदनं मधुरं चपलं चरितं च कदानु विभोः ॥६१॥

पद्यार्थ—**उस विभुका केश कलाप वहल, उस पर आकर्षित भृङ्ग विरल।**
उसके मधुवर्षी वचन तरल, लोचन विशाल अतिशय चंचल ॥
वह अधर मधुर, वह रम्य वदन, वे चपल केलि माधुर्य सदन।
अब हाय ! बतादो मुर-मर्दन ! इन सबका कब होगा दर्शन ॥

भावार्थ—वह सघन केश-कलाप, उस पर मँडराते हुए वे विरल भ्रमर, वे

मीठी-मीठी बातें, वे बड़ी-बड़ी आँखें, वे प्यारे-प्यारे होठ, वह माधुर्यपूर्ण मुखारविन्द और वे चपलता से भरी हुई बाल-क्रीड़ाएँ—इन सबके रसास्वादन का सौभाग्य अब फिर कब मिलेगा ?

रसिका टीका—स्फूर्त्ति में प्राप्त श्रीकृष्ण की मूर्त्ति जब हस्तगत नहीं होती है, तब विल्वमंगल उस श्यामल किशोर मूर्त्ति—श्रीकृष्ण की सेवा के लिये अतिशय तृष्णाकुल होकर कहने लगते हैं—

"हे प्राणनाथ ! हे किशोर श्याम ! यदि मुझसे दूर ही दूर रहोगे तो मैं आपकी सेवा के बिना अपनी चिर संचित अभिलाषाओं की पूर्त्ति कैसे कर सकूँगा" ?

"तुम तो विभु हो, सौन्दर्य-माधुर्य के निधि हो, तथा सर्व दुःख हरण करने में समर्थ हो। तुम-जैसे विभु की सेवा-लालसा के लिये मेरा चित्त व्यथित-मथित हो रहा है, मुझे कब सेवा का अवसर प्राप्त होगा और कब मेरा दुःख दूर होगा, होगा न ?—"**कदानु**" ?

"**चिकुरं बहलं**"—**कदा चूडात्वेन बध्नामीति शेषः**। कब मैं अपने प्रभु के काले घुँघराले स्निग्ध मेघ कान्ति युक्त केशों को समेट कर उनका जूड़ा बना कर, मयूर-पिच्छ तथा सुमन गुच्छ से उन्हें अलंकृत करूँगा ? करूँगा न ?

"**विरलं भ्रमरं**"—**कदानु समुत्सारयामीति शेषः**। सौन्दर्यसुधानिधि विभु के मुखपद्म की सुगन्ध के लोभी तथा केशस्थित कुसुम-गन्ध के लोभी, मुख पर आकर पड़ने वाले (**विरलीभूय वर्त्तमानं**) भ्रमरकुल को मैं कब निवारण करूँगा ! अथवा अन्य भ्रमर ही क्यों, ललाट पर जो चूर्ण-कुन्तल की विरल-विरल पृथक्-पृथक् लटें अलि के रूप में वर्त्तमान हैं उनको मैं अपने हाथों से कब सम्हालूँगा ? सम्हालूँगा न ?

"**मृदुलं वचनं**"—**कदानु श्रोष्यामिति शेषः**"ये भ्रमर तो बड़े नटखट हैं ! मेरे मुख को घेरे ही रहते हैं, ये कमल पर क्यों नहीं जाते ?"— भ्रमरों को मुख पर से उड़ाते हुए श्रीकृष्ण के इस प्रकार मधुमिश्रित वचनों को मैं कब इन कर्णों से सुनूँगा ? सुनूँगा न ?

"**विपुलं नयनम्**"—**कदानुद्रक्ष्यामीति शेषः**, केवल वचन-श्रवण ही नहीं करूँगा, आनन्द-रस से परिपूर्ण-रस-सरोवर की तरंगमालाओं से तरङ्गायित लीलायित विशाल लोचन युगल के भी कब दर्शन करूँगा ? अहा ! विभु के नयन भी तो विभु ही होंगे।

"**वदनं मधुरं**" **कदानुअवलोकयिष्यामि**—मधुरस वर्षी अधर पर धरी वंशी की वादन ध्वनि करते हुए श्रीकृष्ण कब अवलोकन करूँगा ?

"**वदनं मधुरं**" **कदानुद्रक्ष्यामि**—अथवा तो उस समग्र माधुर्यमय मुख-चन्द्र के दर्शन कब होंगे ? एक वह वदन ही तो नयनमाधुरी-अधर-माधुरी, अलक-माधुरी, वचन-माधुरी, समस्तमाधुरी का अनन्त आगार है। मुझे विभु के उस माधुर्य-आगार मुखारविन्द के दर्शन का सौभाग्य कब मिलेगा ?

"**चपलं चरितं**" **कदानुअनुभविष्यामि**—और उस विभु के चपल चरित का अनन्त, अपार, मधुररसमार का—यत्किंचित् अनुभव कब कर सकूँगा ? सकूँगा न ? मेरे भाग्य में, मेरे ललाट फलक में यह लेख है न ?

इस श्लोक में एक भी क्रिया पद नहीं है, अतएव यथायोग्य क्रिया पद का अध्याहार कर लिया गया है, क्रिया पद के छूटने के दो कारण हैं—(१) विल्वमंगल की असमर्थता से तथा (२) क्रियापद की ही असमर्थता से। विल्वमंगल तो भावावेश में तल्लीन हैं, अतएव "चिकुरं" कह कर "कब सम्हालूँगा" कहना भूल गये, और सम्हालने में तल्लीन हो गये, "वचनं" कह कर "कब सुनूँगा" कहना भूल कर सुनने में कर्णों को लगा दिया, ऐसी ही दशा सर्वत्र विद्यमान है, अतः क्रियापद कहने में असमर्थ हो गये। अथवा क्रियापद स्वयं ही विल्वमंगल की सेवा सम्बन्धी मनोरथों के प्रवाह को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गया। एक 'चिकुर' को ही लीजिये ! इसके अनेक मनोरथ सम्भव हैं। सहलाना, नहलाना, पोंछना. धूप देकर सुखाना, इत्र-फुलेल लगाना, कंघी करना, आदि अनेक क्रियायें हैं। अब इन समस्त भावों को कौन-सा एक क्रियापद व्यक्त कर सकता है ? कोई भी नहीं, अतः विल्वमंगल भी चुप हैं, क्रिया पद न कहकर मानसी क्रिया करने में ही लीन हो जाते हैं !! यही तो प्रेमी का भजन है और यही भोजन है !!

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—श्रीकृष्ण का स्पर्श पाने के लिये अपनी भुजाओं को बारम्बार फैलाने पर भी जब वे हस्तगत नहीं होते तब श्रीराधिका मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं, तब सखियाँ उन्हें यथोचित उपायों के द्वारा सान्त्वना प्रदान करती हुई कहती हैं-राधिके ! पूर्व काल में श्रीकृष्ण के साथ बिहार के समय आपने उनकी जो जो सेवा की हैं, वे सब आपके हृदय में एक-एक करके उदय होने लगीं हैं। तब, श्रीराधा व्याकुल होकर बोलीं– सखियो ! मेरे दुःखहारी विभु के, विलास काल में बिगलित-सुस्निग्ध समृद्ध-सघन-कुञ्चित-केश राशि की, चूड़ा के आकार में रचना कर कब मैं पुनः उनका मुकुट शृंगार करूँगी ? शेष अर्थ समान हैं। 'अधरं मधुरं' के

दर्शन के सहित पान, तथा 'वदनं मधुरं' के दर्शन सहित चुम्बन अर्थ की योजना मात्र अधिक है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः

परिपालय नः कृपालयेत्यसकृज्जल्पितमार्त्तबान्धवः।
मुरली-मृदुल-स्वनान्तरे विभुराकर्णयिता कदानु नः ॥६२॥

पद्यार्थ— **मैं बार बार कर रहा प्रलाप दयालो !**
हे आर्तबन्धु, अब हमको भी अपनालो !
पर मुरली के मृदु स्वर में मग्न मुरारी,
कब हाय, सुनेगा आर्त्त पुकार हमारी ?

भावार्थ—मैं बार-बार यह प्रलाप कर रहा हूँ कि हे कृपासागर, आप मुझे अपना लीजिए, किन्तु अपनी मुरली के उस मधुर स्वर में निमग्न वह दीनबन्धु हमारी इस प्रार्थना को न जाने कब सुनेगा ?

रसिका टीका—विल्वमंगल का स्थायी भाव है—मधुर रति। मधुर रति का स्वभाव है—अपने प्राणनाथ की विविध सेवाओं में अपने को उत्सर्ग कर देना। इसी सेवा के लिये विल्वमंगल परमोत्कण्ठित होकर अनेक प्रकार से कल्पना-जल्पना कर रहे हैं। इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती हो, अथवा न होती हो, भाव का स्वभाव दुस्त्यज होता है। वह संयोग वियोग दोनों अवस्थाओं में क्षण-क्षण में शत-शत नवीन लालसाओं का आविष्कार करता रहता है। हाँ, संयोग की अवस्था में उनकी पूर्त्ति की सम्भावना रहने के कारण वे सब आशाऐं सुख के मूल में बैठी रहती हैं, परन्तु वियोग दशा में वे आशाएँ निराशा मिश्रित दुःख का कारण बन जाती हैं। विल्वमंगल की आशा-अभिलाषा मयी भाव-सरिता में भी इस समय निराशा और दुःख की लहर उठ रही हैं, अतएव वे अत्यन्त दीन-दुःखी होकर प्रार्थना कर रहे हैं कि—

सब अंजन तजि यही अर्ज है आय बचावहु प्रान।
वंशी धुनि बिच मेरी विनती, सुनि लीजौ हे कान्ह॥

हे आर्त्तबन्धो ! मेरी तो केवल एक ही जल्पना है—उसे सुन लीजिये, हमने प्रलाप-विलाप तो अनेक किये, पुकार-प्रार्थना भी बहुत कीं, परन्तु उनमें से हमारी एक ही प्रार्थना सुन लो ! सुनोगे न ? कब सुनोगे ?

आपकी वह कौनसी प्रार्थना है ?

"**परिपालय नः कृपालय** !" हे कृपासिन्धु ! हमारा परिपालन करो—

दर्शनानन्द द्वारा हमारे प्राणों की रक्षा करो, जिससे कि हमारा व्यर्थ जीवन भी सार्थक हो सके, बस केवल यही एक प्रार्थना है ? कब श्रवण करोगे; दीनबन्धो ?"

हाँ ! आप कहेंगे कि—"मेरा मन तो मुरली वादन में तल्लीन रहता है ?"

तो, प्रभो ! **मुरली मृदुल स्वनान्तरे**" उसी मुरली की मन्द-मन्द ध्वनि के बीच में मेरी मन्दभागा, मन्दातिमन्द पुकार को भी प्रवेश का अवसर प्रदान करो नाथ !

अरे भाई ! तुम तो पीछे पड़ जाते हो, ये दोनों काम एक साथ भला कैसे सम्भव हैं कि बंशी भी बजाऊँ ? और तुम्हारी पुकार भी सुनूँ ? आपके लिये क्या असंभव है विभो ! आपका नाम तो विभु है। आपका 'सर्वसमर्थ' 'सर्वशक्तिमान्' नाम क्या झूँठा है ?—**'चींटी के पग नूपुर बाजे सो भी साहिब सुनता है'**। आपकी सामर्थ्य में दुरभिमान नहीं है, वह तो 'कृपालु' भी है, कृपालु ही नहीं, 'आर्त्तबन्धु' भी है, और हम आर्त्त भी हैं। आपके विरह दुःख से संतप्त हैं, अतः अवश्य ही आप हमारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। बस यही एक प्रार्थना है—अधिक नहीं ! और यदि नाथ ! समय रहते आपने दर्शन नहीं दिया तो लोग आपकी दयालुता पर सन्देह प्रकट करेंगे ? **'का वर्षा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने'** अतः प्रभो ! जब तक हमारे युगल-लोचन बन्द नहीं होते, जब तक विरह-सागर में हमारी नाव नहीं डूबती—उसके पहिले ही दर्शन दीजिये—

मुख सूख गया यदि रोते हुए, फिर अमृत ही बरसाया तो क्या ?
विरही, सागर जब डूब चुके, तब नाविक नाव को लाया तो क्या ?
युग लोचन बन्द हमारे हुए, तब निष्ठुर तू मुसकाया तो क्या ?
जब जीवन ही न रहा जग में, तब दर्शन आके दिखाया तो क्या ?

"**पोते को सोने के कटोरे में दूध भात खाना देखूँ**"—बुढ़िया की इस वर-प्रार्थना में, जैसे दीर्घायु, सन्तति तथा सम्पद् सब आगए, वैसे ही "**परिपालय-नः**" कृपा करके हमारा 'परिपालन' करें—यहाँ इस "परि" उपसर्ग में यावत् वर-प्रार्थना सब हो गई है, यावत् अभिलाषाएँ आगई हैं, क्योंकि मुक्त आग्रह वृत्ति से 'परिपालन" की सीमा का निर्द्धारण असम्भव है।

परिपालन का अर्थ है—परितः पालन, सम्यक् पालन, समग्र पालन, सर्व प्रकार से पालन, सर्व ओर से पालन, सर्व भाव से पालन, सर्व रस से

पालन, सर्व काल में पालन, सर्व देश में पालन, बस—पालन ही पालन !!!

"हे कृपालो ! आप आइये और मेरा पालन कीजिये—प्रार्थना तो बस इतनी सी है । अब प्रभु यदि आगमन कर गमन करने लग जाँय तो यह "परिपालन" कहाँ से होगा ? आये और चले गये ! इधर बुझाया, उधर जलाया ?

भक्त यदि कहे कि आपके नित्य दर्शन के बिना मेरा परिपालन असम्भव है तो भगवान् को नित्य दर्शन की व्यवस्था भी करनी ही पड़ेगी—जैसे नारद जी के लिये करनी पड़ी थी !

भक्त यदि कहे कि आपको पुत्रवत् गोद में खिलाये बिना मेरे प्राणों की परिपालना नहीं हो सकेगी तो भगवान् को पुत्र भी बनना ही पड़ेगा—जैसे मनु-शतरूपा, कश्यप-अदिति, नन्द-यशोदा आदि के लिये बनना पड़ा !

भक्त यदि कहे कि आपके कण्ठ में भुजा डाल कर नृत्य किये बिना मेरा परिपालन असम्भव है तो भगवान् को वही करना पड़ेगा—जो गोपियों के साथ करना पड़ा । तात्पर्य यही है कि "परिपालय" इस एक वाक्य के द्वारा विल्वमंगल की अशेष-विशेष प्रार्थनाएँ स्वतः सरस्वती ने पूर्ण कर दीं । भक्त की दीनता भारती को असह्य जो थी ।

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में—श्री राधा मूर्च्छा के भङ्ग होने पर बोलीं—हे सखियो ! श्रीकृष्ण को वन-वन में ढूँढ़ने के समय हमने जो-जो प्रलाप-पूर्ण प्रार्थना की थी, उनमें से वे हमारी बस एक यही प्रार्थना पूर्ण करें कि "कृपा पूर्वक आगमन करके हमारी परिपालना करें ।" शेष अर्थ पूर्ववत् ही है ।

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः

कदा नु कस्यां नु विपद्-दशायां कैशोर-गन्धिः करुणाम्बुधिर्नः ।
विलोचनाभ्यां विपुलायताभ्यामालोकयिष्यन्विषयीकरोति ॥६३॥

पद्यार्थ— अब यह वियोग की दशा बनी अतिशय दुस्तर ।
वह चिर किशोर है दीनबन्धु करुणा सागर ॥
किस विपद्दशा में कब वह हाय ! पधारेगा—
विपुलायत नयनों से सस्नेह निहारेगा ?

भावार्थ—किशोरावस्था के सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, चापल्य आदि सौरभ से सनाथीकृत वह करुणा सागर चिर किशोर कब और किस विपत्ति की दशा में हमें

अपने विशाल और दीर्घ नयनों का विषय बनाकर निहारेगा ?

रसिका-टीका—इस श्लोक में पूर्व श्लोक के समान ही दैन्यपूर्ण विज्ञप्ति है—विल्वमंगल अत्यन्त विरहातुर भाव से दीनतापूर्वक कह रहे हैं कि—अब इससे भी अधिक और कौनसी कष्टदायक मेरी दशा होगी कि जिसके विरहानल में अंग-प्रत्यङ्ग जल रहे हैं पर दर्शन नहीं होते, वह नव-किशोर, करुणासिन्धु अपने करुणा भरे विशाल नयनों के द्वारा मेरी ओर अवलोकन कर कब मुझे विरहरूप कष्ट से मुक्त करेंगे ?" हाय ! क्या वे अपने मुरली-नाद-विनोद में ही निमग्न रहेंगे, सचमुच क्या वे मेरी आर्त्त-प्रार्थना श्रवण नहीं कर रहे हैं ? नहीं, नहीं, वे तो "कर्णाम्बुधि" हैं और मैं दुःखार्त्त-करुणापात्र हूँ—

परम-कारुणिको न भवत्परः, परम-शोच्यतमो न च मत्परः ।
इति विचिन्त्य हरे मयि पामरे, यदुचितं नाथ तदाचर ॥—पद्यावली

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों ।
मो समान आरत नहीं, आरत-हर तोसों ॥ —विनयपत्रिका

और इसी कार्य के लिये तो उनके विशाल और चञ्चल नेत्र हैं, वे दीन-दुखियों की दशा को इनसे देख कर कानों तक पहुँचाते हैं—

कानों से यों कह रहे, तेरे नैन विशाल ।
तुम से सुन हम देखते, दुखियों को तत्काल ॥

जगज्जननी जनकनन्दिनी का विरह जगत् में प्रसिद्ध है, उन्होंने कहा है कि प्रिय के वियोग के समान संसार में कोई दुःख ही नहीं है—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं । प्रिय-वियोग सम दुख जग नाहीं ॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कँह सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
नाथ सकल सुख साथ तिहारे । सरद विमल विधु वदन निहारे ॥

प्राणनाथ प्रभु के विरहानल की ज्वाला की अपेक्षा चिता की अनल ही शीतल एवं सुखकर है यह समझ कर उन्होंने त्रिजटा से चिता बना कर अग्नि लगा देने की बात कही थी—

तजौं देह करु बेगि उपाई । दुसह विरह अब नहिं सहि जाई ॥
आनि काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहु लगाई ॥

संसार की विपद्, विपद् नहीं है, वह तो महासंपद् है । हेय नहीं—उपादेय है, क्योंकि वह भूले हुओं को भगवान का स्मरण कराती है, और

स्मरण करनेवालों को उनसे मिला भी देती है। कुन्ती महारानी ने भगवान श्रीकृष्ण से वरदान माँगा था कि—भैया ! बस, कुछ देना ही चाहते हो तो यह वरदान दो कि मेरा जन्म विपत्तियों के बीच में हो, क्योंकि विपत्तिमें ही तुम्हारा स्मरण आता है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरोः।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम् ॥

—भागवत १-८-२५

भगवान् को आजतक जिस किसी ने भी पाया है और आज भी जो पाते हैं, उन सब ने दुःख में रो-रो कर ही उन्हें पाया है, और आज भी दुःख में जो आँसू बहाते हैं, वे ही प्रियतम को प्राप्त करते हैं, कबीर ने कहा है—

कबीर हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीति।
बिन रोये नहीं पाइये, प्रेम पियारा मीत ॥

× × × ×

हँसि हँसि कान्त न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हँसि खेलै पिय मिलैं तो कौन सुहागिन होय ॥

इस प्रकार भगवान के भक्त के लिये संसार की विपत्ति तो वांछनीय हैं, महा श्रेयस्कर हैं, प्रेमी भक्त विपद् को विपद् नहीं, सम्पद समझते हैं। क्योंकि विपत्ति में ही प्रभु का स्मरण होता है, इसलिये भक्त की दृष्टि में संसार के कष्ट कोई विपत्ति नहीं है, भक्त तो विपत्ति उसको मानता है, जिसमें प्रभु का भजन-स्मरण नहीं होता, भगवत्-पार्षद श्री हनुमान जी ने कहा है— **कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरण भजन न होई ॥** भगवान् से सम्बन्धित सभी वस्तु असमोर्द्ध हैं उनका रूप असमोर्द्ध है, लीला असमोर्द्ध है, प्रेम असमोर्द्ध है, संयोग-सुख असमोर्द्ध है तो उनका वियोग-दुःख भी असमोर्द्ध है, अतः भक्त उसमें भी सुख पाता है।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—सखियाँ श्रीराधाजी को यह कहकर प्रबोध करा रही हैं कि—"श्रीकृष्ण तो बड़े ही कृपालु हैं, कृपासिन्धु हैं, अपने जनों का दुःख तो उनको असह्य है। अतः वे अवश्य पधार कर हमको दर्शन देकर सुखी करेंगे।" तब श्रीराधाजी उत्तर में यह प्रलाप रूप वचन कहती हैं कि "हाय ! सखी ! अब इससे अधिक और क्या दुःख शेष रह गया है, जो हमारी सुधि नहीं ले रहे हैं। यदि और कुछ अधिक नहीं तो केवल नयनों के द्वारा ही हमारा सिंचन करदें—

एक बार तो आय कें नैननि हीं मिलि जाहु ।
सौंह तुम्हें जो सामरे नेकु इहाँ ठहराहु ।। —माधुरीदास

मेरे प्राण निकलने से पहले ही यदि कोई प्रियतम को मेरी दशा बतादे तो शायद वे अवश्य आवेंगे, और यदि नहीं आवें तो मत आवो, पर कोई दया कर उनको यह समाचार दे दें कि तुम्हारी रूप सुधा के बिना उसने प्राण छोड़ दिये—

व्याकुल हो तड़पौं बिनु प्रीतम, कोऊ तो नेंकु दया उर लावौ ।
प्यासी तजौं बिनु रूप सुधा बिनु, पानिय पी-कौ पपीहे पिआवौ ।।
जीय में हौंस कहूं रहि जाय न, हा ! हरिचंद कोऊ उठि धावौ ।
आवै न आवै पियारो अरे ! कोउ हाल तो जाइके मेरो सुनावौ ।।

सखियाँ कहती हैं कि श्यामसुन्दर ! तुम यह समझ रहे होगे कि मैं यदि इनके बीच में गया तो ये व्रजनागरी पकड़ कर बैठ जायेंगी, सो प्यारे ! हम शपथपूर्वक कहती हैं, हम तुमको पकड़ेंगी नहीं, एक बार अपनी दृष्टि से हमें देखलो, हम जानती हैं कि तुम्हारी दृष्टि दूसरी ओर है, पर प्रियतम ! हमारी नजर तो तुम्हारी नजर को देख रही है—

सब लोग जिधर हैं वे उधर देख रहे हैं । हम देखने वाले की नजर देख रहे हैं ।।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः

मधुरमधुर-विम्बे मञ्जुलं मन्द-हासे,
शिशिरममृत-नादे शीतलं दृष्टि-पाते ।
विपुलमरुण-नेत्रे विश्रुतं वेणु-वादे,
मरकत-मणि-नीलं बालमालोकये नु ।।६४।।

पद्यार्थ— **अधर विम्बफल मधुर, मञ्जु मुसकान सु-निर्मल ।**
शिशिर वचन विन्यास, विलोचन अतिशय शीतल ।।
अरुण नेत्र अति विपुल, लोक विख्यात वेणु-स्वर ।
मरकत नील किशोर निहारूँगा कब प्रियतर ?

भावार्थ—जिसके विम्बफल-सदृश अधर बड़े मधुर हैं, मन्द मुसकान बड़ी मंजुल है, अमृत तुल्य वार्तालाप बड़े शिशिर हैं, अरुण नयन बड़े विशाल हैं और वेणु-वादन तो सर्वत्र विख्यात है ही—उस मरकत-मणि तुल्य श्यामघन बालकृष्ण को मैं कब देखूँगा ?

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में प्रार्थना है कि "क्या वे दयालु श्रीकृष्ण

हमको अपनी कृपा दृष्टि का विषय बनायेंगे" और यही प्रार्थना इस श्लोक में भी है, विल्वमङ्गल कहते हैं—"कब हम दुःखी जन उस प्रभु को अपने नेत्रों का विषय बनायेंगे ? और कब क्षण-क्षण में उनका दर्शन प्राप्त करेंगे।

भाई किसका दर्शन चाहते हो ? "बालं" का—किशोर श्रीकृष्ण का। "**बाल्यमाषोडशब्दान्तम्**" सोलह वर्ष पर्यन्त बाल्यावस्था कही जाती, है क्योंकि तब तक शिशुवत् चपलता तथा क्रीड़ा-परायणता विद्यमान रहती है। अथवा "बालं" से "सुकुमार" अर्थ भी किया जाता है। सुकुमार अङ्ग में लोच होती है, अत्यधिक कोमलता का दर्शन सुकुमार अवस्था में ही होता है, कमनीय अङ्ग पर शोभा का ही इतना भार होता है कि वह भूषण के भार को भी नहीं सम्हाल पाता। श्रीकृष्ण की सुकुमारता तो इससे ही प्रसिद्ध है कि वे शोभा के भार से सीधे पैर नहीं रख पाते, इसीलिये वे त्रिभंग हैं—

भूषण भार सँभारहीं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न धरैं परत, शोभा ही के भार॥

इसका नाम है माधुर्योपासना ! "श्रीकृष्णकर्णामृतम्" में वर्णित सुकुमार "बालं" का अर्थ है—श्रीकृष्ण। वे श्रीकृष्ण कैसे हैं—

मधुर अधर विम्बन पर, मन्द मञ्जु हास को।
विपुल अरुण नैनन की, शीतल दृग पात को॥
शिशिर अमृत बोलन पै, वेणु धुनि विख्यात को।
मरकत मणि नीलं तन, हेरौं कब बाल को॥

फिर वह "बालं" कैसा है ? मरकत मणि के समान नील उसका वर्ण है, मधुर रस से भरे उसके अधर विम्ब हैं, जो मन्द मन्द हास्य के कारण अधिक मनोहर हो रहे हैं, जिसके वचन अमृत के समान मधुर पेय हैं तथा हिम कण के समान समस्त तापहारी हैं। उसके विशाल तथा अरुण नेत्रों की दृष्टि अमृत वर्षिणी है। वह दृष्टि केवल हृदय को ही शीतल नहीं करती है, अति कठोर से अति कोमल भी कर देती है, तथा उनकी वंशी का नाद जगत् में प्रसिद्ध है—अखिल ब्रह्माण्ड में न ऐसी वंशी है और न ऐसा वंशी का बजैया ही। एक कवि के शब्दों में मोहन के मुख पर शोभित वंशी की महिमा सुनिये—

मोहन के मुख पै देखो क्या खुशनुमा है वंशी।
वंशी पै लब फिदा है, लब पै फिदा है वंशी॥
मुर्दे को जिन्दा करदे, जिन्दे को मुर्दा करदे !
जो खुद खुदा नहीं है, शाने खुदा है वंशी॥

और इस मुरली के कुछ गुण श्रीनागरीदासजी की वाणी में देखिये, मोहन के मुख पर बसी यह बांसुरिया क्या नहीं करती, सखियाँ कहती हैं—

अरी छिमा कर मुरलिया, परत तिहारे पाय।
और सुखी सुनि होत सब महा दुखी हम हाय॥
कियौ न करिहै कौन नहिं, पिय सुहाग कौ राज।
अरी बावरी बांसुरिया मुख लागी मति राज॥
तो कारन गृह सुख तजे, सह्यौ जगत कौ बैर।
हमसों तोसौं मुरलिया, कौन जनम कौ बैर॥
ए अभिमानी मुरलिया, करी सुहागिन श्याम।
अरी! चलाये सवनि पै, भले चाम के दाम॥

वास्तविकता यह है कि वीणा के बिना नारद-शारद नहीं, डमरू के बिना शङ्कर बाबा नहीं, और वंशी के बिना श्रीकृष्ण कन्हैया नहीं हैं।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में यह श्लोक श्रीराधाजी का सखियों के प्रति प्रलाप वाक्य है। शेष सभी अर्थ पूर्व के समान ही है।

मूल श्लोक

माधुर्यादपि मधुरं मन्मथतातस्य किमपि कैशोरम्।
चापल्यादपि चपलं चेतो बत हरति हन्त किं कुर्मः॥६५॥

पद्यार्थ— **माधुर्य से भी मधुर जो लावण्यधाम ललाम है।**
चापल्य से भी है चपल चंचल बड़ा अभिराम है॥
वह बालरूप अनूप मन्मथ-तात का ऐसा तरल—
हा हन्त! हरता है हृदय, मैं क्या करूँ पड़ती न कल॥

भावार्थ—महाकाम के जनयिता श्रीकृष्ण का माधुर्य से भी मधुर और चापल्य से भी चपल—वह कैशोर्य, हाय, मेरे हृदय को चुराये ले रहा है; मैं क्या करूँ?

रसिका टीका—विल्वमंगल पूर्व श्लोक में दर्शन प्राप्ति के लिये प्रार्थना कर रहे थे, क्योंकि दीन-हीन के लिये प्रार्थना ही तो एक-मात्र अवलम्ब है। प्रार्थना ही समस्त मानस रोगों के लिये औषधि है—

मानस मरज तरज के तांई दवा तबीब बतावैं।
चहै चौगुनो हरजन रंचक वंचक भरम न पावैं॥
दरज आह दिल आह दरद दिलदार अराम करावैं।
'युगलानन्य' बरज औषधि सब अरज औषधि खावैं॥

विल्वमंगल भी वृन्दावन जाते समय मार्ग में आद्यान्त यही अर्ज औषधि का क्षण-क्षण सेवन कर रहे हैं। परन्तु **'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की"** इस कारण कभी अपने मन से अथवा अपने साथियों से पूछने लगते हैं कि अब क्या करूँ ? कौन से उपाय से उनका दर्शन पाऊँ ? इस श्लोक में भी विल्वमंगल इसी प्रकार से विलाप कर रहे हैं—

"हन्त किं कुर्मः" हाय हाय अब मैं क्या करूँ ? किसी ने कहा—क्यों भाई ! क्या बात है ? क्या हुआ ?" वे उत्तर देते हैं—**"चेतो वत हरति"** वह बल पूर्वक मेरे चित्त-वित्त को अपहरण जो कर रहा है !!

यह मम चित्त चुराये जात।
वयस किसोर अनूपम माधुरि, कही कौन पै जात॥
मनहिं मथत मन्मथ हिं मथत यह मन्मथ हू को तात।
लखि लखि माधुरी माधुरी लाजत बार बार वलिजात॥
तैसे ही अंग अंग चंचलता, चंचलता पछितात।
मन हर लियो 'प्रेम' सांवरो, कहा करौं हा ! मात॥

भाई ! आपके चित्त को कौन चुरा रहा है, कुछ स्पष्ट तो करो ? चोर तो बस एक ही है, दूसरा कौन हो सकता है, और वह है–**"मन्मथतातस्य किमपि कैशोरम्"** मन्मथ के पिता श्रीकृष्ण का कोई अद्भुत अनिर्वचनीय कैशोर ही मेरे मन को चुरा रहा है।

पर यह समझ नहीं आया कि "वह कैशोर अनिर्वचनीय कैसे है ?"

क्योंकि वह "माधुर्यादपि मधुरं" है अर्थात् माधुर्य भाव से भी मधुर है तथा **"चापल्यादपि चपलं"**—चापल्यभाव से भी अधिक चपल है।

यहाँ मन्मथ-तात के तीन अर्थ समझने चाहिये—

(१) अप्राकृत कामदेव जो प्रद्युम्न, उनके पिता—श्रीकृष्ण स्वयं ही मन्मथ हैं।

(२) मनमथन कारी अभिलाष, उसके तात,-अर्थात् विस्तार करने-वाले भगवान श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण अपने प्रियजनों में नाना प्रकार की स्वविषयक प्रकृष्ट कामनाओं को जन्म देते हैं, अतः वे मन्मथ तात हैं, **"कामावतारांकुर"** हैं।

(३) **मन्मथतां साक्षान्मन्मथत्वं भवति प्राप्नोतीति मन्मथतातः**-जो साक्षात् मन्मथ के मन को भी मन्थन करदे वह मन्मथतात श्रीकृष्ण है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण का सौन्दर्यातिशयत्व सूचित होता है। वास्तव में श्रीकृष्ण के प्रत्येक अङ्ग से सौन्दर्य का निर्झर अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होता रहता है।

मोहन के मोहन सबै अंग रहे झलकाइ।
नेक चितै मुख माधुरी, मैन गिरत मुरझाइ॥

मुख के दर्शन से ही क्यों, कामदेव तो इनकी छाया मात्र से ही मोहित हो जाता है—

देखत ही तिनकी परिछाहीं। मदन कोटि व्याकुल ह्वै जाहीं॥

—ध्रुवदास

स्कन्दपुराण के वासुदेव माहात्म्य में गोलोक का विस्तृत वर्णन हुआ है—वहाँ श्रीकृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है—

ब्रह्मेति केचिद् भगवन्तमेके विष्णुं च भक्ताः परमेश्वरञ्च।
कन्दर्प साहस्र मनोहराङ्गं सदा किशोरं करुणानिधानम्॥

पद्मपुराण में शिवजी पार्वती से श्रीकृष्ण के कोटि-काम को लज्जित करने वाले सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहते हैं—

तत्कला कोटिकोट्यंशा ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः।
तद्रूप कोटि-कोट्यंशाः कलाः कन्दर्प-विग्रहाः॥

"किमपि कैशोरम्"—किशोरावस्था का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती श्लोकों में हो चुका है, इसके सम्बन्ध में कुछ और वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। पद्मपुराण में कहा गया है कि—

न राधिका-समा नारी नैव कृष्ण समः पुमान्।
वयः परं न कैशोरात्, स्वभावः प्रकृतेः परः॥
वन्दे मदनगोपालं कैशोराकारमद्भुतं।
यमाहु र्यौवनोद्भिन्ने श्रीमन्मदनमोहनम्॥ —पद्मपुराण
वयः कैशोरकं ध्येयं, पुरी मधुपुरी परा।
श्याम मेव परं रूपमाद्य एव परो रसः॥

श्रीचैतन्य चरितामृत ग्रन्थ में श्रीमन्महाप्रभु तथा रामानन्दराय के संवाद में इसी का अनुवाद हुआ है—

प्र० प्रभु कहे उपाध्याय श्रेष्ठ मानो काय ?
उ० "श्यामेव परं रूपं" कहे उपाध्याय।
प्र० "श्याम भक्तेर वासस्थान श्रेष्ठ मानो काय ?"
उ० "पुरी मधुपुरी वरा" कहे उपाध्याय॥
प्र० "बाल्य पौगण्ड कैशोर श्रेष्ठ मानो काय ?"
उ० "वयः कैशोरकं ध्येयं" कहे उपाध्याय॥

प्र० "रसगण मध्य तुमि श्रेष्ठ मानो काय ?"

उ० 'आद्य एव परो रसः" कहे उपाध्याय ॥

तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण का नित्य शेष किशोर वयस है, अर्थात् पन्द्रह वर्ष पूर्ण करके सोलहवें में प्रवेश है। इस कैशोर, माधुर्य का वर्णन, चतुर्थ, सप्तम, चतुर्दश आदि श्लोकों में निरूपित हो चुका है। उसी माधुर्य की ओर निर्देश करते हुए यहाँ भी कैशोर माधुर्य को ही अनिर्वचनीय तथा माधुर्य से भी अधिक मधुर कहा गया है—

माधुर्यादपि मधुरं—"सर्वावस्था विशेषेषुमाधुर्यं भाव विशेषः"—साहित्यदर्पण मधुरता एवं मनोहारिता में प्रदर्शित होने वाले भाव को ही माधुर्य कहते हैं। सर्वावस्था में जो मधुर रहे, मन को बलात् हरण कर लेवे, उसका नाम माधुर्य है। यह माधुर्य किशोरावस्था का असाधारण धर्म है। परन्तु यह कैशोर, माधुर्य तो सर्व भमवत्स्वरूपों में है, अतः उस माधुर्य से भी मधुर **"मधुर्यादपि मधुरं"**—श्रीकृष्ण की कैशोर माधुरी समस्त माधुर्य से विलक्षण ही है, किमपि–अनिर्वचनीय है।

नौतन वयस किशोर छवि, वसत जिहि उर नित्त।
पौगंड बाल लीलादि हू भावत नहिं तेहि चित्त॥
महा-मधुर रस माधुरी, अद्भुत वयस किशोर।
अद्भुत रस में मगन रहें, नहिं जानत निशि भोर॥ —ध्रुवदास

अथवा "माधुर्य से तात्पर्य चेष्टाओं की रमणीयता से है—**"तन्माधुर्यं भवेद्यत्र चेष्टाऽऽदेस्पृहणीयता"**—भा० सि०। श्रीकृष्ण में सर्वावस्था की सर्वचेष्टाए मधुर होने पर भी किशोरावस्था की चेष्टाएँ विशेष रूप से मधुर हैं, मधुर से भी मधुर हैं।

ऐसे ही किशोरावस्था की चपलता भी अन्य अवस्थाओं की चपलता से विलक्षण है। अतएव उसे **"चापल्यादपि चपलं"** ! कहा गया है।

इस प्रकार माधुर्य से भी मधुर तथा चापल्य से भी चपल मन्मथ-तात श्रीकृष्ण का विलक्षण कैशोर मेरे चित्त को अपहरण कर रहा है, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ और क्या यह चौराग्रगण्य हरि श्रीकृष्ण रोकने योग्य है, अथवा रोके से रुक सकता है ? नहीं नहीं, ले जाये–चुराकर मेरे इस चित्त को—मुझे इसके लिये दुःख नहीं है, यह तो अत्युत्तम हुआ, अब तो मैं यही गाता फिरूँगा—

नारायण मोहिं वस्तु न चहिये, लेवनहार बताओ ! नैना रे ! चित चोर बताओ ! उस चोर का क्या उपाय करूँ—'किं कुर्मः'' ?

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—विरहिणी श्रीराधा भूमि से हठात् उठ उन्मादिनी-सी दौड़ने लगीं। तब तो सखियाँ उनके अंचल को पकड़ कर, उनको समझाती हुई बोलीं कि "सखी राधे! तुम्हें उन्माद हो गया है क्या? धैर्य धारण करो! उन्मादिनी होने से क्या वे तुम्हें प्राप्त हो जायेंगे?" श्रीराधा ने किंचित शान्त होकर जो प्रलाप-वचन उच्चारण किया है, वही इस श्लोक में है।

राधा—"हाय! मन-मन्थनकारी अभिलाषाओं के जनक श्रीकृष्ण के अनिर्वचनीय कैशोर ने मेरा चित्त हरण कर लिया है! अब मैं क्या उपाय अवलम्बन करूँ? उस चित्त के बिना ही तो मेरी यह दशा हो रही है।

सखी—"राधे! उसके कैशोर मधुर रूप ने किसका चित्त हरण नहीं किया? परन्तु किसी की भी तुम्हारी जैसी उन्मादिनी दशा नहीं हुई है।"

राधा—"सखी! इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। किशोरावस्था में सभी का चित्त चपल होजाता है। तुम सब सखियों के भी चित्त चपल हो रहे हैं। परन्तु मेरा चित्त तो सबसे अधिक चपल हो रहा है। "**चापल्यादपि चपलं**" उधर श्रीकृष्ण का कैशोर भी चापल्य से भी अधिक चपल हो रहा है, अतएव दोनों का स्वरूप एक होगया है। समान शील के कारण परस्पर में मैत्री हो गई है, इसी से मैं इतनी अधीर और उन्मादिनी हो गई हूँ। यह मेरा दोष नहीं, यह मेरे चपल चित्त तथा उनके चपल कैशोर का ही दोष है, अब तो इसका निवारण होना अति कठिन है।

इतना ही नहीं, अब तो उसकी रूपमाधुरी देखे बिना प्राण चूर-चूर हो रहे हैं, उसकी रूप माधुरी के अजीर्ण पर कोई औषधि भी काम नहीं करती, ज्ञान की चर्चा और गीता की कथा भी खूब सुनी है, पर यहाँ सभी प्रयास निष्फल होगये—

कल नहिं परत स्याम बिनु देखें रहे प्राण चक चूरि।
कठिन अजीरन भई रूप की औषधि लगत न भूरि॥
भेदत नहीं ज्ञान गीता कौ सुनी कथा भरपूरि।
श्रीरसिकविहारी की छवि ऊपर किये जतन सब दूरि॥

—रसिकदास

सच बात तो यह है कि मेरा चित्त रूप पानी और तुम्हारे रूप का दुग्ध मिलकर एक होगया है। अब इसका पृथक् होना कठिन है—

अब कैसे निर्वार होत है मिल्यो दूध ज्यों पानी।
निकसत नाहिं बहुत पचिहारी रोम-रोम उरझानी॥ —सूरदास

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः—

वक्षः स्थले च विपुलं नयनोत्पले च,
मन्दस्मिते च मृदुलं मदजल्पिते च।
विम्बाधरे च मधुरं मुरलीरवे च,
बालं विलास-निधिमाकलये कदा नु ॥६६॥

पद्यार्थ— **वक्षस्थल है विपुल, विपुल लोचन इन्दीवर।**
मन्द मृदुल मुसकान, वचन मृदु सुधा-विनिर्झर॥
विम्बाधर है मधुर, मधुर मुरली-रव-कीर्तन।
वह विलास-निधि बाल मुझे कब देगा दर्शन॥

भावार्थ—जिसके वक्षस्थल और नयन-कमल विशाल हैं, वचन-रचना और मन्द मुसकान मृदुल हैं, विम्बाधर और मुरली-निनाद मधुर है, उस विलासनिधि को मैं कब अपनी-आँखों का अलंकार बनाऊँगा?

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में कैशोर-माधुर्यमय बालं की जो स्फूर्त्ति हो रही थी, उसके लोप होने पर उसका वर्णन करते हुए उसके पुनःदर्शन की लालसा से विल्वमंगल कहते हैं—"**कदा नु विलासनिधिं बालमाकलये**"—अर्थात् कब मैं उस विलास राशि किशोरस्वरूप के दर्शन करूँगा?

वह किशोर कैसा है तथा उसकी वह कैशोर माधुरी कैसी है—इसका पूर्व श्लोक में "**माधुर्यादपि मधुरं**" पद के द्वारा सामान्य निर्देश किया गया था, अब उसका यहाँ विशेष निरूपण करते हुए कहते हैं :—

(१) उसका वक्षःस्थल विशाल है, अर्थात् दीन दुःखियों को हृदय से लगाने में अग्रसर है, वह विशाल वक्षःस्थल सबका आश्रय है, निराश्रितों का विश्राम केन्द्र है।

(२) उसके नयन-कमल विशाल हैं, केवल आकार में ही विशाल (दीर्घ) नहीं हैं, भाव में भी विशाल (उदार) हैं, जन-जन-प्रतिपाल हैं।

(३) उसके मुख की मन्द स्मित मृदुल है—'**स्मितं स्वलक्षदशनं नेत्र-गण्ड-**

विकास-कृत'—भ०र०सि०। अर्थात् मुख तो खुले नहीं, केवल नेत्र और कपोलों पर मन्दहास बिखर जाय—उसका नाम स्मित है, वह स्मित भी मन्द है, तथा मृदुल है, अति कोमल है। स्वयं कोमल है तथा मुख को भी कोमल बना देती है, 'मृदुलातीति मृदुलं'।

सुन्दर चिबुक कपोल मृदु अधर सुरंग सुदेश।
मुसकनि वरषत फूल मुख, कहि न सकत छवि लेश॥ —ध्रुवदास

(४) उसकी मदजल्पना मृदुल है। मृदु से यहाँ तात्पर्य गर्व अथवा हर्ष नहीं है। मद का अर्थ है कैशोर—मद, एक सहज मस्ती। उस मद के वचनोद्गार स्वयं मृदुल हैं और श्रवण करने वालों को भी द्रवीभूत कर मृदुल बना देते हैं, देखिये—एक भावुक ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

दन्त की पंगत कुन्द कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमके घन बीच जगे, छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारी लटें लटकें मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
न्यौछावर प्राण करैं 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥

नारायण स्वामी ने तो बचने का उपाय भी ढूँढ़ लिया, नैनों की चोट से तो ओट लेली, पर प्रियतम के मीठे वचनों ने बचने नहीं दिया—

विधना जो या रूप को लखि लखि रह्यो सचेत।
नैंन चोट सों ओट ली बचन बचन कब देत?—नारायण स्वामी

और तेरा हँसकर 'अजी' कहना ही कलेजे को चूर कर देता है—

'बेदरद कलेजा चूर करे फिर हँस कर तेरी 'अजी' कहन।' —शीतल

अतएव यह वह 'मृदुलं' हैं जो पत्थर को गला कर पानी-पानी कर देता है, तरल बना देता है।

(५) जिसका विम्बाधर और मुरली-ध्वनि समान रूप से मधुर हैं—अधर और मुरली का अटूट सम्बन्ध है, इनमें सनातन प्रीति है,—"**वंशी पै लव फिदा है, लव पै फिदा है वंशी।**"

अधरामृत सम अधर रस जानत वंशी सार।
सप्त सुरन सों शपथ कर कहति पुकार पुकार॥ – नारायण स्वामी

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में–सखियों के यह प्रबोध कराने पर कि–"धैर्य धारण करो, निश्चय ही तुम्हें श्यामसुन्दर के दर्शन होंगे" श्रीराधा परम लालसा से उत्कण्ठित होकर कहने लगीं—"सखियो! कब मैं उस

विलास-निधि किशोर श्याम के दर्शन करूँगी ? शोभा के स्थल उनके विशाल वक्षःस्थल को कब आलिङ्गन करूँगी ? उनके विशाल, चपल और करुण नयन कमलों की शोभा मैं कब देख सकूँगी ? मृदु मन्द-हास्य तथा माधुर्य-रस सीम उनके अधर पल्लव का मैं कब आस्वादन करूँगी ? उनकी वंशी-ध्वनि परम मधुर है; मैं कब उसे सुन पाऊँगी ? वह नवल किशोर विलास-निधि हैं—मैं कब उस निधि को प्राप्त कर अपने को धन्य-धन्य समझूँगी ?

मूल श्लोक तोटक छन्दः—

आर्द्रावलोकित-धुरा परिणद्ध-नेत्र—
माविष्कृत-स्मित-सुधा-मधुराधरोष्ठम् ।
आद्यं पुमांसमवतंसित-बर्हि-बर्ह—
मालोकयन्ति कृतिनः कृत-पुण्य-पुञ्जाः ॥६७॥

पद्यार्थ— **करुणाकलित विलोकन के गौरव से हैं परिणद्ध विलोचन ।**
विकसित हास-सुधा से विलसित अधराधर माधुर्य निकेतन ॥
केकी-चन्द्रक से समलंकृत पुरुषोत्तम का रूप सुधाकर—
करता नयन उन्हीं के शीतल, जो है पुण्यधनी सुकृतागर ॥

भावार्थ—सुकुमार चितवन के गौरव से संयुक्त नेत्रवाले, विकसित मुसकान-रूपी अमृत से मधुर अधरवाले, मोर-मुकुट से अलंकृत—ऐसे पुरुषोत्तम के दर्शन तो उन्हीं को प्राप्त होते हैं, जो सौभाग्यशाली हैं और जिन्होंने बहुत-बहुत पुण्य किए हैं। हमारे जैसे भाग्यहीनों को उनके दर्शन कहाँ ?

रसिका टीका—पुनः विल्वमंगल अपने को अतिशय अयोग्य समझकर परम दैन्य के भाव से बोले—"**आलोकयन्ति कृतिनः कृत-पुण्य-पुञ्जाः**" महत् पुण्य-राशि अथवा उत्तम कृतिवान् पुरुष ही इस रहस्य का अवलोकन कर सकते हैं, वह ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसको जनसाधारण नहीं देख पाता ?

उत्तर में बताया कि वह—"**आद्यं पुमांसम्**" है, उस आदि पुरुष का, श्रेष्ठ पुरुष पुरुषोत्तम का दर्शन दुर्लभ है। जीव जगत् तो उसकी परम्परा प्रकृति है (गीता ७-४-५; १५-१३-१७-१८)—क्या ? आप उस नारायण स्वरूप की बात कहते हैं, नहीं। वह तो '**अवतंसित-बर्हि-बर्हम्**' है, उसके शीश पर मोर मुकुट नृत्य कर रहा है। मोर मुकुट ही श्रीकृष्ण का असाधारण भूषण है, यह उनका विशेष परिचय है, मोर पंख उनकी खास पहिचान है, यह हम पहले कई बार कह आये हैं।

प्र०—तब तो उस मोर मुकुटधारी में प्रथमपुरुष और श्रेष्ठ पुरुषत्व होने के कारण अवश्य ही गर्व-गुमान भरा होगा। वह भला क्या निकृष्टजनों को ओर दृष्टिपात करता होगा ? निश्चित ही वह जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होगा ?

उ०—अजी ! ऐसा मत कहिये, क्योंकि वह — "**आद्रावलोकितधुरा परिणद्धनेत्रम्**" हैं, उनके मद भरे लोचन-युगल प्रीति और करुणा रस से भरे हुए-भीगे हुए हैं, अतएव उनका सहज अवलोकन प्रीति और करुणा रस के (धुरा) भार से संयुक्त (परिणद्ध) रहता है। जिसके प्रति वे एक बार भी अवलोकन करते हैं, उसके प्रति बस अवलोकन ही करते - रहते हैं, उनकी दृष्टि उस पर निबद्ध (परिणद्ध) हो जाती है। वे केवल आप ही नहीं बँध जाते हैं, समस्त जगत् को भी बाँध लेते हैं, और अपनी दृष्टि के द्वारा वशी-भूत (परिणद्ध) कर लेते हैं, अतएव अवश्य ही मेरो ओर भी दृष्टिपात करेंगे, ऐसा करना उनका सहज निरपेक्ष स्वभाव है। इसी अवलम्बन को लेकर मैं भी रुदन कर रहा हूँ।

यहाँ 'परिणद्ध' पद का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है, (१) **परिणद्धे युक्ते नेत्रे**, (२) **परिणद्धे शृङ्खलादिभिरेव ताड्वेव, तेष्वेव वा बद्धे तथा** (३) **परिणद्धानि वशीकृतानि जगन्मात्रस्थ नेत्राणि।**

और कैसा है वह **आद्यपुमान्**'—"**आविष्कृत-स्मित सुधा मधुराधरोष्ठम्**" उसने अपने अधरोष्ठों पर दो अपूर्व वस्तुओं-स्मित और सुधा का आविष्कार कर रक्खा है। उसका यह आविष्कार जगत् के रस लोलुप चित्त के लिये है। जो उसके बिम्बाधर पर मन्द मुसकान को देख लेता है—वह सर्व विषय रस से विरक्त होकर प्रगाढ़ प्रीति रस में निमग्न हो जाता है, देखिये, उसकी मुसकान का जादू कैसा है—

जा दिन ते मुसकानि चुभी उर ता दिन ते जु गई मनहारी।
कुण्डल लोल कपोल महा छवि कुञ्जन ते निकस्यो सुखकारी॥
हौं सखि आवति ही वगरै पग पेंड तजी रिझई बनवारी।
'रसखानि' भरी मुसकानि के पाननि, कौन गहे, कुल कानि विचारी॥

दूसरों को सावधान करते हुए उन्होने कहा—

कानन दै अँगुरी रहिवो, जबही मुरली-धुनि मंद बजैहै।
मोहिनी तानन सौं 'रसखानि' अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥

टेर कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोउ कितनो समुझैहै ।
माईरी बा मुख की मुसकान सम्हारि परै न परै न परै है ।।

श्रीमद्भागवत में भगवान् के हास्य को जनोन्माद-कारिणी माया कहा है—"**हासो जनोन्मादकरी च माया**" यह अक्षरशः सत्य है। वह विमुखजनों के लिये भी उन्मादकारिणी है ! केवल उन्माद-उन्माद में अन्तर है ! एक उन्माद उनको भुलाने वाला है, तो दूसरा उन्माद विल्वमंगल के जैसा है, जो उनसे मिलाने वाला है, इसीलिये यह कहा है कि—"**कृतपुण्यपुञ्जाः**" सुकृतिजन ही भगवान् के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं–इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह कौन से पुण्यों से मिलता है, इसका निर्णय करना कठिन है। ब्रजरानी यशोदा के अंक-रूप स्नेह–सिंहासन पर आरूढ़ होने के लिये नन्द-भवन के प्राङ्गण में लुण्ठित रुदन करते हुए ब्रह्म का दर्शन पाकर नारदजी भी यशोदा के पुण्य-पुञ्ज का निर्णय नहीं कर सके, और बोले—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृत-क्षेत्र-वृन्दानि पूर्वं,
गत्वा कीदृग् विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव ।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदन-रिपुर्यस्य लेभे प्रसादं,
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति बिलपत् क्रोडमारोढुकामम् ।।

"हे ब्रह्मजननी यशोदे ! तुम्हारे सौभाग्य की मैं किन शब्दों में प्रशंसा करूँ ? पुण्यतीर्थ क्षेत्रों में तो सब ही जाते हैं, और अनेक विधि-विधान से तप-व्रत, दान-पुण्य भी करते हैं, परन्तु सृष्टि के आरम्भ से आज तक तुम्हारे जैसे पुण्यवान कितने जन हुए हैं, जिन्होंने तुम्हारे जैसा प्रसाद प्राप्त किया हो ! अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त कोई भी नहीं। अतएव मैं यह निश्चय नहीं कर पाता हूँ कि तुमने कितने-कितने पुण्य क्षेत्रों में जाकर न जाने कितने प्रकार के विधि-विधान का पालन कर कितनी अपूर्व पुण्यराशि संचित की हैं, जिसके फल-स्वरूप आज यह पूर्णब्रह्म भूमि पर लुण्ठित होता हुआ तुम्हारी गोद में चढ़ने के लिये आतुर होकर रो रहा है ? अहा ! जिसके प्रसाद को इन्द्र, ब्रह्मा, महादेव–कोई भी नहीं प्राप्त कर सका, वह तुम्हारे प्रसाद के लिये लालायित हो रहा है—ये तुम्हारे पुण्यपुञ्ज मेरी दृष्टि से तो अगोचर हैं"। तात्पर्य यही है कि ये कोई कृति-जन्य पुण्यपुञ्ज नहीं हैं, यह तो अहैतुकी कृति-जन्य अलौकिक प्रीति-पुञ्ज है।

इसी प्रकार गोपाल-ब्रह्म को गोप-बालकों के साथ मर्कट-चेष्टा, भेक-चेष्टा आदि चपल-क्रीड़ा करते देखकर शुकदेव जी भी तो यही बोले कि—

वास्तविक "कृतपुण्यपुञ्जा !" तो ये ब्रजवासी ही हैं, जिनके साथ ज्ञानियों का आराध्य परब्रह्म, भक्तों का इष्टदेव भगवान् तथा विमूढ़ जनों का नर-शिशु, इस प्रकार क्रीड़ा कर रहा है—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ।।
—भागवत १०–१२-११

यहाँ साधारण लोक-दृष्टि से ही 'कृत-पुण्य-पुञ्जाः' का प्रयोग हुआ है। जैसे आकाश की ओर दृष्टि कर स्वर्ग को बतलाया जाता है, और स्वर्ग पद से वैकुण्ठ-पर्यन्त समस्त लोकों को बतलाने की जैसे एक साधारण लोक-रीति है, वैसे ही विल्वमंगल नारद तथा शुकमुनि भी इसी लोक रीति का यहाँ अनुवाद कर रहे हैं। पुण्यपुञ्ज से भगवान के दर्शन प्राप्त होते हैं-यह सिद्धान्त यहाँ इनको अभिप्रेत नहीं है, सिद्धान्त तो यही है कि पुण्य से केवल नश्वर लोक की प्राप्ति होती है न कि भगवान की। भगवान तो केवल भक्ति से ही ग्राह्य हैं, तथा ज्ञातुं, द्रष्टुं, प्रवेष्टुं भी हैं, तथापि पुण्य कर्म से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त शुद्ध होने से भाव-भक्ति की योग्यता प्राप्त होती है, तब भगवान् या भक्त की कृपा से भक्ति का उदय होता है, तदनन्तर भगवान् की प्राप्ति होती है। अथवा भक्ति, बिना-'**महत्पादरजोभिषेकं**' के प्राप्त नहीं होती, और '**पुण्य पुञ्ज बिन मिलहिं न सन्ता**'। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति में साक्षात् कारण तो प्रेम अथवा कृपा ही है, तथापि पुण्यपुञ्ज भी परम्परा से कारण माने जा सकते हैं।

सुबोधिनी टीकाकार श्रीचैतन्यदासजी ने पुण्य शब्द से भक्ति का ही ग्रहण किया है, भक्तिमान् ही कृति-पुरुष हैं, कृतिमान पुरुष ही गर्ह्य कर्म का त्याग कर श्रेय कर्म को करता है, श्रेयः कर्म वही है—जिससे परमात्मा की प्रीति हो, तथा आत्मा का कल्याण हो—" **तत्कर्म यत्तन्रेतोषं** "—भागवत। प्रभु को प्रसन्न करनेवाला कर्म "सत्" कहा जाता है, अन्य सकाम पुण्यादिक सभी कर्म असत् हैं (गीता० १७-२६-२७-२८)।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में–यह श्रीराधाजी का दैन्यपूर्ण प्रलाप है–वे कहती हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जो अनन्त पुण्यशाली हैं तथा भाग्यवान् हैं। वे ही भगवान का अनुक्षण दर्शन करने में समर्थ होते हैं, मुझ जैसी अभागिनी के लिये श्रीकृष्ण दर्शन परम दुर्लभ है। शेष अर्थ समान है।

इस श्लोक के साथ पुनर्दर्शनोत्कण्ठा के सात श्लोक समाप्त होते हैं। प्रथम श्लोक से इस ६७ वें श्लोक तक श्रीकृष्ण-विरह-जन्य दुःख तथा दैन्य-पूर्ण उन्माद-प्रलाप के वाक्य हैं। विल्वमंगल को वाह्य दशा के प्रथम और द्वितीय भेद, स्फूर्त्ति-ज्ञान तथा स्फूर्त्ति में साक्षात्कार का भ्रम वर्णन यहाँ समाप्त होता है, अब तृतीय भेद–साक्षात्कार का अगले श्लोक ६८ वें से ६५ पर्यन्त वर्णन है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः

मारः स्वयं नु मधुर-द्युति-मण्डलं नु,
माधुर्यमेव नु मनो-नयनामृतं नु।
वेणो-मृजो नु मम जीवित-वल्लभो नु,
बालोऽयमभ्युदयते मम लोचनाय ॥६८॥

पद्यार्थ— **है कुसुमायुध स्वयं, या कि माधुरी प्रभा का मण्डल है।**
या माधुर्य रूप धर आया चित्त मनोऽमृत-संबल है॥
गोपी-केश-प्रसादनकर्ता या मेरा जीवन धन है—
बाल कृष्ण, मेरे नयनों के लिये हो रहा अंजन है॥

भावार्थ—यह साक्षात् दिव्य कामदेव है, अथवा दिव्य माधुरी प्रभा का मण्डल है, अथवा प्राण और नयन का तृप्तकर्त्ता स्वयं शरीरधारी माधुर्य है, अथवा व्रजराज-नन्दिनी के केश-कलाप को अलंकृत करने वाला मेरा प्राण प्यारा श्यामघन है—यह कौन किशोर मेरे नयनों को आनन्द देने के लिए मेरे सामने प्रकट हो रहा है।

रसिका टीका—मथुरा मण्डल में प्रवेश करने पर विल्वमंगल की श्रीकृष्ण-दर्शनोत्कण्ठा विशेष वृद्धि को प्राप्त हो गई और वे एक उन्माद दशा में श्रीवृन्दावन की ओर दौड़ रहे हैं—इसका वर्णन पहिले हो चुका है। वृन्दावन का पथ शेष हुआ और अब उन्होंने वृन्दावन में प्रवेश किया है। अपनी अनन्त मनोरथ मालाओं के केन्द्र, चिराकांक्षित श्रीवृन्दावन धाम में पदार्पण कर उनका भावावेश आज पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है, और वे सहसा कह उठते हैं—अहा! यही तो मेरे शिक्षा-गुरु भगवान् शिखिपिच्छ-मौलि की क्रीडा-स्थली है। यही तो—

अस्ति स्वस्तरुणी-कराग्र-विगलत् कल्प-प्रसूनाप्लुतं।
वस्तु प्रस्तुत-वेणु-नाद-लहरी-निर्वाण-निर्ध्याकुलम्॥

इत्यादि में वर्णित किशोराकृति गोपी मण्डल मध्य स्थित, रासरसारम्भी वेणु वादनकारी, ज्योतिर्मय 'बाल' श्रीकृष्ण की रास-स्थली यही तो यमुना-पुलिन है। इस प्रकार की भावराशि मानस में समुदित होने पर ज्यों ही कालिन्दी के विस्तृत पुलिन पर दृष्टि पड़ी, त्यों ही विल्वमंगल क्या देखते हैं कि यमुना तट पर स्थित विरहिणी गोपीगण के मध्य में साक्षान्मन्मथ-मन्मथ-सौरी श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ है। उधर वे व्रजाङ्गनाओं के नेत्रों के सन्मुख प्रकट हुए। इधर वही लीला ज्यों की त्यों लीलाशुक के नेत्रों के सम्मुख प्रकट होगई। इसी दर्शन को टीकाकारों ने साक्षात्कार कहकर निर्देश किया है और यही विल्वमंगल की बाह्य दशा का तृतीय प्रकार-भेद है।

विल्वमंगल निरतिशय आनन्दोन्मत्त हो गये। उनको यह निश्चय हो गया कि अबकी बार यह कोई स्फूर्त्ति नहीं है। यह तो साक्षाद्दर्शन ही हैं। अतः आनन्दातिरेक में प्रलापोद्गार निकलने लगे हैं। पूर्व वर्णित प्रलाप सब अदर्शन-जन्य दुःख के कारण उन्माद के प्रलाप थे। अब अट्ठारह श्लोकों में (९५ वें श्लोक पर्यन्त) दर्शन-जनित आनन्दातिशय के उन्माद-प्रलाप हैं।

श्रीकृष्ण दर्शन इतना सुदुर्लभ है कि "कृतपुण्यपुञ्जाः"—सुकृतिमान जनों को सौभाग्य उदय होने पर भी अपने सौभाग्य पर सहसा विश्वास नहीं होता। वे सोचते हैं कि मेरे भाग्य में और यह दुर्लभ वस्तु कैसे? यह शंका, उन्हें वस्तु को करतल-गत करने पर भी, प्रियतम को हृदय का हार बना लेने पर भी बनी ही रहती है और प्रेम के वैचित्र्य भावों का उदय कराती रहती है—यह प्रेम का अमिट स्वभाव है। विल्वमंगल को भी पूर्ववत् स्फूर्त्ति की शंका ने क्षणभर के लिये विह्वल तो कर ही दिया और वे तर्क-वितर्क करते हुए यह श्लोक कहने लगे—

यह कौन मेरे नेत्रों के सामने अति सुन्दर रूप से बार-बार प्रकट हो रहा है?

"**मारः स्वयं नु**"—क्या यह स्वयं कामदेव है? अथवा "**य आत्मानं स्फोरयित्वा मां मारयति स एवागतः किमिति**" जो मेरे हृदय में बार-बार प्रकट होकर मुझे मारता ही रहता है, वही मेरा "मार" स्वयं बाहर भी उपस्थित हुआ है क्या? नहीं नहीं, वह तो अत्यन्त निष्ठुर है। वह भला क्यों आने लगा?

"मधुर-द्युति-मण्डलं नु" तो क्या मधुरद्युति चन्द्र-मण्डल है ? अथवा तो 'मार' से कामदेव अर्थ करने पर यह वितर्क होगा कि यह कामदेव नहीं है, कारण कि कामदेव तो अनंग—अगहीन है, अदृश्य है। और यह तो दृश्यमान मधुर-ज्योति है, परन्तु चन्द्रमा में तो केवल मधुर कान्ति का मण्डलमात्र है, फिर यह क्या है ?

"माधुर्यमेव नु" ठीक है !—यह तो परम माधुर्य ही घनीभूत होकर दिव्य मूर्त्तिमान हो गया है। यह अनन्तमाधुर्य का शीतल रस चन्द्रमा के ज्योतिमंडल में कहाँ ? नहीं नहीं, यह माधुर्य भी वहाँ नहीं है, क्योंकि माधुर्य तो केवल एक नेत्र का ही विषय है, तथा नेत्रेन्द्रिय को ही वह आकर्षित करता है, परन्तु यह तो—

"मनोनयनामृतं नु" मेरे मन-नयन तथा इनसे उपलक्षित नासिका, श्रवण आदि समस्त इन्द्रियों के लिये अमृतस्वरूप हो रहा है। यह तो मेरे रोम-रोम का रसायन है, परमाह्लादक है। नहीं, नहीं; यह केवल अमृत भी नहीं है, अमृत तो द्रवमात्र होता है। और यह ऐन्द्री (इन्द्रलोक का) चान्द्री (चन्द्रमा का) आदि सर्व विध अमृत का घनीभूत बीज स्वरूप है।

विल्वमंगल पुनः विशेष दर्शन कर कहने लगे—'हाँ हाँ, अब निश्चय हो गया—यह तो—

"वेणीमृजोनु" व्रजसुन्दरियों के केश-प्रसाधन करने वाले हैं और—

वेणी गूंथि कहा कोऊ जाने, मेरी-सी तेरी सौं।
बिच बिच फूल सेत पीत राते को करि सकै एरी सौं॥ —हरिदास

—यह कह कर व्रजसुन्दरियों की वेणी गूँथने वाले हैं।

अथवा **"वेण्या मृजा मार्जनं यस्य सः"**—वृन्दावन से गोचारण कर संध्या काल में व्रज को आगमन करने पर गोपियाँ अपनी वेणी-कुल के द्वारा जिनके पाद-पद्मों की रज का मार्जन किया करती हैं- यह वे ही हैं। गोपियों के लिये जो ऐसे प्राणाधिक प्रिय हैं, तो मैं भी तो उन्हीं का अनुगत हूँ, अतएव **"मम जीवितवल्लभो नु"** क्या वह मेरे भी प्राणप्रिय नहीं हैं ? हैं, अवश्य हैं ! उनके बिना निमिषार्द्ध के लिये भी मेरे प्राणों की स्थिति असम्भव है, ऐसा वह कोई निरुपम रसमय रसायन है, जिसका कि मेरे नेत्रों के सन्मुख अभ्युदय हो रहा है।

इस अन्तिम 'नु' का प्रयोग वितर्क में नहीं है, प्रश्न में हुआ है।

तात्पर्य यह है कि मेरे सन्मुख जो श्रीकृष्ण आविर्भूत हैं; ये रूप, कान्ति, माधुर्य, मनोनयनाह्लादकता, जीवन-रसायनता और परमानन्द साम्राज्य—सब में आश्चर्यतम असमोर्द्ध हैं।

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में—श्रीकृष्णान्वेषण - परायण विरहिणी, यमुनातटस्थित गोपीगण के मध्य में श्रीकृष्ण के प्रकट होने पर श्रीराधा परमानन्द को प्राप्त हो जाती हैं। तथापि अपने नेत्रों पर उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता। वे तर्क-वितर्क करती हैं और अन्त में यह निश्चय कर लेती हैं कि यह तो मेरे ही प्राणनाथ जीवनधन श्रीकृष्ण ही मेरे तृषित नेत्रों को शीतल करने के लिए पधारे हैं—यह सत्य है, भ्रम नहीं है।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

बालोऽयमालोल-विलोचनेन वदत्रेण चित्रीकृत-दिङ्मुखेन।
वेषेण घोषोचित - भूषणेन मुग्धेन दुग्धे नयनोत्सवं नः॥६९॥

पद्यार्थ— **यह कमनीय किशोर-शिरोमणि अपने लोल विलोचन से।**
दिङ्मण्डल को आभामय करनेवाले मुखरोचन से॥
गोप-वेष-भूषा से भूषित अलंकरण से यह अभिराम।
दुहता है मेरे नयनों को मोदभरा उत्सव अविराम॥

भावार्थ—यह सुकुमार किशोर अपने चंचल नेत्रों से, चतुर्दिक कान्ति की कमनीय रश्मियाँ विकीर्ण करनेवाले अपने मुखमयंक से और अपने अतिशय सुन्दर घोषोचित वेष-विभूषण से हमारे नेत्रों के लिए आनन्द का संदोहन कर रहा है।

रसिका टीका—श्रीकृष्ण सर्वेन्द्रियों के आह्लादकारक हैं। उनकी नयनानन्दकारिता का वर्णन करते हुए विल्वमंगल श्रीकृष्ण की ओर अँगुली से संकेत करते हुए कहने लगे—

"यह सुकुमार किशोर बालक अपने मनोहर वदन तथा मनोहर वेश के द्वारा हमारे नयनों के उत्सव को असाधारण आनन्द से परिपूर्ण कर रहा है।"

श्रीकृष्ण का वह वदन—अतिशय चपल तथा सतृष्णलोचनयुक्त हो रहा है; कारण यह है कि रासमण्डल में गोपियों को अकस्मात त्याग कर अन्तर्निहित हो जाने के कारण जो एक अपराध बन गया था, श्रीकृष्ण उस अपराध के भय से समस्त गोपियों को दर्शन देकर उनसे क्षमा-याचना करने तथा उनको प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रार्थना कर रहे हैं, उस समय उनके

नेत्र अतिशय चंचल होकर सब ओर को भ्रमण कर रहे हैं। शत-शत कोटि गोपियों के प्रति उनके चंचल नेत्र मानो यह कह रहे हैं कि "हे व्रजदेवियो ! मेरे अपराध को क्षमा करो ! मैं जैसा भी हूँ तुम्हारा ही हूँ। मेरी ओर कृपादृष्टि से अवलोकन करो"। इन वाक्यों के उच्चारण करते समय श्रीकृष्ण के नेत्र चंचल तथा सतृष्ण हो रहे हैं।

ऐसे लोचन-युगल से युक्त श्रीकृष्ण के वदन पर स्थित अधरोष्ठ की अरुण कान्ति, नयनों की त्रिविध कान्ति, मन्दस्मित की धवल कान्ति कुञ्चित अलकावलियों की श्यामल कान्ति, कंचनमय कुण्डल युगल की पीत कान्ति, तथा गुञ्जा, धातुराग, पल्लव, प्रभृति की विचित्र कान्तियों के द्वारा दसों दिशाएँ चित्रित हो गई हैं—"**चित्रीकृतदिङ्मुखम्**"—

केशच्छवि-तिलकच्छवि-नयनच्छवि-सुस्मितच्छविभिः
अधरच्छवि-वहुरन्नाञ्चित-काञ्चन-कुण्डलच्छविभिः।
परम-सुचिक्कण-कृष्णादिक-वर्णादिभिर्दिशश्चित्राः
कुर्वदतिमोहनं श्रीमुखं स्मरत राधिकाबन्धोः॥

ऐसी उनके श्रीमुख की शोभा है और उसका वेश भी ऐसा ही सुन्दर और गोपोचित है। गोपवेश में तीन शृङ्गार प्रधान हैं—(१) आभूषणों में—मयूर पुच्छावतंस (मोर मुकुट, गुञ्जमाला, तथा वनमाला—(२) वसन में—झगा, कटिकाछनी, अथवा पीताम्बर और (३) वंशी।

व्रज में श्रीकृष्ण के तीन प्रकार के वस्त्र-शृङ्गार हैं। यथा—

"**युगं चतुष्कं भूमिष्ठं वसनं त्रिविधं हरेः**"—**भक्तिरसामृतसिंधु**

१. युग वसन–परिधान – पीताम्बर-और उत्तरीय।

२. चतुष्क वसन–झगा, पाग, फेंटा तथा उत्तरीय।

"**चतुष्कं कञ्चुकोष्णीष-तुन्दबन्धोत्तरीयकम्**" —**भक्तिरसामृतसिंधु**

३. भूमिष्ठ वसन–यह पचरंगी बहुरङ्गी कटिकाछनी शृंगार है। यथा

खण्डिताखण्डितं भूरि नटवेष-क्रियोचितम्।
अनेक-वर्ण-वसनं भूमिष्ठं कथितं बुधैः॥ —भक्तिरसामृतसिंधु

इस शृङ्गार की छटा एक भक्त के भावों में देखिये—

लाल इजार हरो अति चारु झगा तन में फबे घूमघुमारो।
तापर पीत पिछोरा दुछोरवा छोरन पै छवि लाल संवारो॥

बाजू कड़े पहुँचे मुँदरी कर वेनु बजावत नैन निहारो।
गुञ्जहरा वनमाल विलोकि कै 'श्रीहरिदेव' लगै अति प्यारो ॥

× × ×

धीर समीर के तीर खड़े, छवि जात नहीं वरनै अति भारी।
हाथ धरे वंशी कटि में तनिया छवि भाल लसै अति प्यारी।
गुंजहरा वनमाल गरे संग ग्वाल करै बहु ख्याल खिलारी।
रे मन 'श्री हरिदेव' निहारु वृथा मत भूलै रे मान अनारी ॥

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में श्रीकृष्ण के प्रकट होने पर उनकी माधुर्यपूर्ण आनन्द छटा से श्रीराधाजी के समस्त इन्द्रिय-कुल को अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ, और वे उस माधुर्य के वर्णन में प्रवृत्त होती हुई प्रथम नयनोत्सव का वर्णन करती हैं कि यह श्रीकृष्ण का मनोहर मुखचन्द्र तथा गोप-वेश हमारे नयनों के आनन्द को वर्द्धन कर रहा है। शेष अर्थ पहले जैसा ही है।

मूल श्लोक वसन्ततिलकं छन्दः—

आन्दोलिताग्र-भुजमाकुल-लोल-नेत्र—
मार्द्र-स्मितार्द्र-वदनाम्बुज-चन्द्र-विम्बम्।
शिञ्जान-भूषण-चितं शिखि-पिच्छ-मौलि,
शीतं विलोचन-रसायनमभ्युपैति ॥७०॥

पद्यार्थ— अपने कर-पल्लव थिरकाता, चंचल नयन नचाता है।
मुग्धस्मित रेखा से मुख-पंकज-मयंक सरसाता है॥
भूषण रुनुक-झुनुक करते, सिर पर चन्द्रक इठलाता है।
रोम-राशि पुलकाता शीतल नयन-रसायन आता है॥

भावार्थ—हिलते हुए कर पल्लव, अधीर एवं चपल विलोचन और स्निग्ध मुसकान से विकसित कंज-कलाधर-तुल्य मुख-मण्डल—अहा! मेरे नेत्रों को शीतल करनेवाला यह रसायन-स्वरूप किशोर-माधुर्य मेरी ओर आ रहा है।

रसिका टीका—अपने समीप आगमन करते हुए श्रीकृष्ण का दर्शन कर विल्वमंगल इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण के नयनाह्लादकारी माधुर्य का वर्णन कर रहे हैं—

"अहा! यह स्निग्ध नेत्र-रसायन मेरे सन्मुख आगमन कर रहा है,

यह रस का अयन है, पान-पात्र है। **"रस ईयते अनुभूयतेऽनेनेति रसायनम्"**—इसके द्वारा ही महा मधुर रस का अनुभव होता है। अन्यत्र तो पात्र में रस होता है पात्र ही रस रूप हो—ऐसा कहीं नहीं, परन्तु श्रीकृष्ण तो रस-पात्र भी हैं और स्वयं रस-रूप भी हैं। तथा मधुर भी हैं और मादक भी हैं।

परम भागवत श्री सहचरीशरणजी के शब्दों में सुनिये—रूप रस की क्या ही सुन्दर बूँटी छानी है—

रूप अनूपम सरस मसाले रिस मिरचें गुण खानी।
मृदु मुसिक्यान मिली वर शक्कर छवि श्यामा पय छानी॥
'सहचरि शरण' मदन यह कीन्हीं रसिकन को सुखदानी।
प्रभा श्याम की सिद्धबूँटिमय छकनि छकत मन मानी॥

आगमन के समय श्रीकृष्ण की शोभा अनिर्वचनीय है—

इनकी भुजाएँ लता की भाँति झूमती, हिलती-डुलती हस्ति-तुण्ड को लज्जित कर रही हैं, करुणा के सागर इनके लोचन आकुल तथा चंचल हो रहे हैं, (इस चंचलता का कारण पूर्व श्लोक में वर्णित हो चुका है) और इनका मुख-कमल मन्द हास्य के द्वारा आर्द्र—सरस हो रहा है। यह मुख प्रफुल्लित है, सुरभित है तथा रसपूर्ण है, अतएव यह पद्म है तथा इस मुख में शीतलता माधुर्य तथा कान्ति विद्यमान हैं, अतएव यह चन्द्र है। यह हस्त में कंकण, कटि में किंकिणी तथा चरणों में नूपुर की मधुर ध्वनि से संयुक्त हैं तथा शिखिपुच्छ का मुकुट धारण किए हुए हैं।

अन्तरङ्ग लीला परक अर्थ में—श्रीकृष्ण के प्रकट होने पर **"काचित्कराम्बुजं शौरेः जगृहे"** (भागवत १०-३२-४) के अनुसार गोपियाँ रासमण्डल में श्रीकृष्ण की भुजाओं से, कटि से, गले से लिपट गई हैं।

इस प्रकार मानो गोपियों के साथ श्रीकृष्ण नृत्य-गति से आगमन कर रहे हैं—उनके बाहु-युगल आन्दोलित हो रहे हैं। उनके अङ्ग पर विविध आभूषणों में-से मधुर ध्वनि निर्गत हो रही है। ऐसे श्रीकृष्ण के दर्शन कर श्रीराधा के नयन अतिशय तृप्त हुए और उन्होंने सखियों के प्रति जो वचन कहे, वे इस श्लोक में वर्णित हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् ही है।

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः

पशुपाल-बाल-परिषद्विभूषणः शिशुरेष शीतल-विलोललोचनः।
मृदुल-स्मितार्द्र-वदनेन्दु-सम्पदा मदयन्मदीय-हृदयं विगाहते॥७१॥

पद्यार्थ— अलंकार यह गोपलली कुल का शिशु सुन्दर।
शीतल चपल विलोचन, ज्यों चंचल इन्दीवर॥
मृदुल स्मित से सिक्त मुखेन्दु-मयूख-जाल से—
कर उन्मत्त, मदीय हृदय में आया छल से॥

भावार्थ—गोप कुमारियों की मण्डली का अलंकार तथा शीतल और चपल-चपल नेत्रों वाला यह नवल किशोर मृदुल मुस्कराहट से सरस अपने मुख-मयंक की सौन्दर्य-सम्पदा से हमें मदहोश करता हुआ हमारे हृदय में प्रविष्ट होता जा रहा है।

रसिका टीका—समस्त इन्द्रियों को आह्लादित करने वाले आश्चर्य पूर्ण श्रीकृष्ण के माधुर्य से अतिशय आनन्दित होकर विल्वमंगल बोले—अहा! गोप-बालाओं की सभा का परम भूषण स्वरूप, चन्द्रवत् सुशीतल-चंचल-लोचन-युक्त यह किशोर श्रीकृष्ण, अपने मृदु-मधुर हास्य के द्वारा सरस मुख-चन्द्र की सम्पदा से समस्त जगत को आनन्दित करता हुआ मेरे हृदय में विशेष रूप से प्रवेश कर रहा है, अर्थात् मेरे रोम-रोम में व्याप्त हो रहा है।

"**पशुपाल-बाल-परिषद्-विभूषण**" वाक्य के यहाँ दो प्रकार से अर्थ ग्राह्य हैं—

(१) पशु-पालक अर्थात् गोप-गण, उनके बालक अर्थात् गोपकुमार-गण, उनकी सभा के भूषण-स्वरूप श्रीकृष्ण। परन्तु यहाँ गोपकुमारों का प्रसङ्ग नहीं है, यहाँ प्रकरण में गोपकुमारियों का प्रसङ्ग है अतएव द्वितीय अर्थ संगत प्रतीत होता है।

(२) पशुपालक अर्थात् गोप-गण—उनकी बाला अर्थात् कन्यागण—गोप कुमारी-गण, उनकी सभा के भूषण स्वरूप श्रीकृष्ण! यहाँ 'बाला' पद का कर्मधारय समास में 'बाल' हो गया है। "पुवद्भावः" (पाणिनि व्या०)

श्रीकृष्ण जब प्रकट हुए तब प्रथम तो सब गोपियाँ उनसे मिलीं, फिर उन्होंने अपनी-अपनी ओढ़नी उतार कर यमुना की सुकोमल बालुका पर बिछादी और श्रीकृष्ण को उस उज्ज्वल विशाल आसन पर विराजमान कराया। गोपियों ने कुंकुमसिक्त उरोज से संश्लिष्ट अपने उत्तरीय परिधान-वस्त्र को प्रियतम श्यामसुन्दर के बिठाने का आसन बनाया, श्री नन्ददास जी के शब्दों में उस आसन की बात सुनिये—

कहुँ काजर कहुं कुंकुम कहुँ जो पीक लीक वर।
तहँ राजत नँदनंद वृन्द कन्दर्प-दर्प-हर॥

जोगी जन वन जाय यत्न करि कोटि जन्म पचि।
अति निर्मल करि राखें हिय में आसन रचि रचि ।।
कछु छिन तहँ नहिं जात नवल नागर सुन्दर हरि।
व्रज युवतिन के अंवर पर बैठे अति रुचि करि ।।
कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड यद्यपि इकठहि ठकुराई।
व्रज देविन की सभा साँवरे अति छवि पाई ।। —नन्ददास

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड के नायक आज व्रज-युवति जनों की सभा के सभापति बने हैं, इसे देखकर श्रीशुकदेवजी बोल उठे—

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरः योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपी-परिषद्गतोऽचितस्त्रैलोक्य - लक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधत् ।।
—१०-३२-१४

इस श्लोक में कहा गया है कि 'गोपीगण की सभा में उनके द्वारा सम्मानित होने पर श्रीकृष्ण परम शोभा को प्राप्त हुए, तथा उस समय उनका विग्रह त्रिलोकी की शोभा का आधार बन गया था। गोपियों की सभा में सुशोभित श्रीकृष्ण की ओर लक्ष्य करके ही विल्वमंगल भी कह रहे हैं— "पशुपाल-बाल-परिषद् विभूषणः !" यह श्रीकृष्ण गोपकुमारियों के परिषद् का विभूषण स्वरूप है।

गोपी-परिषद् में सभापति पद पर विराजमान श्रीकृष्ण का आदर-सत्कार तो हो चुका, अब रासलीला में रस-गोष्ठी प्रारम्भ हुई है। व्रज-नागरी गोपीगण और व्रजनागर रसिकशेखर के मध्य अब वाग्विलास आरम्भ हुआ है। आज व्रज की गँवार कही जाने वाली ग्वालिनी प्रेम के देवता की प्रेम परीक्षा लेने जा रही हैं। त्रिलोकी को नचाने वाला यह नटखट सचमुच इन व्रजबालाओं के कब्जे में ही आता है। ये गोपियाँ इस नटवर को चुल्लूभर छाछ पर सौ-सौ बार नचाती हैं। देखिये, प्रत्यक्षदर्शी रसखान क्या कहते हैं-

शेष महेश गणेश दिनेश, सुरेशहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं।।
नारद से शुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ।।

'आनन्द-वृन्दावन-चम्पूमें–परिषद् में बैठे श्रीकृष्ण और गोपियों के मध्य परस्पर प्रश्नोत्तर के संवाद में गोपियों ने श्रीकृष्ण को निरुत्तर कर दिया है।

संवाद इस प्रकार है गोपियाँ प्रश्न करने लगीं—

गोपी—"कोऽमल-धी:"—श्यामसुन्दर निर्मल मति किसको कहते हैं?

श्रीकृष्ण—"कोमल धी:"—कोमल मति जिसकी है, वही निर्मल मति है।

गोपी—(परस्पर में) "सखियो! इनकी मति कैसी है, निर्मल है अथवा मलिन है?" (उत्तर) आपस में ही कहती हैं कि इनकी मति तो मलिन है, कारण कि कोमल नहीं है, कठोर है।

गोपी—"का महिता" ? अच्छा प्यारे! यह बताओ, श्रेष्ठ कौन है ?

श्रीकृष्ण—"काम हिता" जो अपने काम में तत्पर है, वही श्रेष्ठ है।

गोपी—(परस्पर में) सखियो! अपने काम में ये तत्पर हैं अथवा हम तत्पर हैं ? (उत्तर) हम तत्पर हैं, कारण कि इन्होंने तो हमको वन में बुला कर त्याग दिया, कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, परन्तु इनके त्याग देने पर भी हमने इनको नहीं त्यागा। हम तो अपने कार्य में तत्पर बनी रहीं, अर्थात् इनका स्मरण-चिन्तन नहीं छोड़ा, और इन्होंने हमको भुला दिया—ये चूक गये। गोपियों ने पुन: प्रसङ्ग बदल कर कहा—

गोपी—'कोऽपचय: ?' त्याग-योग्य वस्तु क्या है, प्यारे ?

श्रीकृष्ण ने सम्हल कर उत्तर दिया—'कोपचय:'—सखियो! क्रोध त्याग के योग्य है।

गोपियाँ पुन: परस्पर कहती हैं—

गोपी—सखियो! इन्होंने क्रोध का त्याग कर दिया है न ? (उत्तर-व्यङ्ग) क्यों नहीं सखी! तभी तो इन्होंने हमको ही नहीं, हमारी राजदुलारी श्रीराधा को भी रुला-रुलाकर मूर्छित कर दिया था! ऐसे हैं ये क्रोध शून्य!

गोपी—"मधुरा का ?" प्यारे श्यामसुन्दर! एक बात और बताओ? मधुर वस्तु क्या है ?

श्रीकृष्ण—'मधुराका'—सखियो! बसन्त की पूर्णिमा और उससे भी अधिक मधुर शरद की पूर्णिमा है।

गोपी—परन्तु कृष्ण! तुमने तो मधुर पूर्णिमा को भी भयंकर बना दिया! बलिहारी तुम्हारी रसिकशेखरता पर! तुम्हें मीठे और कड़वे का भी ध्यान नहीं है, यह मधुर शरद्पूर्णिमा क्या तुमने अपने व्यवहार से कटु नहीं बना दी है ?

गोपी—'क उपास्यो ?' अच्छा, उपासना के योग्य कौन है लालजी ?

श्रीकृष्ण—'यो रसवान्'-जो रसिक है, रसवान् है, वही उपासना के योग्य है।

गोपी—'कः सरसो ?' तो ऐसा रस भरा हुआ रस का आगार रसवान् कौन है ?

श्रीकृष्ण—'यः पदं प्रेम्णः'-सखियो ! जो प्रेम का धाम है वही रसिक है, रस का श्रेष्ठ स्थान है !

गोपी—'किं प्रेम ?' तो प्रेम वस्तु क्या है, नाथ ?

श्रीकृष्ण—'यदवियोगः'-जहाँ वियोग नहीं, वह प्रेम है, निमिषार्ध को भी जहाँ प्रिय का चिन्तन-स्मरण दूर नहीं होता।

गोपी—'कः स वियोगो'-वह वियोग कैसा होता है मोहन ?

श्रीकृष्ण—'न येन जीवन्ति'-जिसके द्वारा प्राण नहीं बचते, वह वियोग है (यह कटाक्ष था तो गोपियों के प्रति, परन्तु पड़ा अपने ही ऊपर) क्योंकि गोपी परस्पर कहने लगीं—

गोपी—(परस्पर में) सखियो ! ये उपासना करने योग्य रसिक हैं ! प्रेमी हैं न ? (उत्तर) हाँ ! सखी ! इन्होंने रसिक प्रेमी के जो लक्षण बतलाये हैं-उसके अनुसार तो ये उपासना करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि हमारे वियोग में तो ये हँसते-खेलते रहे, और हम रोती-मरती रहीं !

गोपियों के उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण निरुत्तर हो गये ! परन्तु परीक्षा अभी समाप्त नहीं हुई, गोपियों ने पुनः तीन प्रश्न किये—(देखिये प्रथम श्लोक में "शिक्षागुरु" की व्याख्या)। श्रीकृष्ण ने भी बहुत कुछ चतुराई से उत्तर दिया, परन्तु अन्त में "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां०"—कहकर श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेम से परास्त होगये, और उनका चिरऋणी बनना पड़ा—

तब बोले ब्रजराज कुंवर हौं ऋनी तिहारो।
अपने मन ते दूरि करो किन दोष हमारो॥
कोटि कल्प लगि तुम प्रति-प्रति उपकार करों जो।
हे मन-हरनी तरुनी ! उरिनी नांहि तबौं तो॥
सकल विश्व अपवस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहिं मोहति है॥ —नंददास

इस प्रकार श्रीकृष्ण की कोमल कान्त पदावली का श्रवण और उनके चन्द्रवदन की माधुर्यमयी संपदा को प्राप्त कर गोपियों की मनोव्यथा समाप्त

हो गई। और उनका रोम-रोम आनन्द से प्रफुल्लित हो गया, इधर श्रीकृष्ण की इस प्रेमाधीन माधुर्यमयी लीला का अनुभव करके विल्वमंगल का हृदय भी विशेष आनन्द से व्याप्त होगया, और वे बोल उठे—**'सम्पदा, मदयन्मदीय हृदयं विगाहते।**

अन्तरंग लीलापरक अर्थ में यह उक्ति श्रीराधाजी की है, शेष अर्थ समान ही है।

मूल श्लोक तोटक छन्दः—

किमिदमधर-वीथी-क्लृप्त-वंशी-निनादं,
किरति नयनयोर्नः कामपि प्रेम-धाराम्।
तदिदममर-वीथी-दुर्लभं बल्लभं न—
स्त्रिभुवन-कमनीयं दैवतं जीवतं च ॥७२॥

पद्यार्थ— **अधर वीथि पर नर्तन करता वंशी रव अतिशय सुकुमार।**
इन नयनों से प्रवहमान हो रही अचिन्त्य प्रेम की धार॥
अहा कौन यह—अमर लोक में भी दुर्लभ, त्रैलोक्य ललाम।
अरे यही हैं भाग्य विधाता मेरे प्राणों के विश्राम॥

भावार्थ— जिनकी अधर वीथिका पर वंशी निनाद अतिशय मनोहर नर्तन कर रहा है और जो अपने नयनों से किसी अनिर्वचनीय प्रेम-धारा की वर्षा कर रहे हैं—ये कौन हैं? अहा! ये तो वे ही हैं—त्रिभुवन-सुन्दर, देवसमूह में भी दुर्लभ, मेरे भाग्य-विधाता, मेरे प्रियतम, मेरे जीवन प्राण?

रसिका टीका—श्रीकृष्ण के रूप का तीन श्लोकों में सामान्य रूप से वर्णन कर अब उसका विशेष रूप से वर्णन करते हुए विल्वमंगल कहते हैं—

"**किमिदम्**" यह विलक्षण वस्तु क्या है जो मेरे नेत्रों के सन्मुख प्रकाश मान हो रही है, और जो अपने नेत्रों से कोई एक अनिर्वचनीय प्रेम धारा की वर्षा कर रही है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण, विरहणी-गोपियों के मध्य में प्रकट होकर चारों ओर सबके प्रति करुणार्द्र तथा स्नेह-सिक्त, नयनों से अवलोकन कर रहे हैं, जिससे कि प्रत्येक गोपी को यही प्रतीत होरहा है कि मेरे प्राणनाथ मुझ पर ही प्रेम की वर्षा करके मेरे सन्ताप को निवारण कर रहे हैं। अतएव उन्हें ऐसा लग रहा है कि—**'नः नयनयोः कामपि प्रेम धारां किरतिः**"

"**कामपि**" से तात्पर्य यह है कि उस प्रेम की जाति तथा उसका परि-

णाम, भाषा का विषय नहीं है। भक्त का भगवत्प्रेम ही जब अनिर्वचनीय है, तब, यदि आत्माराम आप्तकाम भगवान का भक्त प्रेम, उस पर भी मधुर प्रेम, महान् और अनिर्वचनीय हो, तो सन्देह ही क्या ?

भक्त के नेत्रों से प्रवाहित होने वाला अश्रुजल जब महामधुर अलौकिक कहा जाता है, तो भक्त के प्रेम में भगवान् के नेत्रों से प्रवाहित अश्रुजल के लिये क्या कहा जाय ? अतएव **'कामपि'**—कह कर उसकी ओर संकेत-मात्र कर दिया गया है। भक्तों के अंग में जैसे भगवान् के सम्बन्ध से अश्रु-पुलक-स्वरभंगादि सात्त्विक भाव उदय होते हैं, वैसे ही भगवान् के श्रीअंग में भी भक्तों के सम्बन्ध से सात्त्विक भाव उदय होते हैं।

भक्त के भाव के अनुसार भगवान का भाव भी बदलता है, कुछ दृष्टान्त देखिये—

यस्मिन् भगवतो नेत्रात् न्यपतन्नश्रुविन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्॥ —भागवत ३-२१-३८

—शरणागत कर्दम मुनि के प्रति अर्पित अतिशय प्रेम के कारण भगवान् के नेत्रों से अश्रु-विन्दु प्रवाहित हुए, उसी अश्रु-नीर से 'विन्दुसर' नामक सरोवर बन गया।"

यह दास्य प्रीति के द्वारा भगवान् में प्रेमार्द्रता का दृष्टान्त है। दूसरा वात्सल्य प्रीति के प्रति भगवान् की प्रेमार्द्रता देखिये—

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च।
न किञ्चिनोचतुः प्रेम्णा साश्रु कण्ठौ कुरुद्वह॥
—भागवत १०-८२-३५

सौ वर्ष पूर्व व्रज से बिछुड़े हुए कृष्ण-बलराम कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण के समय जब अपने माता-पिता नन्द-यशोदाजी से मिले तो अधीर होकर उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे, श्रीशुकदेवजी भी उस दृश्य को देखकर केवल इतना ही कह पाये कि'—'हे कुरुवंशधर परीक्षित ! श्रीकृष्ण-बलराम ने अपने माता-पिता का आलिंगन तथा अभिवादन तो किया, परन्तु मुख से कुछ भी बोल नहीं सके, क्योंकि उनका कण्ठ अश्रु-वाष्प द्वारा गद्-गद् हो गया था।"

सख्य प्रीति में प्रेमार्द्रता— गुरुकुल का सहपाठी परम सखा सुदामा विप्र जब भगवान से मिलने द्वारिका पहुँचा तो श्रीकृष्ण रुक्मिणी के साथ पलंग पर विराजमान थे, मित्र को घर आया देख भगवान सहसा उठकर उसके समीप

गये और अपनी भुजाओं में लपेट लिया और श्रीकृष्ण परमानन्द में डूब गये। प्रिय सखा विप्रश्रेष्ठ सुदामा के अग-संग से परमानन्दित कमल-नयन वाले श्रीकृष्ण के नयन कमलों से भी अश्रु-धारा प्रवाहित हो चलीं—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥

—भागवत १०-८०-१६

परन्तु वे आनन्दाश्रु शीघ्र ही दुःख के श्रोत बनकर बह निकले, भक्त-वत्सल करुणा-निधि श्रीकृष्ण सखा के जीर्ण-शीर्ण तन-वदन को देखकर रो पड़े और कहने लगे—

कैसे बिहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल गडे पुनि जोये।
हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि कै करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहीं, नैनन के जल सों पग धोये॥

जैसे दास की सेवा से, सखा के प्रणय से तथा माता-पिता के स्नेह से श्रीकृष्ण का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और उनके श्रीअंग में अश्रु, रोमाञ्च, पुलकादि सात्त्विक भावों का उदय हो आता है, ठीक इसी प्रकार कान्ता-भाववती गोपियों की मधुरा रति से श्रीकृष्ण के अंग में सात्त्विक विकारों का उदय हो आता है। जैसा कि श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं—

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना॥

—भागवत १०-३३-२१

"गोपियों के साथ अति बिहार के कारण परिश्रान्त होने पर प्रेमार्द्र-करुण श्रीकृष्ण ने अपने मंगल-मय हस्त-कमल से उनके वदन के श्रम-कणों का मार्जन किया, अर्थात् श्रम-विन्दुओं को अपने हाथ पोंछ दिया था।

स्वयं विल्वमंगल ने भी "**कमला-कुच-कलसी-भर-विपुलो-कृत-पुलकम्**" (श्लोक १८) में श्रीकृष्ण के पुलक का तथा "**प्रेमोद्भेद विनिर्गत-प्रसृमर-प्रव्यक्त-रोमोद्गमम्**" (श्लोक २१) में रोमांच का वर्णन किया है।

इन उदाहरणों से हमारा तात्पर्य भक्ति-रस के दो सिद्धान्तों की ओर संकेत करना है—

(१) यहाँ स्वरूपानन्द की अपेक्षा भक्त्यानन्द को विशेषता है, अर्थात् भक्त को जैसे भगवान् के दर्शन से एवं परस्पर के मिलन से परमानन्द की

प्राप्ति होती है, वैसे ही भगवान् को भी भक्तों के दर्शन तथा अंग-संग से परमानन्द मिलता है, आनन्दमय भगवान को भी और अधिक आनन्दित कर देना,—भक्तों का ही काम (प्रेम) है। विस्तृत विचार आगे ७३ वें श्लोक में किया जायेगा।

(२) माधुर्यमय भगवत्वरूप की रक्षा, प्रेमी भक्त के भावानुकूल व्यवहार में ही होती है, दास-भक्त के प्रति स्वामी की भाँति, सखा-भक्त के प्रति सखा की भाँति, वात्सल्य-भाव-वाले भक्तों के प्रति पुत्र की भाँति तथा कान्ता-भाव वाली गोपियों के प्रति कान्त की भाँति व्यवहार करने से ही—**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"**—इस प्रतिज्ञा की रक्षा होती है, तथा भक्त की कामना परिपूर्ण होने से ही लीलारसमाधुरी की भी रक्षा होती है।

इसीलिये इस श्लोक में **"कामपि प्रेम धाराम्"** से तात्पर्य–उस विलक्षण स्वरूपानन्द से भी अधिक विशुद्ध उस रसात्मक प्रेम-धारा से है, जो मधुर-रतिमती गोपियों की सन्निधि से श्रीकृष्ण के हृदय में उच्छलित हुई, और श्रीकृष्ण के नेत्र द्वार से प्रवाहित होकर गोपियों को भी प्लावित करने लगी थीं।

इस विलक्षण प्रेम धारा से अभिषिक्त एवं मधुरीकृत मूर्त्ति के दर्शन कर विल्वमंगल ने भी चकित होकर प्रश्न किया—**"किमिदम्"** यह क्या विलक्षण वस्तु है? फिर तत्काल ही उनके हृदय ने समाधान कर दिया—**"नो दैवतमिदम्"**–अर्थात् यह हमारा दैवत है, भाग्य का विधाता है। किन्तु विधाता तो सदा ही अपनी क्रूरता के कारण सभी का अप्रिय रहा है, परन्तु हमारा यह देवता तो सदा "वल्लभ" है, परमप्रिय है। प्रिय ही नहीं अपितु **'जीवतं च'** जीवन-प्राण भी है, आत्मा भी है। स्त्री, पुत्र, पति—सब ही तो प्रिय होते हैं; परन्तु वे 'जीवन-प्राण' नहीं होते, क्योंकि मनुष्य उनके बिना भी जीवित ही रहते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण वास्तविक जीवन हैं, प्राण हैं, आत्मा हैं—क्योंकि उनके बिना एक निमिषार्द्ध भी जीवन का टिक पाना सम्भव नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण ही हमारे वल्लभ हैं, श्रीकृष्ण ही हमारे जीवनाधार प्राण हैं, प्राणाधार आत्मा हैं।

परन्तु यह पहचान कैसे हो कि यह 'वस्तु' श्रीकृष्ण की है?

उनका परिचय तो उनकी वंशी देती है–**'अधरवीथिक्लृप्त–वंशीनिनादम्'** इनके अधर-वीथी पर वंशीध्वनि का जो विहार हो रहा है, वह—**'अमरवीथी**

दुर्लभम् है''—स्वर्ग से आरम्भ कर वैकुण्ठ पर्यन्त के देवताओं में यह दुर्लभ है। (देखिये श्लोक ९७) अतएव यह मुरलीधर नवलकिशोर गोपमूर्त्ति ही त्रिभुवन सुन्दर है, कमनीय कान्त है, हृदयङ्गम योग्य है।

इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में श्लोक ५५ में विल्वमंगल शपथ पूर्वक कह चुके हैं कि—**'सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि'**।

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—श्रीराधाजी कह रही हैं—"सखियो! मेरे सन्मुख यह कैसा एक अपूर्व रसमय विग्रह उदित हो रहा है? हाँ हाँ! यह निश्चय ही हमारे देवता हैं—एक मात्र आराध्य देव हैं! परन्तु यह अन्य देवताओं की भाँति केवल पूजा के ही देवता नहीं, हमारे तो ये प्राणों के भी देवता हैं, प्रिय हैं—बल्लभ हैं। नहीं नहीं, यह प्राणों से पृथक् देवता नहीं, यह तो हमारे प्राण-स्वरूप हैं, जीवन-स्वरूप ही हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् हो है।

मूल श्लोक पुष्पिताग्रा छन्दः—

तददिमुपनतं तमाल-नीलं तरल-विलोचन-तारकाभिरामम्।
मुदित-मुदित-वक्त्र-चन्द्र-विम्बं मुखरित-वेणु-विलासि जीवितं मे॥७३

पद्यार्थ— **तरल विलोचन-ताराबलि से अतिशय लसित और अभिराम।**
महामुदित मुख-चन्द्र मनोहर, नील तमाल तुल्य, छविधाम॥
सस्वर वेणु बजाते, गाते, क्रीडा करते ललित ललाम।
आये पास हमारे प्यासे, प्राणों के जीवन घनश्याम॥

भावार्थ—तमालतरु के सदृश श्याम, चंचल-नयन-तारिका के कारण अत्यन्त अभिराम, पूर्ण चन्द्रमण्डल के सदृश परम प्रसन्न मुखवाले एवं सुरीली मुरली के बजाने में तत्पर—ये मेरे जीवन प्राण मेरे पास ही आगए।

रसिका टीका—श्रीकृष्ण कालिन्दी के तट पर स्थित विरहिणी-गोपियों के मध्य में आविर्भूत हो चुके हैं, गोपियों ने उनका आदर सत्कार किया है, अपने उत्तरीय वस्त्रों के आसन पर उनको विराजमान कर उनसे विदग्ध वार्तालाप भी किया है, श्रीकृष्ण गोपियों के प्रेम के आगे परास्त होकर ऋणी बन गये और क्षमा प्रार्थना की। यह प्रसंग पूर्व श्लोक में वर्णित हो चुका है। तदनन्तर—

सुनि पिय के रह वचन, सबन रिस छांड़ि दियो है।
विहँसत अपने कण्ठन लाल लगाय लियो है॥—नन्ददास

× × ×

अहो प्रेष्ठ ! अहो प्राण प्रियतम ! नैनन तारे ।
हम पै नित नित अमित जू हैं उपकार तिहारे ।।
तुम सम बन्धु सखा प्रियतम अरु नाथ जु को है ।
तुम्हरी यह अति दीनता हमारे प्राणन मोहै ।।
धन्य जु तुम्हरी दीनता प्रभुता सब बिसराई ।
अब जिन ऐसे बोलहु प्रियतम हम हीं दुख दाई ।।
हियमणि, नैनमणि, चूड़ामणि तुम ही हो हमारे ।
बरसहु ब्रज वन माहिं प्रेमानँद जु घनेरे ।।

इस प्रकार जब सम्पूर्ण रस-विरोधी भावों का निरसन होकर एक अपूर्व रसात्मकता का साम्राज्य स्थापित हुआ, तब श्रीकृष्ण ने पुनः रास-विलास प्रारम्भ करने के लिये मधुर-वंशी-वादन प्रारम्भ किया है—इस श्लोक में यही प्रसंग वर्णित है :—

"**मे जीवितम् उपमतम्**"—यह जीवनस्वरूप श्रीकृष्ण हमारे समीप पधारे हैं ।

ये कैसे हैं ? "**मुखरित वेणु विलासि**"—रासविलास के आरम्भ करने के लिये जो वंशी-वादन कर रहे हैं, अथवा जो शब्दायमान वंशी के विलास से शोभा पा रहे हैं ! तथा जो—

"**तमाल-नीलम्**" हैं, सुवर्ण-लता-माला स्वरूप गोप-बालाओं के हृदय में जो तमाल वृक्ष की भाँति सुशोभित हो रहे हैं; अथवा यह मूर्तिमान शृङ्गार-रस ही है । शृङ्गार-रस का वर्ण तमाल वृक्ष के समान श्याम ही माना गया है ।

"**तरल विलोचन तारिकाभिरामम्**"—गोपियों के मुख-चन्द्र का दर्शन करने के लिये इनके नयन-तारक खजन की भाँति महा चंचल हो रहे हैं, अतएव वे अत्यन्त मनोहर लग रहे हैं । अथवा प्रियजनों के चंचल नयन-तारकों को अपनी मनोहारिणी रस-धारा से सर्व प्रकार का सुख प्रदान कर रहे हैं । **अभिरामम्**—**अभितः, सर्वतोभावेन रमयति, सुखयतीति तत्**–अतएव इनका मुख चन्द्र अत्यन्त हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है । न केवल गोपिकाएँ ही भगवान को प्राप्त कर हर्ष से प्रफुल्लित हो रहीं हैं, अपितु भगवान् श्रीकृष्ण भी अपूर्व अनन्य प्रेमवती व्रज वनिताओं को प्राप्त कर परमानन्द से प्रफुल्लित होकर अनुपम शोभा-सम्पन्न माधुर्य का प्रकाश कर रहे हैं । इस परमानन्द प्राप्ति की ओर लक्ष्य करके ही '**मुदित**' शब्द की आवृति की गई है ।

प्रश्न—स्वयं आनन्द-घन-मूर्त्ति, तथा सर्वानन्द—प्रदाता भगवान् श्रीकृष्ण को भी क्या कोई आनन्द प्रदान कर सकता है ?

उ०—हाँ ! भक्तों का 'काम—प्रेम' भगवान् को भी विशेष आलिङ्गन के द्वारा आनन्द प्रदान करता है, अपने हृदय-स्वरूप, आत्म-स्वरूप प्रियजन के दर्शन आलिङ्गन से भगवान् के श्रीअंग में अश्रु, पुलक, रोमांचादि उदय हो आते हैं, यह ७२ वें श्लोक की व्याख्या में दृष्टान्त द्वारा वर्णित हो चुका है, इस सम्बन्ध में श्रीजीवगोस्वामी महानुभाव ने अपने 'प्रीति-सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ में जो विवेचन किया है यहाँ उसका संक्षिप्त सारांश दिया जाता है।

भगवदानन्द के दो भेद हैं १–स्वरूपानंद तथा २–स्वरूप-शक्त्यानंद। श्रीकृष्ण को स्वयं अपने स्वरूप में जो एक प्रकार का सहज आनन्द प्राप्त होता है, वह स्वरूपानन्द है तथा स्वरूप-शक्ति से प्रकट और भगवान् से अभिन्न जो उनके धाम, लीला तथा परिकर हैं, उनसे जो आनन्द भगवान् को प्राप्त होता है उसका नाम स्वरूप शक्त्यानन्द है।

इस स्वरूप शक्त्यानन्द के भी मुख्य तीन भेद हैं। (१) ऐश्वर्यानन्द। (२) मानसानन्द तथा (३) भक्त्यानन्द।

धाम, परिकर तथा लीला की अनन्तता के कारण उनमें जो स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता, सर्वतन्त्रता है, वह उनका ऐश्वर्यानन्द है, और करुणा, उदारता, भक्त-वत्सलता आदि गुणों के प्रकट होने पर उनके चित्त को जो एक विशेष प्रसन्नता होती है, वह उनका मानसानन्द है। करुणा, उदारता आदि अनन्त गुणों के कारण मानसानन्द भी अनन्त प्रकार के हैं। प्रिय परिकरों की भक्ति-प्रीति से जो मनःप्रसाद होता है, उसका नाम भक्त्यानन्द अथवा प्रेमानन्द है।

प्रभु को अपने प्रेमी भक्तों के द्वारा जैसा आनन्द प्राप्त होता है, वैसा और किसी प्रकार से भी आत्मसुख प्राप्त नहीं होता। तभी तो भगवान् ने दुर्वासा ऋषि से कहा—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।

—भागवत ९-४-६३

मैं भक्तजन प्रिय होने से अस्वतंत्र की भाँति भक्त पराधीन हूँ। साधु भक्तजनों ने मेरे हृदय को ग्रसित कर रक्खा है।" "**साधुभिर्ग्रस्तहृदयः**"—कहने से यह स्पष्ट है कि भक्ति के प्रकट होने पर मन की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, इससे भगवान् के मानसानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द का एकाधिपत्य सिद्ध

होता है। जसे मानसानन्द के ऊपर वैसे ही ऐश्वर्यानन्द तथा स्वरूपानन्द के ऊपर भी भक्त्यानन्द का साम्राज्य है यह बात उसी प्रसंग में भगवान् दुर्वासा के प्रति कह रहे हैं—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। —भागवत ९-५-६४

मैं अपने भक्त साधु-गणों के अतिरिक्त अपने आपको तथा अपने आत्यन्तिक संपत्तिशाली वैभव की भी अभिलाषा नहीं करता हूँ—मैं अपने आप की अभिलाषा भी नहीं करता हूँ—इससे स्वरूपानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द की श्रेष्ठता स्थापित होती है, तथा "मैं अपनी समग्र सम्पत्ति की भी अभिलाषा नहीं करता हूँ"—इससे ऐश्वर्यानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द सिद्ध होता है।

पुनः उद्धव के प्रति भी भगवान् श्रीकृष्ण ने यही कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

—भागवत ११-१४-१५

हे उद्धव! परम भक्त होने के कारण तुम मुझको जैसे प्रियतम हो, वैसे मुझे ब्रह्मा, शिव और बलराम भी प्रियतम नहीं हैं, अधिक क्या कहूँ, मेरी परमानन्द मूर्त्ति भी मुझे वैसी प्रियतम नहीं है।

अतएव भक्त के भक्त्यानन्द का भगवान् के स्वरूपानन्द, ऐश्वर्यानन्द तथा मानसानन्द तीनों के ऊपर एकाधिपत्य है। फिर भक्तों की मुकुटमणि, सन्त-शिरमौर व्रज गोपिकाओं का प्रेमानन्द, भगवान् के स्वरूपानन्द के ऊपर प्रतिष्ठित होकर उनको "**मुदित-मुदित**" कहने लगे तो आश्चर्य ही क्या?

प्रश्न—क्या इससे भगवत्स्वरूप की हानि नहीं होती है? विष्णु भगवान् के ऊपर अणु जीव की अणु शक्ति कैसे विजय प्राप्त कर सकती है?

उ०—भक्ति अथवा प्रेम जीव की शक्ति नहीं है, यह तो स्वयं भगवान् की स्वरूप-शक्तिह्लादिनी का सार है। वह शक्ति भगवान्के स्वरूपमें ह्लादिनी कहलाती है, और भक्त के हृदय में अवतीर्ण होकर वही 'भक्ति' या 'प्रेम' कहलाती है। जैसे आकाश की स्वांति बूंद सीप में पड़ते ही मोती बन जाती है, वैसे ही ह्लादिनी शक्ति भी भक्त के हृदय-सीप में पड़ते ही परम विलक्षण वस्तु प्रेम के रूप में परिणत होकर अजित भगवान् को भी वशीभूत कर लेती है, तथा उनको स्वरूपान्तर्गत आनन्द की अपेक्षा अपने स्वयं का अधिक आनन्द प्रदान करती है।

गौ के सर्वाङ्ग में दुग्ध व्यापक होता है, परन्तु उससे गौ की तुष्टि-पुष्टि नहीं होती। उस दुग्ध का दोहन कर गौ को पिला देने पर ही उसकी तुष्टि-पुष्टि होती है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप भगवान् से आनन्दामृत प्रकट होकर भक्त के हृदय में आता है और भक्त पुनः उस आनन्दामृत से एक रसरूप परम आस्वाद्य पदार्थ, अनुराग का चरमोत्कर्ष भाव तैयार कर भगवान् को नैवेद्यरूप में अर्पण कर आनन्दस्वरूप अपने आराध्यदेव को आनन्दित कर देता है। अतएव भगवान् के स्वरूप की हानि नहीं, वृद्धि ही हुई। हानि तो तब होती, जब भक्त्यानन्द भगवान् से पृथक् कोई पदार्थ होता।

यहाँ यह विचारणीय है कि जैसे एक व्यक्ति वंशी बजाकर स्वयं भी प्रसन्न होता है, और दूसरे सुनने वालों को भी प्रसन्न करता है। विचार कीजिये, यह प्रसन्नता कहाँ से आई? वंशीध्वनि तो केवल फूत्कृत वायुमात्र ही है—केवल फूत्कार में यह मनोहारिता कहाँ? वह वायु वंशी से पृथक् होकर न तो अपने को और न किसी दूसरे को ही मुग्ध कर सकती है। किन्तु जब वही वायु वंशी के सप्त छिद्रों के द्वार से निकलती है, तो उसमें अद्भुत् चमत्कार भर जाता है, ऐसे ही भगवान् में स्वरूपानन्द है, ह्लादिनी शक्ति भी है; परन्तु वही जब भक्त की हृदयरूप वंशी से होकर निकलती है, तब उसमें एक ऐसा माधुर्य समा जाता है कि जिस आनन्दस्वरूप भगवान् की वह शक्ति है, उसको भी वह मुग्ध कर देता है। भक्त-द्वार से ह्लादिनी शक्ति की इस अभिव्यक्ति में ही आनन्द की पराकाष्ठा है, अतएव इसे सर्वातिशायिनी वृत्ति कहा गया है। यथा—"**तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्य-भक्त-वृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत्प्रीत्याख्यया वर्त्तते**"—'प्रीतिसन्दर्भ'।

विशेष जिज्ञासा के लिए 'प्रीति-सन्दर्भ' तथा 'वृहद् भागवतामृत' ग्रंथ द्रष्टव्य हैं।

मूल श्लोक वसन्त तिलकम् छन्दः—

चापल्य-सीम चपलानुभवैक-सीम
चातुर्य-सीम चतुरानन-शिल्प-सीम।
सौरभ्य-सीम सकलाद्भुत-केलि-सीम,
सौभाग्य-सीम तदिदं व्रज-भाग्य-सीम ॥७४॥

पद्यार्थ— **व्रजरमणी - प्रेमानुभूति की, अंग अंग चञ्चलता की।**
चतुराननकृत सृष्टि कला की, सौरभ और चतुरता की॥
सकल महाद्भुत सरस केलि की, व्रज के भाग्य विलासन की।
पर सीमा हैं, नटवरनागर—जन सौभाग्य प्रकाशन की॥

भावार्थ— ये श्रीकृष्ण चपलता की पराकाष्ठा हैं—जितना चापल्य इनके अंग-प्रत्यंग में है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। ये व्रजांगनाओं की प्रेमानुभूति की पराकाष्ठा हैं-श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम की जैसी गहरी अनुभूति व्रज-गोपियों को है, वैसी अन्यत्र नहीं। ये चतुराई की भी पराकाष्ठा हैं—नृत्य, गान, वेणुवादन आदि ललित कलाओं में एवं आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भण, हास-परिहास, सम्भाषण आदि कलाओं में इनके समान चतुरता अन्य किसी में नहीं है। श्रीकृष्ण विधाता द्वारा रचित सृष्टि के सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं—जो सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य आदि श्रीकृष्ण के कमनीय कलेवर को अलंकृत किये हुए हैं, वह विधाता की इस निकृष्ट सृष्टि में कहाँ? इसी प्रकार ये श्रीकृष्ण सुगंधि, सकल अद्भुत क्रीडाओं, जीव के सौभाग्य और व्रज के भाग्य की भी पराकाष्ठा हैं—अर्थात् श्रीकृष्ण से बढ़कर अनन्त ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा नहीं है।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल ने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य के साथ-साथ उनके चापल्य, चातुर्य तथा गुण-माधुरी और क्रिया-माधुरी का भी अनुभव किया है।

कोटि कोटि गोपिन में एक श्याम निर्तत हैं,
पलक में घूमि जात मण्डल सिगरो है।
दीखत सब ठौर गोपी समझें निज ओर,
चञ्चलता सीम, सीम चतुराई खरो है॥
चपल घनश्याम यह चपलान को भोग अहा,
चतुरानन शेष शिल्प या ही ठौर करो है।
व्रज के, व्रज गोधन के गोपी ओ गोपिन के,
भाग्य की सीम में श्याम घन परो है॥

लीलाशुक विल्वमङ्गल अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की अष्ट सीमाओं का परिचय दे रहे हैं--

"यह देखो, ये श्रीकृष्ण चपलता की सीमा हैं, चपला-व्रजबालाओं के अनुभव की एकमात्र सीमा हैं, चतुरता की सीमा हैं, विधाता की शिल्पविद्या की सीमा हैं, सौगन्ध्य की सीमा हैं, समस्त अद्भुत केलिसमूह की सीमा हैं, परम सौभाग्य की सीमा हैं तथा व्रज के सौभाग्य की भी एकमात्र सीमा हैं।" अब एक-एक सीमा का पृथक-पृथक दर्शन कीजिये--

"चापल्य-सीम"–महारास के नृत्य में गति की लाघवता और शीघ्रता के कारण श्रीकृष्ण जिस चपलता का प्रदर्शन कर रहे हैं—वह चपलता की सीमा है, अर्थात् उससे अधिक चपलता थिरकन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। **"योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः"**–भागवत १०।३३।३। इस श्लोक की टीका में श्रीजीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रथम अर्थ यही किया है। वे लिखते हैं--

"गोपीमण्डलमध्यकर्णिकाभूत एव कृष्णो मध्यस्थितः सन्नेव तथा गतिलाघव प्रकटयामास यथा मण्डलस्थानां गोपीनामपि द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टो नृत्यति स्मेत्येक-परमाणुमात्र कालेनैव मध्यप्रदेशादागत्य मण्डलस्थास्त्रिंशत् कोटि गोपीः सनृत्यं परि-रभ्य पुनर्मध्यप्रदेशगत एव बभूवेत्यालातचक्रादपि तस्य गतिलाघवमधिकमभूदिति ज्ञेयम्।"

श्रीराधा को वामाङ्ग में लिये श्रीकृष्ण ने गोपीमण्डल के मध्य कर्णिका के स्थान पर स्थित रहकर ही ऐसी तीव्रगति की लाघवता प्रकट की—कि मण्डल में स्थित दो-दो गोपियों के मध्य में प्रवेश कर अलातचक्र की भाँति नृत्य करने लगे। उन्होंने एक परमाणु काल में ही एक मण्डल से द्वितीय मण्डल में आगमन कर नृत्य किया। महान् आश्चय इस बात का था कि त्रिंशत् कोटि गोपियों के मध्य में प्रवेश कर एक साथ उनका परिरम्भण, आलिङ्गन, चुम्बन कर कृष्ण पुनः मध्यस्थल में स्थित राधा के समीप पहुँच जाते थे। इस प्रकार पुनः पुनः आते-जाते और नृत्य करते हुए अग्नि के अलातचक्र से भी अधिक गति की लाघवता को श्रीकृष्ण ने प्राप्त किया था।

जो अनेक जोगेश्वर हिय में ध्यान धरत है।
एकहिं बेर रूप इक सबको सुख वितरत है॥

\+ \+ \+

एकहि मूरति ललित लाल अलात की नांई।
सबके अंसन धरी साँवरे बाँह सुहाई॥ —नंददास

श्रीजीव गोस्वामी कृत बृहत्क्रम सन्दर्भ में कहा गया है—

"एक एव सर्वनिकटस्थो न तु नानात्वेन अतएव स्वनिकटं मन्येरन्। न तु नानात्वं वास्तवं। योगेश्वरमात्रस्यैव कामव्यूह करणसामर्थ्यं तद्कृत्वा एकएव व्यापक-त्वेन स्फुरति तदेवाचिन्त्य परमैश्वर्यमिति।"

अर्थात् अनेक नहीं, एक ही श्रीकृष्ण सब गोपियों के समीप उपस्थित

रहे, अतएव सबने उनको अपने-अपने समीप ही समझा। यहाँ यथार्थ में नानात्व नहीं है, अनेकत्व की प्रतीति-मात्र है। श्रीकृष्ण का एक ही स्वरूप समस्त गोपीवर्ग को प्राप्त है। योगेश्वर-मात्र अपना काया-व्यूह प्रकट कर सकते हैं, परन्तु भगवान् में ऐसा नहीं है, वे तो स्वयं एक ही व्यापक रूप से सर्वत्र प्रकाशमान हो गये हैं, यही तो भगवान् का अचिन्त्य परमैश्वर्य है।

'प्रकाश' का अर्थ--कायव्यूह की भाँति अनेक रूप धारण करना नहीं है। प्रकाश का अर्थ है-एक ही श्रीविग्रह का अनन्तरूप में प्रकाशित होना-दृष्टिगोचर होना। श्रीकृष्ण-विग्रह तो मध्यमाकार अथवा नराकार रूप में ही व्यापक है, विभु है। यह दामबन्धन लीला से स्पष्ट है। अतएव सौभरि ऋषि के पचास देह धारण करने की भाँति श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप धारण करने की कल्पना करना स्वरूपविरुद्ध है, असंगत है और निरर्थक है। भगवान् अनन्तरूप में दृष्टिगोचर होते हुए भी एक-के-एक ही रहते हैं।

प्रश्न—जैसे एक बिम्ब के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, क्या इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी एक से अनेक दिखाई देते हैं?

उ०—नहीं, श्रीकृष्ण बिम्ब-प्रतिबिम्बवत् नहीं हैं, क्योंकि परिच्छिन्न बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब सम्भव है, अपरिच्छिन्न आकाशादि का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है, अतएव प्रकाश को भी बिभु की अचिन्त्य-योगमाया शक्ति के प्रभाव से श्रीविग्रह का सत्य—वही का वही - बिम्ब समझना चाहिये, मिथ्या प्रतीतिमात्र प्रतिबिम्ब नहीं होता। काय व्यूह प्रतिबिम्ब है—उसमें प्रतिबिम्ब की भाँति देह पृथक् होती है—परन्तु भाव और क्रिया मूल बिम्ब से पृथक नहीं होती, मूल बिम्ब सौभरि ऋषि जब चलेंगे तो पचासों काय व्यूह भी चलेंगे, बैठेंगे तो बैठेंगे, सोयेंगे तो सोयेंगे। परन्तु श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का प्रकाश तो अपने मूल बिम्ब की भाँति ही समानधर्मी है. अतः भाव-गत, देहगत तथा क्रियागत भेद का प्रकाश उसी अचिन्त्य शक्ति के बल से चलता है। एक ही व्यापक विभु के श्रीविग्रह का प्रतिबिम्ब होने पर भी उसमें पृथक्-पृथक् क्रिया तथा पृथक्-पृथक् अभिमान है। एक की क्रिया दूसरे में तथा एक का अभिमान दूसरे में नहीं है। इसमें श्रीशुकदेवजी के वाक्य प्रमाण हैं--

"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥"

—भागवत् १०-६९-२

हे राजन् ! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि एक ही कृष्ण ने एक ही शरीर से एक ही समय में पृथक्-पृथक् गृहों में सोलह हजार महिषियों से पृथक्-पृथक् विवाह किया था। नारदजी भी श्रीकृष्ण की इस अद्भुत गृहस्थचर्या से आश्चर्यचकित होकर बोले कि आपकी यह योगमाया बड़े-बड़े मायावी जनों के भी अगोचर है, —(भागवत् १०-६९-३८)। तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण रास में अनन्त प्रतीत होते हुए भी एक से अधिक नहीं हुए थे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भागवत् (१०-३३-२०) में तो श्रीशुकदेवजी ने स्पष्ट कहा है कि— **"कृत्वा तावःतमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः"** भगवान् ने गोपियों की संख्या के अनुसार अपने रूप रचकर उनके साथ विहार किया था, किन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि श्लोक में आये 'कृत्वा' पद से रचना का तात्पर्य नहीं है, अपितु 'कृत्वा' का तात्पर्य 'प्रकाशयित्वा' से है। श्रीकृष्ण ने पृथक्-पृथक् रूप प्रकट नहीं किया, एक को ही अनेक रूपों में प्रकाशित कर दिखा दिया। प्रत्येक गोपी के निकट एक-एक कृष्ण अथवा "द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव" ऐसा एकही रूप से प्रत्यक्ष कर दिखाया था। जीव गोस्वामि-कृत बृहद् भागवतामृत में इस सन्दर्भ में विस्तार से विचार किया गया है।

इस गति-लाघवता का अनुभव करके ही विल्वमङ्गल कहते हैं— ओहो ! चपलता की बस सीमा हो गई—इससे अधिक चपलता और क्या होगी ? यह श्रीकृष्ण 'चापल्य-सीम' हैं, चपलता की पराकाष्ठा हैं।

'चपलानुभवैकसीम' चपला अर्थात् व्रजगोपियों के अनुभव की एक-मात्र सीमा भी ये श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण महाचपल घन हैं तो गोपीगण महाचपल सौदामिनी-माला हैं—

साँवरे पिय संग नर्तत व्रज की बाला। जनु घनमण्डल मधि खेलत दामिनी-माला॥

नव मरकत श्याम कनक मणिगण व्रज-बाला।
वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला॥ —नंददास

ऐसा व्रज-बालाओं के स्पर्श, आलिङ्गन, चुम्बन, परिरम्भण आदि सुखानुभव की एकमात्र सीमा श्रीकृष्ण ही हैं।

'चातुर्य-सीम'—यहाँ रासकालीन नृत्य-चातुर्य से ही तात्पर्य है। श्रीकृष्ण नृत्य के छल से परम चतुरता के साथ गोपांगनाओं को आलिंगनादि

क्रियाओं के द्वारा सुख प्रदान कर रहे हैं तथा एक गोपी से अलक्षित होकर दूसरी से हास-परिहास कर रहे हैं। इससे इनकी चतुरता की सीमा प्रकट हो रही है।

"**चतुरानन शिल्प-सीम**"—विधाता की कारीगरी की एकमात्र सीमा श्रीकृष्ण ही हैं, अर्थात् इनसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी कृति कहीं भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण निरतिशय सुन्दर हैं। यद्यपि वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण की दिव्यमूर्त्ति विधाता की सृष्टि ही नहीं है, तथापि यहाँ केवल लोक-दृष्टि से ही काव्यमय कथन है। ब्रह्मा जब श्रीकृष्ण के बछड़े और गोप-बालकों को हरण कर ले गये थे, तब श्रीकृष्ण ही तो अनन्तरूप में बालक तथा वत्स बने थे, जिनको देखकर ब्रह्मा यह निश्चय ही नहीं कर सके कि कौन-से सत्य हैं, ये हैं अथवा जो मेरे सत्यलोक में बन्द हैं, वे वास्तविक हैं। "**एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः। सत्या के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथंचन॥**" —भागवत् १०-१३-४३

ब्रह्मा अपनी स्तुति में अपराध को क्षमा कराते हुए कहने लगे—"मुझ पर मेरी सृष्टि पर अनुग्रह करने के लिये ही यह आपका स्वेच्छामय वपु है, यह पञ्चभूतमय देह नहीं है—

"**अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि**" **भागवत** १०-१४-२। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा को सृष्टि पाञ्चभौतिकी एवं त्रिगुणमयी है। तथा ब्रह्माजी के ही शब्दों में भगवत्स्वरूपा "**सत्य ज्ञानानन्तानन्द-मात्रैक रसमूर्ति**" हैं। देखिए श्रीमद्भागवत १०-१३-५४।

तथापि काव्य में सौन्दर्य के उद्देश्य से लोक प्रसाद को अनुवाद करने की शैली है। श्रीराधाजी के अतुलनीय सौन्दर्य पर भी रसिकवर्य श्रीवृन्दावनदास 'चाचा' के एक पद में ऐसी ही लोकोक्ति वर्णित है जो सिद्धान्त नहीं है, यथा—

आदि कवि विधना ने री मेरी स्वामिनी!
तेरो रूप रचि-पचि लोक सीमा दई है।
वह पुनि कलम गही नहिं हाथनि, रह्यो छकि,
अचरज कहा री करै, बुधि चली गई है॥
वाको तात कमल सकुच्यो निरखि आनन कौं,
तब तौ कछु छाती वाकी अधिकै तई है।
'वृन्दावन' हित रूप सभागिनी तेरो यश,
सुनि-सुनि त्रिभुवन तरुणिन ग्रीव नई है॥

'सौरभ्य-सीम'—श्रीकृष्ण के अंग की सुगन्धि से दशों दिशाएँ सुरभित हो रही हैं। दूर से ही उसका सौरभ प्राप्त कर विल्वमंगल भी बोल उठे—अहा हा ! ये श्रीकृष्ण तो सौरभ की भी सीमा हैं।

पद्मपुराण में श्रीकृष्ण की महिमा-वर्णन करते हुए श्री महादेवजी पार्वती से कह रहे हैं कि—हे देवि ! श्रीकृष्ण के रूप के कोटि-कोट्यांश से अनेक कामदेवों की उत्पत्ति हुई है। उनको देह की कान्ति के कोटि-कोट्यांश से अनेकानेक सूर्यों की उत्पत्ति है। उनके अंग के सौरभ का अनन्त कोट्यांश भी विश्व को मोहित करने में समर्थ है तथा उनके केवल स्पर्श में ही वह अद्भुत असीम सौरभ है कि उसके स्पर्श मात्र से ही पुष्प, अगुरु, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों में नाना प्रकार की सुगन्धि की उत्पत्ति होती है। इसके सम्बन्ध में कहा है :—

तदंश-सौरभानन्त-कोट्यांशो विश्व-मोहनः।
तत्स्पर्श-पुष्प-गन्धादि नाना-सौरभ सम्भवः॥

"सकलाद्भुत केलिसीम"—रास में तीन शत कोटि-नागरी व्रजाङ्गनाओं के साथ अकेले एक श्रीकृष्ण के ही हास-परिहास-विलास की आश्चर्य क्रीड़ा-परिपाटी देखकर विल्वमंगल कह उठे—ओहो हो ! समस्त क्रीड़ा अपनी-अपनी कलाओं के साथ (सकला) केवल मात्र श्रीकृष्ण में ही पराकाष्ठा को प्राप्त हुई हैं।

"सौभाग्य सीम"—सौभाग्य से यहाँ व्रज देवियों का सौभाग्य ही टीकाकारों ने ग्रहण किया है, यह रास-विलासी मदनमोहन स्वरूप साधारण जीवों को तो दशन-मात्र के लिये भी सुलभ नहीं, फिर सौभाग्य तथा सौभाग्य की सीमा कहाँ ? यह तो व्रज-देवियों के ही सौभाग्य की सीमा है।

श्रीमद्भागवत की वेद-स्तुति में वेद भगवान व्रजगोपियों के सौभाग्य-सीमा की सराहना करते हुए कहते हैं कि—'दृढ़योग युक्त योगी जन अपने प्राण, मन तथा इन्द्रियों को वश में कर आपके जिस स्वरूप की उपासना करते हैं, उस मुक्ति पद को तो आपके शत्रु-गण शत्रुता के द्वारा ही प्राप्त हो गये—फिर योगियों को इतने विशेष परिश्रम का क्या विशेष लाभ प्राप्त हुआ ? अतः व्रजबालाओं ने जिन आपके सर्पाकृति भुजदण्डों पर आसक्त होकर जिस संग-सुख का अनुभव प्राप्त किया है, हम श्रुतिगण भी उन्हीं के समान व्रजगोपी बन कर आपके चरणारविंदों की सुधा का पान करना चाहती हैं। देखिए—**"स्त्रियः उरगेन्द्र भोग भुजदंड"**—भागवत १०-८७-२३।

भागवत में उद्धवजी भी गोपियों के सौभाग्य की भूरि-भूरि प्रसंशा करते हुए कहने लगे—"संसार में जितने भी देहधारी हैं, उनमें श्रीकृष्णप्रिया गोपीगण ही सर्वोत्तम देहधारिणी हैं, क्योंकि इनकी देह महाभाव रूप प्रेम की एकमात्र परमाधार हैं, तथा विश्वात्मा श्रीगोविन्द में इनका साधारण प्रेम नहीं, अपितु महान असाधारण प्रेम है,—"रूढ महाभाव" है। गोपियों के इस भाव का अणु-अंश भी हमारे मन-वाणी को स्पर्श भी नहीं करता, अनुभव करना तो दूर की बात रही, फिर इनके सम्पूर्ण भाव की महिमा तो अनिर्वचनीय है ही। मुमुक्षु तथा मुक्त महापुरुष मुनिगण एवं श्रीकृष्ण के नित्य सहचर हम दास-भक्त भी इस महाभाव की प्राप्ति के लिये प्रार्थना ही करते रहते हैं, परन्तु आज तक प्राप्त नहीं कर सके, नारायण भगवान के वक्षःस्थल पर विलास करने वाली लक्ष्मी देवी, भूदेवी और लीला देवी आदि वैकुण्ठ की रमणियाँ भी उस महाभावस्वरूप आनन्द का रसास्वादन प्राप्त नहीं कर सकीं—जिसका कि आस्वादन गोप सुन्दरियों को रासोत्सव में नृत्यादि विलास क्रीड़ाओं के द्वारा श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा आलिङ्गित होने पर प्राप्त हुआ था—देखिये—भागवत १०-४८-५८-६०

सरोवर के पास बैठने से ही तो जल का आस्वादन नहीं होता,आस्वादन होता है तीव्र पिपासा से। जिसकी जैसी और जितनी पिपासा होगी, उसको वैसा ही और उतना ही जल का रसास्वादन प्राप्त होगा! लक्ष्मी जी यद्यपि श्रीनारायण भगवान की हृदयविलासिनी है पर इससे क्या हुआ? व्रज-गोपियों की भाँति उनके हृदय में महाभाव की प्रगाढ़ पिपासा नहीं है। पिपासा के बिना आस्वादन में चमत्कारिता कहाँ से आ सकती है? विशेषतः लक्ष्मी के लिये नारायण ईश्वर हैं, वह उनकी दासी है, गोपियों के लिये श्रीकृष्ण उनके प्राण सखा हैं, वे उनकी सखी हैं, लक्ष्मी का निर्बल तदीय भाव है अर्थात् "वे मेरे हैं या नहीं, पर मैं उनकी हूँ",—यह भाव है इसके विपरीत गोपियों में प्रबल मदीय-भाव है, अर्थात् "कृष्ण हमारे, हमारे, हमारे ही हैं—और किसी के नहीं", यह महा भाव है। इसी कारण गोपियाँ निःसंकोच, स्वच्छन्द भाव से श्रीकृष्ण के माधुर्य का उपभोग करती हैं, और लक्ष्मीजी अत्यन्त संकोच और साध्वस के साथ नारायण की सेवा करती हैं उन्हें यह भय रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि- "दासी से कोई अपराध बन जाय और प्रभु रुष्ट हो जायँ। अतएव लक्ष्मी के सौभाग्य से भी गोपियों का सौभाग्य कई गुना श्रेष्ठ है।

स्वयं श्रीकृष्ण भी "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां"—कह कर चिरकाल के लिये जिनके ऋणी बने, उनकी सौभाग्य-सीमा का वर्णन क्या कोई कर सकता है ?

आदि पुराण में एक कथा आती है कि एक समय अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि आपका सर्वश्रेष्ठ भक्त कौन है ? श्रीकृष्ण ने कहा था—

न तथा मे प्रियतमा ब्रह्मरुद्राश्च पार्थिवाः ।
न च लक्ष्मीर्न च आत्मा यथा गोपी जनो मम ।।
भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले ।
किन्तु गोपीजनः प्राणाधिक-प्रियतमो मम ।।
निजाङ्गमपि या गोप्यः ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढं प्रेमभाजनम् ।।
भावानुरूप सर्वत्र पार्थ व्यवहराम्यहम् ।
किन्तु तासु व्रजस्त्रीषु परिक्रीत इवानिशम् ।।
न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप ।
न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् ।।
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यांमच्छ्रुतं मन्मनोगतं ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ।।
न तपोभिर्न वेदैश्च न चाचारैर्न विद्यया ।
वशोऽस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः ।।

ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी, तथा अपनी यह देह भी गोपीजनों के समान मुझे प्यारी नहीं हैं ।

मेरे प्रेमी भक्त भूतल पर बहुत हैं, परन्तु गोपीजन मेरी प्राणाधिका प्रियतमा हैं ।

जो गोपीजन अपने अंगों को भी मेरा अङ्ग मान कर हर समय सम्हालती रहती हैं, उनसे श्रेष्ठ मेरा निगूढ़ प्रेम पात्र दूसरा कोई नहीं है ।

सर्वत्र तो मैं जैसा भाव, वैसा ही व्यवहार करता हूँ, परन्तु व्रजस्त्रियों के हाथ में तो मैं सर्वथा सदैव के लिये बिक गया हूँ, उनका तो मैं क्रीत-दास हूँ ।

मुझे मुनिजन, योगिजन, रुद्र तथा ब्रह्मादि देवगण भी ऐसा नहीं जानते हैं, जैसा कि गोपियाँ जानती हैं ।

मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरा ज्ञान, मेरा भाव गोपीजन ही तत्त्वतः जानती हैं और कोई नहीं जानता है ।

मैं न तप से, न वेदपाठ से, न आचार से, न विद्या से और न किसी अन्य साधन से ही बस में होता हूँ, मैं तो केवल एक प्रेम के ही वशीभूत होता हूँ—इसमें प्रमाण गोपीजन ही हैं।

व्रज के रसिकों ने भी इन महामहिम-शालिनी गोपियों की ऐसी ही प्रशंसा की है—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन गोपाल किये वश अपने उर धरि श्याम भुजा॥
शुक मुनि व्यास प्रशंसा कीन्हीं, उद्धव सन्त सराहीं।
भूरि भाग गोकुल की बनिता, अति पुनीत जग माहीं॥
कहा भयो जो विप्र कुल जनम्यो, जो हरि सेवा नाहीं।
सोई पुनीत 'दास परमानन्द' जो हरि सन्मुख जाहीं॥

—परमानन्द दास

व्रज देविन के प्रेम की, बँधी ध्वजा अति दूर।
ब्रह्मादिक बांछित रहे, जिनके पग की धूर॥
जदपि यशोदानन्द, अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या व्रज में प्रेम कों, गोपी भईं अनन्य॥

—ध्रुवदास

अतएव विल्वमंगल कहते हैं—"सौभाग्य सीम"। श्रीकृष्ण गोपियों के सौभाग्य की सीमा हैं। केवल गोपियों के ही क्यों, वे "**व्रजभाग्य सीम**" भी हैं, अर्थात् व्रज के भी सौभाग्य की सीमा श्रीकृष्ण ही हैं। 'व्रज' से तात्पर्य व्रज-भूमि से लेकर व्रजवासी गोपी गोप पर्यन्त, स्थावर-जंगम, जड़-चैतन्य समस्त पदार्थ मात्र से है। व्रज के सौभाग्य-कल्पतरु में ही तो यह निगम-अगम, परात्पर फल—श्रीकृष्ण लगा है। अतएव इनका सौभाग्य-उत्कर्ष अवर्णनीय है।

व्रज भूमि की सौभाग्य सीमा की प्रशंसा में वेणु गीत के "**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं**"—भागवत १०-२१-१० में शुकदेवजी कहते हैं कि यह वृन्दावन पृथ्वी की कीर्त्ति का विस्तार करने वाला तथा उसका तिलक स्वरूप है, क्योंकि एक इसी भूमि ने श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की सम्पदा प्राप्त की है, व्रज के एक-एक रज कण को वेद-विमृग्य पदारविन्दों का संस्पर्श प्राप्त हुआ है, यह सौभाग्य अन्य किसी भूमि को प्राप्त नहीं हुआ— देखिये एक भक्त के भाव में व्रजभूमि की महिमा—

कोउ भूमि तीरथ की शोणित सों सनि रही,
महारथी वीरन की सैन जामें लरी है।
कोउ भूमि तीरथ की भस्म कुण्ड मण्डित ह्वै,
धूम जाय धूँधरि मुनिन मन करी है॥
मथुरा श्रीजमुना निकट सुख राशि भूमि,
कोस चौरासी जिहिं 'नागर' मति हरी है।
गोपी कुच कुंकुम लाग्यो है लाल पायन सों,
व्रज भूमि हरी भरी कुंकुम सों खरी है॥

श्रीकृष्ण ने व्रज का अन्न-जल गोरस आदि तो भक्षण किया ही था—यहाँ की मिट्टी भी खाई थी, मिट्टी ही क्यों ? कोटि-कोटि गौ-वत्स बन कर व्रज-भूमि की हरी-हरी दूब भी चबाई थी। यह सौभाग्य अन्यत्र किसी तीर्थ या धाम की भूमि को प्राप्त हुआ है क्या ? इसी से ब्रह्माजी ने कहा—"**अहोऽति धन्या व्रजगोरमण्यः**" (१०-१४-४१) अहो ! व्रज की गौ और गोपी-गण धन्य हैं कि– जिन भगवान् की तृप्ति आज पर्यन्त यज्ञादि नहीं कर सके, उन्हीं भगवान् ने इनके बछड़े और बालकों का रूप धारण कर अतिशय तृप्ति पूर्वक स्तन-पान किया था।

अति प्यारी सब अवनि ते, व्रज अवनी अभिराम।
ह्वै स्वरूप बछरान के, चाँपत चूमत श्याम॥ —नागरीदास

व्रजवासियों की सौभाग्य-सीमा की प्रशंसा से तो ब्रह्मा की स्तुति परिपूर्ण है। वे पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—

१—"**अहो भाग्यमहो भाग्यं**" (१०-१४-२२) परमानन्द पूर्णब्रह्म जिनका सनातन मित्र है-उन नन्दगोप के व्रजवासियों का अहोभाग्य है, अहोभाग्य है।

२—"**एषां तु भाग्य महिमाच्युत०**" (१०-१४-३३) अहो ! इन व्रज-वासियों के भाग्य की महिमा तो बड़ी दूर की बात है, केवल इनके सम्बन्ध-मात्र से ही हम देवता लोग भी बड़भागी बन गये हैं, हम जो एकादश देवता इनकी एकादश इन्द्रियों में निवास करते हैं—अहङ्कार में रुद्र, बुद्धि में ब्रह्मा, मन में चन्द्रमा, चित्त में वासुदेव, नेत्र में अश्विनीकुमार द्वय, हस्त में इन्द्र, चरण में उपेन्द्र, गुदा में मित्र तथा उपस्थ में प्रजापति—ये सब भी इनकी इन्द्रियों के सम्बन्ध से ही आपके सुदुर्लभ चरण-कमलों की मकरन्द-सुधा का पुनः पुनः पानकर धन्य हो रहे हैं। हम तो केवल एक-एक इन्द्रिय से ही आपका अनुभव कर रहे हैं, इन व्रजवासियों की तो समस्त इन्द्रियाँ, देह,

मन, प्राण भी आपका उपभोग कर रहे हैं, अतएव इनके सौभाग्य की सीमा को कौन पा सकता है।

३—"**तद्भूरिभाग्यमिह जन्मकिमप्यटव्यां**" (१०-१४-३४) हे नाथ! मुझे तो आप अपने गोकुल में जड़ या चेतन किसी योनि में कुछ भी बना दें, जिससे कि मुझे आपके चरण-कमल की पराग का अभिषेक प्राप्त होता रहे। मैं तो इसे ही अपना सौभाग्य समझूंगा। (इस समय तो मैं अत्यन्त दुर्भागी ही हूँ क्योंकि आप मुझसे एक शब्द तक भी नहीं बोल रहे हैं!)

ब्रह्माजी व्रज में जड़ या चेतन बनने के लिये किसी भी योनि की प्रार्थना कर रहे हैं, इस श्लोक की टीका में व्रजोपासक रसिकवर्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महाशय ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि—"**गोकुलेऽपि त्वन्नगर प्रान्तादावपि कतमस्य त्वदीय सौचिककारुहडिकाद्येकतरस्याप्यड्घ्रि रजसोऽभिषेको यत्र तथा भूतं शिला पीठ पट्टकादिषु जन्म भवतु**" हे नाथ! आपकी गोकुल नगरी के मध्य में नहीं, उसके सीमा-भाग में आपके किसी सूचीकार (दर्जी) अथवा कोई शिल्पी कारीगर अथवा कोई अन्त्यज चाण्डाल (झाड़ू-बुहारी देने वाले) के गृह में, अथवा कहीं कोई भी एक पत्थर की शिला, अथवा काठ की चौकी, पीढा, पटिया के रूप में मेरा जन्म हो जाय—तो मैं अपने को धन्य-धन्य समझूँगा।

४—इससे अगले श्लोक में तो ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण को एक प्रश्न से ही निरुत्तर कर दिया कि—आप इन व्रजवासियों के प्रेम का ऋण किस वस्तु का दान देकर चुकायेंगे, इन्होंने तो आपके लिये गृह, अर्थ, सुहृद, प्रिया (स्त्री), देह, पुत्र, प्राण तथा आशय (भाव)— इन आठ वस्तुओं के द्वारा अपना सर्वस्व आपको समर्पण कर दिया है। किन्तु आपके पास इनको देने योग्य कोई वस्तु है ही नहीं, हाँ यदि कुछ है तो, सर्वोच्च वस्तु एक ही है—वह हैं स्वयं आप! परन्तु आप तो इनको स्वतः प्राप्त ही हो रहे हैं, हाँ, अपने से नीचे की एक वस्तु है आपके पास—वह है 'मोक्ष'! परन्तु वह मोक्ष त , आपकी हिंसा करने के लिये आने वाली पूतना को तथा उसके सगे-सम्बन्धियों को भी आपने दे डाली। मारने को आने वालों को जो मुक्ति दे दी; वही मुक्ति क्या गोद में खिलाने वाले या गले से लगाने वालों को भी दी जायगी?—

एषां घोष निवासिनामुतभवान् किं देवरातेतिन—
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता,
यद्धामार्थं सुहृत्प्रियात्म तनय प्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

—भागवत १०-१४-३५

अतः अधिक क्या कहूँ देव ! मुझे तो कोई ऐसी वस्तु विश्व में नहीं दिखाई देती कि—जिसको देकर आप इन व्रजवासियों का प्रत्युपकार कर सकें ? तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण को तो सदा व्रजवासियों के प्रेम में आबद्ध होकर इनके स्वाधीन रहना ही पड़ेगा। इसीलिये—

जो रस ब्रह्मादिक नहिं पायो । सो रस गोकुल गलिन बहायो ॥
बड़भागी यह सब व्रजवासी । जिनके संग खेलें व्रज वासी ॥
सूर सुयश कहि कहा बखानैं । गोविन्द की गति गोविन्द जानै ॥

धनि व्रज लोग धनि व्रज बाला विहरत रास गोपाल ।
धनि वंशीवट धनि यमुना तट धनि धनि लता तमाल ॥
सब ते धन्य धन्य वृन्दावन जहाँ कृष्ण को वास ।
धनि धनि सूरदास के स्वामी अद्भुत रच्यो जो रास ॥

इसी रास-विलास के दर्शन करते हुए विल्वमङ्गल कह रहे हैं कि—ये रास-विलासी श्रीकृष्ण ही व्रज-गोपियों की 'सौभाग्य-सीमा' तथा 'व्रज की सौभाग्य-सीमा' हैं, अन्तरङ्ग-लीला में भी अर्थ यही है, केवल यह उक्ति श्रीराधाजी की ओर सखियों के प्रति है।

मूल श्लोक मन्दाक्रान्ता छन्दः—

माधुर्येण द्विगुण-शिशिरं वक्त्र-चन्द्रं वहन्ती,
वंशी-वीथी-विगलदमृत-स्रोतसा सेचयन्ती ।
मद्वाणीनां विहरण-पदं मत्तसौभाग्य-भाजां,
मत्पुण्यानां परिणतिरहो नेत्रयोः संनिधत्ते ॥७५॥

पद्यार्थ— **मधुराई जिसके मुखेन्दु को दुगुना शीतल बना रही है ।**
वेणु वीथि से आविर्भूत सुधा की धारा अहा बही है ॥
मेरी वाणी का विहार पथ जिसने सिंचित आज बनाया ।
वही भाग्यवन्त पुण्यों का फल नयनों के आगे आया ॥

भावार्थ—मधुरिमा के कारण जिसका मुखचन्द्र द्विगुणित शीतल हो रहा है और जो वंशी-पथ से अभिद्रवित पीयूष-धारा से मेरी वाणी की विहारस्थली को सींच

रहा है – वही मेरे सौभाग्यशाली पुण्यों का परिणाम-स्वरूप (श्रीकृष्ण) मेरी आँखों के आगे आज प्रादुर्भूत हो रहा है।

रसिका टीका—प्रियतम से जितना गाढ़ा परिचय होता जाता है—प्रीति उतनी ही स्थिर होती जाती है, प्रीति जितनी गाढ़ी होती है, आनन्द-रस भी उतना ही अधिक प्राप्त होता है, आनन्द-रस जितना गाढ़ा होता जाता है, प्रेम-पात्र भी उतना ही मधुर होता जाता है। विल्वमङ्गल को भी ज्यों-ज्यों श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुणों का विशेष अनुभव होता जा रहा है, त्यों-त्यों उनकी प्रीति-भावना गाढ़तर होती जा रही है। श्रीकृष्ण भी मधुर से मधुर, नवीन से नवीन लगते जाते हैं और उनकी कृपा तथा अपने सौभाग्य का भी अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता जाता है। इसी कारण विल्वमङ्गल इस श्लोक में कह रहे हैं—

"ओ हो हो! वे श्रीकृष्ण क्या हैं—मानो सौभाग्यशाली पुण्यों के परिणाम हैं, अर्थात् मेरे पुण्यों की साक्षात् मूर्त्ति हैं।" यह भी एक साधारण लोकोक्ति है, सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण का दर्शन पुण्यों का फल नहीं है, केवल कृपाजन्य प्रेम का ही फल है—यह ६७वें श्लोक के "कृतपुण्य-पुञ्जा" में वर्णित हो चुका है। इसी भाव से अन्यत्र भी इन्होंने कहा है कि "पुराण-पुरुष के नवीन विलास का दर्शन पूर्णपुण्य से ही प्राप्त होता है—

पुंसः पुराणस्य नवं विलासं, पुण्येन पूर्णेन विलोकयिष्ये।

यह मेरे पुण्यों की मूर्त्ति मेरे नेत्रों के समीप अवस्थित हो रही है। इनका यह मुखचन्द्र सदा सहज शीतल होने पर भी इस समय रासोत्सव के उल्लास में माधुर्य की वृद्धि होने के कारण द्विगुण शीतल हो गया है, श्रीकृष्ण आनन्दस्वरूप अथ च आनन्दसागर हैं। इसको व्रज-सुन्दरियों के अनुपम प्रेम-पवन ने उद्वेलित कर दिया है, आनन्द को भी आन्दोलित कर दिया है, तभी तो आनन्द की तरंगें आनन्द के हृदय से बाहर को बह चली हैं, बाहर आकर पहले तो आनन्द के तन-वदन को द्विगुणित मधुर किया, फिर अधर-द्वार में से वंशी के रन्ध्रों में प्रवेश कर अद्भुत नादामृत-लहरी के रूप में निर्गत हुई है, निर्गत होकर उसने व्रज-देवियों के अंग-अंग में प्रवेश कर उनके रोम-रोम को आनन्द से संप्लावित कर दिया है। गोपियों को संप्लावित कर वह आनन्दामृत-प्रवाह वृन्दावन में व्याप्त हो गया और वृन्दावन के स्थावर-जङ्गम प्राणियों का सिंचन करने लगा।

आनन्दामृत-रस से वृन्दावन का कण-कण सिंचित हो गया है, राजा श्रीरसिकविहारी और रानी रसिक विहारिन के रसरूप मदपानी से यहाँ के जड़ चेतन सभी रसिक होगये हैं, वृन्दावन अब रसिकों की राजधानी बन गया है, श्रीनागरीदासजी की वाणी मे वृन्दावन का दर्शन कीजिये—

वृन्दाविपिन रसिक रजधानी ।
राजा रसिक विहारी सुन्दर, सुन्दर रसिक विहारिनि रानी ।।
ललितादिक ढिग रसिक सहचरी, सुन्दर जुगलरूप मदपानी ।
रसिक टहलनी वृन्दादेवी, रचना रुचिर निकुञ्ज सुहानी ।।
जमुना रसिक रसिक द्रुमवेली, सोहै रसिक भूमि सुखदानी ।
इहाँ रसिकचर थिर नागरिया, रसिकहि रसिक सबै गुनगानी ।।

बस यहीं इसी वृन्दावन में ही वह वंशीध्वनि समा गई है, वृन्दावन तो व्यापक है, विभु है, श्रीकृष्ण का अधिष्ठान है, आनन्द का परमाधार-स्वरूप है। अनन्त-ब्रह्माण्ड, वृन्दावन के एक रज कण में व्याप्त हैं, जितने भी स्वप्न-लोक हैं—उन में भी इस वंशी की क्षीण-ध्वनि प्रवेश कर-भुः, भुवः, स्वः आदि ऊर्ध्वलोक तथा तल, अतल, वितल आदि अधःलोक के प्राणियों को विमुग्ध कर रही है। जैसा कि अन्य भक्त-कवियों ने भी गाया है—

आनन्द सिन्धु-बढ़्यो हरि तन में ।
श्रीराधा मुख पूर्ण चन्द्र लखि उमगि चल्यौ ब्रज वृन्दावन में ।।
इत रोक्यो जमुना उत गोपिन कछु इक फैलि रह्यो त्रिभुवन में ।
ना परस्यो कर्मठ अरु ज्ञानी, अटकि रह्यो रसिकन के मन में ।।
मन्द मन्द अवगाहत बुधि-बल भक्त हेतु लीला छिन छिन में ।
कछु इक लहयो नन्दसूनु कृपा सों, सो देखियत 'परमानन्द' जन में ।।

× × ×

हरि रस वृन्दावन सों आयो ।
भगवदीय जन पीवन कारण, श्री ब्रजनाथ पठायो ।।
बांट लियो अपनी अपनी रुचि, जो जाके मन भायो ।
'सूरदास' प्रभु रसिक विनोदी, सो रस रसिकन पायो ।।

इसीलिये विल्वमंगल बोले कि यह अपने मधुर मुखचन्द्र से वंशी के छिद्रों के द्वारा विगलित अमृत प्रवाह से "**सेचयन्ती**"—सिंचन कर रहे हैं। किसका सिंचन ? व्रजदेवियों का, जगत् का, मेरा और मेरी वाणी का भी। "**मद्वाणीनां विहरणपदं सेचयन्ती**"—मेरी वाणी की क्रीड़ास्थली का सिंचन कर

रहे हैं। अर्थात् ज्यों-ज्यों आपके माधुर्य का विशेष अनुभव प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों उसका वर्णन करते-करते, मेरी वाणी उसी रस में विहार करती हुई निमग्न होती जाती है—अतएव "**मत्त सौभाग्य भाजाम्**"—अपने सौभाग्य के कारण सदा उन्मत्त रहती है।

स्मरण रहे कि विल्वमंगल ने प्रारम्भ के सप्तम श्लोक में यह प्रार्थना की थी कि—"**मम वाचि विजृम्भतां मुरारेर्मधुरिम्णः कणिकापि कापि कापि**"—मेरी वाणी में श्रीकृष्ण के माधुर्य का कोई एक कण भी प्रकाशित हो जावे"। उसी प्रार्थना के फलीभूत होने पर विल्वमंगल यहाँ "**मद्वाणीनां विहरणपदं**" **तथा** "**मत्त सौभाग्य भाजां**" पद का प्रयोग कर रहे हैं। अपने मत्त सौभाग्य-भाजन का दर्शन आगे श्लोक १०१—'**समुज्जृम्भा गुम्फा मधुरिमकिरां मादृशगिरां**' में भी किया गया है अर्थात् मेरी चंचल वाणी आपके आश्रय को प्राप्त होकर सफल हुई है! इसलिये आठवें श्लोक में श्रीकृष्ण को अपनी वाणी का जीवन-स्वरूप कहा है—**मम वाङ्मय जीवितम्**।

मूल श्लोक अनुष्टुप छन्दः—

तेजसेऽस्तु नमो धेनु-पालिने लोक-पालिने।
राधा-पयोधरोत्सङ्ग-शायिने शेष-शायिने ॥७६॥

पद्यार्थ— **जो शेष शयी, करता राधा के कुच कन्दुक युग पर विहार।**
जो लोकपाल भी धेनुपाल, इस तेजपुञ्ज को नमस्कार॥

भावार्थ—जो एक ओर तो शेषशायी है और दूसरी ओर व्रज में श्रीराधा के स्तनयुगल पर विहार किया करता है तथा जो लोकपाल होने पर भी व्रज में गोपालन के कार्य को सम्पन्न करता है, उस अतुल तेज पुञ्ज श्रीकृष्ण को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

रसिका टीका—विल्वमंगल श्रीकृष्ण कृपा के कारण अपने को परम-सौभाग्यवान समझकर इस श्लोक में श्रीकृष्ण का गौरव-गान करते हुए अति-शय भाव-भरित होकर प्रणाम करते हैं।

"**नमोऽस्तु**"—हे देव! आपको नमस्कार है, नाथ! आपकी सहज-कृपा का मैं किन शब्दों में कीर्तन करूँ! मुझको आपने विषय-गर्त से निकाल कर इस रस-मार्ग पर आरूढ़ कर दिया है, मेरे हृदय को अपना धाम बनाया है, वाणी से अपना रस-गान कराया है तथा नेत्रों को अपना दर्शन देकर कृतार्थ किया है, मेरे कौन से ऐसे पुण्य पुञ्ज थे जिनसे कि मैं इस सौभाग्य का

भाजन बना ? यह तो प्रभो ! आपकी भक्तवत्सलता, एवं सहज कृपालुता ही है। इस कृपा के लिये जीव के पास सिवाय दो हाथ जोड़कर शीश झुका देने के और है ही क्या ? अतः मैं भी, यह देखो आपके लिये "**नमो**"—हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।

"**तेजसे नमोऽस्तु**"—आपके उस तेज स्वरूप के लिये भी नमस्कार है, जिसके बिना मेरे लिये ही नहीं, प्राणीमात्र के लिये यह जगत अन्धकारमय है, जो सूर्य-चन्द्र की ही ज्योति नहीं, नेत्रों की भी ज्योति है, तथा प्राणों की भी ज्योति है ! उस श्याम ज्योति से ही बाहर-भीतर जड़-चेतन रूप समस्त जगत प्रकाशमय है, जीवन भी यही है, उसके लिये बार-बार नमस्कार है।

कोटि भानु जो उदय हों, तऊ उजास न कोय।
तनक श्याम की श्यामता, जो दृग लगो न होय॥

ज्योति-ज्योति कहने से तो निराकार ब्रह्म-ज्योति का बोध होता है, तो क्या आप उस अदृश्य निरञ्जन ज्योति का गीत गारहे है ? नहीं-नहीं, वह तो "**धेनु पालिने लोकपालिने**"—भी हैं, लोकपाल होकर भी जो, धेनुपाल (गो-पाल) है, तथा शेषशायी होकर भी 'राधाङ्कशायी' है उसके लिये मेरा प्रणाम है। सूरदासजी भी यही कहते हैं :—

आदि अनन्त रहै जल शायी। परमानन्द सदा सुखदाई॥
ज्ञान रूप हिरदै में बोलै। सो बछरन के पीछे डोलै॥
शिव सनकादिक अंत न पावैं। सो गोपन की गाय चरावैं॥
यश अपार श्रुति पार न पावैं। चरणकमल नित रमा पलावैं।
अगम अगोचर लीला धारी। सो राधा वश कुञ्जबिहारी॥
जो रस ब्रह्मादिक नहिं पायो। सो रस गोकुल गलिन बहायो।

राधारससुधा निधिकार ने भी ज्योतिरूप श्रीकृष्ण को राधावक्षोज-भूषण कह कर स्मरण किया है—

सुस्वादु-सुरस-तुन्दिलमिन्दीवर-वृन्द-सुन्दरं किमपि।
अधिवृन्दाटवि नन्दति राधा-वक्षोज-भूषणं ज्योतिः॥

श्रीवृन्दावन में अनिर्वचनीय, सुस्वादु, सुरस से शिथिल, नीलेन्दीवर वृन्द के समान सुन्दर राधा वक्षोज की भूषण स्वरूप एक ज्योति परम-आनंद को प्राप्त हो रही है।

अन्तरंग लीला परक अर्थ में—महारास में उद्दाम रास विलास हो रहा है। श्रीकृष्ण एक ही शरीर के द्वारा अनन्त गोपियों के कण्ठ में भुजा

डाल कर नृत्यान्तर्गत आलिङ्गन कर रहे हैं, और मध्य में श्रीराधा का भी आलिङ्गन करते हुए विराजमान हैं, श्रीकृष्ण की इस आश्चर्यपूर्ण चापल्य सीमा, चातुर्य सीमा, तथा केलिसीमा के दर्शन से विल्वमंगल महान् विस्मित होकर अपने सखी भाव के आवेश में कहते हैं—"अहो, हो ! इस विलक्षण चंचल तेज के लिये नमस्कार है। यह देखो, ये श्रीराधा के हृदय पर ही सदा संलग्न हैं, विराजमान हैं, क्षणभर के लिये भी यहाँ से पृथक् नहीं होते, (पुनः चारों ओर के मण्डल के प्रति दृष्टि पड़ने पर चकित होकर कहते हैं,) "अहो ! यह कैसा आश्चर्य है कि ये श्रीकृष्ण जैसे राधाजी के हृदय पर विराजमान हैं, वैसे ही "शेषशायी भी हैं, अर्थात् शेष अथवा अशेष—गोपियों के हृदय पर भी विराजमान हैं, परन्तु यह कैसे सम्भव है ?

इस शंका के उदय होते ही ब्रह्मा-मोहिनी लीला की स्फूर्त्ति हो आती है और तब कहते हैं—"**धेनु पालिने लोकपालिने**"—इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि जब ब्रह्मा इनके बालक और वत्सगण को हरण कर ले गया था, तब यह एक स्वरूप से ही तो अनन्त गोपाल तथा गो-वत्स बन गये थे, इतना ही नहीं "**लोकपालिने**"—ब्रह्माजी को पृथक् पृथक् ब्रह्माण्डों के पृथक्-पृथक् पालक चतुर्भुज नारायण स्वरूप के दर्शन भी करा दिये थे, अतः यह सर्वसमर्थ लोकपाल गोपाल भी है, वह सदा ही केवल राधा-पयोधर-उत्संग-शायी होने पर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल से अशेष—गोपी-पयोधर-उत्संग-शायी भी हो रहा है। ऐसे विलक्षण चपल ज्योति स्वरूप गोपाल-कृष्ण को नमस्कार है।

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः—

धेनु-पाल-दयिता-स्तन-स्थली-धन्य-कुङ्कुम-सनाथ-कान्तये।
वेणु-गीत-गति-मूल-वेधसे ब्रह्म-राशि-महसे नमो नमः ॥७८॥

पद्यार्थ— **गोपबल्लभा कुच कुम्भों पर अनुलेपन से हो कृत कृत्य—**
कुंकुम करता जिनकी अनुपम अंग श्री सनाथ सातिथ्य ॥
वेणु गीत की स्वर लहरी के जो अनन्य सृष्टा, साकार—
ब्रह्म राशि के तेज अपरिमित तुमको नमस्कार सौबार ॥

भावार्थ—गोपकुमारियों के स्तन युगल पर अनुलिप्त होने से कृतकृत्य हुए कुंकुम से जिनकी अंगकान्ति सनाथ हो रही है तथा जो वेणुगीत गति के आदि सृष्टा हैं, इन ब्रह्मराशि के अपरिमित तेज पुञ्ज को मेरा नमस्कार है।

रसिका टीका—व्रजदेवियों के सौभाग्योत्कर्ष का वर्णन करते-करते पुनः प्रस्तुत श्लोक में भी बार-बार नमस्कार करते हुए लीलाशुक कहते हैं—

गोपाङ्गनाओं के कुच-कुंकुम द्वारा रञ्जित, परम मनोहर कान्तियुक्त श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है, तथा ब्रह्मराशिस्वरूप ज्योतिर्मय श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है।"

"**धेनुपाल दयिता**"—से तात्पर्य व्रजगोपीयूथमुख्या श्रीराधा अथवा समस्त गोपाङ्गनाओं से है। जैसे कुंकुम-चन्दन की तिलक रचना द्वारा मुख की शोभा-कान्ति बढ़ जाती है, वैसे ही गोपाङ्गनाओं के कुंकुम, चन्दन, कस्तूरी, अगरु आदि सुगन्धित अङ्गराग के द्वारा श्रीकृष्ण का सुन्दर श्रीविग्रह भी अतिशय शोभित होगया है, उसकी कान्ति मानो "**अनाथा**" से अब सनाथा हो गई है, अब वह महाप्रेमवती व्रज-वनिताओं के परम प्रेममय सात्त्विक-प्रस्वेद से स्निग्ध, सुरभित कुच-कुंकुम-कर्दम के द्वारा चित्रित होकर श्री-अङ्ग विचित्र शोभा को प्राप्त हो रहा है। ये व्रज गोपाङ्गनाएँ शृङ्गार-रसराज का भी शृंगार करनेवाली तथा जगत के नाथ को भी सनाथ करने वाली हैं।

"**वेणुगीतगति-मूल-वेधसे**"—अर्थात् एक अद्भुत अपूर्व वंशीध्वनि को प्रकट करने वाले मुरली मनोहर को नमस्कार है। इस पद में 'गति' शब्द के दो अर्थ होते हैं :—

१—साधारण अर्थ—स्वर, ग्राम, आलाप, तान, मूर्च्छना, गमक, आदि संगीत की गति हैं--अर्थात् गीत इनमें से होकर गमन करता है, इस वेणुगीत की गति के मूल विधाता,—सृष्टिकर्ता श्रीकृष्ण हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के वेणु की विचित्र "**गीत गति**" को श्रवण कर शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, नारद, शारदा आदि महान् देव-संगीताचाय भी मुग्ध हो जाते हैं, और वंशीध्वनि के राग रागिनियों की 'गति' को निश्चित नहीं कर पाते, श्रीमद्भागवत के युगल गीत के "**सवनशस्तदुपधार्य सुरेशा ... कश्मलं ययुरनिश्चित तत्त्वाः**" (१०-३५-१५) श्लोक से यह स्पष्ट है।

२—विशेष अर्थ—ऋक्, यजुः तथा साम वेदत्रयी भी वेणु गीत की ही गति है। श्रीकृष्ण की वेणु-ध्वनि की तीन गति की तीन मूर्त्ति ही तीन वेद हैं—जैसा कि ब्रह्म संहिता में वर्णित है :—

अथ वेणु निनादस्य त्रयीमूर्त्तिमती गतिः। स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जानि स्वयम्भुवः॥
गायत्रीं गायतस्तस्मादधिगत्य सरोजजः। संस्कृतश्चादि गुरुणा द्विजतामगमत्ततः॥

अर्थात् वेणु-निनाद की तीन मूर्त्तिमती गति प्रकट होकर स्वयम्भू ब्रह्मा के मुख पद्म में प्रवेश कर गई, वंशी में गायत्री (वेदत्रयी) का गान करते हुए श्रीकृष्ण के द्वारा पद्मयोनि ब्रह्मा ने गायत्री को प्राप्त किया और श्रीकृष्ण के द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व को भी प्राप्त किया था—"**त्रयी मूर्त्तिमयी गति-र्गायत्री वेदमातृत्वात्**"—ब्रह्मसंहिता—श्रीजीव गोस्वामी कृत टीका।

अर्थात् वंशी की त्रयी गति ही वेदत्रयी है और यही वेदमाता गायत्री है, आदि गुरु श्रीकृष्ण ने शब्द-ब्रह्ममय वेणु-गीत के द्वारा लोक-पितामह ब्रह्मा को सृष्टि के पूर्व में ही उस गायत्री रूप वेदत्रयी का उपदेश किया था। ऐसी जो शब्दमयी वेद की जननी वंशी-ध्वनि है, उस ध्वनि के "**मूलवेधसे**" जो आदि सृष्टिकर्त्ता—श्रीकृष्ण हैं, उनके लिये नमस्कार है।

श्री रूप गोस्वामी चरण ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "विदग्ध माधव" में वंशी को त्रिवेदस्वरूपिणी कहा है। देखिए—

त्रपाभिचरणक्रमे परमसिद्धिरार्थवणी, स्मरानिलसमिःधने सपदि सामिधेनीध्वनिः।
तथात्मपरमात्मनोरूपनिषन्मयी रुङ्गमे, विलास मुरलीभवा विरुतिरद्य वैरायते॥

एक भावुक कवि ने भी मुरली को त्रिवेद रूपिणी कहा है, पर वह तो यह भी कहता है कि—"प्रेमाद्वैत" स्थापित करने में मुरली 'तत्त्वमसि' की रणभेरी भी है—

यह मुरली त्रिवेदस्वरूपिणी है, श्रुति मंत्रन सों यह पूरी है।
यह लज्जा वधू के मारन में, जनु अथर्व मंत्र की रूरी है॥
यह मदनानल के जारन में बस, साम गान की चेरी है।
यह "प्रेमाऽद्वैत" करन में मुरली, तत्त्वमसि की भेरी है॥

स्वयं विल्वमंगल ने भी अपने एक प्रसिद्ध श्लोक में वंशी की दस विशेषताओं में यह भी बताया है कि यह वंशी-ध्वनि वेद तथा वेदार्थ प्रकाशिनी भी है। यथा—

लोकानुद्धरयन्, श्रुतिर्मुखरयन्, क्षोणिरुहान्हर्षन्यन्,
शैलान् विद्रवयन्, मृगान् विवशयन्, गोवृन्दमानन्दयन्।
लोकान् सम्भ्रमयन्, मुनीन् मुकुलयन्, सप्तस्वरान्जृम्भयन्,
ओङ्कारार्थमुदीरयन्, विजयते वंशी निनादः शिशोः॥

"ब्रह्मराशिमहसे" पद के भी तीन अर्थ हैं :—

१—व्यापक तेजस्वरूप ब्रह्म की राशि—अर्थात् उसके समूह से भी अधिक श्रीकृष्ण की यह कान्ति है। श्रीकृष्ण परम ज्योतिः-स्वरूप हैं।

२—ब्रह्म-सुख की जो राशि है, उसके महः-अर्थात् उत्सव-स्वरूप श्रीकृष्ण हैं, ब्रह्मस्वरूपानुभूति द्वारा जो आनन्द की प्राप्ति होती है, उसकी राशि-राशि (ढेर के ढेर) उत्सव स्वरूप श्रीकृष्ण हैं, अर्थात् ब्रह्मानन्द से भी अनन्त गुना आनन्द श्रीकृष्ण के स्वरूप में तथा प्राप्ति में मिलता है। यथा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

भक्तिरसामृतसिंधु में कहा है कि—"ब्रह्मानन्द को ब्रह्मानन्द से ही यदि गुणित किया जाय अर्थात् गणना की अंतिम संख्या—परार्द्ध से ब्रह्मानन्द को गुणा किया जाय तब भी वह भक्ति-सुख-सिन्धु के एक परमाणु के समान नहीं होता है।"

३—तृतीय अर्थ—अनन्त ब्रह्माण्ड में जो अनन्त ब्रह्मा हैं, उनके महः अर्थात् एकमात्र प्रकाश स्थान श्रीकृष्ण ही हैं।

तात्पर्य यह है कि—समस्त ब्रह्मागण मूल-ब्रह्म की विभूति से उत्पन्न हैं, तथा मूल-ब्रह्म है—श्रीकृष्ण के अङ्ग की कान्तिविशेष-मात्र। अतएव श्रीकृष्ण, ब्रह्म और ब्रह्मागण के प्रकाश स्थान हैं—"**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**" (गीता १४-२७) प्रतिष्ठा=आश्रय।"—(श्रीधर स्वामी) तथा—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड कोटि-कोटिष्वशेष वसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतम्, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

—ब्रह्मसंहिता ५-४९

जिसकी प्रभा से उत्पन्न निर्विशेष ब्रह्म, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की वसुधादि-विभूति से भिन्न रहकर निष्कल, अनन्त, एवं अशेष तत्त्व रूप से प्रतीत होता है, मैं उस आदि-पुरुष गोविन्द को नमस्कार करता हूँ।

श्रीमद्भागवत् में मत्स्य भगवान् का भी यही कथन है कि मेरी महिमा का नाम ही ब्रह्म है।

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि॥

महिमा से महिमावान् पुरुष, गुण से गुणी, धर्म से धर्मी कहीं अधिक महान होता ही है।

कोटि कोटि ब्रह्माण्ड जे ब्रह्मेर विभूति।
सेइ ब्रह्म गोविन्देर हय अंग कान्ति॥ —चैतन्य चरितामृत

तदङ्घ्रि पङ्कज मुखचन्द्र मणि प्रभाकरः।
आहुः पूर्ण ब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम्॥ —पद्म पुराण

इसका भाव यों समझिये —

जाके पद नख ज्योति की आभा को अणु लेश।
जगमगात है जगत में पारब्रह्म परमेश॥

जाऊँ बलिहारो नित्य वैभव विहारी। जुगलकिशोर स्वयं सत्य श्रुति चारी।।
अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म व्यापक है जोई। तिहारे चरण नख आभा है सोई।।
परमातम विश्वकाय नारायण विष्णु। धर्म हैं तिहारे तुम धर्मी जगजिष्णु।।
बाल कौमार पौगण्डवपु धरि के। करन विहार जन हित अनुसरि के।।
ललित अगाध लीला बरनी नहिं जाई। 'श्रीहरिप्रिया' भागवत कहै प्रभुताई।।

—श्रीहरिव्यासाचार्य-कृत महावाणी

वैष्णव सिद्धान्त के ग्रन्थों में सूर्य और सूर्य के प्रकाश की भाँति श्रीकृष्ण को सूर्य स्थानी और ब्रह्म को उनके अंग की कान्ति-स्थानी माना है।

इस सम्बन्ध में स्कन्द पुराण में वासुदेव-माहात्म्य के अंतर्गत गोलोक-वर्णन के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के स्वरूप का विशेष वर्णन करते हुए स्कन्ददेव कहते हैं कि—नारदजी के विशेष प्रार्थना करने पर श्वेतद्वीप वासी श्वेत-मुक्ता नामक एक महान भक्तराज ने नारदजी को गोलोक का दर्शन कराया, नारदजी जब श्रीकृष्ण मन्दिर के समीप पहुँचे तो उन्होंने श्रीकृष्ण दर्शन के लिये उपस्थित ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि अनेक ब्रह्माण्डों के नायकों को बलि-पूजोपहार लेकर जाते हुए देखा, गोलोक के द्वार पर वीरभानु, चन्द्रभानु, सूर्यभानु, वसुभानु, देवभानु, रत्नभानु, अंशु, बल, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथ, श्रीदाम आदि गोपगण भी विराजमान थे, नारदजी ने उनको प्रणाम किया, तदनन्तर उनकी आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने भीतर मन्दिर में प्रवेश किया, जहाँ उनको एक महान् ज्योतिपुञ्ज का दर्शन हुआ, उस ज्योतिपुञ्ज का तेज इतना प्रचण्ड था कि मानो एक काल में कोटि-कोटि सूर्य प्रकाशमान हो रहे हों, उस प्रकाश मण्डल से ऊर्ध्व, अधः तथा चतुर्दिशा-विदिशा, समस्त परि-व्याप्त हो रहीं थीं। नारदजी को सम्बोधित करते हुए स्कन्ददेव कहने लगे—

कृष्णस्यानुग्रहो यस्मिन् स तेजसि समीक्षते।
केवलं तेज एवान्ये पश्यन्ति न तु तं मुने।।

इस ज्योतिमण्डल के भीतर सम्यक् दृष्टिपात करने में वही भाग्यवान् समर्थ हो सकता है कि-जिसके ऊपर श्रीकृष्ण की कृपा विशेष होती है, अन्य जन तो केवल ज्योति ही ज्योति के दर्शन कर पाते हैं, उस ज्योतिपुञ्ज के मध्य में स्थित ज्योतिः स्वरूप श्रीकृष्ण के दर्शन उन्हें नहीं हो पाते।

गौड़ीय वैष्णवाचार्यों का यही सिद्धान्त है कि केवल तेजमण्डल का दर्शन तो गौणब्रह्म का दर्शन है, उस तेज के गर्भ में स्थित श्रीकृष्ण विग्रह का दर्शन ही मुख्य परम-ब्रह्म-दर्शन है।

मूल श्लोक पुष्पिताग्रा छन्दः—

मृदु-क्वणन् नूपुर-मन्थरेण बालेन पादाम्बुज-पल्लवेन ।
अनुस्मरन्[1] मञ्जुल-वेणु-गीतमायाति मे जीवितमात्त-केलि ।।७८।।

पद्यार्थ— लघु लघु पाद पद्म थिरका कर—
मन्द - मधुर नूपुर रुनुकन्ता ।
क्रीडारत मेरा जीवन धन—
आता मंजुल वेणु बजाता ।।

भावार्थ—अपने बाल और चंचल चरण-सरोजों को थिरकाता हुआ, अपनी मधुर और मन्द नूपुर-ध्वनि करता हुआ और उसी लयताल के अनुसार अपनी वेणु-लता को स्वर प्रदान करता हुआ मेरा प्राणवल्लभ विभिन्न प्रकार की क्रीडायें करता हुआ चला आ रहा है ।

रसिका-टीका—विल्वमङ्गल अभी तक दूर से इस रास-विलास का दर्शन कर रहे थे, अब उनको श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए समीप आते-से प्रतीत हो रहे हैं, अतः श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के आगमन की छबि-माधुरी का उन्होंने चार श्लोकों में वर्णन किया है ।

"अहा हा ! मेरे प्राण जीवन-धन प्रियतम प्राणनाथ श्रीकृष्ण आ रहे हैं, वृन्दावन-वीथी में वे अपने नूपुरों को छमछमाते हुए आ रहे हैं । परन्तु यह तो 'बाल' हैं, अति सुकुमार हैं, नख-शिख पर्यन्त कोमलता की राशि हैं, तथापि ये चरण-युगल—ये तो कमल के अरुण कोमल-दल से भी कहीं अधिक सुकोमल हैं ! पुलिन का मृदुल रजकण भी इनमें अवश्य चुभता होगा ? हा ! परन्तु यह तो 'बाल' हैं न ?—क्रीड़ा में ही सदा मत्त रहते होंगे ? इनको अपने तन-वदन की सुधि कहाँ ? जो ये अपने पद-पंकज के कष्ट की ओर ध्यान दें ? कष्ट तो गोपियों को होता है, परन्तु इस समय तो ये गोपियाँ भी उन्मत्त की भाँति बेसुध हो रही हैं, हाँ ठीक है ! वंशी जो बज रही है ? नवीन-नवीन राग-रागिनियों की सृष्टि हो रही है, इस अद्भुत माधुर्यामृत लहरी से वृन्दावन विमोहित हो रहा है, फिर व्रज-वनितायें क्यों न मोहित हों ? आज इन्हीं के लिये तो ये विशेष आवेश के साथ अपनी अशेष कला-निधि को स्मरण कर उनको प्रकट कर रहे हैं—**'अनुस्मरन्'** । श्रीकृष्ण वेणु-गीत से गोपियों को ही मुग्ध नहीं कर रहे—अपितु स्वयं आप

१. पाठान्तर – अनुक्वणन्

भी मुग्ध हो रहे हैं। पहले आप रंग से रंगीले, रस से रसीले, बन कर फिर गोपियों को भी रंगीली-रसीली बना रहे हैं, इस रंग-रस के भार से आपकी गति मन्थर हो गई है, नयन मन्थर हो गये हैं, समस्त श्रीअङ्ग ही मन्थर रसालसम हो गया है, अहा ! इस प्रकार से रस-क्रीड़ा को प्रकट करते हुए मेरे प्राण जीवन-धन श्यामसुन्दर आगमन कर रहे हैं—

मेरे जीवन प्राण यह आय रहे, गोपिन संग रास रचाय रहे।
पद पंकज पात लजाय रहे, गति मन्थर मत्त सुहाय रहे॥
मृदु नूपुर रुनु झुनु लाय रहे, मुख मुरली कल-कल गाय रहे।
नव-नव यह राग सुनाय रहे, हरषाय रहे सरसाय रहे॥

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

सोऽयं विलास - मुरली - निनदामृतेन,
सिञ्चन्तुदञ्चितमिदं मम कर्ण-युग्मम्।
आयाति मे नयन-बन्धु-रनन्य-बन्धु—
रानन्द-कन्दलित-केलि-कटाक्ष-लक्ष्मी॥७६॥

पद्यार्थ— **अपनी वंशी की मादक स्वरलहरी-रूप सुधा-सरिता से।**
वही सींचता मेरे प्यासे कर्णयुगल को तत्परता से॥
महानन्द रस से अभिषिञ्चित केलि-कटाक्ष-विभव बरसाता।
अनुपम बन्धु नयन का तारा प्राणाधार हमारा आता॥

भावार्थ—जिसने अपनी विलासभरी सरस बांकी चितवन से मेरे हृदयस्थ आनन्द को अंकुरित कर दिया है—यह वही मेरे नयनों का तारा, मेरा अनन्य बन्धु अपनी सुरीली मुरली की स्वर-सुधा-धारा से मेरे उत्सुक और पिपासित कानों को सींचता हुआ इधर ही आ रहा है।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल को मानो प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है, इसी कारण वे अचानक कह उठते हैं—'**सोऽयं**'—यह वही हैं। वही कौन ? वही मेरे शिक्षा-गुरु भगवान् शिखिपिच्छमौलि ! वही जिन्होंने मुझे विषय-गर्त्तरूपी काक-तीर्थ से निकाल कर वृन्दावन की ओर प्रेरित किया था, अतएव ये मेरे '**अनन्य बन्धु**' हैं। उनके बिना और बन्धु ही कौन है मेरा ? इनके लिये मेरे प्राण कितने उत्कण्ठित थे, "कब दर्शन होंगे, कब दर्शन होंगे" यह कहकर मेरे नयन कितने तृषित थे, हाँ तो, यह वही मेरे नयन-बन्धु, मेरे प्राण-बन्धु आ रहे हैं ! रास-रसानन्द के कारण इनकी कटाक्ष-केलि

प्रफुल्लित होकर परम शोभा को प्राप्त हो रही है। इस मधुर-वदन-कमल तथा नयन-कमल के दर्शन से मेरे नयन आज कृतार्थ हो रहे हैं। अतएव ये मेरे 'नयन-बन्धु' हैं, और जिस रसीली मुरली-ध्वनि को श्रवण करने के लिये मेरे दोनों कर्ण निरन्तर उन्मुख (खड़े) रहते थे, अहा ! आज उस केलि से भरी हुई तथा केलि के लिये बजती हुई मुरली के नादामृत से मेरे कर्ण-युगल का सींचन करते हुए मुझ अनन्य-बन्धु के नयन-बन्धु आ रहे हैं ! आज चिरकाल की मेरी उत्कण्ठा सफल हुई, मेरा वृन्दावन आगमन सफल हुआ, मेरा जीवन कृतार्थ हो गया।

यह देखो ! वह देखो ! हाँ जी वही आ रहा है, मेरा नयनतारा वही आ रहा है।
बहुत रोये थे नैंन दरशन को जिसके, इन्हें देखने अब वही आ रहा है।
बहुत प्यासे थे कर्ण धुनि मुरली की सुनने, इन्हें रस पिलाने वही आ रहा है।
नयनों से केलि-रस आनन्द-धारा, बहाता हुआ यह वही आ रहा है।
बिना कृष्ण बंधु न दूजा हमारा, वही 'प्रेम' बंधु वही आ रहा है।

भगवान् को घर आया देखकर भक्त कितना प्रसन्न होता है, यह कल्पना से बाहर की बात है, वह अपनी प्रसन्नता में पशु, पक्षी सभी को सम्मिलित कर लेना चाहता है—

आज आये मेरे धाम माई, नागर नंदकिशोर।
चंदा रे तू थिर ह्वै रहियो, होन न पावै भोर॥
दादुर चकोर पपैया बोलो, बोलो वन के सब मोर।
'नंददास' प्रभु वे जिन बोलो, वारो तमचर चोर॥

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

दूराद् विलोकयति वारण-केलिगामी,
राधा[1]-कटाक्ष-भरितेन विलोकितेन।
आरादुपैति हृदयङ्गम-वेणु-नाद—
वेणी-मुखेन दशनांशुभरेण देवः ॥८०॥

पद्यार्थ— जो है पोषित कीर्तिकुमारी के वरवंक विलोकन से।
रहा दूर से देख मत्त गजगामी, उस अवलोकन से॥
हृदयङ्गम-वंशी-स्वर-रूप त्रिवेणी का जो है उद्गम।
दन्त-कान्ति बरसाता आता पास हमारे वह अनुपम॥

१. पाठान्तर—धारा

भावार्थ—गज की गति के सदृश उन्मत्त एवं लीला-ललित चाल से चलता हुआ यह किशोर-चूड़ामणि, श्रीकिशोरी के बंक-विलोकनों से पोषित अपनी कृपादृष्टि की वृष्टि दूर से ही मेरे ऊपर कर रहा है और दन्तप्रभा से आभासित तथा हृदय की गहराइयों में समाई हुई वेणुनादरूप त्रिवेणी (क्योंकि इस वेणुनाद की तीन धारायें ही वेदत्रयी के रूप में विख्यात हैं, अथवा मद्र, मध्य और तार-स्वररूप त्रिवेणी) उद्गम-स्थल स्थानीय निज मुखारविन्द की छटा विकीर्ण करता हुआ हमारी ओर आ रहा है।

रसिका-टीका—अहा हा! देखो, देखो, यह ज्योतिपुञ्ज! यह अद्भुत विलास-लसित परमोज्वल—शृङ्गारमूर्त्ति श्रीकृष्ण दूर से मेरी ओर विशेष दृष्टिपात करते हुए आ रहे हैं, यह दृष्टि कैसी है? **'राधा-कटाक्षभरितेन'**—श्रीराधा का कटाक्षों के द्वारा पोषण करने वाली है, अतएव श्रीराधा की ओर प्रणय-पूर्ण दृष्टि से देखते हुए साथ ही मेरी ओर भी दृष्टिपात करते हुए चले आ रहे हैं, अहो, मेरे सौभाग्य की सीमा तो देखो, जो मेरे ऊपर यह प्रसादीकृत मधुर दृष्टि पड़ रही है।

'धारा-कटाक्षभरितेन'—इस पाठ में—धारा-रूप कटाक्ष से पूर्ण दृष्टि के द्वारा मुझे अवलोकन कर रहे हैं—यह अर्थ होगा। अर्थात् श्रीकृष्ण के कटाक्ष मानो बहती हुई सरिता हैं, जिसमें कृपा तथा प्रेम का अमृत प्रवाहित हो रहा है, उससे वे अपने जनों को शीतल कर रहे हैं।

इस प्रकार कृपापूर्वक अवलोकन करते हुए वे दूर से समीप आ रहे हैं। कैसे? **'वारणकेलिगामी'**, गज-गति से झूमते-झामते केलि करते हुए मन्द गति से पधार रहे हैं।

क्या चाल शान अलबेली है गज लाज रहे मस्ते मस्ते।
जिन देखा तिनके चित्त रतन अनमोल बिके सस्ते सस्ते॥
रसरूप माधुरी बरसत है ये जात चले रस्ते रस्ते।
या श्यामसुन्दर मनमोहन ने दिल छीन लिया हँसते हँसते॥
अटकि रह्यो अटपटी पाग मन मुख सुषमा सुख सागर है।
विमल गण्डमण्डल पर झलकत कुण्डल अलक उजागर है॥
वर गुञ्जरत मलिंद माल उर नव किशोर गुण आगर है।
मृदु मंजीर झमाझम बाजत झमकि चलत नटनागर है॥

आज यहाँ केवल मञ्जीर ही नहीं बज रहे, वेणु भी बज रही है।

हृदय को स्पर्श कर लेने वाली वेणुध्वनि की धारा श्रीमुख पर प्रवाहित हो रही है, परन्तु यह धारा निरन्तर प्रवाहित नहीं होती, सदा एकरस प्रवाहित रहने वाली तो एक अन्य ही त्रिवेणी धारा है, जिसमें दन्त-कांति तो उज्वल गङ्गा है, कटाक्ष-धारा ही श्यामल यमुना है और अरुणाधर मानो सरस्वती है, इस प्रकार यह त्रिपथगा-धारा अपने प्रेमियों को निरन्तर रस-प्लावित करती रहती है—

दन्त की पंगति दामिनी सी दमकत में गङ्गा बह निकली।
तहाँ नीरज नैन कटाच्छन की वर कालिन्दी हू आय मिली॥
अधरन की लखि अरुनाई उर ए सरसुति उमगाय चली।
मन न्हाय लै नित्त पाय लै 'प्रेम' श्याम के मुख पै त्रिवेनी भली॥

और एक दिन मार्ग में जब इस मधुर-मूर्त्ति को यमुना के तट पर विहार करते हुए एक सखी ने देखा तो गोपी अपना सर्वस्व उसे दे चुकी, अब उस बाला का मन उड़ा-उड़ा सा रहता है—

अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि ! मया यामुन तटं,
व्रजन्त्या दृष्टोऽयं नव जलधर श्यामल तनुः।
स दृग्भङ्ग्या किं वाकुरुत नहि जाने तत इदं,
मनो मे व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न वलते॥

—पद्यावली

उस नव-जलधर-तुल्य श्याम शरीर वाले की तिरछी चितवन ने सखी के मन पर जादू-सा कर दिया है, तब से चित्त चञ्चल हो गया है, घर के किसी काम में लगता ही नहीं।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः—

त्रिभुवन-सरसाभ्यां दिव्य-लीला-कुलाभ्यां
दिशि दिशि तरलाभ्यां दृप्तभूषादराभ्याम्।
अशरण-शरणाभ्यामद्भुताभ्यां पदाभ्या—
मयमयमनुकूजद्वेणु रायाति देवः॥८१॥

पद्यार्थ— **त्रिभुवन को सरसाने वाले, दीप्त बिभूषण से भूषित।**
दृष्टिमात्र के शीतल-कर्त्ता, दिव्य विलासों से रूषित॥
अरक्षितों के सच्चे रक्षक— ऐसे चरणों से वह देव—
चले आ रहे वेणु बजाते, करते कृपादृष्टि स्वयमेव॥

भावार्थ—तीनों लोकों को आनन्दित करनेवाले, उज्ज्वल एवं मुखर अलंकारों से विभूषित, अद्भुत कौतुकों से भरे हुए, एवं दृष्टि को शीतल करने वाले अशरण-शरण चरणारविन्दों से मेरे पास वेणु बजाते हुए आ रहे हैं।

रसिका-टीका—विल्वमङ्गल ने वृन्दावन के मार्ग पर आरूढ़ होते समय जो विविध भावनामयी उत्कण्ठाएँ अपने प्रलाप द्वारा व्यक्त की थीं, वे सब वृन्दावन में प्रवेश करने पर पूर्ण हो रही हैं, अपने आराध्य इष्टदेव वृन्दावनविहारी रासविलासी—श्रीकृष्ण के दर्शन आज हो रहे हैं, और वे उनकी ललित-लीलायुक्त माधुरी का आस्वादन कर अपने को कृतार्थ मान रहे हैं, उनकी पूर्वोक्त प्रार्थना के बारहवें श्लोक में एक यह प्रार्थना भी थी—"**किमपि वहतु चेतः कृष्ण पादाम्बुजाभ्याम्**" (श्रीकृष्ण के चरण-कमलों से मेरा चित्त किसी एक अनिर्वचनीय रस का आस्वादन करे)। भक्तवाञ्छा-कल्पतरु श्रीकृष्ण यहाँ उनकी प्रार्थना को पूर्ण कर रहे हैं, अपने चरण-विन्यास-माधुर्य का भक्त को आस्वादन करा रहे हैं, सकल-निगम-वल्ली के इस मधुरातिमधुर सरस श्याम-फल को अपने समीप आता हुआ देखकर विल्वमङ्गल आनन्द तथा संभ्रम से विह्वल होकर कह रहे हैं—

"**अयमयं देव आयाति**"—यह देखो! यह मेरे देव आ रहे हैं! ओह! कैसी रसवर्षिणी इनकी लीलाएँ हैं, कैसी विलक्षण मधुरोज्ज्वल इनकी अंग-कान्ति है? यह मेरे देव आ रहे हैं और चरणों से चल कर ही आ रहे हैं—'**पदाभ्याम्**' अरे! ये तो पादुकाहीन सुकुमार चरण-कमलों से आ रहे हैं! हाँ, हाँ! ये इनकी मेरे ऊपर कृपा ही तो है, ताकि मैं इनकी निरावृत रूप-माधुरी को पान करके अपनी चिर-सञ्चित पिपासा को तृप्त कर सकूं! आहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ?

ये चरण-युगल अद्भुत हैं, क्योंकि—'**त्रिभुवन-सरसाभ्याम्**'—ये स्वयं तो त्रिभुवन में एकमात्र परमानन्दरस-स्वरूप हैं ही, साथ ही त्रिभुवन को परमानन्द रसमय बनाने वाले भी हैं, इनके अतिरिक्त अखिल ब्रह्माण्ड में न तो कोई सरस पद है न कोई सरसता-संपादक।

ये ही पद-पङ्कज भक्ति-रस तथा शृङ्गार-रस के प्रदाता हैं, अतः जहाँ एक ओर शिव, शुक, सनकादिक, नारद, उद्धव, ध्रुव, प्रहलाद, अम्बरीष आदि इन चरणारविन्दों से भक्त्यानन्दरस को प्राप्त कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर वेद, वेदमाता-गायत्री, अग्नि-पुत्रगण, दण्डकारण्य के मुनिगण,

सत्यतपा-जाबालि, हविर्धान आदि अनेक ऋषिगण, देवकन्या, मिथिलापुर की नारी, छाया सीता आदि व्रज में गोपी-रूप धारण कर व्रज-गोपियों के साथ इन श्रीचरणारविन्दों से उज्ज्वल शृंगार-रस के आनन्द का आस्वादन कर जगत् को सरस बना रहे हैं। युगल-सरकार के दिव्य युगल-चरणों से ही दिव्य प्रेमानन्द-विलास प्रकट हुआ है और उसी से शृंगार-रस सफल हो रहा है।

जाके एक ही बिन्दु को, है सब जग में खेल।
सो रस-सिंधु श्याम है, यह सिद्धान्त अपेल॥

× × ×

कृष्णरूप आनन्द रस, राधा रूप अगाध।
हरो भरो तब होत जग, आवत जब अह्लाद॥

× × ×

हेम ऋतु महँ रस रहैं, पै सूखि जात हैं पात।
आवत ऋतु बहार जब, फूल फूल हुलसात॥

वेद की श्रुति कहती है, वह ब्रह्म भी "रसो वै सः" है– उसका स्वरूप भी रसमय है, जब ब्रह्म ही रसमय है, तो उससे उत्पन्न होने वाला यह कार्य बे-रस कैसे होगा? इसीलिये किसी भावुक ने क्या ही अच्छा कहा है—

रस ही सों तरु ठाड़े, रस ही सों पात हरे,
रस ही सों फूल भरे, रस ही जिवायो है।
रस ही सों फल भावै, रस ही सों जल भावै,
रस ही सों अन्न भावै, रस सार गायो है॥
रस ही सों रूप भले, रस ही सों बोल भले,
रस ही की गारी भली, रस ही लुभायो है।
रस ही आनंद रूप, रस की मूरति अनूप,
"रसो वै सः" श्याम 'प्रेम' वेद स्वयं गायो है॥

यदि रसराज प्रकट नहीं होता तो बैकुण्ठ छोड़कर व्रज में जन्म लेने की कौन कामना करता, श्रीकृष्ण का कोटि-मन्मथ-मन्मथ नाम भी नहीं पड़ता और यदि राधा-तत्व ने इसका सिंचन न किया होता—तो जगत् में जड़ता छा जाती और रसिकों का अवलम्ब ही नष्ट हो जाता—

कीर्तिदा जसोदा वृषभानु आदि गोपी गोप कैसे या कलियुग मांहि धन्य पद पावते।
कौन तप करतो व्रज मांहि बसिवे कूँ, कौन बैकुण्ठ के सुखनि विसरावते॥

'नागरिया' जो पै राधा प्रगट न होती तो श्याम पैहू काम की विपत्ति घिरिआवते।
छाय जाती जड़ता विलाय जाते कवि सब जर जातो रस तो रसिक कहा गावते॥

अतएव श्रीराधा-कृष्ण के चरण-कमल ही त्रिभुवन में सरस हैं—वे स्वयं रसयुक्त हैं और अन्यों को भी सरस करने वाले हैं।

ये चरण-युगल और कैसे हैं? "**दिव्य-लीला कुलाभ्याम्**"—इस पद के तीन अर्थ हैं—(१) ये दिव्य विलासों के समूह से युक्त हैं। (२) ये गजराज, द्रोपदी आदि की जैसी पुकार पर दिव्य लीला करने के लिये आकुल हैं। (३) ये गोपियों के निमित्त दिव्य लीला-रास करने के लिये आकुल हैं।

"**दिशि दिशि तरलाभ्याम्**"—रासमण्डल में नृत्य के समय चारों ओर सबके पास जाते हुए ये महा-चञ्चल होरहे हैं, क्योंकि इन चरणों में उज्ज्वल नूपुरादि भूषण शब्दायमान हो रहे हैं—"**दृशाः दीप्ता प्रोज्ज्वलिता शब्दिता वा**"

"**अशरण-शरणाभ्याम्**"—और ये चरण अशरण के शरण हैं, शरण पद के दो अर्थ हैं—गृह-थान, तथा रक्षक। जिन अधम 'सुदुराचारी' जनों के लिए अन्य कहीं भी स्थान नहीं है, उनके लिये एकमात्र स्थान ये चरण हैं, जो अपने प्रति हिंसा करने वाले को भी मातृ-गति प्रदान करते हैं—वे ही एकमात्र आश्रय-स्थान हैं—"**कं वा दयालुं शरणं व्रजेम**"। गोपियाँ जो गृह, लज्जा, कुल, धर्म आदि समस्त का त्याग कर चुकी हैं उनके लिए भी एकमात्र शरण श्रीकृष्ण के ही चरण-युगल हैं। अथवा—

(२) शरण का अर्थ करने से तात्पर्य यह होता है कि—जो अभीष्ट-पूर्त्ति की रक्षा करते है, अर्थात् जिनकी अभिलाषा अन्य कोई पूर्ण नहीं कर सकते, उन अशरण जनों की अभिलाषा पूर्त्ति कर उसकी रक्षा करने वाले भी श्रीकृष्ण के ही पद-पंकज हैं। देखिये, इन चरणों ने कहां-कहां किसकी आशा पूर्ण की है—

दण्डक वन वासिन, कैलास गिरि वासी की,
ब्रह्मपुर वासी की हू, आश ब्रज-धूरी है।
जनकपुर नारिन की, देव पुर नारिन की,
वेद ऋचा नारिन की, साध ब्रज पूरी है॥
बलि राज कन्या की, सावित्री छाया सीता की,
लंकेश भगिनी की हू, प्यास ब्रज धूरी है।
नन्द के लाल सम, सुलभ न उदार कोऊ,
गोकुलपुरी सम नांहि, कोउ 'प्रेम' पूरी है॥

विल्वमङ्गल का हृदय भी तरङ्गायित हो रहा है, क्योंकि आज उनके आराध्य देव साक्षात् मूर्त्तमन्त-रस-रूप होकर वंशी बजाते हुए उनकी ओर चले आ रहे हैं।

मूल श्लोक अनुष्टुप छन्दः—

सोऽयं मुनीन्द्र जन मानस तापहारी,
सोऽयं मद व्रजवधू वसनापहारी।
सोऽयं तृतीय भुवनेश्वर दर्पहारी,
सोऽयं मदीय हृदयाम्बुरुहापहारी ॥८२॥

पद्यार्थ— **अहा यही वह अपहर्त्ता है तापत्रय मुनि-मानस का।**
हरण किया व्रजरमणी कुल के कुल-लज्जापट-वाससका॥
इसने खर्व गर्व भुवनेश्वर का व्रज में है लूट लिया।
मेरे मन का रत्नकोश भी इसने ही अपहरण किया॥

भावार्थ—अहो हो, यह सामने से तो वही आ रहा है, जिसने मुनियों के मन के ताप को, व्रजगोपियों के वस्त्र-परिधानों को, इन्द्र के घमण्ड को और मेरे हृदय को अपहृत किया है।

रसिका टीका—समीप आगत—श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होने पर विल्वमङ्गल कहने लगे—अहा! यह वही तो है, वही जिनके रूप के, गुण के, लीला के सम्बन्ध में मैंने महानुभावों के मुख से बहुत कुछ श्रवण किया था, स्वयं भी शास्त्र विचार किया था, मेरी भावना के अनुरूप यही तो वह हैं।

ये वही तो हैं जो "मुनीन्द्रों" के अज्ञान-जन्य-मानस-ताप को दूर कर ज्ञान का प्रकाश करते हैं, तथा भक्त "जनों" के हृदय में प्रकट होकर उनके विरह-जन्य-मानस-ताप को शान्त करते हैं। योगीजनों के हृदय में ज्ञान-ज्योति का प्रकाश भी करते हैं।

आश्चर्य यह है कि जो ज्ञानी भक्तों के हृदय में दर्शन देकर उन पर कृपा करता है, वही व्रज-वधुओं के प्रीति रस में बँधकर लोक वेद की मर्यादा का उल्लंघन करता है और इन व्रज-बालाओं के वस्त्रों को चुराता है—कैसा अद्भुत है—यह व्रज का दिव्य प्रेम।

केवल गोपियाँ ही नहीं, समस्त व्रज वासियों की प्रीति को धन्य है कि जो वेदान्तवेद्य दुर्बोधतत्व—परब्रह्म श्रीकृष्ण को इन व्रजवासियों ने अपने

कब्जे में कर रक्खा है, जो इन व्रजवासियों के संकट को दूर करने के लिये सात दिन तक अहोरात्र गोवर्धन पर्वत को हाथ पर लिये खड़ा रहा। अहो व्रज तथा व्रजवासियों के इस भाग्य की सराहना कौन कर सकता है। गोपियों ने भी उद्धव से यही तो कहा था :—

योग सों कौन हरि पायो।
निज आज्ञा तप कियो बिधाता, कब रस रास पिलायो॥
योग युक्ति शंकर आराधो परम तत्त्व लव लायो।
भुज धरि ग्रीव कबहिं नँद-नंदन हिलि मिलि कल सुर गायो॥
बग दालभ्य महाऋषि कबहूं तृण छाया न करायो।
वर्षत दुखित जान मनमोहन कब गिरिवर कर छायो॥
अति तप पुञ्ज विप्र दुर्वासा दूर्वा तृण नित खायो।
चक्र सुदर्शन तपत महा मुनि कब मुख अनल समायो॥ —सूरदास

ऐसा व्रज का अपूर्व सौभाग्य है, इस व्रज वृन्दावन की कृपा से मुझ जैसे अधम अयोग्य के हृदय में भी कभी रस-कण की झलक दिखाई देगी ? हाय ! मेरे इस हृदय कमल में भी इस अखिल रसामृत मूर्त्ति के आस्वादन योग्य रस धारा प्रवाहित होगी ? परन्तु जल की एक बूंद के लिये क्या गंगा की धारा क्यों चिन्तित होगी ? न हो—गंगा के लिये सम्भव न होगी, परन्तु मेरे प्रभु के लिये सब सम्भव है, उनकी तो अमर वाणी यही है कि—मैं भक्ति के एक पत्र, एक पुष्प, एक फल, एक बूँद जल को भी ग्रहण कर लेता हूँ। और कुछ नहीं, केवल एक तुलसी का दल और चुल्लूभर जल पर ही मैं भक्तों के हाथ बिक जाता हूँ—

तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीड़ीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

तभी तो आज रस-सिन्धु में किल्लोल करते हुए भी मुझ दीनहीन के एक बूँद रस को भी नहीं भूल सके हैं, और अब मेरे हृदय-कमल के पराग-रस को हरण-अपहरण करने के लिये मेरे समीप चले आ रहे हैं। नहीं-नहीं, केवल हरण करने के लिये नहीं, रस का पोषण करने को आ रहे हैं ! कण-भर लेकर मन-भर देने आ रहे हैं !! वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने मुझे अपना बना लिया है, अतः वे अपने को आत्मसात करने आरहे हैं, क्योंकि फिर कोई दूसरा मेरे मन को अपहरण न कर सके—ऐसे हैं मेरे देव ! "अहो मेरे देव की कृपा ! अहो मेरे भाग्य !"

सुबोधिनी टीकाकार श्रीचैतन्यदासजी ने इस श्लोक को सहर्ष परिहास-परक वचन मानकर यह अर्थ किया है कि—"यह श्रीकृष्ण तो मुनीन्द्र-जनों के मानस ताप को हरण कर उनको शान्ति प्रदान करने वाले बड़े साधु हैं !" "अजी ऐसा मत कहो, क्योंकि यह तो रूप-यौवन-गर्विता अथवा हर्षिताव्रज गोपियों के वस्त्र-चोर हैं !" अजी ! वस्त्र तो हँसी-खेल में चुराये थे, इससे उनकी साधुता में क्या दोष आता है ?" "अजी ! इन्होंने तो इन्द्र के भी गर्व को हरण किया था ? तब तो उचित वीर कर्म किया, विशेषत: विद्वेषी के प्रति, इसमें भला क्या बुराई है, "अच्छा ! अन्य प्रमाण नहीं मानते हो तो हम स्वयं ही प्रमाण हैं—हमारा (हम सब सखियों का) हृदय ही नहीं सर्वस्व इन्होंने हरण कर लिया है ! अतएव यह पक्के चोर हैं—**'चौराग्रगण्यं-पुरुषंनमामि'** इसमें कोई संशय नहीं है, हाँ ! हाँ ! ये कृष्ण ही हैं जो सामने से आ रहे हैं, अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ भी समान ही है ।

मूल श्लोक अनुष्टुप छन्दः—

सर्वज्ञत्वे च मौग्ध्ये च सार्वभौममिदं महः ।
निर्विशन्नयनं हन्त निर्वाणपदमश्नुते ॥८३॥

पद्यार्थ—

भोलेपन में और सर्वज्ञता में,
जैसा यह है अन्य कोई न पाया ।
गोपीजन के प्राण का प्राण तू है;
ज्ञानी-जन को पुण्य निर्वाण लाया ॥

भावार्थ—यह ज्योति-राशि श्रीकृष्ण जिस प्रकार सर्वोच्च ज्ञानी है, उसी प्रकार परमोच्च मुग्ध (सुन्दर अथवा भोला) भी है। अहा, तभी न यह एक ओर व्रज-गोपिकाओं (तथा अन्य रसिक भक्तों) के नयनों में समाया हुआ है और दूसरी ओर मुमुक्षुओं का निर्वाण पद बना बैठा है ।

रसिका टीका—अन्तर्यामी भक्तवत्सल आनन्दकन्द श्रीकृष्ण विल्व-मङ्गल की प्रार्थनाओं की पूर्त्ति करते हुए उन-उन रूपों, भावों, रासलीलाओं का अनुभव करा रहे हैं। उनकी एक-एक प्रार्थना मानो एक-एक लीला के रूप में मुखरित हो उठी है, लीला रस का आस्वादन करते हुए लीलाशुक हर्ष और विस्मय के साथ कहने लगे—

"ओहो ! यह ज्योति ? सर्वज्ञता और मुग्धता (अल्पज्ञता) दोनों की चक्रवर्त्ती सम्राट है। एक ओर तो इतनी सर्वज्ञता है कि मेरे (अथवा

गोपियों के) एक-एक मनोभाव की पूर्त्ति प्रत्यक्ष लीला के द्वारा कर रहे हैं, दूसरी ओर एक प्राकृत की भाँति गोपियों के साथ विहार (आलिङ्गन-चुम्बन परिरम्भण आदि) भी कर रहे हैं, व्रजगोपियों की प्रीति पर मुग्ध होकर उनकी मनोवांछा पूर्ण करने में तत्पर हो रहे हैं !"

लीला-रस के आवेश में भगवान् को अपने सहज परमैश्वर्य का अनुसन्धान भी नहीं रहता, प्रेमी की प्रगाढ़-प्रीति के मोह में भगवान् अपनी ईश्वरता को भी भूल जाते हैं, वे स्वयं नहीं भूलते, तो प्रीति की मादकता उन्हें अपने स्वरूप को भुला देती है, सर्वज्ञ को अल्पज्ञ और विदग्ध को मुग्ध बना देती है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम लीला रस के मधुर आवेश में यदि श्रीजानकी जी के लिये विरही बन कर विलाप न करते तो उनकी भगवत्ता की महिमा भले ही और अधिक बढ़ जाती, पर विरही भक्तों के मन और प्राण को आधार नहीं मिलता, और विरह रस मारा-मारा फिरता।

यदि वे भगवान भिल्लनी के जूँठे बेर तथा बिदुराइन के छिलके चबाते समय अपनी सर्वज्ञता का उपयोग करते तो आज 'गरीबनिवाज' न कहला कर 'धनीनिवाज' कहलाते और गरीबों के लिये कोई आश्रय नहीं रह गया होता। भगवान राम ने प्रीति के वश होकर ही शवरी का उच्छिष्ट भोजन ही नहीं किया, उसे शवरी से कवरीमणि बना लिया है अर्थात् भक्तों की शिरोमणि बना दिया—

प्रेम्णा विशिष्ट मुच्छिष्टं मुक्ताफल चतुष्टयम् ।
कृता रामेण भक्तानां शवरी कवरी मणिः ।।
कृष्णं सतृष्ण मत्युष्णं पायं पायं स्वयं मुहुः ।
लीला मुग्धं पाययति दुग्धं सप्रेम गोपिका ।।

वात्सल्यमयी माँ यशोदा पुत्र-स्नेह के रस से मुग्ध होकर दुग्ध प्राप्ति के लिये सतृष्ण श्रीकृष्ण को दूध पिलाने के लिये फूँक लगा-लगाकर गर्म से ठण्डा कर रही है—बीच-बीच में माँ यशोदा स्वयं दूध को ओष्ठों से लगाकर थोड़ा पानकर देख लेती हैं कि दूध ठण्डा हुआ या नहीं ? तब उसे श्रीकृष्ण को पिलाती हैं, यहाँ श्रीकृष्ण, लीला रस में मुग्ध हैं तथा सतृष्ण हैं—दोनों ही आवेश सत्य हैं, नाटकीय नहीं हैं, इसको दम्भ मानने से भगवान् की माधुरी और भक्त का वात्सल्य रस दोनों लोप हो जायेंगे।

श्रीकृष्ण एक ओर "**कालोऽस्मि**" है तो दूसरी ओर यशोदा की साँटी

के भय से काँपते हुए "नाहं भक्षितवानम्ब ! मैया ! मैंने मिट्टी नहीं खाई। तू साँटी डाल दे"—कहने वाले भीरु शिशु भी हैं।

एक ओर "विश्वम्भर" हैं, तो दूसरी ओर "स्तन्यकाम"—यशोदा के स्तन पान के लोभी, तथा अतृप्त रहने पर "सजातकोपः स्फुरितोरुणाधरं" कुपित होकर फड़फड़ाते हुए अरुण अधरों से दधि-भाण्ड को फोड़ देने वाले मनचले बालक भी हैं, रोष में भरकर श्रीकृष्ण ने दधिभाण्ड तो तोड़ दिया, किन्तु ऊखल से बाँध दिये गये, उस समय जो आपके श्रीमुख की शोभा हो रही थी, उसे कुन्ती माता के मुख से सुनिये—

गोप्याददेत्वपि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीयभयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

(१-८-३१)

"हे कृष्ण! आँसुओं की धारा से काजल बहकर तुम्हारा मुख पंकिल हो गया था—तुम भय के कारण मुख ऊँचा भी नहीं कर सकते थे। जिससे स्वयं भय भी भयभीत होता है, तुम्हारी वह दशा मुझको विमोहित कर रही है"!

श्रीकृष्ण के विरोधाभासरूप का एक और दर्शन कीजिये;

एक ओर तो श्रीकृष्ण अखण्ड ज्ञान घनस्वरूप हैं, दूसरी ओर दधि ओदन का ग्रास हाथ में लिये हुए वन-वन में बालक और वत्सगणों को टेरते हुए अज्ञ गोपाल भी हैं, यह ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात का एकत्र सामञ्जस्य कैसा? यह एक विचित्रता श्रीकृष्ण स्वरूप में ही है। इसीलिये सूरदासजी ने भी कहा है—

बलि बलि चरित गोकुल राय।
दावानल को पान कीनो पीवत दूध सिराय॥
पूतना के प्राण सोखे रहे उर लपटाय।
कहति जननि दूध डारत खीझि कछु अनखाय॥
तृणावर्त्त आकाश ते गहि शिला पटक्यो आय।
डरत लालन झुलत पलना खरे देत झुलाय॥
कीर पिंजरा देत अंगुरी लेत श्याम हटाय।
बकासुर की चोंच फारी दृष्टि अचरज लाय॥
लिख्यो द्वारे नाग कारो, देखि श्याम डराय।
नृत्य काली फणनि ऊपर सप्त ताल बजाय।
घोष नारिन संग मोहन रच्यो रास बनाय।
कहत जननी व्याह की तब लजत वदन दुराय॥

वृषभ भंजन हनत केशी धेनु पुच्छ फिराय।
भजत सखन समेत मोहन देखि व्याई गाय॥
शेष महिमा कहि न आवै सहस रसना पाय।
एक रसना सूर का कहि सकत अगणित भाय॥

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह तो श्रीकृष्ण की नर-लीला का अभिनय है, भगवान् की भगवत्ता का इसमें कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु इसे नर-लीला का अभिनय नहीं, सत्य आवेश ही मानना चाहिये, क्योंकि भगवान् में बनावट नहीं है, वहाँ मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि वे सत्-चित्-आनन्द हैं। उनकी सभी लीलायें सत्य हैं, रही बात प्रयोजन की– सो तो उनका स्व-प्रयोजन चाहे हो न हो, भक्त ही उनके 'स्व' हैं, 'हृदय' हैं, भक्त का प्रयोजन ही भगवान् का प्रयोजन है, भक्त के लिये ही उनका अवतार है, श्रीमद्-भागवत में **'स्वच्छन्दोपात्तदेहाय'** (१०।२७।१) की टीका **'भक्तेच्छोपात्त रूपाय'** (१०।५६।२५) कही गयी है। **'स्वेच्छावतार'** (४।८।५७) तथा **'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य'** (१०।१४।२) में भी सर्वत्र 'स्वेच्छा' का अर्थ वैष्णव टीकाकारों ने प्रायः 'भक्तेच्छा' ही किया है।

यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि भगवान् की लीला को नटवत् अभिनय न मानकर सत्य आवेश मानने से भगवान् के स्वरूप की हानि होगी और उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य, धर्म आदि भगवदीय गुणों में दोष आ जायेगा।

यह तो ठीक है, किन्तु भगवान् की लीला को अभिनय मानने पर तो उससे भी अधिक दोष आ जाता है, यह तो एक हाथ से धूल झाड़कर दूसरे हाथ से गाढ़ी काली कीच पोतने के समान कार्य हुआ! यह कीचड़ पोतना कैसे है? इसको यों समझिये—

(१) प्रथम तो हम श्रीकृष्ण को कपटी और वंचक बनाते हैं—यदि भगवान् कपटी और वंचक हैं तो शास्त्रकारों ने ऐसे व्यक्ति को दुरात्मा ही कहा है, देखिये—

मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कार्यमन्यत् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

इस लक्षण के अनुसार लीला को अभिनय-मात्र कहने से भगवान् क्या हुए? महात्मा या दुरात्मा? यह स्वरूप की रक्षा हुई अथवा हानि? ऐसा भगवान् भी क्या भगवान् पद के योग्य रहेगा?

(२) द्वितीय—अभिनय कहने से उदासीनता दोष भी आता है, भीतर से निर्मोही उदासीन और बाहर से बड़े प्रेमी !!

(३) तृतीय—केवल कपटी और उदासी ही नहीं, मिथ्यावाद का दोष भी उपस्थित होता है। **"ये भजन्ति तु मां भक्त्या"—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते"**—तुम मुझे जिस प्राण-पन की पिपासा से भजते हो, मैं भी उसी पिपासा को लेकर तुमको भजता हूँ। तुम मुझे जिस हृदय के भाव से भजते हो, मैं भी तुम्हें उसी हृदय से भजता हूँ—**"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्"**—साधु मेरे हृदय हैं, मैं उनका भी हृदय हूँ, **"मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि"**—वे मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता हूँ। **"अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः"**—भक्तों की चरण-रज की कामना से मैं उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ—इत्यादि भगवान् की प्रतिज्ञाएँ तथा तदनुरूप कर्म सब मिथ्या प्रवञ्चना हो जायेंगे।

(४) चतुर्थ—उपास्य देव के स्वरूप की हानि से उपासना का मूलोच्छेद हो जाता है, हम एक कपटी, निर्मोही, निरपेक्ष, मिथ्यावादी, ढोंगी, अभिनयकारी नट-भगवान् के पीछे दौड़ रहे हैं—यह ज्ञान क्या श्रेयस्कर है, उपादेय है? क्या इस ज्ञान से उपासना एक क्षणभर के लिये भी टिक सकती है?

(५) पञ्चम—नीरसता दोष भी लग जायेगा, अभिनय मानने से उपासना नीरस हो जायेगी। नीरसता में रस की उत्पत्ति कहाँ? भूखे को खिलाने में दाता को आनन्द आता है, परन्तु भगवान् तो 'निजलाभतुष्ट' हैं, उनको हमारी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं, केवल हमारे अनुरोध से, इच्छा न होते हुए भी हमारे पत्र-पुष्प को ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे भजन में, ऐसी सेवा-पूजा में, न सेवक को सुख है, न भगवान् को ही कोई रस प्राप्त होता है, ऐसी उपासना निरर्थक है, भाव-शून्य एवं रस-शून्य है, अतः स्थायी नहीं हो सकती।

भक्ति और प्रीति उभय-निष्ठ होती हैं, 'तदर्थ' कर्म 'मदर्थ' कर्म "श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थे"—आदि शब्दों के भाव भी यही हैं। भगवान् चाहते हैं कि—हम उनकी भक्ति करें, उनसे प्रीति करें। यह अभाव के कारण अपेक्षा नहीं है, यह तो सद्भाव के कारण ही उनकी कृपा है। 'गीता' में उन्होंने अपने श्रीमुख से यही तो कहा है कि—भक्तिपूर्वक जो जन मेरे लिये पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी अर्पण करते हैं—उसे मैं **'अश्नामि'** खा जाता हूँ—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रियतात्मनः ॥"

भला पत्र और पुष्प भी कहीं भक्षण करने की वस्तु हैं ? परन्तु भक्त के भाव के प्रति जो सच्चा आवेश है—वह भगवान् को सर्वज्ञ से मुग्ध बना देता है, और जब भगवान् मुग्ध होते हैं, तभी माधुर्य में रस आता है, मुग्धता ही में माधुर्य का निवास है, सर्वज्ञता में नहीं ।

अनुरागी भक्त भी यही जानना चाहता है कि मैंने जो कुछ भगवान् को अर्पण किया है वह उनको स्वीकार हुआ या नहीं ? वह सोचता है–मेरी यह सेवा प्रभु को प्रिय तो है न ? इससे उनका चित्त तो प्रसन्न होता है न ? मुझ कङ्गाल के पत्र-पुष्प को वे आदरपूर्वक प्रेम से ग्रहण तो करते हैं न ? भक्त इसका अनुभव चाहता है, वह भजन का आस्वादन चाहता है, फल का आश्वासन नहीं चाहता ।

भगवान् भी अपने प्रेमी को उसकी सेवा का अनुभव देकर कृतार्थ करते हैं, शबरी से माँग-माँग कर झूठे बेर खा जाते हैं, सुदामा की पोटली कांख से छीनकर चावल के कण चबाने लगते हैं, बिदुरानी के केले के छिलके को मुग्ध होकर चबाने लगते हैं, यशोदा के चर्वित ताम्बूल के लिये अपना मुख खोलकर खड़े हो जाते हैं । यशोदा भगवान् के मुख में पीक प्रदान कर देती हैं और भगवान् का मुख-कमल आनन्दोल्लास से प्रफुल्लित हो उठता है । देखा, यह कैसी विचित्र प्रीति है ? जगत् का ईश्वर वेदान्त-प्रतिपाद्य परब्रह्म, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का नायक आज यशोदा की पीक के लिए मुंहबाए खड़ा है ? धन्य है तुम्हारी भक्त-परायणता । और तब भावुक भक्त का हृदय भी नाच उठता है, वह सोचता है—मेरे भगवान् को भूख लगी है, मेरे भगवान् जल के प्यासे हैं, इस सेवा से उसकी भक्ति उच्छ्वलित होकर तीव्र वेग से उनके पाद-पद्मों की ओर दौड़ने लगती है, और तब भगवान् और भक्त के इस मधुर ममतामय सम्बन्ध के ज्ञान से अन्धकार में हताश जीवों को एक दिव्य, मधुर, सरस पथ का आलोक प्राप्त हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि—भगवान् की लीला को केवल नट का अभिनय मात्र मानने से तो लीला भी मिथ्या और लीलाधारी भगवान् भी मिथ्या और उसकी भक्ति-उपासना भी मिथ्या, फिर भक्त भी मिथ्या, सब-को-सब परम्परा ही मिथ्या–केवल माया के खेल-मात्र रह जाते हैं, इसीलिये वैष्णव

टीकाकारों ने इस दोष के परिहार के लिये श्रीमद्भागवत में माया का अर्थ—योगमाया, ह्लादिनी, कृपा, शक्ति, लीला-शक्ति आदि ही किया है—मिथ्या माया नहीं। क्योंकि मिथ्या माया का कार्य जड़-जगत् है और लीला-शक्ति का कार्य गोलोक तथा व्रजलीला आदि है।

कुछ लोग यहां एक और प्रश्न करते हैं कि—बिना कामना के आवेश नहीं होता, और कामना कभी भी अभाव के बिना नहीं होती है। फिर पूर्ण-काम भगवान् में अभाव कैसा? कि—जिसकी पूर्त्ति के लिए भगवान् को आवेश-युक्त कार्य करना पड़े?

इसका समाधान तो पहले ही कर आये हैं कि भक्त की कामना ही भगवान् की कामना है, भक्त की स्वेच्छा ही भगवान् की स्वेच्छा है तथा भक्त का आवेश ही भगवान् में आवेश उत्पन्न कर देता है, कारण कि—दोनों के हृदय परस्पर एक हैं। भक्त का भावरूप 'काम' आत्माराम को भी लीलाराम तथा आप्तकाम को अनाप्तकाम बना देता है, भगवान् भक्त के भाव के आगे निर्विकार, निर्लेप रह ही नहीं सकते। तथापि यह स्मरण रहना चाहिये कि भगवान् में कामना अभाव के कारण नहीं, अपितु परिपूर्ण सद्भाव के ऊपर प्रतिष्ठित है। अभाव की कामना में तो स्वरूप की हानि होती है, किन्तु परिपूर्णता की कामना तो लीलाविनोद को बढ़ा कर, रस को पुष्ट करती है, स्वरूप को अतिशय सरस एवं सुमधुर बना देती है, भूखे कङ्गाल का भोजन माँगना तो दीन-हीन-मलीन स्वरूप का परिचय देता है, परन्तु भगवान् का माता के स्तन के लिए रोना, मां के मुख के पान के लिए मचलना, गोपियों से गोरस का दान मांगना, गोपियों के साथ रास करना, इन लीलाओं से एक ओर तो भक्त की कामनायें पूर्ण होती हैं, दूसरी ओर लीला का माधुर्य-रस बढ़ता है, तीसरे जगत् का विशेष मङ्गल होता है, जगत् का ही नहीं, स्वयं भगवान् का भी परम-मङ्गल होता है, कारण कि इसी से उनकी भगवत्ता पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाती है। यह सिद्धान्त श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु ने अपने "बृहद् भागवतामृत" नामक ग्रंथ में भगवद्विग्रह पूजन-माहात्म्य के प्रसङ्ग में वर्णन किया है—

मन्ये महाप्रेष्ठजनानुवश्यता, न दुःखदोषौ विदधीत कौ चन।
किन्तु प्रमोदं निजभक्तवत्सलत्वादीन् महाकीर्तिगुणांस्तनोति सा॥

—२-४-२२७

अपने प्रियजन के वशवर्त्ती होने पर न तो पराधीनता का दुःख होता है, और नहीं ऐश्वर्य-हानि का दोष ही आता है, इसके विपरीत वह प्रियाधीनता एक ओर तो लोक में स्वजन के प्रमोद (प्रकृष्ट आनन्द) का विस्तार करती है तथा दूसरी ओर भगवान् की भक्तवत्सलता, कृपालुता, उदारता आदि गुणों का विस्तार करती है। तात्पर्य यह है कि–प्रियतम की आधीनता में दुःख, दुःख न होकर सुख रूप हो जाता है, प्रेमियों के परस्पर के प्रेम विस्तार में दुःख रूप दोष भी प्रमोद रूप बन जाता है तथा स्व-स्वरूप को दूषण प्राप्त न होकर महाकीर्त्ति रूप सम्पत्ति की ही प्राप्ति होती है। यह सामान्य सिद्धान्त समस्त भगवत्स्वरूपों के सम्बन्ध में स्थापित है,किन्तु रसिक-शेखर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में तो एक अन्य ही सिद्धान्त स्वीकार किया है।

विशेषतो नागर शेखरस्य, स्वारामतादि स्वगुणापवादैः।
अपेक्षणीया परम प्रिया सा, काष्ठा परा श्रीभगवत्त्वसीम्नः॥ –२-४-२२८

इसकी टीका करते हुए स्वयं श्रीसनातन गोस्वामी कहते हैं कि—श्रीकृष्ण की यह प्रिय-जनाधीनता ही उन नागर शिरोमणि के प्रमोद तथा महाकीर्त्ति का विशेष रूप से अधिक विस्तार करती है, कारण कि—यह प्रियाधीनता ही उनके भक्त वात्सल्य एवं उदारता आदि गुणों को प्रकट कर भगवत स्वभाव की परम चरम सीमा का बोध कराती है—"**अतएव स्वारामता, आत्मारामता आदि शब्देन पूर्णकामता महायोगेश्वरतादि, तद्रूपाणां स्वगुणानामपवादैः परिहारैरपि अपेक्षणीया आदरणीया**"–अर्थात् भगवान् की आत्मारामता, पूर्णकामता, महायोगेश्वरता–आदि गुणों की अपेक्षा उनका प्रियाधीनता गुण ही विशेष आदरणीय है।

तात्पर्य यह है कि—आत्मारामता, पूर्णकामता आदि गुणों मे भगवान् की भगवत्ता की पराकाष्ठा नहीं है, पराकाष्ठा है—भक्तवत्सलता, उदारता आदि गुणों में, और ये गुण प्रियाधीनता के बिना प्रकट नहीं होते, परन्तु जब सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् सारथी बनकर बँधते हैं, तो मुक्त भगवान भी बँध जाते हैं, पूर्णकाम भगवान् मातृ-स्तन के लिये रोते और मचलते हैं, दधि और नवनीत के लिये भाँड भी फोड़ देते हैं,— कहते तो इन्हें निष्काम हैं, पर निष्काम होकर भी वह भगवान वंशी बजा कर अर्द्धरात्रि में गोपियों को वन में बुलाता है, आश्चर्य तो यह है कि—आत्माराम होकर भी उन्हें रमण की इच्छा होती है, तभी तो उनकी प्रियाधीनता का परिपूर्णतम रूप अभिव्यक्त होता है, और यही रूप भगवान का परिपूर्णतम माना जाता है, केवल

ऐश्वर्य से भगवान् का स्वरूप पूर्ण नहीं होता, माधुर्य से ही उनके स्वरूप में पूर्णता आती है—यही प्रेमी-भक्तजनों का सिद्धान्त है—जो ऐश्वर्य स्वरूप के उपासक ज्ञानी भक्त के लिये अत्यन्त ही दुर्बोध है। भगवान् का ऐश्वर्य तो सूर्य की भाँति स्पष्ट ही है, परन्तु माधुर्य तत्व निगूढ़ है, यह प्रत्येक की समझ में नहीं आता, क्योंकि साधन-साध्य नहीं, यह तो कृपैकलभ्य है।

विल्वमङ्गल भी इस श्लोक में यही कह रहे हैं कि—"सर्वज्ञता" और "मुग्धता" दोनों की पराकाष्ठा इन मेरे आराध्यदेव श्रीकृष्ण में है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि—दोनों विरुद्ध धर्म एक स्थान में कैसे रह सकते हैं? ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अन्धकार का एकाधार में ठहरना असम्भव है?

हाँ! यह है तो अवश्य असम्भव, परन्तु सर्वत्र नहीं, केवल लौकिक तत्त्वों में ही ऐसा सम्भव है। भगवत् स्वरूपों में यह अपवाद है, "कृष्णचन्द्र" "कालेचांद" में तो कुछ भी असम्भव नहीं है! इसके नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, परिकर सब लोक-वेद के नियमों से अतीत हैं, इसी का नाम 'योग-माया' 'स्वमाया' 'आत्ममाया' 'वैष्णवी माया' आदि है, जो अघटन घटना पटीयसी कही जाती है। इसी योगमाया के आश्रय से इनके जन्म तथा समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं, स्वयं भगवान ने भी कहा है—"**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**"।

विल्वमङ्गल कह रहे हैं कि—यह सर्वज्ञ और मुग्ध सम्राट मणिस्वरूप ज्योतिर्मय श्रीकृष्ण मेरे नयनों में प्रवेश कर अर्थात् मेरे दृष्टिगोचर होकर निर्वाण पद का, परमानन्द साम्राज्य पद का भोग कर रहा है-हन्त? यह कैसे आश्चर्य की बात है!

सुबोधिनी टीकाकार श्रीचैतन्यदास जी लिखते हैं कि—"**न केवलं तद्दर्शने मम सुखं तस्यापि मद्दर्शने सुखं**"—उसके दर्शन से केवल मुझे ही सुख नहीं हो रहा है, अपितु स्वयं उसको भी मेरे दर्शन से सुख प्राप्त हो रहा है और यह साधारण सुख नहीं—"**निर्वाण पदमश्नुते**" यह तो निर्वाण पदवी का परमानन्द सुख है! इसी का नाम है उभय-निष्ठ प्रीति, भक्त और भगवान्—दोनों ही दोनों की सेवा करते हैं, दोनों-दोनों के दर्शन से सुखी और प्रसन्न होते हैं, पूर्वोक्त विवेचन में भी यह विचार प्रकट किया जा चुका है—

आमार दर्शने कृष्ण पाइलो एतो सुख। एइ सुखे गोपीर प्रफुल्ल अङ्ग मुख॥
गोपी शोभा देखि कृष्णेर शोभा बाढ़े जतो।
कृष्णेर शोभा देखि गोपीर शोभा बाढ़े ततो॥—श्रीचैतन्य चरितामृत

गोपी प्रेम का यह एक अलौकिक अनुपम स्वभाव है कि उसमें स्वसुख की कामना न होते हुए भी परम सुख का अन्तःस्वाद्य भोग है। गोपियों के लिये स्वतन्त्र दर्शन का सुख नहीं, स्वतन्त्र शृङ्गार का सुख नहीं, स्वतन्त्र विहार का-सुख नहीं, स्वतन्त्र रूप में अन्य किसी प्रकार का सुख उनको नहीं है, क्योंकि वे तो जैसे भी हो—बस श्रीकृष्ण का सुख देखना चाहती हैं और वह सुख उनको चौगुना होकर प्राप्त होता है, "श्रीकृष्ण के दर्शन करके मुझे सुख मिला"—यह सुख तो अन्यत्र है, इसके विपरीत "अहो ! मुझे देखकर श्रीकृष्ण परमसुखी हुए, मुझे देखकर वे परम प्रसन्न होते हैं—यह गोपियों का सुख है, गोपी अपना षोडस शृगार क्यों करती हैं ? सुन्दरी बनने के लिये ? सुन्दरी बन कर कामिनी बनने के लिये ? नहीं नहीं, गोपियों की स्वयं की तो कोई इच्छा है ही नहीं, वे तो सजधज कर अपनी रूपसज्जा के द्वारा अपने हाव-भावों से सुन्दरी बनकर श्रीकृष्ण की सेवा करना चाहती हैं, अहा ! श्रीकृष्ण मेरे केश के, मेरे हार के, मेरे महाबर के, मेरी चोली के, मेरी साड़ी के मेरे तन-वदन के दर्शन कर सुखी होंगे, अवश्य सुखी होंगे ? और तब मुझे भी सुख होगा, तभी मेरा यह रूप, यौवन, शृंगार सब सफल होगा।"

इसीलिये तो भगवान् ने अर्जुन से कहा कि गोपीजनों का तन-वदन उनका नहीं, मेरा है, मेरी वस्तु समझ कर ही वे अपने शरीर की आसक्ति पूर्वक सेवा-सम्हाल करती हैं—"**निजाङ्गमपि या गोप्य ममेति समुपासते**" (पूरा श्लोक ७४ में गोपी सौभाग्य सीमा' की व्याख्या में उद्धृत है)

उद्धवजी ने गोपियों को यम, नियम, संयम, योग, ज्ञान, आदि का उपदेश दिया तो गोपियाँ कहने लगीं—"ऊधोजी ! वह हमारा प्राणनाथ जितना भक्ति-रस से प्रसन्न होता है, उतना व्रत-उपवास तथा संयमादि से उसका चित्त प्रसन्न नहीं होता, उद्धवजी ! तुम्हें पता है ? हम अपने केशों में इत्र फुलेल डाल कर इतने प्रयत्न से इनको क्यों सम्हालती हैं,—

धुई नयनेर जले मुछाइया थाकि केशे—
केश मुडाइया वन्धु पद धुये मुछाइबो बोलो किसे ।।

हम अपने नेत्रों के अश्रुजल से उनके चरण कमलों को धोकर अपने केशों से उन्हें पोंछा करती हैं, यदि हम केशों को मुंड़ा देंगी, तो उनके आने पर हम अपने प्राण बन्धु श्रीकृष्ण के चरणों को धोकर किस वस्तु से पोंछेंगी? केशों के द्वारा चरण पोंछने पर प्रियतम को जो आनन्द होता है, वह वस्त्र से

पोंछने पर उनको वह सुख कहाँ मिलेगा ? अतः सखी ! ये केश मेरा बड़ा उपकार भी करते हैं—

विरहे जखन बड़ो दुःख पाई केश एलाइया देखि ।
सेई केश मोर कृष्णेर स्मराय, मुडाते नारिबो सखि ।।

तीव्र विरह की अवस्था से जब मैं अत्यन्त दुःखी होती हूँ तो अपने केशों को फैलाकर उन्हें बार-बार देखती हूँ । केशों को देखकर मुझे कृष्ण का स्मरण हो आता है और थोड़ी देर के लिये मेरे हृदय का ज्वालामुखी शान्त हो जाता है, इस प्रकार ये केश मेरा बहुत बड़ा उपकार करते हैं, इनको देख-देखकर ही मैं जीवन धारण कर रही हूँ। हाय सखि ! मैं इनको मुंडा कर योगिनी कैसे बन सकती हूँ ?

केश मुडाइया कौपिन परिया, धरिले दुःखिनो वेश ।
कांदिया आकुल हबे कालाचांद, आमि तारे जानि वेश ।।

"केश मुंडा कर, कौपीन पहन कर यदि मैंने दुःखिनी-भिखारिनी का वेष बना भी लिया, और कहीं उसी अवस्था में प्राणनाथ ने मुझे देख लिया तो वह मेरा काला-चाँद रो-रोकर ही पागल हो जायेगा । सखी ! मेरे इस शरीर के प्रति उसकी कितनी ममता है, मुझसे भी अधिक वह मेरे शरीर से स्नेह करता है, इसे मैं भलीभाति जानती हूँ ।"

तात्पर्य यह है कि—गोपियों की दैहिक, वाचिक, मानसिक—समस्त क्रियायें श्रीकृष्ण के सुख की ही पोषक हैं, अतएव वे काम-शून्य और निर्मल हैं । ऐसी प्रीति के उज्ज्वल रस का उपभोग कर श्रीकृष्ण को भी परमानन्द प्राप्त होता है— **'निर्वाण पदमश्नुते'** ।

निरुपाधि प्रेम जाँहा ताँहा एइ रीति ।
प्रीति - विषय - सुखे आश्रयेर प्रीति ।। —चैतन्य चरितामृत

अथवा **'निर्वाण पदमश्नुते'** से तात्पर्य यह है कि—निर्वाण अर्थात् परमानन्द के आश्रय-स्वरूप श्रीकृष्ण हृदय में व्याप्त हो गये हैं, अथवा गोपियों का हृदय जो परम निर्वृतिस्वरूप मधुरानन्द रस का साम्राज्य है उसमें नेत्रद्वार से—निःशेष भाव से प्रवेश कर श्रीकृष्ण उसके भोक्ता सम्राट् बन गये हैं—**"सर्वमास्वादयतीत्यर्थ"** —कृष्णवल्लभा । अथवा **"विस्मयेन स्तब्धं करोति सारंग रंगदा"** —गोपियों के हृदय को विस्मय से स्तब्ध कर दिया है ।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

पुष्णानमेतत्पुनरुक्तशोभा मुष्णेतरांशोरुदयान्मुखेन्दोः ।
तृष्णाम्बुराशिं द्विगुणी करोति कृष्णाह्वयंकिंचन जीवितं मे ॥८४॥

पद्यार्थ— **जिसके मुख-मयङ्क का प्रादुर्भाव विशेष विलसता है ।**
जो हिमांशु की शुभ्र-राशि को रूप-रश्मि से हरता है ॥
जो मेरी तृष्णा का क्षीरोदधि तिगुना गहराता है ।
वही कृष्ण-संज्ञक कोई मेरा जीवन-धन आता है ॥

भावार्थ—जिसका मुख-मयङ्क अपने प्रादुर्भाव से चन्द्रमा की सुपुष्ट शोभा को मलिन कर देता है और जो मेरी दर्शनाभिलाषारूप तृष्णा को तिगुनी कर देता है, वही कृष्ण-संज्ञक कोई मेरा प्राण-धन (मेरे समक्ष उपस्थित है) ।

रसिका टीका—**"पानी ही जहाँ प्यास लगावै । रूप सुधा बहु भूख जगावै"** विल्वमङ्गल को भी यही अनुभव हो रहा है । श्रीकृष्ण की अनन्त शोभा-माधुरी से उनकी तृष्णा क्षण-क्षण में वर्द्धित हो रही है, अतः वे आश्चर्य-चकित, अक-बके से होकर कहने लगे हैं—

यह रासमण्डल में समागत मेरे जीवन का जीव-स्वरूप, नहीं नहीं, कोटि-कोटि जीवन का प्रेमास्पद यह श्रीकृष्ण—ऐसा जिसका एक अद्भुत सुन्दर नाम है, वह उदय होकर अपने मुखचन्द्र के द्वारा मेरे तृष्णा के सागर को द्विगुणित अर्थात् वर्द्धित कर रहा है । अहा ! श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के उदय होते ही गगन के गौर-चन्द्र की शोभा व्यर्थ हो गई है, परन्तु यह क्या ? यह तो उस मुखचन्द्र की व्यर्थ शोभा (पुनरुक्ता व्यर्थी कृता) का भी पोषण ही कर रहा है ।

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण के प्रकाश से ही अखिल ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहे हैं, फिर इस लोक का चन्द्र प्रकाशित क्यों नहीं होगा ? अथवा तो श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की अङ्गकान्ति क्षीण हो गई थी, यह मुखचन्द्र उस क्षीण कान्ति को अब अपने गगन-चन्द्र के प्रकाश से पुष्ट कर रहा है । ऐसे श्रीसम्पन्न—मुखचन्द्र के दर्शन कर विल्वमङ्गल की तृष्णा अधिकाधिक वर्द्धित होने लगी है—

ए माधुर्यामृत पान सदा जेइ करे ।
तृष्णा शान्ति नहे तृष्णा बाढे निरन्तरे ॥

—चैतन्य चरितामृत

यह एक अद्भुत रूप-सुधा है, जिसका पान करने से तृषा का शमन नहीं, अपितु उत्तरोत्तर तृषा की वृद्धि ही होती है—

श्रीकृष्ण तव लावण्यं निजे वा स्तौमि लोचने।
यत् प्रतिक्षण संबर्द्धि मे तदस्थानदायिनी॥ —प्रेम-पत्तन

श्रीकृष्ण! तुम्हारे इस रूप-लावण्य की प्रशंसा करूँ? अथवा अपने नेत्रों को धन्यवाद प्रदान करूँ? कारण कि-एक ओर तो तुम्हारा माधुर्य क्षण-क्षण में अधिकाधिक वर्द्धित होता जाता है, दूसरी ओर मेरे नेत्र तुम्हारी इस अद्भुत अनुपम रूप-सुधा का प्रति क्षण पान करते हुए भी तृप्त नहीं हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि—यह प्रभाव वस्तु का माना जाय या मेरे अनुराग का। अथवा तो दोनों के एकत्र मिलन से ही यह मेरी अतृप्त दशा हो गई है, वस्तु की नवीनता भी इसमें कारण हो सकती है, किन्तु वस्तु की नवीनता में दो कारण और होते हैं, वस्तुगत-विलक्षणता तथा भावगत-विलक्षणता, प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण-रूप तथा गोपी-अनुराग ये दोनों ही कारण विद्यमान हैं, अतः—"**प्रतिपद ललिताभ्यां प्रत्यहं नूतनाभ्याम्**"—श्लोक १३वें की व्याख्या में इसका स्पष्टीकरण हो चुका है।

अपने-अपने भावानुसार सभी अनुरागी भक्त श्रीकृष्ण के माधुर्य-सागर का रसामृत पान करते हैं, परन्तु सागर का स्वयं सागर द्वारा पान करने पर भी सागर की अतृप्ति तो बनी ही रहती है, श्रीराधा-कृष्ण परस्पर में एक-दूसरे से सदा ही अतृप्त रहते हैं—

आमार माधुर्य नित्य नव नव होय।
स्व स्व प्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय॥
मन्माधुर्य राधार प्रेम दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाढे दोहे केहो नाहिं हारि॥—चैतन्य-चरितामृत

क्षण-क्षण में नवीन शोभा को प्राप्त होने से इनका श्रीप्रिया-प्रियतम का परस्पर परिचय भी नवीन जैसा ही होता रहता है, दोनों की नई पहचान, नई-नई चिन्हारी, नया-नया संलाप और नया ही नया रस का आदान-प्रदान, सभी तो नया-नया लगता है, यह नव-नव तरङ्गायित सौन्दर्य माधुर्य की विशेषता है—

आदि न अन्त विलास करैं, दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई छबि पान, नई नवला, नव नेह निहारी॥

रहें मुख चाहि, जिये कित आहि, परें रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहे इक पास, करें मृदु हास, सुनो 'ध्रुव' प्रेम-अकथ्य कथारी॥

इस प्रेम तृषा की पिपासा में तल्लीन प्रेम के मूर्त्तिमन्त स्वरूप की दशा देखिये—दोनों को ही तृप्ति नहीं हो रही है—

प्रेम तृषा की ताप ध्रुव, कैसेहु सही न जात।
रूप नीर छिरकत रहै, तऊ न नैंन अघात॥
रसनिधि रसिककिशोर बिबि, सहचरि परम प्रवीन।
महा प्रेम-रस मोद में, रहत निरन्तर लीन॥

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रोपजाति छन्दः—

तदेतदाताम्रविलोचनश्री संभाविताशेषविनम्रगर्वम्।
मुहुर्मुरारेमधुराधरोष्ठं मुखाम्बुजं चुम्बति मानसं मे॥८५॥

पद्यार्थ — तूने अरुणायत नयनों को करुणानिधि से किया निहाल।
भक्तों की अशेष नमता के अहंकार को, हे गोपाल॥
तभी न प्यासा मानस मेरा तेरे मधुर अधर का पान।
करता बारम्बार इसे है मुख-सरोज भी चुम्बन दान॥

भावार्थ—जिसके अरुणाभ विलोचनों की लक्ष्मी ने अकिंचन और अतिशय विनम्र भक्तों के मान की भी रक्षा की है, उसी मुरारी के मुखारविन्द का और मधुराति-मधुर अधर-पल्लव का मेरा मानस-भ्रमर बारम्बार परिचुम्बन कर रहा है।

रसिका-टीका—श्रीकृष्ण की शोभा-माधुरी के दर्शनानन्द के आवेश में विल्वमङ्गल अपनी मनोगत लालसा को प्रकट करते हुए कहने लगे—

मेरा मन मुरारि श्रीकृष्ण के मधुराधरोष्ठ से युक्त मुखकमल को पुनः पुनः चुम्बन कर रहा है, अर्थात् परम शोभा एवं रस के आधार जो मधुर अधर ओष्ठ हैं, उनसे मुरारि श्रीकृष्ण का मुखकमल अत्यन्त मनोहर हो रहा है, उस मुखकमल पर मेरा मन नेत्ररूपी भ्रमर बनकर अत्यन्त आसक्त हो रहा है, तात्पर्य यह है कि मेरे नेत्र जिह्वा बन कर श्रीकृष्ण के दर्शनरूप लेह्य तत्व का आस्वादन ले रहे हैं।

श्रीकृष्ण-बलराम ने जिस समय कंस की रंगभूमि में प्रवेश किया तो वहां एकत्रित मथुरा के नागरिक, गौर-श्याम के रूप-माधुर्य पर विमुग्ध हो उठे और वे हर्ष-विह्वल नेत्रों से उनकी रूप-रस-माधुरी का पान करने लगे—

उस समय की उनकी रूप-तृषातुर दशा का वर्णन करते हुए शुकदेवजी ने कहा है—

पिवन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां, श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥

—भागवत १०-४३-२१

मथुरा नगर निवासी भक्तजन श्रीकृष्ण-बलराम के रूप को नेत्रों से मानो पान करते हुए, जिह्वा से मानो तो चाटते हुए, नासिका से मानो सूँघते हुए तथा भुजाओं से मानो तो आलिङ्गन करते हुए—उनकी परस्पर प्रशंसा में प्रफुल्लित हो रहे थे।

इसी प्रकार विल्वमंगल भी अपने सखी स्वरूप के आवेश में अपने मानस नेत्रों द्वारा मुरारि के मुख कमल का पुनः पुनः रसास्वादन ले रहे हैं, यह उनकी तृष्णातिशयता के कारण लालसामय उद्गार हैं, इसके आगे वर्णन करते हुए कहने लगे कि मुरारि के मुख कमल पर लोचन-युगल में करुणा-कटाक्षादि की शोभा प्रकाशित हो रही है, इस कृपा कटाक्ष सम्पत्ति के द्वारा वे अपने अनुगत भक्त जन तथा गोपी गण के सौभाग्य रूप गर्व का सम्वर्द्धन कर रहे हैं, यहाँ गर्व से तात्पर्य भगवत् सम्बन्धी गर्व से है।

वैसे तो भगवान गर्वापहारी हैं, परन्तु भक्त के स्वाभिमान रूप गर्व के वे पोषक हैं—भक्त के हृदय में भगवान के आश्रय का गर्व, गुण बन कर रहता है, भगवत् पार्षद श्री सुतीक्षण जी ने कहा है—

अस अभिमान जाय नहीं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

श्री रामकृष्ण परमहंस देव ने अपने उपदेशामृत में कहा है कि—"कच्चा मैं" की भावना बुरी है, इसे निकाल देना चाहिये और "पक्का मैं" के स्वाभिमान को दृढ़ता पूर्वक प्राप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, कुलीन हूँ, विद्वान् हूँ, धनवान हूँ, त्यागी-विरक्त हूँ, सन्त-महन्त हूँ,—यही "कच्चा मैं" की विषैली वासना है, और "मैं देह नहीं—आत्मा हूँ, परमात्मा का अंश हूँ, सखा हूँ, दास हूँ, सत्, चित्, आनन्द स्वरूप हूँ-यही "पक्का मैं" का अमृतबिंदु है। अर्थात् देह सम्बन्धी-दैहिक वस्तुओं में अहंता ही अभिमान है, तथा आत्मा-परमात्मा विषयक अहंता में अभिमान नहीं—स्वरूप ज्ञान है, एवं भक्त और ज्ञानी दोनों के लिये परम प्रयोजन है। "मैं कौन हूँ" यह स्वरूप ज्ञान एवं अभिमान जिसमें जितना बढ़ता जायेगा—उतनी ही उसकी संसार के प्रति दीनता-हीनता-आधीनता दूर होती जायेगी

और उतना ही वह निर्भय, निरपेक्ष, निर्द्वन्द होकर स्वाभिमान पूर्वक यह कह सकेगा—

तुव प्रताप बल वदतन काहू, निडर भये घर चेरे ।
सूरदास तुम्हरी ही कृपा ते, पाये सुक्ख घनेरे ।।

एक और प्रकार का भक्त का अभिमान देखिये, जिसके आगे वह और किसी को समझता ही नहीं है, कवि सम्राट बाबू हरिश्चन्द्रजी के शब्दों में क्या ही सुन्दर भाव हैं—

हम तो मोल लिये या घर के ।
दास—दास श्रीवल्लभ कुल के, चाकर राधावर के ।।
माता श्रीराधिका पिता हरि, बन्धु दास गुन करके ।
'हरीचन्द' तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के ।।

स्वरूप के गर्व को तो भगवान भी बढ़ाते ही हैं—मिटाते नहीं, मिटाते तो देह के गर्व को हैं, इसीलिये गोपियों के वस्त्र हरण कर प्रथम उनके देह—दैहिक गर्व का विध्वंश किया, पश्चात् उनको वस्त्र प्रदान के रूप में उनके स्वरूप का, सखीत्व का गर्व प्रदान किया। पहले वस्त्र देहाभिमान के कारण थे, पश्चात् प्रभु के मंगल मय दिव्य-कर-संस्पर्श को प्राप्त होकर वे ही वस्त्र आत्माभिमान के अथवा सौभाग्य का कारण बन गये।

अतएव विल्वमङ्गल ने भी कहा कि—मुरारि श्रीकृष्ण अपने विनम्र भक्तजनों के सौभाग्य-गर्व को वर्द्धित करते हैं। इस स्वरूपाभिमान के अतिरिक्त एक निष्ठा-अभिमान भी अनन्य भक्त जनों में प्रसिद्ध है। उज्ज्वलनीलमणि के स्थायी भाव प्रकरण में श्री रूप गोस्वामी चरण लिखते हैं कि—

सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे ।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ॥

भले ही त्रिलोकी में अनेक रमणीय पदार्थ हों—परन्तु मेरे लिये तो बस यही एक वस्तु (यमुनातट विहारी श्रीकृष्ण) ही प्रार्थनीय हैं, धीर पुरुषों के इस निर्णय का नाम ही अभिमान है।

धीर पुरुषों के निर्णय के कुछ दृष्टान्त देखिये—जगदम्बा पार्वती जी को सभी ने समझाया था, पर उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञ होकर निर्णय ले लिया—

महादेव औगुन सकल, विष्णु सकल गुण धाम ।
जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम ।।

तुलसीदासजी से कई लोग भगवान राम के सीधे-सच्चे-सरल स्वभाव

की मीठी भर्त्सना कर उनकी उपासना छुड़ाना चाहते थे, पर गोस्वामीजी ने दृढ़ता से कह दिया, बनेगी तो इनसे बनेगी, और बिगड़ेगी तो इनसे—

बनै तो सीताराम सों, बिगड़ै तौ भरपूर।
तुलसी औरन ते बनै, ता बनिवे पै धूर॥

श्रीहित हरिवंशजी ने तो स्पष्ट कह दिया है—

रहो कोउ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा, शपथ करौं तृण छिये॥

× × ×

रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अन, फुटौ नैंन।
श्रवन फुटौ जो अन सुनौ, बिनु राधा यश बैन॥

एक निराले भक्त श्री अलि किशोरी जी तो व्रजेश्वरी श्रीराधारानी के सिवाय किसी को जानते ही नहीं। वे तो श्यामसुन्दर से भी सीधी बोली बोलना नहीं चाहते—

हम राधे जु के बल अभिमानी।
टेढ़े रहत मोहन रसिया सों, बोलत अट पटी बानी।
पड़े रहैं अलमस्त झुकों है, सिर पर राधारानी।
'अली किशोरी' प्राण जीवन धन, वृन्दावन रजधानी॥

ग्रन्थकार लीलाशुक विल्वमङ्गल भी यही कह रहे हैं—

"अपास्य वृन्दावन पादलास्यं" (श्लोक २२) **कामं सन्तु सहस्रशः कतिपये सारस्य धौरेयकाः"** (श्लोक १००) में स्पष्ट है।

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती महाशय ने अपने श्रीवृन्दावन महिमामृत ग्रंथ में श्रीधाम निष्ठा से प्रेरित होकर वृन्दावनवास की इच्छा से एक विशेष प्रकार के दम्भ, अहंकार तथा काम की प्रार्थना की है—

तादृक् कामो भवतु भगवन् येन कस्याश्चिदेणी,
दृश्यासक्तोऽप्यहह न वहिर्यामि वृन्दाटवीतः।
तादृग् दम्भोऽप्युदयतुतथाऽहङ्कृतिश्चापि मे स्यात्,
येनाप्यस्मिन् रसमयवने रोचये नित्य वासम्॥ (१७–७८)

हे भगवान्! मुझे एक ऐसा काम भाव प्राप्त हो कि–जिससे मैं किसी एक अद्भुत मृगनैंनी बाला (श्रीराधा पद) के चरणों में आसक्त होकर वृन्दावन से बाहर न जाने पाऊँ? तथा ऐसा एक दम्भ और अहंकार भी उत्पन्न हो कि–जिससे इस रसमय वृन्दावन में मेरा नित्य निवास होने लगे। अर्थात् एक क्षण को भी मैं वृन्दावन की भूमि को छोड़कर बाहर न जाऊँ?

मूल श्लोक पृथ्वी छन्दः—

करौ शरदिजाम्बुज क्रमविलासशिक्षागुरु,
पदौ विबुधपादप प्रथमपल्लवोल्लङ्घिनौ ।
दृशौ दलित दुर्मद त्रिभुवनोपमानश्रियौ,
विलोकय विलोचनामृतमहो महः शैशवम् ॥८६॥

पद्यार्थ— **इसके कर शारदी कञ्ज को मञ्जु विलास सिखाते आए ।**
इसके पादपद्म सुरपादप-पल्लव को विलपाते आए ॥
इसके लोचनहर लेते त्रिभुवन के उपमानों का वैभव ।
देखो, देखो, नयन-सुधा-रस-रूप अनूपम उज्ज्वल शैशव ॥

भावार्थ—जिसके कर सरोज, शरत्कालीन उत्फुल्ल कमलों को मंजुविलास की दीक्षा देते आए हैं, जिसके चरण-कमल कल्पवृक्ष के सर्वप्रथम आविर्भूत नूतन पल्लवों के सौकुमार्य और कान्ति का तिरस्कार करने वाले हैं एवं जिसके चपल तथा विशाल विलोचन मीन-कंज आदि समस्त उपमानों का दर्प दलन करने वाले हैं, ऐसे इस मुकुन्द के नयन-सुधा रस रूप शाश्वत शैशव का अवलोकन करिए ।

रसिका-टीका—श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का पृथक-पृथक दर्शन, उनके अनुपम माधुर्य-सौन्दर्यादि के अवलोकन से आनन्द की लहर में तैरते हुए विल्वमङ्गल कहने लगे—'अहो ! कैसा आश्चर्य है ! अरे मेरे नेत्रो ! सन्मुख दृश्यमान इस कान्तिपुञ्ज का दर्शन तो करो ? वैसे मैं जानता हूँ कि तुम दर्शन कर रहे हो, फिर भी जोर देकर कहता हूँ कि तुम "दर्शन करो"। ऐसा इसलिये कहता हूँ कि—तुम कहीं अन्यत्र दर्शन करने न चले जाओ ? अतः देखलो, भली भाँति देख लो, क्योंकि यही एक मात्र तुम्हारे लाभ-योग्य दर्शनीय वस्तु है । देखो ! स्वप्न में भी तुम अन्यत्र दृष्टि मत डालना, तुम्हारी सब कामनाएँ एक इन्हीं के आश्रय में पूर्ण हो जायेंगी—

मनमोहन सों मोह कर, सुन्दर श्याम निहार ।
कुञ्जविहारी सों विहर, गिरिधारी उर धार ॥
रूप इमारत पै इन्हें, नैन मजूर लगाय ।
दरश मजूरी देहिं नित, लाल मजूरन आय ॥

अतएव "**विलोकय**"—इस श्याम ज्योति के ही सुन्दर विग्रह पर नख से शिख, और शिख से नख पर्यन्त आरोहण-अवरोहण करते रहो—बस,

एकमात्र यही साधना है और साध्य भी यही है, क्योंकि यही तो 'अमृतम्' है—अमृत का प्राप्ति-स्थान है। और 'अमृत' तो कथन-मात्र है, पर यह—"**और अमृत बातन की बात। रूप सुधा इक साँची बात**" है।

'**विलोचन**' शब्द को सम्बोधन न मानकर—'**विलोचनयोरमृतम्**' को ही दो टीकाकारों ने माना है।

यह केवल ज्योति-स्वरूप ही नहीं—'**शैशवम्-किशोर**' भी है, अथवा यह अत्यन्त ही सुकुमार है—

कोमल ते कोमल निपट, मधुर मधुर को सार।
पुह कर हिम कर हेम को, सौरभ से सुकुमार॥

—केलि-माधुरी

यह निराकार ज्योति नहीं, इसमें तो कर, चरण, नखादि भी हैं, इसके जो हस्त-युगल हैं, वे शरद्कालीन कमल-कुल को शिक्षा दे रहे हैं, अर्थात् शीतलता, सुकुमारता, सुन्दरता, सौरभता, शोभा—आदि गुणों के शिक्षा-गुरू हैं, अथवा 'लीला-विलास' में जो आन्दोलन क्रम है, उसके भी शिक्षा-गुरू हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के बाहु-आन्दोलन में जो एक छन्द-परिपाटी की शोभा प्रकाशित होती है, उनकी बाहुओं के हिलने-डोलने में जो एक शोभा-माधुरी का उदय होता है—वह कमल-वन के गति-क्रम को शिक्षा देने वाली गुरू है। तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण के हस्तकमल सर्व गुणावली में कमल-वन से श्रेष्ठ हैं।

और श्रीकृष्ण के चरण-कमल—अरुणता, सुकुमारता, सौरभता, शीतलता, सरसता आदि गुणों के द्वारा स्वर्गस्थित कल्पवृक्ष के प्रथम नव-पल्लव की शोभा को तिरस्कृत कर रहे हैं, भावुक भक्त की दृष्टि में लालविहारी श्रीकृष्ण के पद-पंकज की शोभा इस प्रकार है—

पङ्कज पर बिजली लिपट रही दिल देखें धरत न धीरे हैं।
नौ रतन जड़ाऊ की बेलें विधि रची ताम रस तीरे है॥
कुन्दन की ओप दमक ऐसी मन्मथ के मन को चीरे हैं।
या लालबिहारी के पङ्कज-पद हीरे नुमा जओरे हैं॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण के नेत्र-युगल की शोभा ने त्रिभुवन में मृग, मीन, खञ्जन, चकोर, चञ्चरीक, कुवलय आदि उपमा की समस्त वस्तुओं की शोभा के मद को पद-दलित कर दिया है—

मीन मृग खञ्जन खसान भरे नैंन बान,
अधिक गलान भरे कञ्ज कलताल के।
राधे छबीले के छैल छवि छाक भरे,
छैल ताके छोरे भरे छवि साथ जाल के॥
ग्वाल कवि आन भरे स्यान औ गुमान भरे,
कछु अलसान भरे, भरे मान माल के।
लाड भरे लाज भरे लाग भरे लोभ भरे,
लाली भरे लोचन ललोहैं नँदलाल के॥

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में इस श्लोक का अर्थ समान होने पर भी पूर्वाभास में विशेषता है, सखीरूपा विल्वमङ्गल श्रीकृष्ण के माधुर्य-सिन्धु में निमग्न होकर "श्रीकृष्ण सन्मुख हैं"—यह तो भूल गई, और "पहले की भाँति सखियों के साथ श्रीकृष्ण को ढूँढ़ रही हूँ"—यह भाव उनके हृदय में उदय हो आया है, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते मानो तो पुनः श्रीकृष्ण उन्हें प्राप्त हो गये हैं—और तब सखी—विल्वमंगल श्रीराधाजी के प्रति कह रही हैं—"हे सखी राधे! सन्मुख दृश्यमान श्रीकृष्ण के दर्शन करो"—शेष अर्थ पूर्ववत् ही है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः—

अ चिन्वान महन्यमहन्यहनि साकारान्विहारक्रमा—
नारुन्धानमरुन्धती - हृदयमप्यार्द्र स्मितार्द्र श्रिया।
आतन्वानन्यजन्मनयनश्लाघ्यमनघ्यां दशा—
मानन्दं व्रजसुन्दरीस्तन - तटीसाम्राज्यमुज्जृम्भते॥८७॥

पद्यार्थ— दिन प्रतिदिन साकार विहारों की जो सृष्टि किया करता है।
अरुन्धती के भी मन को मुस्कान-विभव से जो हरता है॥
नित्यमुक्त-नयनों की मोहक काम्य दशा का जो विस्तारक।
वही प्रकाशित है आनन्दकन्द व्रजवधू-उरोज विलासक॥

भावार्थ—मूर्तिमान विहार परम्परा का प्रतिदिन प्रसार करने वाला, सरस मुस्कराहट से सिञ्चित सौन्दर्य द्वारा अरुन्धती जैसी सहस्रों पतिव्रताओं के भी हृदय को अवरुद्ध करने वाला, नित्यमुक्त भक्तों के नयनों द्वारा प्रशंसित—सर्वोपरि लीला-दशाओं का विस्तार करने वाला एवं व्रज-विलासिनियों के स्तनों के परिवेश पर जिसका एक-छत्र साम्राज्य है—वही परमानन्द (श्रीकृष्ण) मेरे समक्ष प्रकाशित हो रहा है।

रसिका टीका—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण के अनुपम माधुर्य से मुग्ध होकर उनको 'अमृतस्वरूप' कहकर कीर्तन किया गया है, अब उनकी मधुर लीला का आस्वादन करते हुए उनको 'आनन्दस्वरूप' कहकर कीर्त्तन कर रहे हैं।

'आनन्दमुज्रृम्भते'—ओहो! यह तो स्वयं आनन्द ही मेरे नेत्रों के सन्मुख प्रकाशमान हो रहा है! क्या? आनन्द से आप—**'आनन्दं ब्रह्म'** की बात कह रहे हैं? "हाँ हाँ, **'आनन्दं ब्रह्म'** ही मेरे मन को चमत्कृत कर रहा है। परन्तु मेरा आनन्द तो—व्रज-सुन्दरियों के उरोज-मण्डल पर साम्राज्य को प्राप्त **'आनन्दं ब्रह्म'** है। तात्पर्य यह है कि गोपियों के उरोज तो महाभाव रूप सरोवर के सरोज हैं, (देखिये श्लोक ४ की व्याख्या में) वे श्रीकृष्ण के लिये परम सुखकर एवं विश्राम के स्थान हैं, आनन्दस्वरूप को भी आनन्दित करने वाले हैं, अनन्त आनन्द के महासागर श्रीकृष्ण को भी उद्वेलित करने वाला महा-महासुख इन व्रजांगनाओं के उरोज-सरोवर में खेलता रहता है, श्रीकृष्ण इसके लिए लालायित रहते हैं। ये श्रीकृष्ण जो भक्तों की पुकार तथा चीत्कार के कारण अहर्निश भक्त-संरक्षण में व्यस्त रहते हैं, तथा जो पुरुषावतार, गुणावतार, कलावतार, अंशावतार आदि अनन्त रूपों से अखिल ब्रह्माण्ड के शासन-पालन, अनुग्रह-निग्रह में अति व्यस्त हैं, वे कभी राजा बनते हैं तो कभी गोपाल बनते हैं, कभी मनुष्य तो कभी पशु तो कभी अद्ध-मनुष्य तथा अद्ध-पशु भी बन जाते हैं। कभी पर्वत उठाते हैं, तो कभी अग्नि का पान कर जाते हैं, कभी जल में प्रवेश करते हैं तो कभी रणाङ्गन में रणभेरी बजाते हैं। वही सर्वशक्तिधर फिर व्रज में प्रकट होकर कहीं नंगे पाँव वन-वन में गौ चराते-फिरते हैं तो कहीं माखन छोड़ कर मिट्टी खाते हैं और जब माँ यशोदा डाटती है तो सुबक-सुबक कर रोते फिरते हैं।

यह सब किसके लिए? केवल हम अभागे अभिमानी अकृतज्ञ जीवों के लिये ही तो वे अखिल ब्रह्माण्डनायक, ऐश्वर्यपूर्ण होकर भी भांति-भांति के प्रपञ्चों को सहन करते हुए हमारी सेवा करते हैं, जीव का कल्याण करते हैं, और हम वायु के बुदबुदे जीव उनका एक नाम लेने में भी लाख-लाख तर्क उपस्थित करते हैं। हम अपने स्वार्थ के लिये भगवान् को न जाने कितना-कितना कष्ट देते हैं, उनकी सुख-शान्ति का विचार तो पामर जीवों के हृदय में कभी उठता ही नहीं है, परन्तु अपनी सुख-शान्ति के लिए

भी हम दीन होकर कभी उनका भजन नहीं करते, उनकी सेवा नहीं करते, उनका कीर्त्तन-स्मरण भी नहीं करते।

भगवान् की सुख-शान्ति का विचार तो केवल गोपियों ने किया था, जब वंशीवट पर उनकी वंशी बजती थी, तब गोपियाँ अपने विषय-सुख और धर्म-सुख दोनों में आग लगाकर अर्द्ध-रात्रि में पागल होकर वन में दौड़ी-दौड़ी उनके समीप पहुँचती थीं—काँटे-कंकड़ों के ऊपर गिरती-पड़ती उन्मादिनी बनकर वे प्रियतम श्यामसुन्दर को पुकारती फिरती थीं। किसलिये ? "दो ! दो !"—कह करके प्रभु को सताने के लिये नहीं, अपितु "लो ! लो !" कह करके अपने प्राणनाथ की सेवा के लिये तन-मन और लोक-वेद की मर्यादा के साथ सर्वस्व समर्पण करने के लिये ! गोपियों के इस कथन में कि– "तुम अपना कर-स्पर्श दो, चरण-स्पर्श दो, अधर-स्पर्श दो"—अन्तर में भी उनके केवल "लो-ही-लो" की भावना थी। हे देव ! हम तुम्हारे नैवेद्य हैं ! हमें ग्रहण करो, हमारा यथेच्छ उपभोग करो और स्वयं सुखी होओ ! तुमको सुखी देखकर हमारा भी रोम-रोम सुख में डूब जायेगा।

यदि इन गोपियों में स्वसुख के लिये केवल हमें "दो ! दो !" यह भाव होता, अथवा अपने सुख की वासनापूर्ण गन्ध भी होती– तो क्या शुक-देव, नारद, ब्रह्मा, उद्धव, श्रुति, महादेव जैसे महामहिम ईश्वर इस जघन्य नारकीय काम का कीर्त्तन करते, अथवा प्राप्ति की कामना करते ? एक कामी पुरुष भी जिस 'काम' को बुरा-घृणित समझता है, वही 'काम' यदि गोपियों का भी 'काम' होता—तो क्या कलियुगपावन प्रेमावतार भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव इस काम-केलि के आस्वादन में अहर्निश अन्तर्दशा को प्राप्त रहते, और क्या इस गोपी-काम को ही पञ्चम पुरुषार्थ– 'प्रेम' देव की पदवी देकर—"**रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता**" कह कर जगत् में घोषणा करते ? इसीलिये कहा गया है कि—"**प्रेमैव गोपरामाणां काम-मित्यगमत् प्रथाम्**"।

जगत् भूल कर सकता है, 'काम' को 'प्रेम' समझ सकता है—परन्तु भगवान् कैसे भूल कर सकते हैं ? काम तो उनकी छाया के दर्शन से ही मूर्च्छित हो जाता है, अतएव भगवान् तो गोपियों में कामशून्य-महाकाम, स्वार्थशून्य विशुद्ध प्रेम-पराकाष्ठा के दर्शन करके ही उन पर मोहित हुए थे ! भगवान् को भी आश्चर्य होता था कि—स्वार्थमय संसार में एक ऐसा भी

स्थान है, एक ऐसे भी भक्त हैं, जो मेरे ऐश्वर्य पर धूल डाल कर मुझको अपने हृदय से लगा कर मुझको सुखी करके ही स्वयं सुखी होना चाहते हैं ! अत: मेरा निवास स्थान भी इनका वक्षःस्थल ही है, इनके उरोज ही मेरी शेष-शय्या हैं, इनके स्तनमण्डल ही मेरा अखण्ड साम्राज्य मण्डल है !"

अतएव—**ब्रह्माण्ड शासने व्यस्तोऽहं पाहि राधे सुधाधरेण माम्**"— हे राधे ! ब्रह्माण्ड शासन कार्य से मैं क्लान्त हूँ, श्रान्त हूँ, मेरी ग्लानि को अपने अधरामृत से दूर करो ! इन वाक्यों से स्पष्ट है कि—गोपी उरोज मण्डल में ही श्रीकृष्ण को निश्चित विश्राम का आनन्द प्राप्त होता है, अतएव भगवान कहते हैं कि—"यद्यपि मेरी लीला अनेक हैं, और मेरे लिये तथा जगत के लिये सभी मनोहारिणी हैं, आकर्षक हैं,—तथापि रास की स्मृति आते ही मेरे मन की दशा न जाने कैसी कुछ हो जाती है—

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः ।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ।।

—बृहद् वामन पुराण

यह दशा कैसी हो जाती है—इसका वर्णन 'ललित माधव' ग्रन्थ में किया गया है ? श्रीकृष्ण श्रीराधा जी से कह रहे हैं—'अहो ! 'रा-स' दो अक्षरों में क्या अपूर्व आनन्द रस का माधुर्य सिंधु भरा हुआ है, कि—इनके कर्ण में पड़ते ही मन एक विचित्र प्रेम-केलि-सिन्धु में निमज्जित हो जाता है और मस्तिष्क आनन्द-मद के कारण घूर्णायमान होने लगता है—यथा—

निमज्जति—निमज्जति प्रणय केलि सिन्धौ मनो,
विघूर्णति विघूर्णति प्रमद चक्र कोर्ण शिरः ।
अहो किमिदमावयोः सपदि रास नामाक्षर—
द्वयी-जनुषि निस्वने श्रवण वीथिमारोहति ।।

—ललितामाधव, ६-४६

तात्पर्य यह है कि—अन्य समस्त भगवत् लीला तो जग के हितार्थ हुई हैं, किन्तु रास लीला आत्महिताथ है। अन्य लीलाओं में तो माया के सहित बहिर्विलास है, किन्तु रास लीला तो आत्मारूपी राधा तथा इनके काय-व्यूह रूपा गोपियों के साथ अन्तर्विलास है—'**रेमे रमेशो व्रज सुन्दरीभिर्यथार्भक स्व प्रतिविम्ब विभ्रमः**" (श्रीमद्भागवत १०-३३-१७) अतएव रास में **साम्राज्य** को प्राप्त होकर श्रीकृष्ण मानो आज ही "आनन्द-स्वरूप" हुए हैं। तभी तो

विल्वमङ्गल कह रहे हैं कि—"यह तो स्वयं आनन्द ही विशेष रूप से प्रकाशमान होरहा है।"

"व्रज सुन्दरी" पद में भी व्रज पद के द्वारा एक ध्वनि है, "व्रजतीति व्रज" श्रीकृष्ण के निःस्वार्थ प्रेम को निरन्तर निर्बाध वहन करती हुई जो भूमि अनादि काल से चली आ रही है-वह है व्रज! यह सामान्य अर्थ समस्त व्रजवासियों के पक्ष में है, गोपियों के पक्ष में एक अर्थ विशेष भागवत के उपरोक्त श्लोक की टीका में इस प्रकार है—**"गेहादि विसृज्य तत्तत्न्यासेन परिव्रजन्तीति व्रजश्चानुरागित्वेन सुन्दर्यश्च व्रजसुन्दर्यः"**—(भाव-भाव विभाविका टीका) गृहादि को त्याग कर गमन करने के कारण 'व्रज', तथा अनुराग के कारण 'सुन्दरी' अतएव 'व्रज सुन्दरी' का अर्थ हुआ—श्रीकृष्ण के विशुद्ध अनुराग में गृह-लोक, परलोक तथा समस्त को त्याग कर सन्यास लेने वाला परिव्राजक मण्डल।

इस साम्राज्य को प्राप्त होकर श्रीकृष्ण एक अनमोल, अतुलनीय सर्व पूज्य दशा अर्थात् सौन्दर्य-माधुर्य की पराकाष्ठा (**अनर्घ्यां दशाम्**) को प्रकट कर रहे हैं, वह कैसी दशा है कि—**"अनन्य जन्म नयन श्लाघ्याम्"**-इसके अनेक अर्थ हैं, १—अनन्य जनों के जन्म-स्थान तथा नयनों के द्वारा नित्य प्रशंसा करने के योग्य हैं। अर्थात् मधुररस-रसिक अनन्य प्रेमी जनों के लिये आजीवन आस्वादन करने के योग्य यदि कोई वस्तु है तो यह लीला-स्मरण ही है, तथा दर्शन करने के योग्य कोई स्वरूप है तो यही आश्लिष्ट-युगल-स्वरूप है।

२—अनन्य जन्मा-कामदेव के नयनों द्वारा भी सराहनीय है, अनन्यजकाम का भी नाम है, अर्थात्-मन्मथ के भी मन को मोहन करने वाली यह दशा है। अतएव जहाँ काम स्वयं मोहित है—वहां वह दूसरों को मोहित कैसे कर सकता है? जो स्वयं शिथिल होकर मूर्च्छित पड़ा है, वह दूसरों के ऊपर कैसे अपना पराक्रम प्रकट कर सकता है? अतएव गोपी-कृष्ण के मध्य में जो काम है, वह यह काम नहीं, इससे विलक्षण कोई अनिर्वचनीय स्वसंवेद्य काम है, इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्यजी रास पंचाध्यायी के तेंतीसवें अध्याय की टीका के आरम्भ में अपनी कारिका में लिखते हैं कि :—

रसात्मकस्तु यः कामः सोऽत्यन्त गूढ एव हि।
कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णं भुङ्क्ते न चापरः।

"यह जो रसात्मक काम है यह निश्चय करके अत्यन्त ही गूढ़ है" ×××× इस उत्कृष्ट सुख को जिसको जगत 'काम' संज्ञा प्रदान करता है

केवल एक श्रीकृष्ण ही भोग करते हैं, अन्य कोई नहीं। ××× "यह रास लीला स्वानन्दार्थ सम्पन्न हुई है—यह इन्द्रादिकों को तो अत्यन्त दुर्लभ है। **इन्द्रादि दुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते**—सुबोधिनी

३—'अनन्य जन्म नयन',-का तृतीय अर्थ है-दिव्य चक्षु-"**न विद्यतेऽन्य जन्म येषां तेषां नयनानां योग्याम्, दिव्य चक्षुषामित्यर्थः**" तात्पर्य यह है कि-दिव्य लीला दिव्य नेत्रों के द्वारा ही दर्शन योग्य है, मांस-चक्षु तथा मांस-बुद्धि वालों के लिये अग्राह्य है—तथा दुर्बोध्य है।

४—"**अनन्य जन्मनि व्रज सुन्दरी व्यतिरिक्तानि यानि जन्मनि तेषु यानि नयनानि तैः श्लाघितुमशक्याम्**"—व्रज सुन्दरियों के अतिरिक्त अन्य यावत् प्राणियों के नेत्रों के लिये यह विलास-दशा का सौन्दर्य श्लाघनीय योग्य वस्तु नहीं है, यह तो केवल एक व्रज देवियों के तथा गोपी-भावाश्रित जनों के ही अनुभव का विषय है, यह गोपी भाव क्या है, तथा इसका अधिकारी कौन है—इसके सम्बन्ध में आगे श्लोक १०३ देखें।

इस प्रकार से गोपियों के हृदय-साम्राज्य को प्राप्त कर ये श्रीकृष्ण "**अहनि-अहनि-अहनि**" प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रति निमेष साकार विहार-परिपाटी का सृजन कर रहे हैं।

यहाँ विहार के सम्बन्ध में दो बातें समझनी चाहिये, १—विहार का स्वरूप प्रतिदिन प्रतिक्षण नवीन-नवीन है, अर्थात् एक लीला दूसरी बार कदापि नहीं होती है, तथा २—विहार स्वयं साकार मूर्त्तिमान है, अर्थात् जो भी विहार होता है—वही मानो मूर्त्ति धारण कर उनकी सेवा करने लगता है, तात्पर्य यह है कि विहार ही परम-चरम सीमा को प्राप्त होकर सर्वांग-सुन्दर रूप से परिस्फुटित हो उठा है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि-विल्वमङ्गल तो अपने नेत्रों के सन्मुख दृश्यमान लीला का वर्णन कर रहे हैं, फिर "प्रतिदिन नवीन-नवीन लीला का सृजन करते हैं" यह कैसे कहा गया है ?"

इसका समाधान यह है कि—महारास तो एक दिन की लीला नहीं, यह तो एक कल्प की लीला है, '**ब्रह्मरात्र उपावृते**'। बादरायणी लीला शुक ने रास पञ्चाध्यायी में तथा विल्वमङ्गल-लीला शुक ने इस ग्रन्थ में जो कुछ भी वर्णन किया है, वह तो '**स्थाली पुलाक**' न्याय से हंडी के एक चावल का णका मात्र है अतएव यह शङ्का ही निरर्थक है।

प्रस्तुत श्लोक में एक अन्तिम विशेषता—श्रीकृष्ण का जगन्मोहन गुण बतलाते हैं कि—श्रीकृष्ण अपनी सहज स्वरूपा सरस मृदुहास्य के द्वारा अन्य की तो बात ही क्या—सती साध्वी शिरोमणियों के हृदय को भी आकर्षित कर रहे हैं,–यह एक कटु सत्य है, शुकदेवजी रासपञ्चाध्यायी एवं भ्रमरगीत में भी यही कह रहे हैं–

कास्त्र्यङ्गते कलपदायत मूर्च्छितेन सम्मोहिताऽर्य चरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्य सौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ।।

—भागवत १०-२९-४०

गोपियाँ कहती हैं—"हे श्यामसुन्दर ! त्रिलोकी में ऐसी कौन सी स्त्री है जो तुम्हारी इस मुरली-ध्वनि की मधुर-तान को श्रवण कर तथा तुम्हारे त्रिभुवन सुन्दर इस कमनीय रूप के दर्शन कर मोहित न होती हो और अपने सदाचार से विचलित न होती हो। मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु, पक्षी, और लता-तरु भी आपके विश्व-विमोहन रूप–सौन्दर्य को देखकर पुलकित हो जाते हैं"—

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः,
कपट रुचिर हास भ्रू विजृम्भस्य याः स्युः ।।

—भागवत १०-२९-४०

उनकी कपटभरी मुस्कान और भौंह के विलास–इतने मनोहर हैं कि दर्शन मात्र से ही ऐसी कौनसी स्त्री है जो वश में न हो जाय ? उनके पास दौड़ी न चली आवे ? स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी में कहीं भी कोई नहीं है, और की तो बात ही क्या—स्वयं लक्ष्मी भी उनकी सेवा के लिये लालायित रहती है, परन्तु वे अपने चरणाश्रितों के लिये ही यह सौन्दर्य सुख प्रदान करते हैं, क्योंकि उनका नाम पुरुषोत्तम है।

और इनकी वंशी की ध्वनि ने तो ब्रह्माण्ड की स्त्रियों को बेचैन बना दिया है—

हर अंक में बैठ जु पारवती मुरझाय परी लगी गाँसुरिया।
सुर-नारि सबै पति संग के रंग कूँ भूलि बहावत आँसुरिया ।।
अरु रमा रमापति अंग हू ते पद संग कूँ तुव भरे साँसुरियाँ।
अस कौन सी नारि त्रिलोक मझारि न मारि बिहारि की बाँसुरिया ।।

ऊपर कहा गया है कि श्रीकृष्ण की मधुर वंशीध्वनि को सुनकर और सरस मन्दहास को देखकर सती-साध्वियों के चित्त भी चलायमान हो जाते

हैं, तो क्या—सतीत्व धर्म का लोप कर देना धर्मरक्षक भगवान् के लिये उचित है? समाधान यह है कि—वास्तव में भगवत्तत्त्व की शोभा तथा रक्षा तो इसी में है, वह भगवान् ही क्या? जिसको देखकर धैर्य का भी धैर्य न छूट जाय? जिसको देख-सुनकर सती स्त्री तो क्या—विश्व विमोहित होता है, स्वयं रतिपति भी सुध-बुध खो बैठता है।

यदि भगवान् होकर भी सबके चित्त को आकर्षण न कर सके, तो वह भगवान् ही कैसे? क्योंकि वे तो सबकी आत्मा हैं, वे आनन्दस्वरूप हैं, सकलाकर्षक हैं, पुरुषों में जो श्रेष्ठ आत्माराम हैं, ये उनके भी आकर्षक हैं, और स्त्रियों में श्रेष्ठ उमा, रमा, अरुन्धती आदि के भी चित्त को खींचते हैं। 'आकर्षण', 'आनन्द', 'प्रेम' 'आत्मा' 'ब्रह्म' कुछ भी कहो, ये सब श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं, अतएव सर्वाकर्षक हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमाखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

—श्रीमद्भागवत १०-१४-५५

भगवान् पर सतीत्व-धर्म के नाश करने का दोष तो इसलिये प्राप्त ही नहीं होता, क्योंकि भगवान् का स्वरूप हमारी-तुम्हारी तरह अस्थि-मांस निर्मित नहीं है, यदि भगवान् देहधारी पुरुष होते तो उस देह के सम्बन्ध से सतीत्व धर्म नष्ट होने की बात कही जा सकती थी, परन्तु भगवान् में तो देही-देह भेद ही नहीं है। खाँड़ के खिलौने की भाँति भगवान् के मुख, हस्त, चरण, उदरादि होते हुए भी, नख से सिख पर्यन्त—अन्तर-बाहर, सब आनन्द ही आनन्द, रस ही रस, आत्मा ही आत्मा है। सती और सती-पति के देह में जो आत्मा है, जिस आत्मा के कारण सती को अपनी देह और पति की देह प्यारी है, उस आत्मा की भी आत्मा प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण ही तो है। जब यह आत्मा अमूर्त्त होने पर इतनी सर्वाधिक प्रिय है, तो फिर वही जब त्रिभुवन सुन्दर मूर्त्ति बनकर नेत्रों के सन्मुख आता है, हँसता है, खेलता है, बोलता है, सबसे प्यार करता है—तो वह कितना प्रिय लगने लगता है, यह बात उन आत्माराम शुक, सनक, जनकादिकों से ही ज्ञात हो सकती है, उसका साक्षात्कार होने पर इन योगियों की आत्मारामता नष्ट नहीं हो जाती, अपितु आत्मारामता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार रमा, उमा, अरुन्धती आदि सती-शिरोमणियों का सतीत्व धर्म भी श्रीकृष्ण पर मोहित होने से नष्ट नहीं होता, अपितु वह तुष्टी-पुष्टि को प्राप्त होता है, यही सार

सिद्धान्त है, परीक्षित को शंका का उत्तर भी रासपञ्चाध्यायी के अन्त में शुकदेवजी ने यही दिया है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ।।

—भागवत १०-३३-३६

वास्तव में यथार्थ पति तो भगवान् ही हैं। "**पाति रक्षतीतिपति**" रक्षा करने वाला, अभयदान देने वाला ही पति हो सकता है, जन्म-मरण, दुख-दोषादि से रक्षा कर अभयदान देने में तो एक भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी समर्थ नहीं है। अतएव भगवान् ही सच्चे पति हैं, मनुष्य तो झूठा पति है, जार-मात्र है, "**जारयतीति जारः**"—जलाने वाले का नाम जार है, जार मनुष्य केवल स्त्री के धर्म को ही जलाता है, और कलंक तथा पाप को ही बढ़ाता है, परन्तु जार भगवान् स्त्री के पतिव्रतधर्म को नहीं जलाता, वे तो उसके धर्म-त्याग के कलंक को तथा पाप को जला कर भस्म कर देते हैं। गीता में "**सर्व धर्मान् परित्यज्य**" में यही तो प्रतिज्ञा को है—अर्जुन ! तू समस्त धर्मों का त्याग कर केवल मेरे 'शरणागति' धर्म को ग्रहण करले—

सब धर्म तज के अर्जुन मेरी शरण में आजा ।
सब धर्म का यही फल मेरी शरण में आजा ।।
और कर्म सब धरम हैं शरणं परम धरम है ।
सब धर्म का मरम है, मेरी शरण में आजा ।।
जो आवै मुझ शरण है, करौं पाप सब हरन है ।
यह 'प्रेम' सत् परन है, मेरी शरण में आजा ।।

समस्त धर्मों का त्याग और एक धर्म का ग्रहण—अपने आराध्य-देव के अतिरिक्त शेष संसार शून्यवत् है, बस, यह प्रतीति होने लगे, तो वह प्रेम-धर्म स्वयं ही हृदय में प्रवेश कर जाता है, बाकी सब नियम-संयम छूट जाते है—

एक नेम या प्रेम कौ, सबै नेम छुटि जाय ।
जो कहूं छोड़े जानिके, सो नहिं प्रेम कहाय ।।

प्रेमराज्य का नियम भी बड़ा विलक्षण है, वेद और धर्मशास्त्र जिस कार्य को मानव कल्याण का परमधर्म कहते हैं—प्रेमधर्म का कानून उसके सर्वथा विपरीत ही कहता है, गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य श्री रसिकोत्तंसजी ने अपने 'प्रेम पत्तन' ग्रन्थ में लिखा है कि—यह वह 'प्रेमनगरी' है—जहाँ

अधर्म ही धर्म है और असत्य ही सत्य है, अनाचार ही जहाँ सदाचार के रूप में विराजमान है—

यत्राधर्म एव धर्मः—जहाँ अधर्म ही धर्म है।
यत्रासत्यमेव सत्यम्—जहाँ असत्य ही सत्य है।
यत्रानाचार एवाचार—जहाँ अनाचार ही आचार है।
यत्रानादर एवादर—जहाँ अनादर ही आदर है।
यत्राज्ञानमेव ज्ञानम्—जहाँ अज्ञान ही ज्ञान है।
यत्र पराजय एव जय—जहाँ पराजय ही जय है।
यत्र निषेध एव विधि—और जहाँ निषेध ही विधि है।
यत्रासन्त एव सन्तः—जहाँ असन्त ही सन्त है।
यत्र निग्रह एवानुग्रह—जहाँ निग्रह ही अनुग्रह है।
यत्रासतीत्वमेव सतीत्वम्—जहाँ असतीत्व ही सतीत्व है।
यत्र सतीत्वमेवासतीत्वम्—जहाँ सतीत्व ही असतीत्व है।

यह है—प्रेम-नगर का स्वरूप, जहाँ सभी धर्म विपरीत होकर चलते हैं।

कृष्ण-प्रेम का रोग भी अद्भुत है, इस रोग के लगने पर इसके सब काम विपरीत ही होने लगते हैं। यहाँ स्वस्थ ही अस्वस्थ है, यहाँ रोगी की औषधि वैद्यक ग्रंथों में नहीं है, इस रोग की चिकित्सा तो श्रीकृष्ण हैं—

सन्ति रोगान्तरं हन्तुं संहितापथगामिनः।
कृष्णानुरागरोगेऽस्मिन्नसतीसङ्गमौषधम् ।। —'प्रेम-पत्तन'

एक पूर्व रागवती गोपी श्रीकृष्ण के विरह-ज्वर से व्यथित होकर मूर्च्छित हो गई है, गृह के श्वसुर आदि गुरुजन उसकी चिकित्सा कर रहे हैं, पर उसकी दशा प्रतिक्षण शोचनीय होती जा रही है, उसी समय एक दूसरी गोपी जो उस रोग के मर्म को समझती है, धीरे-से साथ वाली गोपी के कान में कहती है—इसको तो कृष्ण-प्रेम का महारोग लग गया है, इस रोग की चिकित्सा चरक-सुश्रुत में नहीं है, इसकी औषधि तो एकमात्र असती स्त्री का संग है। अर्थात् श्रीकृष्ण से प्रीति करने वाली किसी गोपी से इसको शीघ्र मिला दो—उसकी कृपा से इसका समस्त रोग शान्त हो जायेगा, तात्पर्य यह है कि—व्रज की असती स्त्रियाँ ही परम सती हैं, नारदजी के वाक्य से स्पष्ट है—

कृष्णानुरागार्तिलसन्मतीनां गोपी ततीनामभिलक्ष्य भावम्।
मतं सतां सःकृतसत्पतीनामहो सतीनामसतीत्वमेव ।। —'प्रेम-पत्तन'

नारदजी के सन्मुख किसी बहिर्मुख व्यक्ति ने गोपियों के कृष्ण-प्रेम के प्रति कटाक्ष करते हुए उनको असती कह कर सम्बोधित किया, तो गोपी-भक्त नारदजी ने पूर्वश्लोक में वर्णित यह उत्तर दिया है कि—"कृष्ण के प्रति अनुराग से जो व्याकुल हैं, जिनकी मति कोटि-कोटि सतियों की मति से भी अधिक पवित्र एवं सुन्दर है, ऐसा जो गोपी-समूह—उसके मनोभाव (श्रीकृष्ण-प्रेम) को लक्ष्य कर सत् पुरुषों ने (तुम जैसे असत् पुरुषों ने नहीं) उनका सतीत्व ही निश्चय किया है, तथा सत्पतियों द्वारा सत्कृत–सतियों को असती ही कहकर सम्बोधित किया है। अहा ! कैसा आश्चर्यमय यह गोपी-प्रेम है।" टीकाकार ने यहाँ 'सती' से स्पष्ट अरुन्धती का नाम तथा सत्पति से वशिष्ठजी का नाम लिया है, टीकाकारों ने लिखा है कि—सती तो पञ्च-भौतिक शरीर वाले सामान्य जीव में "**पतिरेव ही नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्**" शास्त्र की इस आज्ञा से, नरक के भय से (जैसे-तैसे) पति को भगवान् जैसा मानकर, पतिव्रत धर्म का साधन करती हैं। परन्तु गोपियाँ तो पाञ्चभौतिक देहधारी जीव में नहीं—साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण में, शास्त्र के बल से नहीं, अपने सहज स्वाभाविक रसमय प्रेम के वशीभूत होकर, स्वर्ग के लोभ तथा नरक के भय से नहीं अपितु ऐहिक आमुष्मिक लोक-परलोक दोनों के लाभ-लोभ को त्याग कर जैसे-तैसे भगवान् मानकर नहीं, सर्वात्मभाव से—अधिरूढ़भाव से श्रीकृष्ण में प्रीति करती हैं, अतएव सत्पुरुषों के मन में गोपियाँ ही सत्य-सत्य सतीत्व को धारण किये हुए हैं।

सारांश यह है कि व्रज-सुन्दरीगण द्वारा आलिंगित कृष्ण स्वयं आनन्दित हो रहे हैं और व्रजगोपियों को भी परमानन्द प्रदान कर रहे हैं। उनका यह विहार क्षण-क्षण में नवीन-नवीन रूप धारण कर रहा है, इस विलास में श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है। श्रीकृष्ण के सहज साधारण माधुर्य के उद्भव से सती-शिरोमणियों का कुल मुग्ध हो रहा है। यह गोपीभावयुक्त श्यामसुन्दर का विहार अन्य के लिये अगम्य है, व्रज-देवियों के लिये ही यह एकमात्र आस्वाद्य वस्तु है, गोपीभाव धारण किये बिना भगवान् के मधुर रूप का आस्वादन प्राप्त नहीं होता, अतएव ऋषि-मुनि, शिव-शौनक, वेद-ऋचायें तथा देवाङ्गनाओं ने भी व्रज में प्रकट होकर गोपीभाव धारण करने की प्रार्थना की है—ऐसा अनुभव कर विल्वमङ्गल भी बाह्य दशा में अपने पुरुष ज्ञान से गोपीभावयुक्त नारी देह के लिये लालायित हो रहे हैं, इस लालसा से युक्त होकर ही यह श्लोक उच्चारण किया है।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

तदुच्छ्वसित - यौवन तरलशैशवालंकृतं,
मदच्छुरित लोचनं मदन-मुग्ध-हासामृतम्
प्रतिक्षण विलोभनं प्रणयपीत-वंशीमुखं,
जगत्त्रय-मनोहरं जयति मामकं जीवितम् ॥८८॥

पद्यार्थ— **नूतन यौवन का विकास है, तरलित शैशव से आभूषित।**
मद छलकाते युगल विलोचन, मदन-मनोमोहक हासामृत॥
प्रतिपल प्रणयपीत - वंशीमुख, हृदय विलोमन कर देता है।
जय! जय! जय! मेरा जीवनधन, त्रिभुवन का मन हर लेता है॥

भावार्थ—जिसके अंग-प्रत्यंग में यौवन प्रस्फुटित हो रहा है, साथ ही जो चञ्चल शैशव से भी अलंकृत है, जिसके लोचन-युगल से यौवन-मद की अरुणिमा झाँक रही है, जिसकी स्मित-सुधा अनंग को भी मोहित कर रही है, जो प्रतिक्षण एक विचित्र तृष्णा को जाग्रत कर रहा है, तथा जो वंशी सखी के अधरामृत का पान कर रहा है, उस त्रिभुवन का मन हरने वाले मेरे जीवन-धन श्यामसुन्दर की सदा ही जय हो।

रसिका टीका—पूर्व श्लोकों में श्रीकृष्ण को अमृतस्वरूप तथा आनन्द स्वरूप कहा था—परन्तु इतने से लीलाशुक की तृप्ति नहीं हुई, तो वे अत्यन्त ममता के साथ इस श्लोक में उन्हें अपना जीवन-प्राणस्वरूप कहकर मन को साध रहे हैं, प्रेमास्पद को प्राप्त कर उनके हृदय में एक प्रकार का आनन्द-सागर उमड़ पड़ा है, वह आनन्द कुछ आँखों से निकल रहा है, कुछ मुख से निकलना चाहता है, कुछ कण्ठ में रुका हुआ है. और बहुत कुछ तो कहा ही नहीं जाता—क्योंकि उसका आस्वादन विलक्षण है, वाणी से कहते नहीं बनता—प्रिय, प्रिया, प्राण, जीव, जीवन– सब कुछ तुम्हीं तो हो—

पिय कहौं कि प्रिया कहौं, मैं प्रान कहौं कि प्यारी तोकों।
हौं ही कहौं कि हौं तू ही कहौं, जीव कहौं कि ज्यारी तोकों।
जो जो कहौं सो सब तूही, कहौं कि न कहौं अहारी तोकों।
'श्रीहरिप्रिया' वरनन को बानी, विथकित होत महारी तोकों॥

—श्रीहरिव्यासदेवकृत महावाणी

विल्वमङ्गल की भी यही दशा हो रही है, 'अमृत' 'आनन्द' 'जीवन'

'प्राण'–इन शब्दों के अतिरिक्त और शब्द कहाँ से लावें ? क्योंकि भारती के भण्डार में इसके उपमायोग्य शब्द हैं ही नहीं, तथापि भक्तजन उसे अपने दिव्य भावों से शब्द प्रकट कर वाणी को कृतार्थ कर देते हैं।

"जयति मामकं जीवितम्"—मेरे जीवनस्वरूप जययुक्त हो रहे हैं, सर्वोत्कर्ष के साथ प्रकाशमान हो रहे हैं। किस प्रकार की सर्वोत्कर्षता है ? **"जगत्त्रय मनोहरं"**—यह केवल अरुन्धती आदि नारीगण के ही मनोहर नहीं हैं, अपितु त्रिभुवन के नर-नारी मात्र के चित्त को हरण करने वाले हैं। एक भावुक ने कहा—श्यामसुन्दर ! वैसे तो तुम्हारी रूप-कटारी ने नर और नारी सभी को बेहाल कर दिया है, पर इन पुरुषों की मति तो तुमने और भी अधिक बिगाड़ दी है—अतः मैं तो नारी के रूप में रहना पसन्द करता हूँ—

नारि रहौं इन पुरुषन को हू, दई है बिगारि मति साँवरिया।
दण्डकवन के तपसिन कूँ, इन मार की मारो साँवरिया॥
अगिनि तनय के तन मन हू, इन अगिनि जराय दई साँवरिया।
नारि बचे नहिं नर हू बचे, तेरी रूप कटारी साँवरिया॥

दण्डकारण्य के तपस्वी ऋषिगण भी तपस्वी राम के स्वरूप को देख कर हरि को भोगने की इच्छा से व्याकुल हो गये, तब व्रज में आकर उन्हें गोपी बनना पड़ा था—

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छत् सुविग्रहम्॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले॥ —पद्मपुराण

अग्निपुत्रों के सम्बन्ध में कूर्मपुराण में कथा आती है कि—उन्होंने वासुदेव को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये तप के द्वारा स्त्रीत्व को प्राप्त किया था—

अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसास्त्रित्वमापिरे। भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवभजं विभुम्॥

एक सखी ने श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण से कहा—हे मदनमोहन ! तुम्हारा यह त्रिभुवन सुन्दर रूप हम नारियों को तो मोहित करता ही है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि आपके रूपासव को पीकर वन के पशु-पक्षी भी चहकते फिर रहे हैं, गौ और गौ-वत्स किलोलें कर रहे हैं, वन के वृक्ष, लता, मञ्जरी सभी झूम रहे हैं। जब सारा विश्व ही नाच रहा है तो बेचारी नारी जो स्वभावतः सौन्दर्य की भूखी है, नाच उठे तो आश्चर्य ही क्या ?—

जिसका छबि आसव पीकर के, मतवाले बने खग बोल रहे हैं।
जिसकी सुषमा से प्रभावित हो, सुरभी सुतवृन्द कलोल रहे हैं॥
जिस माधुरी मूरति को लख के, वन-वृक्ष सुधारस घोल रहे हैं।
उस रूप को देख के विस्मय क्या, यदि नारियों के मन डोल रहे हैं॥

परन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह रूप तुमको—स्वयं को भी मोहित कर लेता है—"**स्वरूप विस्मापन सौभगर्द्धम्**"—भागवत। गोपी कहती है—प्रियतम! यदि तुम्हारे हाथ में कंकण-आरसी होते तो तुम अपने रूप को देखकर हाथ मोड़ते रह जाते, और तुम्हारे मुंह से लार चूने लगता। प्राण-वल्लभ! यदि तुम हमारे रूप को धारण कर लो तो फिर तुम भी हमारी तरह ही हजार बार चरणों का चुम्बन करोगे—

कर आरसी कान्ह तिहारे नहिं, जो निहारते अपनो रूप छबीले।
मुख लार चुवै पछिताइ रहौ, जनु मींडत हाथ ठगे से लुभीले॥
देहु हमें किधौं रूप यह आपनो, लेहु हमारो यह रूप रंगीले।
चूमिहौ पद तुम बार हजार, बनौ जनम करोरैं दासी रसीले॥

फिर हम व्रज की बाला, रस की माधवी, यदि तुम्हारी दासी बनना चाहें तो कोई आश्चर्य नहीं है। श्रीकृष्ण के मन में भी कभी-कभी स्वयं अपने आप की ही दासी बनने की तरङ्ग उठती है। देखिये—'राधारस-सुधानिधिकार' क्या कहते हैं—

नीलेन्दीवरवृन्दकान्तिलहरी चौरं किशोर द्वयं,
त्वय्येतत्कुचयोश्चकास्ति किमिदं रूपेण संमोहनम्।
तन्मामात्मसखीं कुरु द्वितरणीयं नौ दृढं श्लिष्यति,
स्वच्छायामभिवीक्ष्य मुह्यति हरौ राधास्मितं पातु नः॥

—राधा-सुधानिधि

अपनी छाया पर आप ही मोहित हो गये, यदि मूल काया को कहीं देख लिया होता तो न जाने क्या दशा हो जाती? इसीलिये यह ठीक ही कहा है कि आप—"**जगत्त्रय मनोहरम्**" हैं, जगत् को ही नहीं, स्वयं जगत्पति को भी मोहित करने वाला यह आपका अगाध सौन्दर्य है, जिसकी समता तो क्या पासंग भी कहीं नहीं है।

"**तदुच्छ्वसितयौवनम्**"—उसका वह यौवन—जो समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग में से, नैनों में से, अधरोष्ठों में से, गण्डकपोलों में से, विशाल वक्षस्थल में से,

हस्त-चरणों में से, वाणी-विलास में से, गति-विन्यास में से, सर्वत्र सर्व अङ्ग में से उच्छ्वलित हो रहा है, फूट-फूटकर निकल रहा है, इसी प्रफुल्ल यौवन के द्वारा वह त्रिभुवन मनोहर है।

"तरलशैशवालङ्कृतम्"--अर्थात् जाते हुए शैशव के द्वारा अलंकृत किशोर अवस्था--

छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यौ जोवन अङ्ग।
दीपति देह दुहुन मिलि, दिपत ताफता रङ्ग॥
दृगन लगत बेधत हियौ, विकल करत अंग आन।
ये तेरे सबते विषम, ईछन तीछन बान॥

यह वयः सन्धि की मुग्ध अवस्था है। शैशव काल के अल्हड़पन की समाप्ति और यौवन की मादकता का प्रारम्भ-दोनों के मध्य का यह संगम? एक विचित्र सौन्दर्य-माधुर्य का प्रवाह देखकर लगता है कि-त्रिभुवन की मनोहरता यहीं एकत्रित हो गई है।

"मदच्छुरित लोचनम्"--सहज यौवन के मद से रँगीले तथा प्रियजनों के दर्शनजन्य बलिहारों के मद से रसीले जिनके लोचन-युगल हैं—अतएव ये 'जगत्त्रयमनोहर' हैं।

'मदनमुग्धहासामृतम्'—मदन को मोहित करने वाले हास्यरूप अमृत से युक्त, अथवा गोपियों के प्रेमस्वरूप मदन के द्वारा मुग्ध हास्यामृत से युक्त, वह त्रिभुवन-सुन्दर रूप।

'प्रतिक्षणविलोभनं'—प्रतिक्षण लोभ-विशेष को संवर्द्धन करने वाला दिव्यभाव, उद्दाम निरतिशय तृष्णा को जागृत करने वाली एक प्रबल चाहना से युक्त मनोहारी कान्ति वाला स्वरूप।

'प्रणयपीतवंशीमुखम्'—अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वंशीरूपी प्रियसखी के मुख का चुम्बन करने वाले, त्रिभुवन सुन्दर परम मनोहर मेरे प्राण-जीवनस्वरूप श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान हो रहे हैं।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

चित्रं तदेतच्चरणारविन्दं चित्रं तदेतन्नयनारविन्दम्।
चित्रं तदेतद्वदनारविन्दं चित्रं तदेतद्वपुरस्य चित्रम्॥८९॥

पद्यार्थ— **हैं विचित्र तेरे चरणाम्बुज, महा विचित्र नयन-इन्दीवर।**
अद्भुत तेरा वदन-कञ्ज है, काय-कञ्ज तेरा विचित्रतर॥

भावार्थ—उस व्रजरमणीवल्लभ के चरणारविन्द बड़े विचित्र हैं, नयनारविन्द भी बड़े विचित्र हैं, मुखारविन्द भी बड़ा विचित्र है—यही क्यों, समस्त काययष्टि ही महा विचित्र है।

रसिका-टीका—श्रीकृष्ण का अमृतरूप, आनन्दरूप, और जीवन रूप वर्णन करने के पश्चात् इस श्लोक में अब उनके 'आश्चर्य रूप' और 'मधुर रूप' का वर्णन करते हैं, विल्वमङ्गल के लिए तो उनका वर्णन एक आस्वादन योग्य पदार्थ है, तथा जगत के लोगों के लिये मात्र एक आलेखन है, एक शब्द चित्र है, अतः कोई भी चित्र हमारे हृदय में उतर जाय ? कोई भी शब्द इस चञ्चल चित्त को निःशब्द करदे—इसीलिये भक्तवर लीलाशुक विल्वमङ्गल अपने अनुभवों को विविध रूप से विविध शब्दों के द्वारा पुनः पुनः चित्रांकित करने का प्रयास कर रहे हैं।

"श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के माधुर्य का अवलोकन तथा उसका आस्वादन करते हुए वे कहते हैं—"यह वही चरणकमल हैं, इनकी महिमा बड़ी अद्भुत है, वे ही कौन से ? वही तो—**किमपि वहतुचेतः कृष्णपादाम्बुजाभ्याम्** (श्लोक १२) ध्वज-वज्र-अंकुश आदि रेखाओं से युक्त जो एक अद्भुत चरण-कमल मेरे हृदय में प्रथम अनेक बार प्रकाशित हो चुके हैं,—उन्हीं चरण-कमलों के मैं अब प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ। ये चरणकमल अद्भुत हैं। इनकी कृपा भी अद्भुत है, और मेरा सौभाग्य भी अद्भुत ही उदय हुआ है, तभी तो ऋषि मुनिगण जिन चरणों का हृदय में ध्यान करते हुए भी दर्शन नहीं कर पाते—वे मुझको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

"यह हावभाव पूर्ण लीला से युक्त, अरुण-करुण-तरुणनयन भी तो वे ही हैं—ये कितने अद्भुत हैं, क्योंकि ये "**प्रणयपरिणताभ्यां श्रीभरालम्बनाभ्यां०**" (श्लोक १३) प्रणय की परिणति, शोभा के धाम,—नयनकमल जो मेरे हृदय में प्रकाशित हुआ करते थे, वे ही तो साक्षात् दर्शन दे रहे हैं, कितनी अद्भुतता है इन नैनों में।

और यह मुखारविन्द भी तो वही है, कितना विचित्र है यह ? हाँ ! हाँ ! यह वही मुखकमल तो है, जिसका पहले मुझको दर्शन हो चुका है—"**मुख पंकजं मनसि मे विजृम्भताम्**"(श्लोक ६) जो मुकुलित नेत्रों से युक्त मुरली-वादन द्वारा नादामृतमाधुर्य में निमज्जित करता हुआ मेरे हृदय में मनोहर झाँकी देता रहता था, वही सौन्दर्य माधुर्यपूर्ण लावण्य-निधि मुखकमल आज प्रत्यक्ष मेरे नेत्रों के सन्मुख विकसित हो रहा है। श्रीकृष्ण का मुखकमल

और मेरा सौभाग्य—दोनों ही आज अद्‌भुत प्रतीत हो रहे हैं, इनकी शोभा वर्णन करना अत्यन्त कठिन है—जिनके एक-एक अङ्ग की शोभा अवर्णनीय है, वहां सम्पूर्ण अङ्ग का कौन वर्णन कर सकता है ? इस विग्रह का तो सर्वाङ्ग ही अद्‌भुत है, इसीलिये यह विश्वविमोहन है, यह वही मूर्त्ति है, जो **"व्रज शिशोर्मूर्त्ति जगन्मोहिनीम्** (श्लोक ४८) जो मेरे हृदय में आँख मिचौनी खेला करती थी, आज ठिकाने को पकड़े सन्मुख अवस्थित है ! कितना अद्‌भुत है यह वपु, कितना आकर्षक, कितना मधुर और वास्तव में कितना अद्‌भुत है यह रूप ?—

यह नील कमल घन श्याम कहौं, शशि स्याम कहौं कै तमाल कहौं।
मन मोहन मदन आनन्द कहौं, रस कन्द कहों छवि जाल कहौं।।
जग जीवन ज्योति ए ब्रह्म कहौं, गोपिन उर की शुचि माल कहौं।
"प्रेम" बाल कहौं कै लाल कहौं, कै कहौं न कहौं बस देखि रहौं।।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीड़ितं छन्दः —

अखिलभुवनैकभूषणमधिभूषित जलधि-दुहितृ-कुच कुम्भम् ।
व्रजयुवति-हारवल्लीमरकत-नायक-महामणिं वन्दे ।।९०।।

पद्यार्थ— **अखिल भुवन कुल का तू भूषण, जलधिसुतास्तन का सिंगार ।**
गोपीहार-लता-मरकत-मणि, तुझको नमस्कार बहु बार ।।

भावार्थ—आप अखिल भुवन के अद्वितीय भूषण हैं, आप जलधि-सुता के कुच कलश की शोभा हैं, आप व्रजयुवति रूप हार-लता के महामरकतमणिमय सुमेरु हैं आपको मैं प्रणाम करता हूँ ।

रसिका-टीका—"वन्दे"—मैं वन्दना करता हूँ, स्तुति करता हूँ । जो श्रुतियों की गुप्त निधि है, जो मुनिजन मानस की ध्यान-निधि है और भक्त-वृन्दों की हृदय-निधि, विश्व की जीवन-निधि, व्रज की क्रीड़ा निधि, और जो चित्र-विचित्र निधि है, जो निधि मुझ दीन दुःखी के सन्मुख **"श्रवण-मनो-नयनामृतावतार"** (१०८) रूप से विलास करती हुई प्रकाश कर रही हैं, उस असीम अहैतुकी करुणानिधाननिधि को मैं नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप नमस्कार करने योग्य हैं, अतः अखिल ब्रह्माण्ड के एक मात्र भूषण-स्वरूप आपकी वन्दना करता हूँ, जलधि सुता लक्ष्मी के वक्षोज भूषण स्वरूप आपकी वन्दना करता हूँ । व्रज युवतियों के गले में सुशोभित हार रूप लता के मरकत मणि पदक स्वरूप आपकी मैं वन्दना करता हूँ ।

हे प्रभो ! समस्त ब्रह्माण्ड को अन्न, वायु, प्राण, जीवन, ज्योति, रस, प्रेम और आनन्द प्रदान कर उन्हें सत्यं शिवं सुन्दरं—आप ही तो बना रहे हैं, अतएव आप ही त्रिभुवन के एक मात्र भूषण स्वरूप हैं।

अथवा परमानन्द चिन्मय, रसमय, आनन्दमय एवं समस्त भुवनों में भी प्रधान रूप एक श्रीवृन्दावनधाम ही तो है, इस वृन्दावन के भी भूषण स्वरूप आप हैं, वृन्दावन का स्वरूप वर्णन शास्त्र में इस प्रकार किया गया है—

उच्चावचाप्यगणित, ब्रह्माण्डावलिमण्डिताम्।
त्रिगुणां प्रकृतिं तीर्त्वा जडत्वां दुःखात्मिकाम्॥

यह समस्त भूगोल अनेक प्रकार के महत्-क्षुद्र अगणित ब्रह्माण्ड समूहों से मण्डित (आवृत्त) है, इस सबको मिलाकर यह जड़ तथा दुःखात्मक त्रिगुणमयी प्रकृति है, इस प्रकृति को पार कर आगे आनन्द सागर मिलता है–

अपारावार विस्तारमेकमानन्द सागरम्।
स्वप्रकाश महास्वच्छ ज्योतिरूपं परं पदम्॥
चैतन्यमात्र निर्भासं निस्तरङ्गं निराकुलम्।
निरस्ताज्ञान तत्कार्यं परं ब्रह्मेति तद्विदुः॥

पारावार के विस्तार से रहित वहाँ एक आनन्द सागर है, यह सागर स्वप्रकाश से प्रकाशित, अत्यन्त स्वच्छ ज्योति स्वरूप है, इसका स्थान प्रकृति के ऊपर है, और चैतन्य सत्ता से आलोकित है, तरंग हीन है, व्याकुलता शून्य है, अज्ञान और उसके कार्य जगत् के स्पर्श से रहित मनीषी जन जिसको परं ब्रह्म कहते हैं—यह वही ब्रह्म पद है।

तदन्तः परमाश्चर्यं ज्योतिरेशं विचिन्तय।
चर्वणीय महानन्दं सान्द्राब्धिमति निर्मलम्॥

फिर उस ब्रह्म ज्योति के अन्तर में एक परमाश्चर्य ईश–ज्योति का चिन्तन करो, वह ईश-ज्योति अत्यन्त निर्मल है, महानन्द का घनीभूत सागर है तथा परम आस्वादनीय है, इसी ईश ज्योति को वैकुण्ठ धाम कहते हैं, फिर इसके आगे—

तदन्तरे ततोऽप्यत्याश्चर्यं ज्योतिमनुस्मर।
काष्णं महास्वच्छतमं पारावारविवर्जितम्॥
महादीप्तं महारम्यं महा मोहनमद्भुतम्।
महा प्रेमातिसौन्दर्यं महानन्दरसोत्सवम्॥

उस ईश-ज्योति के भीतर उससे भी अधिक अत्यन्त आश्चर्यमय एक दिव्य ज्योति का स्मरण करो, यह ज्योति ही श्रीकृष्ण की अङ्ग-कान्ति—"कार्ष्णि ज्योति" है, यह महान स्वच्छतम है, अपार और असीम है, महान उज्ज्वल और महान रमणीय है, महामोहन, महाअद्भुत, महासौन्दर्यस्वरूप है, तथा यह ज्योति महानन्द रसोत्सव स्वरूप भी है, इस ज्योति धाम को ही व्रज मण्डल कहते हैं, फिर इसके आगे—

ततो दूरान्तरे ज्योतिः सर्वाश्चर्योच्चतावपि ।
सर्वोज्ज्वलाति सुमहोज्ज्वलं सर्वोत्तमोत्तमम् ।।
महा वैभव सीमान्तः परानन्द परावधि ।
कृष्ण प्रेम रसर्द्धीनां चरमः परमोदयः ।।
कामान्य रस मात्रं यत्स्पर्श नित्य विवर्जितम् ।
महा शुद्ध कामबीजरागात्मात्युन्मदं रसम् ।।

उस कार्ष्ण-ज्योति से भी कुछ दूर अन्तर में, एक और ज्योति है, जो पूर्व-वर्णित समस्त आश्चर्यों की श्रेष्ठता में पराकाष्ठा स्वरूप है, इसका रूप सर्वोज्ज्वल से भी अधिक सुमहोज्ज्वल है, परानन्द की परावधि है, कृष्ण-प्रेम तथा रस-सम्पद-समूह का चरम एवं परम प्रकाश स्वरूप है, वह नित्य 'काम-प्रेम' के अतिरिक्त अन्य सभी रस मात्र के स्पर्श से भी रहित है, तथा जो महाशुद्धकाम-बीज का रागात्मक अतिशय-उन्माद-रस-स्वरूप है, वह ज्योति-मण्डल वृन्दावन का आवरण है, वृन्दावनधाम की बहिर्ज्योति वही है।

तदन्तस्तद्घनं भाति श्रीमद् वृन्दावनं वनम् ।
पुरं माधुर्यसाम्राज्यं पूर्णानन्द-चमत्कृतिः ।।
पूर्णातिपूर्णं मधुरं प्रकाशं पूर्णसद्रसम् ।
सर्वं सौभाग्यपूर्णं द्रुलता खग मृगादिकम् ।।

उस काम बीजात्मक ज्योति के अन्दर उसी के घनीभूतस्वरूप में स्थित श्रीवृन्दावन नामक वन देदीप्यमान हो रहा है, इस वृन्दावन में पूर्ण-माधुर्य का साम्राज्य है, और वही पूर्णानन्द चमत्कार का द्योतक है। तथा यह पूर्णातिपूर्ण मधुर प्रकाशस्वरूप, एवं पूर्ण सत्वमय रस से ओतप्रोत है। यह वृन्दावन सर्व सौभाग्यपूर्ण द्रुमलता, खग मृग आदि से सुशोभित हो रहा है।

यह वृन्दावन का स्वरूप वर्णन श्री प्रबोधानन्द सरस्वती द्वारा रचित वृन्दावन महिमामृत ग्रंथ के सप्तम शतक से लिया गया है।

ऐसे वृन्दावन के एकमात्र भूषण हैं—श्रीराधाकृष्ण ! जिस वृन्दावन का ऊपर वर्णन हुआ है, उसी को व्रजभाषा के पद्यों में महावाणी में इस प्रकार कहा गया है—

अखिल ब्रह्माण्ड वैराट के थाट सब महावैराट के रोम के कूप।
सावकाशे उडत रहत नित सहज ही परमैश्वर्य आश्चर्यमय रूप ।।
सो प्रथम एक ही शून्य मधि समि रह्यो जैसे त्रिसरेनु को रेनु सत अंश ।
याते दश-दश गुनो सहस्र शत शून्य पुनि तिनके लखि सहस्र महाशून्य अवतंस ।।
तिन महाशून्य के शिखर पर तेज को कोटि गुन ते गुनो अति अमित विस्तार ।
तहाँ निज धाम वृन्दाविपिन जगमगै दिव्य वैभवन को दिव्य आगार ।।
मन वचन हू तहाँ पहुंचि न सकत कबहूं बुद्धि विथकित चितहू असमर्थ ।
सकल साधन मुक्ति सार्टि लगि बिन कृपा कोटि कोटघान विधि सब व्यर्थ ।।
नित्य विहरत जहाँ नित्य किशोर दोऊ नित्य सहचरिन संग नित्य नव रंग ।
नित्य रस रास उल्लास आनन्द उर नित्य प्रतिकाश परकाश अंग अंग ।।
निर्विकार निराकार चैतन्य तन विश्व-व्यापक प्रकृति पुरुष के ईश ।
अक्षरातीत परब्रह्म परमात्मा सर्वकारण परे ज्योति जगदीश ।।
नाद के अण्ड ते अखण्ड धारा द्रवत श्रवत जा मध्य शत सृष्टि के हेत ।
जिहि जिहि भाँति जे जे उपासत जिन्हें तिहि तिहि भाँति ते ते तिन्हें देत ।।
तत्त्व के तत्त्व सिद्धान्त सिद्धान्तन के सार के सार सुख रूप के हैं रूप ।
अमित ऐश्वर्य माधुर्य 'श्रीहरिप्रिया' भावतिन भवन के भावते हैं भूप ।।

श्रीवृन्दावनधाम की महिमा सभी आगम-निगम में वर्णित है, वह वृन्दावनधाम सर्वोपरि है, जहाँ श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्य लीला होती रहती है, इस धाम में जन्म लेने के लिये शिव, सनकादि और उद्धव जैसे ज्ञानी भी लालायित रहते हैं, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में व्रज की लीला, व्रज के भाव और व्रजवासियों के उत्कर्ष-वर्णन में कहा है—

नेमं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।।

जिस प्रसाद को ब्रह्मा, शिव और स्वयं लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं कर सके--उसे एक गोपी ने मुक्तिदाता से पा लिया था, यह व्रज और वृन्दावन का ही प्रसाद है, प्रेमी का जब प्रियतम का स्थान प्राप्त हो जाता है- तब वह समस्त लोभ-लालचों से ऊपर उठकर केवल यह चाहता है कि इस व्रज की

धूलि में ही मेरा शरीर लोटता रहे, वृन्दावन से बाहर तो भक्त को भगवान् की प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं, फिर और कीमती वस्तुओं की तो बात ही क्या, देखिये, श्री श्रीभट्टजी महाराज क्या कहते हैं—

रे मन वृन्दाविपिन निहार।
विपिनराज सीमा के बाहर हरि हू को न निहार॥
यद्यपि मिलें कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार।
जै श्रीभट्ट धूलि धूसर तन यह आशा उर धार॥

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने तो यहाँ तक कह दिया है कि चाहे जितने कष्ट क्यों न सहने पड़ें, शत-शत बार पाद-प्रहार क्यों न सहना पड़े, लाख-लाख बार धिक्कार क्यों न खानी पड़े, क्षुधा-पिपासा और शीत-ऊष्ण की बाधायें पग-पग पर क्यों न झेलनी पड़ें—परन्तु सबको धैर्यपूर्वक सहन करता हुआ, शोकाश्रुपूर्ण नेत्रों से गद्गदवाणी द्वारा करुणापूर्वक श्रीराधा-कृष्ण के नाम का कीर्तन करता रहे और वृन्दावनवास की तीव्र उत्कण्ठा से युक्त अकिञ्चनरूप में भ्रमण करता रहे—

सोढ्वापादप्रहारानपि च शतशतं धिक्कृतीनां च कोटि,
क्षुत्तृट्शीतादि बाधा शतमपि सततं धैर्यं मालम्ब्य सोढ्वा।
मुञ्चन् शोकाश्रुधारा मति करुणगिरा राधिकाकृष्ण नामा—
न्युद्गायन् क्वहि वृन्दावनमतिविकलोऽकिञ्चनः सञ्चरामि॥

गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य श्रीहरिराम व्यास ने तो वृन्दावन के सम्बन्ध में कह दिया है कि—सच्चा धन तो यह वृन्दावन ही है। मैं पुकार-पुकार कर कहता हूँ, परन्तु कोई सुनता ही नहीं—

वृन्दावन साँचो धन भैया।
कनक कूट कोटिक लगि तजिये, भजिये कुँवर कन्हैया॥
जहाँ श्रीराधा चरण-रेणु की, कमला लेति बलैया।
तिनमें गोपी नाच नचावति, मोहन बेनु बजैया॥
कामधेनु कौ छीरसिंधु तजि, भजहु नन्द की गैया।
चारचौ मुक्ति कहा लै करिहौ, जहाँ जसोदा मैया॥
अद्भुत लीला अद्भुत वैभव, सत सुकदेव कहैया।
आरत व्यास पुकारत वन में, थोरे लोग सुनैया॥

गौड़ीय सम्प्रदाय के एक परम-भक्त रसिकजन श्रीललितकिशोरीजी—

जिन्होंने प्रेम का दीवाना बनकर व्रज की गली-गली में प्रियतम की खोज की थी, और अन्त में उन्होंने भी यही इच्छा प्रकट की है, देखिये, वे क्या कहते हैं—

जमुना-पुलिन कुञ्ज गहवर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ ?
पद-पङ्कज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुञ्ज सुनाऊँ ?
कूकर ह्वै वन-वीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकन के खाऊँ ?
'ललितकिशोरी' आस यही मम, व्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ ?

"अधिभूषितजलधिदुहितृकुचकुम्भं वन्दे"— जलधिदुहिता—शब्द से टीकाकारों ने श्रीलक्ष्मी तथा श्रीराधा दोनों को ग्रहण किया है। यहाँ लक्ष्मी के पक्ष में भी दो प्रकार के अर्थ किये गये हैं—(क) क्योंकि लक्ष्मी को तो साक्षात् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु श्रीकृष्ण की विलास-मूर्त्ति नारायण भगवान् के स्वरूप के साथ लक्ष्मीजी विराजती हैं, तब लक्ष्मीजी श्रीकृष्ण भगवान् के चरणों को अपने वक्षःस्थल पर धारण करती हैं– अतः लक्ष्मी के वक्षोज पर भी उनके चरण-कमल विभूषित होते हैं, अथवा (ख) अखिल-भुवनरूप बैकुण्ठधाम में श्रीकृष्ण ही अनेक प्रकार के प्रकाश रूपों से विराजमान रहते हैं, अतः तत्तद् प्रेयसी लक्ष्मीगण के वक्षोज मण्डल को आप के चरण-कमल ही विभूषित करते रहते हैं।

श्रीराधा के पक्ष में—जलधि शब्द से तात्पर्य – श्रीकृष्ण में ऐकान्तिक स्नेह के सागर श्रीवृषभानु बाबा (कृष्णवल्लभा टीका), अथवा–**"जलमाधीयते स्वकिरणैराकृष्य सञ्चीयत इति जलधिर्भानुः"**—जल को अपनी किरणों से आकर्षित कर धारण करने वाले जलधि—'भानु'। ऐसे भानु नामक गोप की कन्या श्रीराधा के वक्षोज पर भूषणस्वरूप श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ!

अन्तरङ्ग लीलापरक अर्थ में—विल्वमङ्गल अपने चारों ओर गोपी-मण्डल का अवलोकन कर कहने लगे—"अहो! यह श्रीकृष्ण केवल श्रीराधा के ही हृदय को विभूषित नहीं कर रहे हैं, अपितु समस्त व्रजयुवतियों के भी वक्षोज-स्थल को विभूषित कर रहे हैं! जैसे सुवर्ण की हारावली के मध्य में मणिपदकखचित हो, उसी भाँति यहाँ युवतिवृन्द ही मानो सुवर्णहारावली हैं, उनके मध्यस्थान—हृदय के ऊपर श्रीकृष्ण मरकत-मणि के महामणि (आभूषण) स्वरूप बनकर विलसित हो रहे हैं! अहो कैसा आश्चर्य है, युगपत् अनन्त गोपियों के साथ तथा श्रीराधा के हृदय पर यह किस प्रकार

विराजमान हैं—यह मन, बुद्धि और वाणी के अगोचर हैं। यह तो केवल गुणगान करने तथा नमन करने के ही योग्य हैं, अतः—'वन्दे'!

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

कान्ताकचग्रहण विग्रहलब्धलक्ष्मी—
खण्डाङ्गरागलवरञ्जित मञ्जुलश्रीः।
गण्डस्थली मुकुर मण्डल खेल मान—
धर्माङ्कुरः किमपि गुम्फति कृष्णदेवः ॥९१॥

पद्यार्थ— **रति विग्रह रस जो राधा के केशग्रह से विकसाया है।**
खंडित कर शृङ्गार-प्रसाधन मंजु मनोहरता लाया है॥
इसके रम्य कपोल मुकुर पर स्वेद-बिन्दु नर्त्तन करते हैं।
किसी अनिर्वचनीय तत्व का कृष्णदेव सर्जन करते हैं॥

भावार्थ—श्रीराधा के केश-ग्रहणरूप रति-कलह में प्राप्त हुई सौन्दर्यनिधि और खण्ड-खण्ड हुए अंगराग के रस से अलंकृत मंजुल मनोज्ञता वाले तथा जिसके कपोल-फलकरूप मुकुर-मण्डल पर स्वेद-बिन्दु क्रीडा कर रहे हैं, ऐसे यह कृष्णचन्द्र किसी अनिर्वचनीय तत्व की सृष्टि कर रहे हैं।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल की दृष्टि से कुछ ही दूरी पर व्रज-ललनाओं के साथ अखण्ड रास-विहार हो रहा है, श्लोक ८७ के कथनानुसार क्षण-क्षण में नवीन-नवीन विहार तथा प्रत्येक गोपी के साथ पृथक-पृथक आलिङ्गन, चुम्बन आदि की क्रिया सतत प्रवहमान है। विल्वमङ्गल के नेत्र इस रासोत्सव का दर्शन कर विस्मित तथा मुग्ध हो रहे हैं। भूखे मनुष्य के आगे जैसे अनेक पदार्थ परोस दिये जाँय तो वह इस विचार में पड़ जाता है कि क्या खाऊँ और क्या न खाऊँ? जैसे वह भोजन के विषय में विमुग्ध हो जाता है, वैसे ही विल्वमङ्गल के सतृष्ण नेत्रों के सन्मुख कोटि-कोटि दामिनी-सम दीप्ति और कोटि-कोटि नील मेघघन के समान एक महामहोज्ज्वल प्रकाशमण्डल चक्रवत् परिभ्रमण कर रहा है, इस भ्रमण में नटन है, गान है, आलिंगन है, चुम्बन है, केश-प्रसाधन है, हस्ताहस्ती है तथा विग्रह और सन्धि आदि विविध विलास हैं। इस प्रकार नवीन-नवीन, विचित्र-विचित्र अनन्त विहारों में से मुख्या श्रीराधाजी के साथ एक विहारान्त छबि का जो दर्शन हुआ है- वह इस श्लोक में वर्णित है।

रासलीला के समय आह्लादिका - श्रीराधा की नृत्य के कारण बल खाती हुई चोटी को पकड़ने की चेष्टा से श्रीकृष्ण चञ्चल हो उठते हैं, तब हस्ता-हस्ती, आदि रति-कलह का क्रीड़ा-द्वन्द आरम्भ हो जाता है, अन्त में परस्पर क्षत-विक्षत होकर श्रीकृष्ण परम शोभा को प्राप्त होते हैं, श्रीराधिका का सिन्दूर, चन्दन, कुंकुम प्रभृति समस्त अंगराग खण्डित होकर श्रीकृष्ण के प्रत्येक अङ्ग में लिप्त हो गया है और क्रीड़ा परायण "देव"—श्रीकृष्ण राधा की इस पूजा से अत्यन्त प्रसन्न होकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, तथा उनके स्वच्छ दर्पण के समान गण्ड-कपोल-स्थल पर सात्त्विक-प्रस्वेद-विन्दु मुक्ता की भाँति झलकाने लगे हैं, इस प्रकार शोभा से युक्त क्रीड़ा-परायण श्रीकृष्ण कोई एक अनिर्वचनीय अद्भुत-माला का ग्रन्थन कर रहे हैं—"**किमपि गुम्फति**"–यह अद्भुत माला क्या है-कौनसी है, यह निश्चय नहीं हो रहा है ? क्या यह छिन्न-मुक्ता-माला तो नहीं है ? जो रासलीला में टूट पड़ी थी ? यह सम्भव है, रासलीला के परिश्रम से परमप्रिया श्रीराधा की जो वेणी खुल गई थी, उस समय मदघूर्णित अलसाये नेत्रों से युक्त श्रीश्यामा, श्रीकृष्ण के गले में भुजा डालकर लिपट गईं, तब गलबाहीं दिये राधा की वेणी—जिसमें से फूल झर रहे हैं, श्रीकृष्ण की दृष्टि के सामने आगई हैं, तब श्रीकृष्ण वेणी में गुथी माला का गुम्फन कर रहे हैं—सम्हाल रहे हैं, उस दृश्य का दर्शन कीजिये—

करते-करते महारास थकी, रस-रासेश्वरी वृषभानु दुलारी ।
खुली वेणी की ग्रन्थि से फूल झरे मुखचन्द्र लटें लटकी सुखकारी ।।
अलसाये हुए दृग दीर्घ झुके, निज वाम भुजा हरि कंध पै धारी ।
नव-नीलम की वरवल्लरी पै, यथा स्वर्णलता लिपटी सुकुमारी ।।

एक और दर्शन कीजिये –

टूट परी मोतिन की माला, बीनत फिरत सकल गुवाली ।
मुकुलित कुसुम माल कच बिलुलित, निरखि हँसत गिरधारी ।।

—परमानन्ददास

अथवा यह कोई परिहास-माला है, जिसकी रचना गोपियों के मर्म-वाक्यों से पराजित होकर नीची दृष्टि किये श्रीकृष्ण माला का गुम्फन कर रहे हैं, अथवा तो लीला-विलास में भग्न मणिमाला के स्थान पर एक विलक्षण–चंचल–मरकतमणि की माला का नवीन उपन्यास कर रहे हैं, अथवा छिन्न-मालती-सुमन-माला के स्थान पर कोई एक फुल्ल–नीलेन्दीवर परम सुगन्धियुक्त माला की कल्पना कर रहे हैं, श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं,

यह कौन-सी माला की रचना हो रही है, यह पुष्पमाला है कि मणि-मुक्ताओं की माला है, अथवा लीला-विलास से उद्भूत क्षण-क्षण में उठने वाले आनन्द की तरङ्ग-माला है ?

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥९२॥

पद्यार्थ— इस विभु का विग्रह मधुर मधुर, मधुराति मधुर वदनाब्द-इन्दु ।
सर्वाधिक मधुर अहा इसका, मधुमेध भरा मुसकान-विन्दु ॥

भावार्थ—इस विभु का समस्त विग्रह मधुर-मधुर है। इसका वदनारविन्द उससे भी अधिक मधुर है और इसकी यह मादक सौरभ से परिपूर्ण मुस्कराहट तो सर्वाधिक मधुर है।

रसिका टीका—श्रीराधिका के साथ क्रीड़ा-परायण श्रीकृष्ण की अदृष्टपूर्व अनुपम माधुरी का दर्शन कर अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर विल्व-मङ्गल बोल उठे कि—इस विभु का विग्रह परम मधुर से भी मधुर है, यह विग्रह विभु (समर्थ व्यापक) होने से समस्त व्रजगोपियों के साथ प्रकाशमान है, तथा यह सहज सौन्दर्य-माधुर्य निधि है, तथापि इस समय श्रीराधा के साथ क्रीड़ाशील विभु का विभुत्व, सौन्दर्य निधि का सौन्दर्यातिशयत्व विशेष वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, अतएव मधुर से सुमधुर बन गया है, यह ऐसा कैसे होगया ? तो श्री राधारससुधानिधिकार के शब्दों में सुनिये—

तन्नः प्रतिक्षण चमत्कृत चारु लीला-लावण्य मोहन महा मधुराङ्ग भङ्गि ।
राधाननं हि मधुराङ्गकलानिधानमाविर्भविष्यति कदा रससिन्धु सारम् ॥

इस श्लोक में श्रीराधा मुख चन्द्र के दर्शन की अभिलाषा प्रकट करते हुए उसकी तीन विशेषताओं की ओर इङ्गित किया गया है—यथा (१) वह मुखचन्द्र "रस सिन्धु का सार" है। लवण सिन्धु से उत्पन्न प्राकृत चन्द्रमा में ही जब इतना माधुर्य है कि लोग उसकी शीतलता में परमसुख का अनुभव करने लगते हैं तो श्रीराधा मुखचन्द्र जो सर्वोत्तम मधुररससिन्धु का सार है, उससे निःसृत अनिर्वचनीय अनुपम माधुर्य का भला कौन निरूपण कर सकता है ? क्योंकि वह मुखचन्द्र तो (२) **"मधुराङ्ग कला निधान"** है अर्थात् मधुराङ्ग श्रीकृष्ण की कला (ककार-लकार युक्त काम बीज) का निधान स्वरूप है, जैसे पूर्ण चन्द्र के उदय होने पर सागर का हृदय उद्वेलित हो उठता है, ऐसे

ही रस-सागर का सार-स्वरूप कोटि-चन्द्रप्रतिम श्रीराधामुखचन्द्र के दर्शन मात्र से ही श्रीकृष्ण का हृदय भी दिव्य प्रेम-कला की उद्दाम भाव-उर्म्मियों से व्याप्त हो जाता है। प्राकृत सागर तो क्षुब्ध होने पर अपने सौम्य स्वभाव को छोड़कर प्रलयंकारी रुद्र बन जाता है किन्तु रस-सागर श्रीकृष्ण का हृदय तो "लीला लावण्य का महामधुराङ्ग" बन जाता है, अर्थात् लीला और लावण्य की नवीन-नवीन तरङ्गों के कारण क्षण-क्षण में मोहित करता है, इसीलिये विल्वमङ्गल ने **"मधुरं मधुरं वपुः"** कहा है, श्री राधानन का तीसरा विशेषण है (३) **"मोहन महा मधुराङ्ग भङ्गि"**–अर्थात् भुवन मोहन श्यामसुन्दर के मधुराङ्ग को त्रिभङ्ग बना देने वाला, उसे दिव्योज्ज्वल मधुर रस में डुबा कर मरोड़ देने वाला और सरल को टेढ़ा बना देने वाला—यह श्रीराधामुख-चन्द्र ही तो है—**"तेरे नैन के मरोर से भये हैं त्रिभङ्गी लाल"**।

ग्रन्थ के २२ वें श्लोक में तथा अन्यत्र भी यह कहा गया है कि श्री-राधा पूर्णिमा तिथि में ही कृष्णचन्द्र की सम्पूर्ण कला प्रकाशित होती हैं और तभी वे सौन्दर्य-माधुर्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। इसीलिये कहा है—

राधा सङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

तात्पर्य यह है कि–श्रीराधा श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, आत्मा हैं, उनके बिना श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला आदि का प्रकाश और प्रभाव अपूर्ण है।

अतएव राधा युक्त कृष्ण के लिये ही विल्वमङ्गल "मधुर मधुर" कह रहे हैं, वह माधुर्य श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग में सामान्य रूप से, मुख और नेत्रों में विशेष रूप से तथा स्मित में अशेष-विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिये 'वपु' के माधुर्य को "मधुर मधुर" दो बार कहा, मुख के माधुर्य को "मधुर मधुर मधुर" तीन बार कहा, तथा मधु-गन्धि स्मित को चार बार में 'मधुर" कहा है।

यह श्यामल तन में मधुर मधुर द्युति झलकत-छलकत प्यारी है।
यह मधुर-मधुर मुख, मधुर महा निरखत ए अँखियाँ हारी है॥
मृदु मुसकान के सौरभ से रस मादक शोभा सारी है।
यह मधुरं है अति मधुरं है, यह मधुर मधुर छवि न्यारी है॥

अथवा प्रथम श्रीविग्रह का दर्शन होने पर विल्वमङ्गल विस्मित एवं

विमोहित होकर बोले—"अहा ! यह श्रीविग्रह मधुर से भी मधुर है, काम-केलि-कला-निपुणा–श्रीराधा के रसोल्लास द्वारा श्रीकृष्ण-वपु का लावण्य उच्छलित होकर अतिशय रमणीय हो उठा है, तथा अंग-प्रत्यङ्ग से ज्योत्स्ना धारा प्रवाहित होकर वृन्दावन को आलोकित कर रही है—

महादिव्यतमस्निग्ध गौरश्याम तनुच्छवी ।
एकैकाङ्गोच्छलत् स्वच्छच्छटौघाच्छन्न दिक् च यौ ।।

—वृन्दावन शतक

श्रीकृष्ण-विग्रह का माधुर्य अनुभव करते-करते जब दृष्टि मुखमण्डल पर पड़ी तो सिर हिलाते हुए विल्वमङ्गल कहने लगे—"नहीं नहीं, यह मुख-कमल ही मधुर से मधुर अत्यन्त मधुर है । यद्यपि मुखारविन्द स्वाभाविक कान्तिविशेष के कारण मधुर से भी मधुर है, परन्तु श्रीराधा के प्रति विशेष दृष्टिपात करने से विशेष वाणी का प्रयोग करने से तथा विशेष–विलास चिह्नों से चिह्नित होने के कारण अतिशय सुमधुर हो गया है ।

विल्वमङ्गल को जब मुख-मण्डल में अधरपल्लवों के अपूर्व मृदुहास्य का अनुभव हुआ तो अपनी तर्जनी अंगुली से संकेत करते हुए बोल उठे—"अहो आश्चर्य ! बस, यह–मृदुस्मित ही मधुर से मधुर और मधुरातिमधुर है—कारण कि यह मधु गन्धि है अर्थात् इसमें मधु भी है, सौरभ भी है । ये स्मित अधरपल्लव मुखकमल पर निवास करते हैं, अतः इनमें कमल का सौरभ तथा मकरन्द है । इसी कारण ये महामादक एवं सर्वमादक होगये हैं अर्थात् इस स्मित में रूप तो है ही, रस भी है, गन्ध भी है और शब्द भी है, श्रीकृष्ण का यह मन्दस्मित एक ही इन्द्रिय को नहीं, चार चार इन्द्रियों को मधुर बना रहा है, अतएव चार बार मधुर पद का प्रयोग हुआ है—

कृष्णाङ्ग लावण्यपूर मधुर होइते सुमधुर ताते सेई मुख सुधाकर ।
मधुर होइते सुमधुर ताहा होइते सुमधुर, ता ते जे स्मित ज्योत्स्नाभर ।।

—चैतन्यचरितामृत

मूल श्लोक अनुष्टुप छन्दः —

शृङ्गाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम् ।
अङ्गीकृम नराकारमाश्रये भुवनाश्रयम् ।।९३।।

पद्यार्थ—**शृङ्गार रस सार सर्वस्व जो हैं; शिखिपिच्छ से शीश अपना सजाया ।**
नराकार आधार जग का निराला, इसी को निजाधार मैंने बनाया ।।

भावार्थ—मनुष्याकृति को धारण करनेवाले और त्रिलोकी के आश्रय इस मोर-मुकुटधारी शृंगाररस सर्वस्व की मैं सर्वात्म भाव से शरण हूँ ।

रसिका टीका—श्रीकृष्ण का यह राधा-संश्लिष्ट, शृङ्गाररसाविष्ट जो स्वरूप है,—यही एकमात्र शृङ्गार रस का आश्रय है, शृङ्गार रस का ही नहीं, सर्व रसों का परम आश्रय भी यही है, सर्वभुवनों का तथा सम्पूर्ण जीवन का परमाश्रय भी है और मेरा भी यह विश्राम स्थान है, इस श्लोक के भाव को एक कविता में इस प्रकार कहा गया है :—

शृङ्गार रस की मूर्त्ति यह, शृङ्गार रस आधार है ।
सिर मोर के द्वै पंख ही, बस शुद्ध रस शृङ्गार है ।।
इन मुख्य कियो रूप अपनो, प्रकट मनुजाकार है ।
यह गोप वेष ये नर वपु ही, 'प्रेम' भुवनाधार है ।।

"**भुवनाश्रयमाश्रये**"—जो समस्त भुवन के आश्रय स्वरूप हैं—"जगत के पिता, माता, धाता और पितामह हैं, ये ही गति हैं, भर्त्ता हैं, प्रभु हैं, साक्षी हैं, निवास हैं, शरण हैं, सुहृद् हैं और प्रभव तथा प्रलय के स्थान भी हैं, अव्यय बीज के निधान भी हैं, (गीता ९-१७-१८) इनके अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है, जिसमें यह सम्पूर्ण दृश्य सूत्र की मणियों की भाँति पिरोया हुआ है" (गीता ७. ७.) जो "**दशमं दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रय विग्रहम्**"—है ऐसे प्रभु श्रीकृष्ण का मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ अर्थात् उनकी सम्यक् प्रकार से सेवा की प्रार्थना करता हूँ, इस "भुवनमाश्रयं" पद से श्रीकृष्ण का परत्व-स्वरूप ,माहात्म्य तथा ऐश्वर्य सूचित किया है ।

—"**किं भुवनाश्रयत्वेनतदाश्रयचरणं प्रार्थ्यते**"—अच्छा तो, क्या ? ये श्रीकृष्ण भुवनाश्रय हैं, जगदाधार हैं ? रुण्ड-मुण्ड-विधाता, एवं अनुग्रहनिग्रह-कारी भी हैं, सम्भव है तुम इसी ज्ञान से, गौरव से, भय से अथवा किसी लोभ से उनका भजन करते हो ? क्या यही है प्रीति का भजन ? प्रेम की साधना अथवा प्रीति के भजन में तो दूसरा कोई कारण बनता ही नहीं ।

नहीं,—मैं रसराज शिरोमणि का नहीं, मैं तो "**शृङ्गार रस सर्वस्वं**"—का परम उपासक हूँ, मूर्त्तिमान शृङ्गाररस एवंरसिकराज की सेवा का प्रार्थी हूँ । इस "**शृङ्गार रस सर्वस्वं**"-पद से श्रीकृष्ण के भगवत्तत्व का माधुर्य सूचित किया है, भगवत्तत्व की परिपूर्णता, ऐश्वर्य-माधुर्य तथा उसके माहात्म्य द्वारा इन त्रिविधतत्वों में होती है । "**भुवनाश्रयं**" तथा "**शृंगार रस सर्वस्वं**"—पद

द्वारा तीनों तत्त्वों की ओर संकेत करके ही श्रीकृष्ण के भगवत्तत्व की परिपूर्णता प्रतिपादन की गई है।

इस श्लोक को श्री रूप गोस्वामी प्रभु ने अपने "उज्ज्वलनीलमणि" ग्रंथ के नायक-प्रकरण में उद्धृत करते हुए कहा है कि–श्रीकृष्ण में धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त, धीरोद्धत, दक्षिण, शठ, धृष्ट प्रभृति समस्त नायकों के गुण वर्तमान हैं अतएव श्रीकृष्ण नायक-शिरोमणि हैं,—शृङ्गार रस के सर्वस्व हैं। श्रीकृष्ण के अवतार का अन्तरङ्ग प्रयोजन रसनिर्यास है, इसी कारण श्रीकृष्ण ने शृङ्गार रस को ही विशेष रूप से कृतार्थ किया है।

श्रीकृष्ण "शृंगाररससर्वस्वं" हैं अर्थात् शृंगार रस ही इनका सर्वस्व है, अतएव शृंगार रस के बिना श्रीकृष्ण का स्वरूप सर्वस्व हीन एक रङ्क के समान हो जाता है—"**सोऽपि गत सर्वस्व रङ्क इव भवतीति व्यज्यते**"—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस के बिना श्रीकृष्ण का स्वरूप श्री-सम्पद-शून्य है, इसी प्रकार से दूसरा भाव यह है—

शृंगार रस के सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं—इनके बिना शृंगार रस भी अपने को व्यर्थ असफल ही समझता है—"**शृङ्गाररसोऽपि तं विना स्वस्य वैयर्थ्यं जानातीति**"—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती।

प्रथम अर्थ में शृङ्गार रस श्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुग्राहक अथवा निर्वाहक है, द्वितीय अर्थ में श्रीकृष्ण ही शृंगार रस के अनुग्राहक तथा निर्वाहक बन गये हैं, प्रथम अर्थ स्वरूपपरक है, द्वितीय अर्थ लीलापरक है, अथवा प्रथम अर्थ—माधुर्यमूलक है, द्वितीय अर्थ—ऐश्वर्यमूलक है।

गीत गोविन्द के रचयिता—श्री जयदेव जी ने भी श्रीकृष्ण को मूर्त्तिमान शृङ्गार रस कहा है—

"**शृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति**"

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती चरण भी यही कहते हैं—

शृङ्गाराख्यो मधुर मधुरः सोऽपि दिव्यो रसेन्द्रः।
साक्षात् वृन्दावन रसभुवि महादिव्य–माधुर्य सीमा॥

रसधाम श्रीवृन्दावन में महादिव्य-माधुर्य सीमा को प्राप्त एक त्रिलोक-विलक्षण मधुरातिमधुर दिव्यअलौकिक शृंगाराख्य रसिक चूड़ामणि विराजमान है।

चाहे जिस तरह भी समझलो, तात्पर्य यह है कि–श्रीकृष्ण उभयार्थ में

'शृङ्गार रस सर्वस्व' हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के बिना शृंगार रस निष्फल है, और इसके बिना श्रीकृष्ण भी अधूरे से हैं। इस रस का एक अश्रुतपूर्व परिचय श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती महोदय ने अपने "वृन्दावन महिमामृत ग्रन्थ के" दो श्लोकों में इस प्रकार से दिया है—

कदाचिच्छ्री वृन्दावन उदित तीव्रोन्मदरसा-
कृतौ कामापूर्त्या वहलरति खेलाभिरपि तौ।
निजेच्छातोऽनन्तोदित वरतनू तन्नवलता—
गृहेऽनन्तेऽनन्त स्मर रसविलासौ व्यहरताम् ।।—१४-४४

किसी समय वे दोनों अपने काम की अपूर्त्ति के कारण, अतिशय रस केलि की प्राप्ति के लिये, श्रीवृन्दावन में उदित-तीव्रोन्मादपूर्णरसाकृति होकर स्वेच्छा से अनन्त विग्रह धारण कर, अनन्त नव निकुञ्जों में, अनन्त भाव से सुशोभित होकर अनन्त काम-रस-विलासी युगल-किशोर ने विहार किया था।

यदा राधाकृष्णौ प्रबल रसतृष्णौ द्वय तया,
न पूर्णावानन्त्यं निजनवृणुतामन्यगमपि ।
तदैव श्रीवृन्दावन उरु मदोच्छ्वल मनो—
भवा खेले खेला रस मदनुतां रास वलये ।।—१४-४५

जब प्रबल रसतृष्णा से युक्त राधाकृष्ण, युगल रूप से पूर्णकाम न हो सके, तब उन्होंने अनन्तता का वरण किया और अपनी अनन्त प्रकाश मूर्ति प्रकट कीं, इसी प्रकार स्वकीय गणों की भी अनन्त मूर्ति प्रकाशित कीं, तब उन दोनों ने श्रीवृन्दावन में सदातिशयता के कारण अत्युन्मर्यादित रंगस्थली रासमण्डल में क्रीडा-रस का विस्तार किया था। इसी अति विमर्यादित रास-रङ्गोत्सव के कारण ही श्रीराधा "स्वयं रति" स्वरूपा तथा श्रीकृष्ण ही "स्वयं कामदेव" प्रतीत होते थे।

रतिः सास्याद्राधा सकल जडचिल्लोक परमा,
रमाद्यत्याश्चर्याऽम्बुज दृगनिशं प्रार्थ्य दृगनुः।
स्मरः साक्षात्कृष्णोऽनवधि रति तृष्णोऽखिल परः,
परेशः प्रोन्मीलद्रुचि जलधि वर्द्धक रुगणुः ।।—११-४६

अर्थात् समस्त चिदचिदात्मक लोकों में परमश्रेष्ठा रमा प्रभृति अत्याश्चर्यवती कमलनयनी देवी गण भी जिनकी किञ्चित् कृपा दृष्टि के लिये प्रार्थना करती रहती हैं, वह श्रीराधा साक्षात् रति रूपा हैं। तथा वैकुण्ठा-

धिपति प्रभृति में प्रकाशमान कान्ति समूह का जो अपनी एक अणु-किरण से सम्वर्धन करता है और जो निःसीम रति-विलास की लालसा से युक्त है—वह सर्वश्रेष्ठदेव श्रीकृष्ण ही साक्षात् कामदेव हैं। 'कृष्णयामल' ग्रंथ में भी वृन्दावन के रास-महोत्सव को ही नित्य विहार कहा है—

तया सह विहारो यः कृष्णस्य परमात्मनः।
स एव उपनिषद्भिस्तु नित्यानन्द इतीर्यते॥

श्रीराधा के साथ परमात्मा श्रीकृष्ण के नित्य बिहार को ही उपनिषदों में नित्यानन्द के नाम से कहा गया है।

स्थानं नित्य विहारस्य ख्याते वृन्दावने वनम्।
यत्र नित्यं विहरति कृष्णो राधिकया सह॥

इस नित्य विहार के स्थान का नाम ही वृन्दावन है, जहाँ श्रीकृष्ण राधा के साथ नित्य बिहार करते हैं।

आविर्भाव द्वापरान्ते विहारस्य करोति सः।
अन्यदन्तर्हितो नित्यं विहारं कुरुते प्रभुः॥

द्वापरान्त में वे प्रभु इस नित्य विहार को जगत् में प्रकट करते हैं तथा अन्य समय में यह विहार अन्तर्हित रूप से नित्य होता रहता है।

कुञ्जे कुञ्जे चतुर्वेदा पुराणा भ्रमरा कुले।
वैकुण्ठादपि सङ्गोप्यं सम्भोगस्थितमीश्वरम्॥

यहाँ इस वृन्दावन की कुञ्ज-कुञ्ज में चारों वेद तथा पुराणादि शास्त्र भ्रमरों के रूप में भ्रमण करते रहते हैं, इस नित्य विहार के ईश्वर की स्थिति वैकुण्ठादि लोकों से भी अधिक गोपनीय है।

सर्वं रहस्यं कृष्णस्य प्रोक्तवान्नारदः पुरा।
वेदव्यासाय विविधान् राधिका कृष्णयोर्गुणान्॥

पूर्व काल में नारद ऋषि ने वेदव्यासजी के लिये श्रीकृष्ण के समस्त रहस्यों को एवं राधिका-कृष्ण के गुण तथा चरित्रों का वर्णन किया था।

गोपयित्वा ततो व्यासः पुराणादिषु केवलम्।
कृष्ण लीलां निजगदे न राधा संश्रितां कथाम्॥

परन्तु वेदव्यासजी ने राधातत्व को गोपनीय समझकर ही पुराणों में केवल कृष्ण लीला का ही वर्णन किया है, राधा कथा का कहीं भी वर्णन नहीं किया।

इन उद्धरणों से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही प्रमाणित करना है कि भगवान श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य तथा माहात्म्य के अतिरिक्त एक महामाधुर्य-मय शृंगार-रस का स्वरूप भी है, जो अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है, तथा वह विशुद्ध प्रेमा-रागानुगा भक्ति के द्वारा ही जीव के हृदय में प्रकट होता है। ज्ञान, योग तथा अन्य उपासना मार्गों के द्वारा वह सर्वथा सुदुर्गम है।

"शृंगार-रस-सर्वस्वं"—के प्रथम अर्थ का विवेचन, अर्थात् शृंगार-रस श्रीकृष्ण का सर्वस्व है इसका विचार यहाँ तक हुआ है, यह इसका माधुर्य पक्ष है। अब द्वितीय अर्थ का विवेचन करना है, अर्थात् शृंगार-रस का सर्वस्व भी श्रीकृष्ण ही हैं, यह इसका ऐश्वर्यमय पक्ष है। इसका विचार यह है कि—श्रीकृष्ण के द्वारा ही शृंगार-रस कृतार्थ हुआ है, कारण कि जिस काम को नरक का उन्मुक्त द्वार कहकर शास्त्रों ने सर्वत्र निन्दा की है—वह काम श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से पञ्चम पुरुषार्थ 'प्रेम' की पदवी को प्राप्त हो गया है, इसका नाम है सम्बन्ध चमत्कार! जैसे पारसमणि के सम्बन्ध से लोहा कञ्चन हो जाता है गङ्गा के सम्बन्ध से जैसे नाले का जल भी परम पवित्र हो जाता है, अग्नि के सम्बन्ध से जैसे मलिन वस्तु भी अग्निरूप बन जाती है, वैसे ही भगवान के सम्बन्ध से दुष्कर्म भी सत्कर्म, और अधर्म भी धर्म बन आता है।

सम्बन्ध दो प्रकार का होता है–आश्रय-सम्बन्ध तथा विषय-सम्बन्ध। जिसमें क्रिया रहती है—उसका नाम आश्रय है, जिसके प्रति क्रिया होती है–उसका नाम विषय है। अर्थात् कर्त्ता का नाम आश्रय है, और कर्म का नाम विषय है, आश्रय और विषय, कर्त्ता और कर्म—जहाँ एकमात्र श्रीभगवान ही हैं, वहाँ भले-बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कुछ भी उनके लिये किया जाता है, वह सब "सत्यं शिवं तथा सुन्दरं" है, वही परमधर्म है। कर्म-अकर्म तथा धर्म-अधर्म का प्रश्न तो वहाँ उठता है, जहाँ आश्रयकर्त्ता और विषय-कर्म एकमात्र जीव में ही रहते हों।

हाँ तो भगवान् के साथ सम्बन्ध जुड़ने से विषय-विकार भी निर्मल हो जाते हैं, इसीलिये नारदजी ने भी भक्तिसूत्र में कहा है—

"तदर्पिता खिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकमपि तस्मिनेव करणीयम्"

काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अभिमान आदि भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाँय—तो सर्वोत्तम है, अन्यथा भगवान् के चरणों में सर्वस्व समर्पण के समय मानसिक विकारों को भी भगवान् में अर्पण कर दो। जब सर्वेन्द्रियाँ

हरिप्रीत्यर्थ हरिसेवा में तत्पर हो जायेंगी तो चित्त के विकार भी कृष्णरूप तथा कृष्णमय हो जायेंगे।

शुकदेवजी राजा परीक्षित को रासविलास की कथा सुना रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्द्धरात्रि के मध्य में वंशी बजाई तो प्रेयसी व्रज-गोपीगण जैसी-की-तैसी ही दौड़ी चली आईं। पति-पुत्र, पिता, भाई-बन्धु कोई भी उनको नहीं रोक सका। हाँ! कुछ गोपियों को उनके पतियों ने अवश्य रोक लिया था, इस पर उन्होंने श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए अपने गुणमय शरीरों को त्यागकर दिव्य देह से नित्यलीला में प्रवेश पा लिया था, क्योंकि प्रियतम श्यामसुन्दर के दुःसह विरह के तीव्र-ताप से व्रजाङ्गनाओं के समस्त अशुभ दूर हो गये थे—

दुःसहप्रेष्ठ विरहतीव्रतापधुताशुभाः। ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेश निर्वृत्याक्षीणमंगला॥
तदेवपरमात्मानं जारबुद्धचापि संगता। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

—भागवत १०-२९-१०-११

यह सुनकर परीक्षित ने शंका उठाई—"भगवन्! वे गोपियाँ तो श्रीकृष्ण को ब्रह्म अथवा भगवान रूप से नहीं जानती थीं, वे तो उनको प्राणनाथ! नन्दनन्दन के रूप में ही पहचानती थीं, फिर वे त्रिगुणात्मक देह से मुक्त होकर दिव्यरूप को कैसे प्राप्त हो गईं?" तब शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को भजन की पद्धति का उपदेश करते हुए कहा—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

—भागवत १०-२९-१५

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकात्मभाव और सुहृदभाव—इनमें से किसी एक भाव को लेकर भगवान के साथ नित्य-निरन्तर सम्बन्ध स्थापित करने से चित्त निश्चय ही तन्मयता को, तद्रूपता को प्राप्त होता है, अर्थात् कृष्णरूप हो जाता है—जैसे अग्नि में पड़ी हुई कोई भी वस्तु अग्निरूप हो जाती है। नारदजी भी इसी बात को युधिष्ठिर के प्रति दृष्टान्त देते हुए समझाते हैं—

कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद् यथाभक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

—भागवत ७-१-२९

जैसे भक्ति के द्वारा भगवान् में चित्त आविष्ट हो जाता है, वैसे ही काम के द्वारा, शत्रुता के द्वारा, भय के द्वारा, द्वेष के द्वारा तथा स्नेह के द्वारा चित्त का आवेश भगवान् में संलग्न हो जाने से अनेक जन दोषमुक्त होकर श्रीकृष्ण को प्राप्त हो गये, जैसे—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥
कतमोऽपि न वेनः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्माद् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्॥

—भागवत ७-१-३०-३१

गोपियों ने कामभाव के द्वारा, कंस ने भय के द्वारा, शिशुपाल रावण आदि ने बैर के द्वारा, यादवों ने सम्बन्ध के द्वारा, तुम लोगों ने (पाण्डवों ने) स्नेह के द्वारा तथा हम लोगों ने (नारद आदि ऋषियों ने) भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण के पद को प्राप्त किया है। अतएव हे राजन्! केवल भगवान श्रीकृष्ण के लिये ही जैसे बने, तैसे मन में एक आवेश उत्पन्न कर मन को श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना चाहिये—

श्रीकृष्ण ने स्वयं कात्यायनी व्रतपरायणा-पुण्यतमा गोपकन्याओं के प्रति कहा है—

न मय्यावेशित धियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायोबीजाय नेष्यते॥

—भागवत १०-२२-२६

हे गोपियो! जिस 'काम' का सम्बन्ध मुझसे हो जाता है, वह 'काम' फिर 'काम-वासना' नहीं रह जाती, वह 'काम' ही प्रेम-रूप में परिणत हो जाता है। 'काम' का कार्य है—संसार की सृष्टि करना। परन्तु मुझसे जिस काम का सम्बन्ध होता है, उसका बीज जलकर नष्ट हो जाता है, अतएव वहाँ संसार की उत्पत्ति न होकर उसका लय होने लगता है, जैसे अन्न को भून लेने पर उसका बीज जल जाता है और वह फिर बोने योग्य नहीं रहता, और यदि उसको गुड़ के रस में उबाल लिया जाय—तो वह खाने योग्य वस्तु गुड़धानी बन जाती है, इसी प्रकार काम तभी तक संसार को उत्पन्न करने वाला नरक का द्वार है, जब तक उसका आश्रय और विषय जीव से सम्बन्धित है। परन्तु जब उस काम का सम्बन्ध मुझ भगवान से हो जाता है, अर्थात् जब मैं काम का कर्त्ता—आश्रय अथवा काम का कर्म—

विषय बन जाता हूँ, तब वही काम गुड़धानी की भाँति मेरे भोग की परम आस्वाद्य वस्तु बन जाती है। तब कामदेव का कामत्व सफल हो जाता है, शृङ्गार-रस के मुख पर संसारी जीव ने जो कालिमा पोत रक्खी है, वह धुल जाती है, और काम का मुख उज्ज्वल हो जाता है। तब वह शृंगार-रस 'शुचि' पवित्र होकर श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है और श्रीकृष्ण को ही अपना प्राण-जीवनाधार मानकर एकमात्र उनको ही अपना परम इष्टदेव मानकर अनादि काल से अनन्त-सेवा कर रहा है और अनन्त काल तक सेवा करता रहेगा—यह "शृंगार-रस सर्वस्व" है!

राधा माधवयोरेव शृंगारः शुति रोचकः।
वैदग्ध्यं यत्र पर्याप्तं, कृतार्थश्च मनोभवः॥

—अलङ्कार-कौस्तुभ

श्रीराधा-कृष्ण का ही शृङ्गार-रस श्रुति-मनोहर है, उनकी शृङ्गार-रस केलि, चातुर्य कला से पूर्ण है, तथा कामदेव का कामत्व भी यहीं कृतार्थ हुआ है। यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग अन्य-व्यवच्छेदक है अर्थात् 'पार्थ एव धनुर्धरः', 'शिव एव गङ्गाधरः', 'कृष्ण एव वेणुधरः' की भाँति शृङ्गार-रस भी एक मात्र राधाकृष्ण में ही सुनिश्चित रूप से सुशोभित है, अन्यत्र तो प्राकृत शृङ्गार रस है, उसकी 'शृङ्गार रस' संज्ञा भी व्यर्थ है, क्योंकि प्राकृत 'शृंगाररस तो प्रारम्भ होता है, उसमें तो मध्यान्तर भी है और अन्त में एक दिन उसका अन्त भी हो जाना है, अतएव वह रस नहीं, रसाभास है, वह तो विकृत रस है। राधा-माधव के शृंगाररस का न आदि है, न मध्य है और नहीं यहाँ कभी अवसान ही है, अतएव यही शृङ्गार रस यथार्थ है, श्रुतिमनोहर है, अनन्त-असीम और चातुर्यपूर्ण है, तथा काम साफल्य भी यहीं है।

सदा एक रस एक अखंडित अनादि आदि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल-स्वरूप॥ --सूरदास

अतएव शृङ्गार रस का सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं, तथा शृङ्गार रस श्रीकृष्ण का सर्वस्व है। श्रीकृष्ण मूर्त्तिमान् शृङ्गार रस हैं, इसलिये उनका श्यामवर्ण, किशोरवयस तथा उनकी दिव्य शोभा माधुर्य को सूचित कर रहे हैं।

"**शिखि पिच्छ बिभूषणम्**"—श्रीकृष्ण अपने मस्तक पर मोर पंख का मुकुट धारण करते हैं, जैसे श्रीकृष्ण स्वयं विशुद्ध शृंगार रस की मूर्त्ति हैं,

वैसा ही विशुद्ध शृंगार रस का द्योतक उनका मोर पंख का शिरोभूषण भी है। मोरपंख को मस्तक पर धारण कर भगवान् मानो तो अपने शृंगार-रस की विशुद्धता तथा उज्ज्वलता की घोषणा कर रहे हैं, ऐसा लगता है कि—श्रीकृष्ण के मुकुट पर ये मोर पंख नहीं हैं, अपितु यह उज्ज्वल शुचिशृंगार-रस की उड्डीयमान पताका लह-लहा रही है, (देखिये पूर्व श्लोक चतुर्थ में "वर्होत्तंस विलास" की व्याख्या) "कृष्णवल्लभा" टीकाकार यहाँ लिखते हैं कि "श्रीकृष्ण स्वयं भूषण के भी परम भूषण होने के कारण उनके श्रीअङ्ग पर हार, केयूर कंकण, नूपुर आदि भूषण-भूषण नहीं कहलाते, केवल एक मयूरपुच्छ को ही श्रीकृष्ण के अङ्ग पर भूषण का पद प्राप्त होता है, कारण यह है कि मयूरगण श्रीकृष्ण को श्याममेघ समझकर प्रेमोन्माद में नृत्य करने लगते हैं, उस समय उनके अङ्ग से जो पंख गिरते रहते हैं, श्रीकृष्ण उनको प्रीति का उपहार समझ कर अपने मस्तक पर धारण कर उसको 'भूषण' की पदवी प्रदान करते हैं। इसीलिये यह मयूर-पिच्छ विशुद्ध-शृंगाररस तथा विशुद्धप्रीतिरस का द्योतक है।

इसके अतिरिक्त यह मयूर पिच्छावतंस, गोपवेष का व्यञ्जक भी है। गंगाधर-महादेव, कौस्तुभधर-विष्णु की भाँति मयूर-पिच्छ भी गोपाल श्रीकृष्ण का एक असाधारण भूषण है।

कृष्णेर जतो लीला, सर्वोत्तम नर लीला नरवपु ताहार स्वरूप।
गोप वेष वेणु कर, नवकिशोर नटवर, नरलीला होय अनुरूप॥

—चैतन्य-चरितामृत

"**शृंगार रस सर्वस्वं**" पद से श्रीकृष्ण का स्वरूप तथा उनकी लीला का प्रकार सूचित होता है और "**शिखिपिच्छ विभूषणम्**" पद से श्रीकृष्ण की स्वभावगत गोप जाति तथा वेष की सूचना मिलती है, आगे उनकी नित्य नराकृति का वर्णन भी देखिये—

"**अंगीकृत नराकारम्**"—"**स्वरूपेण सदा गृहीतो नराकारो येन**" स्वभाव से स्वरूप से ही जिन्होंने नर की आकृति को अनादि काल से अनन्त काल तक के लिये धारण कर रक्खा है, अर्थात् श्रीकृष्ण सदा-सर्वदा निज स्वरूप से ही नित्य नराकार हैं।

वार्ष्णेयः सात्वतां श्रेष्ठः शौरिर्यदुकुलेश्वरः।
नराकृति परं ब्रह्म सव्यसाचि वरप्रदः॥

—पद्मपुराण उत्तरखण्ड

वृष्णिवंशोद्भव, यादव श्रेष्ठ, शूरसेन के वंशधर, यदुकुल के ईश्वर, अर्जुन के वर प्रदाता, परमब्रह्म सदा ही अपने स्वरूप-नराकृति में सुशोभित होते हैं।

यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्व पापैः प्रमुच्यते।
यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृतिः॥

—विष्णुपुराण ४-११-१४

जिस वंश में कृष्णाख्य नाम नराकृति रूप में परम ब्रह्म अवतीर्ण हुए हैं, उस यदु वंश का श्रवण करने से नर सर्व पापों से विमुक्त हो जाता है।

यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥

—भागवत ७-१०-४८

श्रीनारद ने युधिष्ठिरजी से कहा कि—मनुष्य लोक में तुम बड़े भाग्यवान् हो, कारण कि लोक को पवित्र करने वाले मुनि गण तुम्हारे गृह में आगमन करते हैं, क्योंकि तुम्हारे घर में मनुष्य चिह्नधारी साक्षात् परम ब्रह्म प्रच्छन्न रूप से निवास करते हैं।

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रंपरमानन्दं पूर्णब्रह्मसनातनम्॥—भागवत १०-१४-३२

ब्रह्माजी ने कहा—'अहो! नन्द गोप के इन व्रजवासियों का क्या अनिर्वचनीय सौभाग्य है कि—परमानन्द पूर्णब्रह्म जिनका सनातन मित्र है, अपनी इसी स्तुति में ब्रह्माजी ने यह भी कहा है कि- हे भगवन्! प्रथम तो आप अकेले ही गोपाल थे, अब तो आप व्रज के समस्त बालक तथा वत्स के रूप में अनन्त गोपाल बन गये हैं।

वही आप अद्वयब्रह्म रूप एक ही हैं, यहाँ नराकृति श्रीकृष्ण स्वरूप को ही ब्रह्माजी 'अद्वय ब्रह्म' कह रहे हैं। इसी प्रकार नराकार द्विभुज कृष्ण रूप से ही अनेकानेक चतुर्भुज कृष्ण (नारायण) का आविर्भाव हुआ—और अन्त में इसी द्विभुज रूप में ही उन सबका प्रवेश हो गया। अतएव यह नराकार द्विभुज कृष्ण रूप ही "स्वयं" भगवान् का मूल मुख्य रूप है। इसी आशय को लेकर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय ने—"**अङ्गी कृत नराकारं**" का अर्थ यह किया है—"**अङ्गी मुख्यस्तथा भूतोकृतो नराकारो येन**" श्रीकृष्ण ने अपने इस द्विभुज रूप को ही अङ्गी—अर्थात् मुख्य रूप बताया है, तथा देवाकार चतुर्भुज नारायण, मत्स्याकार, कूर्माकार आदि भगवत्स्वरूपों को

अङ्गी बताया है, तात्पर्य यह है कि द्विभुज श्रीकृष्ण ही यथार्थ में नराकार परब्रह्म हैं, स्वयं स्वेच्छारूप हैं, तथा समस्त अवतारों के अङ्गी एवं अंशी हैं,— **"एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"—भागवत १.३ २८**

श्रीकृष्ण स्वरूप की श्रीवृन्दावनधाम में नित्य स्थिति तो सर्वत्र शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है, गोपालतापिनी उपनिषद् की श्रुति में ब्रह्माजी की उक्ति इस प्रकार है—**गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं स मरुद्गणोऽहं तोषयामीति" पूर्वतापिनी ५६ वीं श्रुति।** अर्थात् "सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्द वृन्दावन में कल्पवृक्ष के मूल में सदा सर्वदा विराजमान रहते हैं। वे पंच-पदात्मक श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्रमय हैं। मैं (ब्रह्मा) मरुद्गणों के साथ स्तुति द्वारा सदा उनका सन्तोष करता रहता हूँ।"

इसी गोपालतापिनी श्रुति में सनकादिक मुनिगण ब्रह्मा जी से अष्टादशाक्षरी मंत्र की स्वरूप-जिज्ञासा करते हैं, तब ब्रह्माजी कहते हैं कि— "हे पुत्रगण! एक परार्द्धकाल पर्यन्त मैं उन व्रजेन्द्रनन्दन का ध्यान तथा स्तुति करता रहा—तब परार्द्धान्त में **"गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्भूवेति"** गोपवेश में वे परब्रह्म गोपाल मेरे सन्मुख प्रकट हुए थे (पूर्व तापिनी २१ वीं श्रुति)।

पद्मपुराण के निर्माण खण्ड में श्रीभगवान और वेदव्यास के सम्वाद में कहा है—

पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेद गोपितम्।
ततोऽपश्यमहं भूप! बालं कालाम्बुद प्रभम्।
गोपकन्या वृतं गोपं हसन्तं गोप बालकैः॥

भगवान् ने वेदव्यासजी को अपना गोपनीय दर्शन कराया था, उन्होंने कहा – मैंने श्यामवर्ण मेघ के समान प्रभावशाली एक गोप बालक का दर्शन किया है, वे गोप कन्याओं के द्वारा वेष्टित थे तथा गोपाल बालकों के साथ हँस रहे थे।"

अब व्रज के सिद्ध रसिक सन्त श्री सूरदास जी की वाणी का अनुभव भी सुनिये—

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल स्वरूप॥
सकल तत्त्व, ब्रह्माण्ड, देव, पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति रूप, श्रीपतिनारायण, सब हैं अंश गोपाल॥—सूरदास

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि—"निराकार-ब्रह्म साकार भगवान् बन कर जगत् में आता है और भक्तों का कार्य सम्पादन करने के पश्चात् अवतार रूप का त्याग कर फिर पूर्ववत् निराकार हो जाता है"—यह सिद्धान्त भक्ति तथा उपासना के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि भगवान का कोई भी रूप बनता नहीं, और नहीं उनका कोई रूप विकृत ही होता है, भगवान के सभी रूप सदा एक रस रहते हैं, बनने-बिगड़ने से तो उनमें विकार उत्पन्न हो जायेगा-जो भगवान के अविकारी चिन्मय-स्वरूप के विरुद्ध है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये श्री जीव गोस्वामी कृत "श्रीकृष्ण सन्दर्भ" द्रष्टव्य है!

यहाँ नराकार श्रीकृष्ण कहने से प्राकृत—नराकार की भ्रान्ति न हो जाय—इसलिये "भुवनाश्रयम्"—पद का प्रयोग किया गया है, द्विभुजधारी श्रीकृष्ण मनुष्य की भाँति नराकृति होने पर भी विभु हैं, व्यापक हैं। अतएव प्राकृत-अप्राकृत समस्त भुवन-समूह के आश्रय स्वरूप,-'आश्रिताश्रय विग्रह'-हैं! भगवान् निराकार रूप से तो व्यापक हैं ही, नराकार रूप से भी उसी भाँति व्यापक हैं अतएव वे अखिल भुवनाश्रय हैं। यह सिद्धान्त श्रीयशोदा माँ को मुख में विश्व रूप का दर्शन देकर, तथा दामबन्धन-लीला में एक वितस्त परिमित कटि में बँधनेवाली सहस्रहस्त-परिमित रज्जु को दो अंगुल न्यून दरशा कर, तथा ब्रह्ममोहन-प्रसङ्ग में ब्रह्मा को अपने श्रीअङ्ग के एक लोमकूप में अनन्त ब्रह्माण्डों को परमाणु के समान सावकाश उड़ते हुए दिखला कर निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया कि—भगवान नराकार में भी व्यापक एवं अखिल भुवनाश्रय हैं। मनुष्याकार में प्रकट होकर भगवान-श्रीकृष्ण भक्तों का मार्ग दर्शन करते हैं, यह बात इस श्लोक से स्पष्ट है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

—भागवत १०-३३-३७

प्राणि मात्र के ऊपर अनुग्रह करने के लिये भगवान् ने मनुष्य देह को प्रकट किया है और वे ऐसी लीलाओं को करते हैं कि—जिनका दर्शन-श्रवण कर मनुष्य उनकी भक्ति में संलग्न हो जाता है।

श्रीधर स्वामी पाद की टीका में शङ्का व्यक्त की गई है—"क्यों जी? आप्तकाम भगवान् ऐसे निन्दित कर्म में क्यों प्रवृत्त होते हैं?—इसके उत्तर में ही शुकदेवजी ने कहा है—**'अनुग्रहाय भूतानामित्यादि'** अर्थात्—"**श्रङ्गार रसा-**

कृष्ट चेतसोऽतिबहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्तुमिति भावः"—शृङ्गार रस के प्रति आकृष्ट चित्त वाले बहिर्मुख जनों को आकर्षित कर अपने स्वरूप में चित्त को आविष्ट करने के लिये ही प्रभु की यह लीला है, इसका नाम है—भगवान का "अनुग्रह" ! "**भगवानपि ता रात्रीः**"—की टीका में भी यही बात कही है—**शृङ्गार कथा व्यपदेशेन विशेषतो निवृत्ति परेयं पञ्चाध्यायीति**"—यह रास पञ्चाध्यायी की शृंगार-कथा शृंगार रस के माध्यम से भक्तों के आनन्द के लिये तथा जगत के जीवों को विशेष रूप से निवृत्ति परायण करने के लिये ही कही गई है, अर्थात् प्रथम चित्त को रस के द्वारा आकर्षित कर अपने में तन्मय कर लेना, फिर उसके प्राकृत त्रिगुणात्मक विकारों को दिव्य एवं चिन्मय आनन्दमय बना देना—लोक दृष्टि से रासलीला का यही उद्देश्य है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय भी अपनी टीका में लिखते हैं कि—भगवान् की अन्य लीलाओं से भी विलक्षण इस मधुररस की लीला में "ताहशी शक्ति"—अर्थात् मणि-मन्त्र-महौषधि की भाँति कोई एक अतर्क्य शक्ति है। अन्य टीकाकारों ने भी "तादृशी" शब्द में मनुष्य की जैसी क्रीड़ा होते हुए भी भगवान् की क्रीड़ा को अनिर्वचनीय सर्वाकर्षिणी तथा श्रेयस्कर बतलाया है, यह मधुरलीला विषयी, मुमुक्षु, साधकसिद्ध पर्यन्त के चित्त को ही नहीं, अपितु नास्तिक म्लेच्छों के चित्त को भी आकर्षण कर तत्पर कर लेती है। "**भजते तादृशी क्रीडा**"—से यह आशय भी निकलता है कि भगवान अपने नित्य विहार की क्रीडा को जीवों पर अनुग्रह करने के लिये भी प्रकाश करते हैं, भगवान स्वयं भी कहते हैं—**मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः—पद्मपुराण**। "मैं अपने भक्तों के विनोद के लिये ही विविध-क्रीड़ाओं को करता हूँ।

ऐसे जो शृंगाररस के सर्वस्व हैं, अथवा शृंगाररस ही जिनका सर्वस्व है, जिन्होंने मयूर-पिच्छ को शिरोभूषण बना लिया है, जो नराकार रूप से नित्य विराजमान हैं, और जो सर्व भुवन के आश्रय हैं, मैं उन श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

मूल श्लोक इन्द्रवज्रा छन्दः—

नाद्यापि पश्यति कदापि निदर्शनाय,
चित्ते तथोपनिषदां सुदृशां सहस्त्रम्।
सत्यं चिरान्नयनयोरनयोः पदव्यां—
स्वामिन् कयानु कृपया मम संनिधत्से ॥९४॥

पद्यार्थ— गोपी - भाव भरे उपनिषद - समूह बिचारे ।
जबकि निदर्शन - हेतु ध्यान धर तेरा हारे ।।
वही आज हो रहा अतिथि मेरे नयनों का ।
कैसा है तू कृपा - कल्पतरु तुच्छ जनों का ।।

भावार्थ—आपकी यह कौन-सी अहैतुकी कृपा है, जिसके कारण आप मेरे इन नयनों के सम्मुख उदय हुए हैं, जब कि व्रजगोपियों के भाव वाले उपनिषद् समूह निदर्शन के लिए प्रयत्न करने पर भी अब तक आपके स्वरूप को अपने मन में स्थिर नहीं कर पाये हैं ।

रसिका टीका—श्रीकृष्ण की अलौकिक माधुर्यमयी मूर्त्ति के दर्शन से विल्वमङ्गल को विस्मय हुआ, अपने सौभाग्य पर गर्व हुआ । अब आनन्द के कारण हर्ष हो रहा है, वे आनन्दोन्मत्त होकर परमाश्चर्य के साथ श्रीकृष्ण से मानो जिज्ञासा करते हुए कहने लगे हैं—

हे जगत के स्वामी ! हे सर्वोत्तम पुरुषोत्तम ! आपकी यह कैसी अद्भुत कृपा है कि—जिस कृपा के बल पर आज मुझे साक्षात् दर्शन हो रहे हैं ? स्फूर्त्तिमात्र नहीं, अपितु **'चिरम्'**—दीर्घकाल से दर्शन हो रहे हैं । ध्यान में नहीं अपितु **'नयनयोरनयोः'** इन्हीं प्राकृत पुरुष देह के प्राकृत नेत्रों से दर्शन हो रहे हैं । यह सुदुर्लभ—सौभाग्य मुझे कौन-सी अद्भुत कृपा के कारण प्राप्त हो रहा है, नाथ !

क्यों, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तुम्हारी देह प्राकृत है तो क्या ? तुमने तो गोपीभाव का आश्रय लिया है ? अतः गोपीभाव वालों के लिये तो भगवान् का यह दर्शन सुलभ हो जाता है ।

नहीं–स्वामिन् ! नहीं, केवल गोपीभाव का आश्रय ग्रहण करने मात्र से ही दर्शन नही मिलता, यदि ऐसा होता तो आपके वेणुनाद से सहस्र-सहस्र सुलोचना—देवकन्या तथा मुनिकन्याओं में गोपीभाव की प्रबल आकांक्षा हो उठी थी, परन्तु उनको अद्यापि आपकी प्राप्ति तो क्या—गोपीभाव भी प्राप्त नहीं हुआ । सुनते हैं कि श्रीलक्ष्मीजी आपके मदनमोहन रासस्वरूप का दर्शन पाने के लिये आज तक यमुना किनारे तपस्या में संलग्न हैं, और—**"सुदृशामुपनिषदां चित्ते"**—अर्थात् सुन्दर ज्ञान-दृष्टि वाले उपनिषद् समूह भी आपकी रासलीला का दर्शन पाने के लिये चिरकाल से साधना में तल्लीन हैं, पर उनके चित्त में एक क्षण के लिये भी आपके उस रूप का उदय नहीं

होता। दर्शन तो दूर की बात है—उपनिषद् तथा उपनिषद्-भक्तों को इस सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्दमात्रैक—रसमूर्त्ति का माहात्म्य-ज्ञान भी नहीं हो पाता, स्वयं शुकदेवजी भी यही कहते हैं—

"सत्य ज्ञानानन्तानन्दमात्रैक रस मूर्त्तयः।
अस्पृष्टभूरि माहात्म्या अपि हृयुपनिषद्दृशाम् ॥"

—भागवत १०-१३-३४

'सुदृशां उपनिषद्' तथा 'उपनिषद्दृशां'—अर्थात् शुक, सनकादि ऋषि भी आनन्दघनमूर्त्ति भगवान के प्रति आकर्षित होते हैं-हो रहे हैं। अतः यह सिद्ध है कि—यह वस्तु उपनिषद्ज्ञानातीत है। उक्त श्लोक में 'गोपालकृष्ण' को ही शुकदेवजी उपनिषद्ज्ञान के अगोचर कह रहे हैं, परन्तु लीलाशुक-विल्वमङ्गल तो अपने श्लोक में गोपीजनवल्लभ तथा राधावल्लभ कृष्ण को ही उपनिषद् तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में अगोचर कह रहे हैं। रसिकाचार्यों का तो यह सिद्धान्त है कि प्रथम श्रीकृष्ण तो उपनिषद्-दृष्टि के अगोचर हैं ही—परन्तु श्रीराधा पयोधर-सम्पुट—महानिधि के स्रोत-स्वरूप श्रीराधावल्लभ लाल का दर्शन तो क्या- अनुभव मिलना भी कठिन है—

यद् वृन्दावनमात्र गोचर महो यन्न श्रुतीकं शिरो-
प्यारोढुं क्षमते, न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम् ।
यत्प्रेमामृतमाधुरी रसमयं यन्नित्यकैशोरकं,
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥

—श्रीराधारस-सुधानिधि

अहा! जिस राधारूप का दर्शन केवल श्रीवृन्दावन में ही होता है, वेद के शिरोभाग उपनिषद् भी जिनका वर्णन करने में असमर्थ हैं और जो शिव, शुक, नारद आदि के संयत चित्त में भी ध्यानगम्य नहीं हैं, तथा जो प्रेमामृत माधुरी की रसस्वरूपा है, तथा नित्य नवकिशोरी है, श्रीराधा के उस रूपमाधुर्य के आस्वादन के लिये मेरे नयन चञ्चल हो रहे हैं। इस श्लोक में श्रीराधाजी के स्वरूप को वेद-उपनिषद् के अगम्य बताकर, आगे श्रीराधा-वल्लभलाल श्रीकृष्ण का स्वरूप उनसे भी अधिक अगम्य तथा अगोचर है—इसका निर्देशकरते हैं—

कासौ राधा निगमपदवी दूरगा कुत्र चासौ,
कृष्णस्तस्याः कुचकमलयोरन्तरैकान्तवासः।

क्वाहं तुच्छः परममधमः प्राप्यहोगर्ह्यकर्मा,
यत्तन्नाम स्फुरति महिमा ह्येष वृन्दावनस्य ।।

—श्रीराधारस-सुधानिधि

कहाँ तो वह श्रीराधा ! जो निगमपदवी अर्थात् वेदविधि के भी अगोचर है, और कहाँ उनके उरोज-सरोज युगलान्तर में विहार करने वाले एकान्तवासी श्रीकृष्ण ! और अहो ! कहाँ ? मैं अति अधम-नीच गर्हितकर्मा तुच्छ जीव ! तथापि जब उन श्रीराधाकृष्ण का नाम मेरी वाणी में स्फुरित होता है, तो यह निश्चय ही श्रीवृन्दावन की महिमा है ! यह उसकी कृपा का ही फल है, मेरी कृति का नहीं।

ठीक इसी प्रकार विल्वमङ्गल भी अपनी भावना को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—हे स्वामिन् ! ऐसा सुदुर्लभ अलभ्य-दर्शन जो आज मुझे सुलभ हुआ है, यह निश्चय ही आपकी कृपा का फल है, परन्तु वह कौन-सी परम-धन्या महती कृपा है, उस कृपा के सम्बन्ध में मैं आपसे जिज्ञासा कर रहा हूँ ? अभिप्राय कहने का यह है कि—आपकी किसी अनिर्वचनीय कृपा के कारण ही मुझे यह दर्शन सुलभ हुआ है।

मूल श्लोक मालिनी छन्दः—

केयं कान्तिः केशव त्वन्मुखेन्दोः
कोऽयं वेषः कापि वाचामभूमिः ।
सेयं सोऽयं स्वादतामञ्जलिस्ते,
भूयो भूयो भूयशस्त्वां नमामि ।।९५।।

पद्यार्थ— **केशव ! कैसी कान्ति तुम्हारे इन्दु वदन की ।**
कैसी वेश-विभूति न सीमा जहाँ वचन की ।।
इनका रसास्वाद तुम करो या कि व्रज सारा ।
साञ्जलि नमस्कार—भर का अधिकार हमारा ।।

भावार्थ—हे केशव ! आपके मुख-मयङ्क की कान्ति और आपका वेश-विभव क्या है, कैसा है—इनका निर्धारण करने में तो सभी की वाणी असमर्थ है और इसका रसास्वाद भी या तो आप स्वयं या आपकी प्रेयसी व्रजांगनाएँ ही करें। हम तो केवल आपके लिए बारम्बार अपना नमस्कार ही निवेदन करते हैं।

रसिका-टीका—ऐसे शृङ्गार-रस सर्वस्व श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की

शोभा तथा वेष-सौन्दर्य के दर्शन कर, विल्वमङ्गल की रसना उस रस का यत्किञ्चित कीर्तन करके कृतार्थ होना चाहती है, परन्तु उसका वर्णन अपने मन, वाणी से परे समझकर विल्वमङ्गल आश्चर्य के साथ जिज्ञासा करते हैं कि--हे केशव ! तुम्हारे मुखचन्द्र की यह कान्ति कैसी अपूर्व वस्तु है ? और तुम्हारा यह वेष भी कैसा अपूर्व है ? दोनों ही मेरी वाणी के अगोचर हैं, आपके श्रीविग्रह की कान्ति और उस पर शोभित यह वेष, इसका आस्वादन तो केवल आपके निज-परिकर के ही प्रेमीजन कर सकते हैं। आप स्वयं भी इसका अनुभव कर रहे होंगे, मैं तो अवाक् होकर, बस—अञ्जलि बाँधकर केवल आपको पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

हे केशव ! आपके केश स्निग्ध, सघन, कुञ्चित तथा सुरभित हैं, और आप कान्ता के केश-प्रसाधन में भी चतुर हैं। "**कान्ता कच ग्रहण**" श्लोक ६१। अतः इस समय मदोल्लास के हेतु जो आपकी उच्छ्वलित मुखकान्ति है, वह अपूर्व है, अवर्णनीय है।

कान्ति तो कान्ति है ही, पर यह वेष भी कैसा अपूर्व है ? माथे पर यह तिलक की रचना ? मुखारविन्द पर रस की छबिपूर्ण रेखायें—लगता है यह रसिकों को फँसाने वाला कोई मनोहर जाल है, और शीश पर यह लटपटी पगिया के कैसे अटपटे पेच शोभा पा रहे हैं—

बँधे पेंच के पेंच पर, पेंच पेंच में पेंच।
फिर निकसे सरके न मन, ऐसे पेंच कुपेंच॥

—नारायण स्वामी

और उस लटपटी टेढ़ी पगिया के ऊपर यह पान के कटाव का तुम्हारा टेढ़ा लटकदार मुकुट ? यह कैसा अद्भुत वेष है—

देखो री या मुकुट की लटकन।
निरतत रास लिये राधा सँग, वैजन्ती बेसर की अटकन।
पीताम्बर छुटि जात छिन हो छिन, नूपुर शब्द, पाँयन की पटकन।
सूर श्याम की या छबि ऊपर, भूठो ज्ञान योग की भटकन॥

और हे केशव ! तुम्हारे केश-विन्यास के मध्य में यह चोटी—न जाने कितनों के हृदय में चोट किये बैठी है, न जाने कितने तपेश्वरी, ज्ञानेश्वरी इस पर लोट-पोट हो गये हैं, रसिक सन्त श्रीशीतलदासजी ने इस चोटी का दर्शन किया है—

क्या शरद चन्द्र के पीछे आ, नागिन ने लीनी ओटी है।
रेशम के गुच्छे जरीतार, फिर जरी लपेटी मोटी है॥
मखतूल नीलमणि चञ्चरीक, उपमा सब लोटक पोटी है।
इस लालबिहारी की 'शीतल', क्या चित्त चुरावत चोटी है॥

और यह तुम्हारी केहरि-विनिन्दित कटि ? उस पर कसी पीताम्बर की लहरिया फेंट ? उस पर लहराती हुई चरणों को चूमती हुई—यह वन-माला, चरणों में नूपुर, कर में मुरली, शीश पर मोर की चन्द्रिका, कितना सादा पर कितना सुन्दर मधुर गोप-वेष, यह तुमने कहाँ से आविष्कार किया है मोहन ? सहचरिशरणजी से भी इस विश्वविमोहिनी मूर्त्ति का वर्णन सुन लीजिये—

कटि किंकिनि सिर मोर मुकुट बर, उर बनमाल परी है।
करि मुसिक्यान चकाचौंधी की, चितवनि रंगभरी है॥
'सहचरि सरन' सुविश्वविमोहिनि, मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभङ्गी सजल मेघ तनु, मूरति मंजु खरी है॥

—सहचरिशरण

प्रभो ! इस रूप का वर्णन मेरी वाणी नहीं कर सकती–"यदि वर्णन नहीं कर सकते हो तो मौन होकर नेत्रों को बन्द कर मन के द्वारा आस्वादन क्यों नहीं करते ?" यह भी कैसे हो नाथ ? केवल दर्शन से ही तो आस्वादन नहीं होता ? दर्शन के लिये भी तो प्रथम उपयुक्त मन चाहिये, पश्चात् उपयुक्त नेत्र चाहिये—**"प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन—ब्रह्म संहिता**। प्रेमाञ्जन से व्याप्त भक्ति से युक्त भावरूपी नेत्रों के द्वारा ही आपके माधुर्य का आस्वादन हो सकता है, इस प्रकार भाव से सदा-विभावित विलोचन तो व्रज गोपियों को ही प्राप्त हैं—वे ही –**"सेयं सोऽयं स्वादताम्"**– इस दिव्य कान्ति का, तथा इस मधुर वेष का आस्वादन करें, अथवा आप ही स्वयं अनुभव करें। मुझ में इतनी सामर्थ्य कहाँ है ? क्योंकि अर्जुन को तो एक विराट रूप के दर्शन के लिये भी दिव्य चक्षु की आवश्यकता पड़ी थी, यह विराट रूप तो श्रीकृष्ण का महास्थूल रूप है, प्रपञ्चमिश्रित एक पाद विभूति है। फिर श्रीकृष्ण का स्वरूप तो निर्गुण सच्चिदानन्द त्रिपादविभूति के अन्तर्गत श्रीवृन्दावन में ही गोचर होता है। इस वृन्दावन का दर्शन तो दिव्य चक्षु प्राप्त होने पर भी दुर्लभ ही है, श्रीकृष्ण अथवा श्रीवृन्दावनधाम की कृपा से प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचन प्राप्त करने पर ही इस गोपीजनबल्लभ श्रीवृन्दावन बिहारी के

दर्शन का आस्वादन सम्भव है। इसके लिये जो दिव्य नेत्र मिलते हैं, वे व्रजवासी गोपीजनों की कृपा से ही प्राप्त होते हैं—दूसरा कोई भी साधन नहीं है, इसीलिये विल्वमङ्गल कह रहे हैं कि—यह तो केवल गोपियों के द्वारा ही आस्वादनीय है।

अतएव आपने न जाने "**कया नु कृपया**" कौन-सी अद्भुत कृपा के द्वारा मुझको अपना यह सुदुर्लभ दर्शन कराया है, तो मेरे नाथ! अब ऐसी अनुकम्पा करो जिससे मैं आपके माधुर्य का सम्यक् रूप से आस्वादन कर सकूँ? आप मेरे लिये ऐसी ही कृपा का विधान बना दें। इस अनुभव के प्रतिबन्धक जो अज्ञानरूप आवरण हैं, उनके निराकरण के निमित्त मैं अञ्जलिबद्ध होकर आपको प्रणाम करता हूँ, इसके अतिरिक्त हे केशव! मेरी वाणी अन्य कुछ भी कहने में असमर्थ है।

अर्जुन ने भी विराट रूप के दर्शन से उत्पन्न भय, हर्ष तथा विस्मय के साथ यही तो कहा था—

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्र कृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व॥

इसी भाँति विल्वमङ्गल भी आज उस विराट रूप से भी उत्कृष्ट आश्चर्यमय, देव-दुर्लभ दर्शन प्राप्तकर विस्मय और गर्व तथा हर्ष से युक्त हो "**भूयो भूयो भूयश्चस्त्वां नमामि**"—कहकर प्रार्थना कर रहे हैं।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

वदनेन्दु विनिर्जितः शशी दशधा देवपदं प्रपद्यते।
अधिकां श्रियमश्नुतेतरां तव कारुण्य विजृम्भितं कियत्॥९६॥

पद्यार्थ— **तेरे मुखेन्दु से पराभूत हो सुधा-निकर।**
दस रूपों से तेरे पद-नख में गया निखर॥
पा गया अत्यधिक इसी भाँति सौन्दर्य-सार।
कैसा असीम है तेरी करुणा का प्रसार॥

भावार्थ—आपके मुखारविन्द से पराजित हुआ चन्द्रमा स्वयं को दस रूपों में विभक्त करके आपके चरणों की शरण में आ गया और वहाँ चरण-नख चन्द्ररूप से अधिकाधिक सौन्दर्य प्राप्त करता आ रहा है। आहा! आपकी करुणा का विस्तार कितना व्यापक है?

रसिका टीका—इस प्रकार ६८वें श्लोक से प्रारम्भ कर ९५वें श्लोक पर्यन्त लीलाशुक विल्वमङ्गल ने श्रीकृष्ण साक्षात्कार का वर्णन तथा श्रीकृष्ण स्वरूप की मन, वाणी के द्वारा अगोचरता का वर्णन किया है, ये अट्ठाईस श्लोक विल्वमङ्गल की बाह्यदशा के प्रतिपादक हैं। अर्थात् वृन्दावन में प्रवेश करने पर— 'अहा ! यह तो साक्षात् श्रीकृष्ण के दर्शन ही मुझे प्राप्त हो रहे हैं।" विल्वमङ्गल को इस प्रकार की स्फूर्ति होने पर दर्शनजन्य आनन्द एवं दैन्यपूर्ण प्रलाप का इनमें वर्णन हुआ है।

प्रस्तुत श्लोक से लेकर ग्रंथ के अन्तिम श्लोक पर्यन्त श्रीकृष्ण के साथ विल्वमङ्गल के उक्ति-प्रयुक्तिपूर्ण प्रलाप हैं, विल्वमङ्गल श्रीकृष्ण की माधुर्य शोभा-सिंधु में गोते लगाते-लगाते आनन्दाधिक्य के कारण जब वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ हो गये, तो मौन होकर केवल पुनः पुनः प्रणाम करने लगे हैं, तब श्रीकृष्ण अपने भक्त की प्रलापवाणी श्रवण करने को विशेष उत्कंठित हो उठे हैं। अतएव पुनः श्रवण करने की लालसा से श्रीकृष्ण ने मानो तो वाद-विवाद प्रारम्भ कर दिया है और विल्वमङ्गल से कहने लगे कि—तुमने मेरे मुख को चन्द्र तथा कमल आदि के समान क्यों कहा ? तुमने परमेश्वर का त्यागकर मुझ गोपालकृष्ण का आश्रय क्यों लिया है ? तब विल्वमङ्गल उनका उत्तर देते हुए अपनी दृढ़ प्रेम-निष्ठा का परिचय देते हैं, इस प्रकार भक्त और भगवान् का प्रेम-कलह ग्रन्थसमाप्ति-पर्यन्त सत्रह श्लोकों में चलता है, ये सत्रह श्लोक भी विल्वमङ्गल की बाह्यदशा के अन्तर्गत ही हैं।

पूर्व श्लोक के अनुसार जब विल्वमङ्गल श्रीकृष्ण का रूप वर्णन करते-करते मौन हो गये, तब श्रीकृष्ण कहने लगे—क्यों लीलाशुक ! चुप कैसे हो गये ? चन्द्रमा है, पद्म है, मेघ है, मणि है—इनके साथ मेरे मुख की तथा अन्य अङ्गों की तुलना का वर्णन करो ? कवि होकर भी मौन कैसे हो गये ? श्रीकृष्ण की इस प्रकार की उक्ति से हृदय में स्फूर्त्ति होने पर विल्वमङ्गल पुनः कहने लगे—

हे देव ! अर्थात् हे क्रीडापरायण ! महोज्ज्वल ! देवता ! आपके इस अखण्ड, निर्मल—मुखचन्द्र के नित्य उदित रहने के कारण, इस गगनस्थ-चन्द्रमा ने तो न जाने कब से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है, पराजित होने के कारण ही यह आपके श्रीचरणों पर पतित होकर अपने को दस भागों में विभक्त कर, आपके चरण-कमलों की आज पर्यन्त अहर्निश सेवा

करता आ रहा है, तथा इस चरण-सेवा के कारण ही परम शोभा को प्राप्त हो रहा है, धन्य है—तुम्हारी करुणा का विलास ! इसको मैं क्या वर्णन कर सकता हूँ ?

श्रीकृष्ण के दोनों चरणों के दस चरण नखों पर मानो तो खण्डित रूप से दस चन्द्रमा तादात्म्यभाव को प्राप्त होकर निवास कर रहे हैं। इस पराजय से चन्द्रमा की हानि नहीं है, अपितु उसके अनन्त सौभाग्य की वृद्धि ही हुई है, कारण कि श्रीकृष्ण-चरण में निवास महान पुण्यराशि का ही फल है, चन्द्रमा का भाग्योदय तो यह हुआ कि वह एक से अनेक हो गया, सकलंक से निष्कलंक हो गया, तथा श्रीचरणारविन्दों के साथ उसकी भी पूजा होने लगी। पराजित बन्दी चन्द्रमा के शोभा-सौभाग्य की हानि न होकर उसकी वृद्धि होना ही आपकी करुणा-कृपा का फल है, फिर आपके करुणासिंधु स्वरूप का परिणाम कितना महान फल होगा, यह निर्णय करने में मैं असमर्थ हूँ।

तात्पर्य यह है कि—ऐसा यह पराजित चन्द्रमा, जिसका काला मुख आपकी चरण-कृपा से ही उज्ज्वल हुआ है, और जो दोषों का आकर है, उस दोष-दुष्ट चन्द्रमा के साथ मैं आपके मुखचन्द्र की उपमा कैसे दे सकता हूँ ? चन्द्रमा की कहानी तो मुझे ज्ञात है कि इसने अपने स्वरूप को आपके मुखचन्द्र के तुल्य बनाने में क्या-क्या नहीं किया, पर कोटि-कोटि प्रयत्नों के पश्चात् भी इसको सफलता नहीं मिली—

प्यारे ! तेरो सो मुख चन्दा करिबे को चन्दा बहुत तप्यो।
उडुगण को ईश भयो, पुनि औषधीश भयो,
ईश शीश लौं गयो, तऊ न फिरचो॥
सुधामय शरीर कियो, बाँटि बाँटि सुरन दियो,
मरि मरि फेरि जियो, तनु धरि के नयो।
नन्ददास प्रभु प्यारे, तदपि कछु न अर्थ सरचो,
जाय समुद्र में गिर्‌यो, विधि बूड़न न दियो॥

चन्द्रमा को जब समुद्र में भी डूबने को स्थान नहीं मिला, तो उसने प्रतिस्पर्द्धा का भाव त्याग करके अपनी पराजय स्वीकार कर ली और करुणामय के करुणाकर श्रीचरणारविन्दों में आ गिरा और इनका आश्रय लेकर शोभा का धाम बन गया।

आकाश में तो एक ही चन्द्रमा है, परन्तु श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में तो अनन्त चन्द्रमा विराजमान हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृत में देखिये, कितने चन्द्रों का वर्णन है—

कृष्णमुख द्विज-राज राज।
कृष्ण वपु सिंहासने, वसि राज्य शासने, संगे करि चन्द्रेर समाज॥

श्रीकृष्ण का मुख चन्द्रमण्डली का राजा है, जो श्रीकृष्ण के अङ्गरूपी सिंहासन पर आसीन होकर चन्द्रसमाज के साथ राज्य-शासन कर रहा है—

दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि मणि दर्पण, सेइ दुई पूर्ण चन्द जानि।
ललाटे अष्टमी इन्दु, ताहाते चन्दनविन्दु, सेइ एक पूर्णचन्द मानि॥

इन्द्रनीलमणि के दर्पण की उज्ज्वलता को भी तिरस्कृत करने वाले जो स्वच्छतम कपोल हैं, वे ही मानो दो पूर्ण-चन्द्र हैं। ललाट पर अष्टमी का चन्द्र शोभा पा रहा है, उस पर भी जो चन्दन-विन्दु है, वह एक पृथक् पूर्णचन्द्र की भाँति सुशोभित है—

कर नख चाँदेर ठाट, वंशी ऊपर करे नाट, तार भीतरे मुरली तान।
पद नख चन्दगण, तले करे नर्त्तन, नूपुरेर ध्वनि जार गान॥

सङ्गीत में भैरव थाट, विलावल थाट इत्यादि दस थाट होते हैं—जिनके आधार पर अनन्त प्रकार की राग-रागिनियाँ गाई जाती हैं, श्रीकृष्ण के हस्तकमल पर दस नख चन्द्रमाओं का ठाट (थाट) है, जिनके आधार पर वंशी का नर्त्तन तथा गायन होता है, जिस प्रकार हस्तकमलों पर चन्द्रमा का नृत्य और गान का थाट है, उसी प्रकार चरण-कमलों पर भी दस नखचन्द्र का ठाठ है, और वे सभी चन्द्र-पद पर मधुर नृत्य कर रहे हैं, तथा नूपुरों की कलध्वनि के रूप में गान कर रहे हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के अङ्ग की भाँति गगनमण्डल में चन्द्रमा का यह हाट नहीं है, और न थाट (गाना) ही है और न नाट (नृत्य) ही है, अतएव विनम्र होकर चन्द्रमा श्रीपाद-पद्मेन्दुतीर्थ का आश्रय लेकर वहाँ सतत निवास करता हुआ श्रीयुक्त हो रहा है, देखिये सूरदास के रूप में 'सूरश्याम' स्वयं ही अपने नखचन्द्र की महिमा का वर्णन कर रहे हैं—

श्याम कमल पद नख की शोभा।
जे नखचन्द्र इन्द्रसुर परसे, शिव विरंचि मन लोभा॥
जे नखचन्द्र सनक मुनि ध्यावहिं, नहिं पावत मर्माहीं।
जे नखचन्द्र प्रगट व्रज युवतिन, निरखि निरखि हर्षाहीं॥

जे नखचन्द्र फणीन्द्र हृदय ते एको निमिष न टारत ।
जे नखचन्द्र महामुनि नारद पलक कभू न विसारत ।।
जे नखचन्द भजत खल तारत रमा हृदय नित परसत ।
'सूरश्याम' नखचन्द विमल छवि गोपी नैंन मिलि दरसत ।।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

तत्त्वन्मुखं कथमिवाम्बुज तुल्यकक्षं
वाचामवाचि ननु पर्वणिपर्वणीन्दोः ।
तत्किं ब्रुवे किमपरं भुवनैककान्त–
वेणु त्वदाननमनेन समं नु यत्स्यात् ।।९७।।

पद्यार्थ— कैसे अम्बुज हो सकता है, तेरे शशि मुख का उपमान ।
पर्वकाल की इन्दुकला भी, कभी न इसके हुई समान ।।
तब फिर ऐसा और कौन हो, जो भुवनैक कान्त मुरलीधर ।
तेरे इस पङ्कज-मयङ्क विजयी–मुख की समता को तत्पर ।।

भावार्थ—कमल रात्रि में मुरझा जाने के कारण तेरे नित्य विकसित मुखारविन्द के समकक्ष नहीं माना जा सकता और चन्द्रमा दोषाकार होने के कारण तेरे मुखमयङ्क की समता नहीं कर सकता—तो फिर ऐसा और कौन है जो तीनों लोकों को वशीभूत करने वाली वंशी से स्वर लहरी की सृष्टि करने वाले तेरे इस मुख की समता कर सके ।

रसिका-टीका—श्रीकृष्ण मानो तो कह रहे हैं कि "हे लीलाशुक ! तुम तो बड़े भोले हो, अरे ! एक दोष के पीछे कहीं गुणाकर का त्याग किया जाता है ? चन्द्रमा में एक कलङ्क ही तो दोष है, बाकी तो वह गुणों का भण्डार है, "**एकोहि दोषो गुण संनिपाते निमज्जतीन्दो : किरणेष्विवाङ्कः**"–**कुमार-संभव** । वह दोष ही तो उसके अन्यान्य गुणसमूह में निमग्न हो गया है, अतः उस एक दोष की उपेक्षा कर बहुगुण सम्पन्न चन्द्रमा के साथ मेरे मुख की उपमा देकर वर्णन क्यों नहीं करते हो ? अच्छा यदि चन्द्र का नाम लेने में तुम्हें संकोच है, तो कमल-पुष्प के साथ उपमा देकर वर्णन करो ?

इस प्रकार विल्वमङ्गल के हृदय में श्रीकृष्ण की उक्ति का स्फुरण हो रहा है और भावावेश में लीन लीलाशुक उत्तर देते हैं कि—"हे कृष्ण ! आपके मुख के साथ कमल की उपमा तो कदापि समता को प्राप्त नहीं कर

सकती, क्योंकि कमल तो केवल दिन में ही प्रफुल्लित रहता है, रात्रि को तो वह चन्द्र के उदय होते ही मुदित हो जाता है, परन्तु आपका मुख कमल तो अहर्निश नित्य-प्रफुल्लित रहता है, इसलिये प्रभो ! कमल की तो बात ही छोड़ो—वह तो केवल दिनमणि का साथी है, रही बात चन्द्रमा के साथ उपमा देने की, तो उसके साथ भी आपके मुखकमल की तुलना कैसे करूँ ? क्योंकि प्रत्येक अमावस्या को चन्द्रमा की जो अमङ्गल दशा होती है, उसका वाणी से वर्णन न करने में ही मङ्गल है, कारण कि चन्द्र बेचारा तो स्वयं ही क्षय रोग से पीड़ित है, एक पक्ष में तो वह क्षय होते-होते अमावस्या के दिन लुप्त ही हो जाता है अर्थात् वह एक पक्ष पर्यन्त तो क्षय को प्राप्त होता है, भला ऐसे अमाङ्गलिक स्वरूप चन्द्र से आपके त्रिभुवनमङ्गल मुखचन्द्र की उपमा कैसे दे सकता हूँ ?

आप निष्कलंक निरातङ्क हैं और यह चन्द्रमा तो कलंकित है, तथा राहु के भय से आतङ्कित रहता है, आप नित्य चौंसठ कला-पूर्ण हैं और यह चन्द्रमा तो क्षय शील है, उस पर भी इसके पास केवल सोलह कला ही है, आप पद्मिनी प्राणवल्लभ हैं, जगदाह्लादक तथा आत्यन्तिक तापहारी हैं। परन्तु चन्द्रमा में तो तीनों गुणों का अभाव ही है,—आपका मुखचन्द्र तो लोक में इस प्रकार शोभा को प्राप्त हो रहा है—

निष्कलङ्को निरातङ्कः पद्मिनी प्राणवल्लभः।
चतुःषष्ठी कलौ भाति कृष्णचन्द्रः सह भुवि ॥

प्रभो ! बताइये तो ? कहाँ आपका मुखचन्द्र और कहाँ यह कलंकित चन्द्र ? ऐसे तुच्छ चन्द्र के साथ आपके नित्य प्रफुल्लित, नित्यपूर्ण चन्द्र की तुलना मैं कैसे कर सकता हूँ अतः यह मुखारविन्द निरुपम है, अतुलनीय है।

अच्छा तो किसी अन्य के मुखचन्द्र के साथ ही मेरे मुख की तुलना कर वर्णन करो ? किसी से भी तुलना तो करो ? मेरे नाथ ! संसार में किसका ऐसा मुखचन्द्र है—जिसके साथ आपकी तुलना करूँ ? यदि आपका अभिप्राय अन्य अवतार-स्वरूपों के मुख चन्द्र से है, तो भी प्रभो ! आपके इस व्रज विलासी स्वरूप के साथ उनकी समता करने में मुझे थोड़ा संकोच होता है ? तो क्या तुम उनमें और मुझ में कुछ अन्तर समझते हो ? तब तो यह एक बड़ा अपराध होगा ?

नहीं-नहीं, नाथ ! अन्तर तो नहीं समझता—परन्तु, परन्तु-आप ही निर्णय कर दीजिये, मुझसे मत कहलवाइये, अन्यथा मैं बीच में ही दोष-

भाजन बन जाऊँगा ? पर आप यह तो बता ही दीजिये कि – आपकी यह भुवन मोहिनी कमनीय वेणु आपके कौन से अवतारस्वरूप के मुखचन्द्र पर विराजमान रही है ? किम्बहुना नारायण भगवान के मुख पर भी तो यह वंशी नहीं है—"**यहाँ बाजै वंशी, वहाँ शङ्ख ही धुनावहिं**"—नागरीदास ।

अतएव इस अपूर्व वंशी नादामृत से द्विगुणितमधुर मनोहर मुखचन्द्र की उपमा या समता त्रिभुवन में कहीं भी कोई नहीं है, वंशीधर का मुख-चन्द्र तो वंशीधर के समान ही है ।

दर्शे दर्शे क्षय श्चन्द्रस्तेनाज्यादिताम्बुजम् ।
निर्व्रणन्यपरास्यानि केन तुल्यं त्वदाननम् ।।—सारंग रंगदा

मूल श्लोक बसन्त तिलकं छन्दः—

शुश्रूषसे शृणु यदि प्रणिधान पूर्वं,
पूर्वैरपूर्व कविभिर्न कटाक्षितं यत् ।
नीराजनक्रमधुरां भवदाननेन्दो–
र्नित्याजमर्हति चिरायु शशि प्रदीपः ।।९८।।

पद्यार्थ— **पहले कवियों ने जिसे न कभी निहारा ।**
सुनना चाहो तो सुनो विचार हमारा ।।
जिससे होता तेरे मुख का नीराजन ।
शशिदीप उसी क्रमधुर का करता वन्दन ।।

भावार्थ—जिस पर पूर्वकालीन महामहिमशाली कवियों की भी दृष्टि नहीं गई, उसे यदि सुनना चाहो तो सुनो—जिस क्रम से श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का नीराजन होता है, उसी के केन्द्रविन्दु का यह चन्द्रमा-प्रदीप अनन्त काल से पूजन कर रहा है ।

रसिका टीका—अच्छा तो विल्वमङ्गल ! यदि चन्द्र और पद्म मेरे मुख की समता नहीं कर सकते तो प्राचीन तथा आधुनिक कविगणों ने क्यों उनके साथ मेरे मुख तथा मृदु हास की उपमा दी है ? और विल्वमङ्गल ! तुमने स्वयं भी क्यों ? जहाँ तहाँ ऐसा ही वर्णन किया है ?

श्रीकृष्ण के वाक्यों को सुनकर विल्वमङ्गल गर्व तथा परिहास के साथ उत्तर देने लगे हैं—

हे विदग्ध शेखर ! प्राचीन तथा आधुनिक कविगणों ने चन्द्रमा के साथ आपके मुखचन्द्र की तुलना अवश्य की है, परन्तु उन्होंने विशेष प्रणि-

धान पूर्वक एक विषय के प्रति लक्ष्य नहीं किया है, वह विषय क्या है, इसे यदि आप श्रवण करना चाहें तो मैं वर्णन कर देता हूँ—आप प्रणिधान पूर्वक श्रवण करें। ("प्रणिधान पूर्वं न कटाक्षितं" प्रणिधान पूर्वं शृणु"—यहाँ दोनों ओर पद की योजना है) इस प्रकार परिहास करके आगे गर्व के साथ कहते हैं—

प्रभो ! वास्तविकता यह है कि यह चन्द्रमा तो केवल कर्पूर-प्रदीप बन कर तुम्हारे मुखचन्द्र का निष्कपट भाव से, नीराजन (आरती) करने के योग्य हुआ है अर्थात् यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखचन्द्र के ऊपर न्यौछावर कर डालने के योग्य है, उपमा-योग्य वस्तु तो यह है नहीं। एक कवि के भावों में सुनिये—

नहिं मानो तो तुमहिं सुनाऊँ शशि की तुमको अमर कहानी।
भूले सब कवि गन जिन-जिन ने मुख की उपमा चन्द सों ठानी॥
यह देखत-देखत नैंन लगे ना 'प्रेम' जिया मेरा अकुलानी।
तब लै कर चन्द उतारि के आरति डारि दियो असमान में पानी॥

तात्पर्य यह है कि—यह प्राकृत चन्द्रमा आपके अप्राकृत मुखचन्द्र का प्रतिविम्ब मात्र है, प्रतिविम्ब किसी एक अंश में ही अपने विम्ब को व्यक्त करता है, आपका मुखचन्द्र स्वयं प्रकाशित तथा स्वयं अमृतरसस्वरूप है, यहीं से चन्द्रमा को भी प्रकाश तथा अमृतरस का लेशमात्र प्राप्त हुआ है।

"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।"
"पुष्णामि चौषधीः सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः॥"—गीता

श्रीकृष्णचन्द्र ने चन्द्रमा को केवल अपना प्रकाश तथा अमृत रस ही प्रदान नहीं किया—अपितु "चन्द्र" नाम भी प्रदान किया है, इस कृष्णचन्द्र नाम के नाते से ही आकाश के तारागण इसका मुख देखते रहते हैं, तभी तो ये सूर्य को देखकर नेत्र बन्द कर लेते हैं, कारण कि सूर्य को श्रीकृष्ण का 'चन्द्र' नाम प्राप्त नहीं हुआ है। हाँ ! केवल नाम के नाते से ही तो नक्षत्र चन्द्रमा की परिक्रमा करते हैं—

केवल नाते नाम के नखत लखहिं निशि चन्द।
विनु हरि नाते भानु लखि, करहिं सकुच चख बन्द॥

मूल श्लोक उपेन्द्रवज्रा छन्दः—

अखण्डनिर्वाण रसप्रवाहैर्विखण्डिताशेष रसान्तराणि।
अयन्त्रितोद्दान्तसुधार्णवानि जयन्तिशीतानितवस्मितानि॥९९॥

पद्यार्थ— **जो अखण्ड उज्ज्वल-रस का आनन्द महानद लहराती हैं।**
और विखण्डित रसान्तरों को तदाकार करती जाती हैं॥
जिससे सृष्ट सुधा सागर का अनुदिन होता है अभिवर्द्धन।
जय जय जय तेरी शीतल मुसकानें ये त्रयताप निकन्दन॥

भावार्थ—अखण्ड धारावाहिक उज्ज्वल शृंगाररस के प्रवाह से जिन्होंने अन्य रसों को विखण्डित करके आत्मसात् कर लिया है तथा जिनसे अनियन्त्रित रूप से निरन्तर सुधा-सागर प्रस्रवित होते रहते हैं—वे तेरी अतिशय शीतल मुसकानें सदा ही विजयिनी हों।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल को यह अनुभव हो रहा है कि—श्रीकृष्ण मेरे रहस्यपूर्ण वचनों को श्रवणकर मानो तो मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, इस दृश्य को देखते ही लीलाशुक विल्वमङ्गल फिर बोल उठे—"**जयन्ति शीतानि तव स्मितानि**"—आपके इस शीतल मन्दस्मित की जय हो, क्योंकि ये स्मित मेरे वाक्यों का अनुमोदन कर रहे हैं, अनुमोदन ही नहीं—उनकी सत्यता को भी प्रमाणित कर रहे हैं!

"प्रमाणित कैसे कर रहे हैं?" तो सुनिये—

निर्वाण-रस के अखण्ड प्रवाह के द्वारा तथा अन्य रसान्तरों को विखण्डित करते हुए—निरस्त करते हुए अपनी विशेष-सुधा-सिन्धु का उद्मन करते हुए, अर्थात् अपने माधुर्य की सुधा-सरिता से भक्तजनों को आनन्दित करने के लिये रस-निर्झरों को अवाधगति से प्रवाहित करते हुए समस्त उपमानों का मर्दन करके प्रमाणित कर रहे हैं।

इस पर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण कहने लगे—"तुम तो पण्डित हो और मैं गोपाल हूँ, तुम्हारी टेढ़ी-मेढ़ी भाषा मेरी समझ में नहीं आती, अतः मुझे मेरी भाषा में ही समझादो, पता नहीं आपने क्या-क्या कह डाला है।

तब लीलाशुक कहने लगे—प्यारे कृष्ण! तुम्हारे हाथ में यदि आरसी होती तो तुम अपना मुख उसमें देखते जाते और मैं कहता जाता, तो सुनिये, आपकी स्मित के चमत्कार, यह आपका स्मित एक होता हुआ भी अनेक है, क्योंकि इधर अधर मुस्करा रहे हैं तो कपोल-गण्डस्थल भी मुस्करा रहा है, ऊपर नयन मुस्करा रहे हैं, तो नीचे चिबुक मुस्करा रहा है, अर्थात्—समस्त मुखमण्डल स्मित की तरङ्गावली से आर्द्र हो रहा है।

इस स्मित माधुरी से एक अद्भुत परमानन्द रस की धारा प्रवाहित

हो रही है, यह आनन्द रस की धारा स्वयं में अखण्डित है, परिपूर्ण है, किसी काल, किसी देश, किसी भी अवस्था में, यह खण्डित नहीं हो सकती, यह रस धारा आनन्द रस का विस्तार करती हुई सदा-सर्वदा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रहती है।

यह आनन्द रस स्वयं में अखण्ड तथा परिपूर्ण रह कर अन्यान्य क्षुद्र-रसों का भेदन करता रहता है। अर्थात् श्रीकृष्ण अङ्गी–शृंगाररसराज हैं, हास्य, करुण, सख्य, शान्त आदि अन्यान्य रस अङ्ग हैं, जैसे महाभूत आकाश मूल अङ्गी है, और वायु, तेज, जल, एवं पृथ्वी उसके अङ्ग हैं, उसी से ये उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं, इसी प्रकार श्रीकृष्ण अङ्गी-मूलरसराज हैं, उनसे अन्य रसों की उत्पत्ति है तथा इन सब में वे ही एक मूल शृंगाररसराज व्याप्त हैं। वे ही इन समस्त खण्ड-खण्ड रसों को प्लावित कर रहे हैं, अर्थात् तुच्छीकृत कर रहे हैं, अथवा उनको अपने में आत्मसात् कर रहे हैं। तात्पर्य यह है—"**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति**" इस श्रुति के अनुसार श्रीकृष्णरूप आनन्द रस सिन्धु का रस ही एकमात्र समस्त ब्रह्माण्ड के जीवों का उपजीवन है।

यद्यपि श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से आनन्दरस सिन्धु प्रवाहित हो रहा है. तथापि अनुरागी प्रेमीजन उनके चरणकमल तथा अधरकमल के आनन्द-रस का ही विशेष रूप से आस्वादन करते हैं।

विल्वमङ्गल का भी यहाँ वही भाव है, वे अधरकमल से विनि:सृत मृदुस्मित का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—आपके अधर-पल्लवों से एक अखण्ड-परमानन्दरस प्रवाहित है, अधरकमल से सतत निर्झरित रसधारा की उपमा, भला कौनसी वस्तु से दी जाय ? अतएव आपका यह मुखकमल अनुपम है।

आपके अधराधरपल्लव से नि:सृत प्रवाह कभी रुकता नहीं, क्योंकि यह सहज स्वभाव में निरन्तर निर्बाध रूप से परिपूर्ण अमृतसिन्धु का उद्गम स्थान भी हैं। इस मन्दस्मित का अवलोकन करने मात्र से हृदय के समस्त संताप दूर हो जाते हैं, और चित्त प्रफुल्लित हो उठता है।

तात्पर्य यह है कि—आनन्दरस प्रवाही होने के कारण यह स्मित परमाह्लादक है, अमृतसिन्धु का उद्गम होने से यह स्मित महामधुर है। शीतल होने के कारण यह सर्व संताप हारी है। इस प्रकार यह स्मित का

आनन्दरस, माधुर्य तथा शैत्य की पराकाष्ठा है। अतः मैं इसे चन्द्र कहूँ तो कैसे कहूँ और कमल कहूँ तो कैसे कहूँ, क्योंकि उनमें ये गुण हैं ही नहीं। किसी कवि के ये भाव ठीक ही हैं—

मुख लाल विहारी तेरे को कोई समचन्द बतावेगा।
यह जान परी दिल बीच मेरे वह कभी न उपमा पावेगा॥
यह तीखे तरल कुटिल अनियारे कहाँ कटाच्छ लगावेगा।
यह हँसन दशन अरु चंचलता की कहाँ कलानिधि पावेगा॥

इतना ही नहीं तो तेरे मन्दस्मित और हँसन-लसन को देखकर मोती हीरे भी न्यौछावर होते है—

मोहन तुझ झलक दशन कौंधे लखि लखि हीरे हहराते हैं।
मोती छाती में छेद करें बाअदब खड़े थहराते हैं॥
चुन्नी की चोंप चटक बिल में बिजली-कण छवि छहराते हैं।
घनश्याम तेरी यह हँसन लसन शशि किरण-पुञ्ज लहराते हैं॥

और उस हँसी के दर्शन का फल भी लीजिये—

जाने को जगह नहीं मिलती ये निगाह चित्त को घेरे जब।
अलबेला कुंवर छैल दिलवर चित चारु पीतपट फेरे जब॥
मुरलीधर, मदन, मुकुन्द हरी मेरी रसना यह टेरे जब।
मन काम वासना पूरण है, हँसने में फूल बिखेरे जब॥

—श्रीशीतलदास

आपकी मन्दस्मित का यह सुख चन्द्रमा में भला कहाँ से आवे? अतएव "जयन्ति शीतानि तवस्मितानि" आपके इस सर्व शीतलकारी मन्दस्मित की जय हो।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः—

कामं सन्तु सहस्रशः कतिपये सारस्य धौरेयकाः,
कामं वा कमनीयता परिमल स्वाराज्यबद्धव्रताः।
नैवेवं विवदामहे न च वयं देव प्रियं ब्रूमहे,
यत्सत्यं रमणीयता परिणतिस्त्वय्येव पारं गता॥१००॥

पद्यार्थ— चाहे कितने ही सहस्र हों रसोपासना के संग्राहक।
या कितने ही हों कमनीय-भाव-परिमल-प्रदेश के शासक॥

क्या विवाद जो मुझे न प्रिय है उनकी पद्धति का अनुवाक।
मेरा प्रियतम है रमण-सिन्धु-भावों का सर्वोत्तम परिपाक॥

भावार्थ– चाहे कितने ही सहस्र महानुभाव सरस रस की धुरा को धारण करने वाले क्यों न हों—अथवा कितने ही सहस्र कमनीयता के परिमल-स्वरूप किसी पद्धति विशेष में अनन्य निष्ठा रखनेवाले क्यों न हों। मेरा इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं कि वे उपासना मार्ग कैसे हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि हमें वे प्रिय नहीं लगते। सच बात तो यह है कि रमणीयता के परिपाक की जो पराकाष्ठा है उसके पार तक तो केवल आप ही पहुँचे हैं।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल की प्रत्युक्ति को श्रवण कर मानो श्रीकृष्ण पुनः कहने लगे हैं कि–"देखो विल्वमङ्गल! संसार में न जाने कितने-कितने मधुर भाव के ज्ञाता रसिक शेखर महाजन हैं, उनको छोड़कर तुमने मुझ गोपाल के साथ क्यों कलह कर रक्खा है? तुम तो बड़े ही दुराग्रही प्रतीत होते हो, क्योंकि तुमने मेरे पीछे व्यर्थ की स्तुति का अम्बार लगा दिया है, चाटुकार की भाँति तुम मेरे पीछे पड़ गये हो? तुम्हारी इस चापलूसी से मेरी क्रीड़ा में विघ्न हो रहा है?

विल्वमङ्गल के हृदय में श्रीकृष्ण की ऐसी ही कुछ तीखी उक्तियों का स्फुरण हो रहा है, तब वे शपथ पूर्वक अपना अनुभव प्रकट करते हुए जगत् के अन्यान्य रसिक तथा रमणीय व्यक्तियों की भर्त्सना-अवहेलना कर एक-मात्र श्रीकृष्ण के प्रति अपनी प्रगाढ़-प्रेम-निष्ठा की घोषणा करते हुए बोले–

हे देव! यह मेरी मिथ्या स्तुति है? अथवा प्राणों की अनुभूति है? मैं एक चापलूस हूँ? अथवा आपका क्रीत-दास हूँ?– यह तो आपको सब ज्ञात है, क्योंकि आप प्रकाशशील 'देव' हैं, साथ ही क्रीडा-प्रिय कौतुकी स्वभाव भी 'देव' का है, अतः कौतुकवृद्धि के लिये यदि मेरे मुंह से कुछ श्रवण करने की इच्छा है, तो सुनिये—

प्रभो! इस संसार में सार वस्तु को समझने वाले अथवा सारभूत सरस माधुर्यमय भाव को धारण करने वाले सहस्रों गुणीजन होंगे, और रस तथा माधुर्यपूर्ण भावों का निर्धारण करने में भी वे पारङ्गत होंगे तो भले ही हों? मेरा उनसे कोई झगड़ा नहीं है, वे सरस नहीं हैं रसिक नहीं हैं, अथवा रसज्ञ नहीं हैं और श्रीकृष्ण की सरस हैं, रसिक हैं, रसज्ञ हैं यह कहकर भी विवाद खड़ा करना नहीं चाहता—अथवा मैं यह भी नहीं कहता कि आप

ही सरस हैं, आप ही रसिक हैं, क्योंकि आपके सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ तो आप भी रुष्ट होते हैं, अतः किसी के लिये भी कुछ कहकर मैं विवाद करना नहीं चाहता, मैं तो इस विवाद में पड़ना ही नहीं चाहता कि आपके अन्य अवतार-स्वरूपों में माधुर्य की रमणीयता, कमनीयता है ही नहीं।

यद्यपि आपके अन्य स्वरूपों में भी कतिपय ऐसे हैं जो कमनीयता के परिमल अर्थात् असाधारण गुण—कमनीयतारूप परिमल के स्वराज्य में आबद्ध हैं, अर्थात् परमोत्कर्ष में बद्ध-व्रत हैं, कमनीयता, रमणीयतारूप असाधारण गुण जिनमें परमोत्कृष्ट रूप से स्थिर रहते हैं। तात्पर्य यह है कि—नित्य-कमनीय, परम-रमणीय स्वरूप भी हैं—हैं तो रहें, मैं इस विषय पर उनसे अथवा आपसे कोई विवाद करना नहीं चाहता, और न ही कोई युक्ति-प्रमाण देकर उनको न्यून और आपको अधिक प्रतिपादन करने में कोई सार्थकता ही समझता हूँ।

"न च वयं देव प्रियं ब्रूमहे"—परन्तु मैं क्या करूँ ? नाथ ! मैं विवश हूँ, मेरा चित्त ठिकाने नहीं है, इसीलिये वे मुझे प्राणों के प्रिय प्रतीत नहीं होते, अतएव मैं उनको न तो प्रिय ही कहूँगा और न ही उनकी उपेक्षा ही करूँगा। मैंने तो अब यह निश्चय किया है कि—आपके चित्त-सन्तोष के लिये ही मैं आपको प्रिय कहकर आपकी मिथ्या-स्तुति ही करता रहूंगा, क्योंकि मुझे इस विषय में जिस सत्य की अनुभूति हुई है, उसी को शपथपूर्वक कहता हूँ—हे श्रीकृष्ण ! रमणीयता और कमनीयता, मनोहरता और मधुरता, सौन्दर्य और सरसता इन सबकी परिणति तथा उत्कर्ष तो तुम्हारे इसी रूप में चरम-सीमा को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् आप ही सर्वापेक्षा रमणीय, रसिक एवं सुमधुर हो। यह अतिशयोक्ति नहीं है, अपितु मेरी स्वाभाविक सत्य उक्ति है, इसमें न कोई विवाद है, और न ही प्रभो ! यह चाटुकारिता है।

विल्वमङ्गल पूर्ववर्त्ती श्लोकों में अनेक बार अपने इस अनुभव को प्रकाशित कर चुके हैं, जैसे—श्रीकृष्ण ही मधुरिमा के स्व-राज्य है (श्लोक ३) श्रीकृष्ण ही मधुरिमा के परिपाक हैं (श्लोक ४७), व्रज-शिशु की मूर्त्ति जगन्मोहिनी है (श्लोक ५४), सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेपि (श्लोक ५५)।

इसका नाम है—**"जातरत्युत्थअभिमान"**—अर्थात् अपने उपास्य इष्ट में रति (भाव) के उदय हो जाने पर उनके चरणारविन्दों में एक अनन्य भाव से पूर्ण ममत्वयुक्त प्रगाढ़-निष्ठा हो जाती है और उनके सन्मुख त्रिलोकी

का ऐश्वर्य, माधुर्य नगण्य तथा हेय प्रतीत होता है, इस भावोत्थ—अभिमान का लक्षण 'उज्ज्वल-नीलमणि' में श्रीरूप गोस्वामी महानुभाव ने इस प्रकार किया है—

सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे ।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ।।

संसार में भले ही रमणीय पदार्थ अनेक हों, परन्तु मेरे लिये तो केवल एक यही प्रार्थनीय हैं, धीर मतिमान-पुरुष के इस प्रकार के निर्णय को ही अभिमान कहते हैं, इस अभिमान के अन्यतम दृष्टान्त देखिये—

स्फुरन्तु बहवः क्षितौ मधुरिमोर्मि धौरेयेका,
विदग्ध मणयो गुणावलि पतिवराभिवृ ताः ।
न यस्य शिखि चन्द्रकः शिरशि नैव वेणुर्मुखे,
न धातु रचना तनौ सखि ! तृणाय मन्ये न तम् ।

—उज्ज्वल नीलमणि

परीक्षा के लिये आई- नान्दीमुखी के प्रति श्रीराधाजी कह रही हैं—भामिनी ! भू-मण्डल पर माधुर्य के भण्डार, रसिक-शेखर, विदग्धमणि और समस्त गुणों से अलंकृत भले ही अनन्तरूप हों—वैकुण्ठनाथ, रघुनाथ आदि। परन्तु जिसके शिर पर मयूर-चन्द्रिका नहीं है, मुखारविन्द पर वेणुवादन नहीं हो रहा है, और जिसके अङ्गप्रत्यङ्ग धातुराग से चित्रित नहीं हैं, उस स्वरूप में मेरी रुचि होना तो दूर रहा– मैं तो उसे तृणवत् भी नहीं समझती हूँ। इसी प्रकार श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती महानुभाव की भी एक ऐसी ही गर्वोक्ति है—

सुख वपुरवतारा: सन्ति शौरे कियन्तः,
कति कति विजयन्ते मूर्त्तयो नातिदिव्याः ।
न च रुचिरतमाः काः सन्ति साक्षादवस्था–
स्तदपि मधुर एको राधिका नागरो मे ।।

—वृन्दावन-महिमामृत ६-४०

जगत् का कल्याण करने के लिये श्रीहरि के अनेक सुखमय-रुचिकर अवतार-स्वरूप हैं, और उनकी दिव्य मूर्त्तियाँ भी अनेक पवित्र स्थानों में विराजमान हैं, तथा उनके तुल्य स्वरूपवान, उन्हीं के अनेक स्वरूप भी यत्र-तत्र दर्शन दे रहे हैं—तथापि मैं क्या करूँ ? मेरे लिये तो एकमात्र राधिका-

नागर श्रीकृष्ण ही परम मधुर, परम प्रीत्यास्पद और रुचिकर प्रतीत हुए हैं, कारण कि—भगवान् के अन्य किसी अवतार में यह माधुर्यमय-लीला का विलास नहीं हुआ है—

होवें भले ही लाखों जग में रस रङ्गी मधु भृङ्गी है।
कमल खिले कुछ तिनमें ऐसे मनहर महक अभङ्गी है॥
नहिं तकरार न प्यार किसी से सबसे अदब फिरङ्गी है।
सुनो श्याम ए साँची कहौं तू रसरङ्गिन में जङ्गी है॥

"शूकर ह्वै कब रास रच्यो, कछुआ ह्वै कब बीन बजाई"—वैसे तो सभी अवतारों में समान शक्ति, समान गुण, समान ऐश्वर्य और समान प्रभाव हैं, परन्तु कच्छ, मच्छ, बाराह, नृसिंह, रामादि अवतारों में माधुर्य के अनुकूल परिकर के अभाव में भगवान् का स्वरूपगत माधुर्य भी संकुचित ही रह गया, प्रस्फुटित नहीं हो सका, अर्थात् वे खुलकर खिल नहीं सके, खेल भी नहीं सके थे—क्योंकि मर्यादा में बँधे थे, अतः उनका स्वरूप अधखिला ही रह गया, परन्तु व्रज के परिकर और विशेषतः महामाधुर्य-महोदधि-महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा—दिवाकर के सन्मुख वे खिलने और खेलने की चरम-सीमा को भी पार कर गये, अतएव माधुर्य के परिपाक को, मधुरिमा के स्व-राज्य को श्रीकृष्ण ने ही प्राप्त किया है, व्रजेन्द्रनन्दिनी श्रीवृषभानु-दुलारी के बिना तो श्रीकृष्ण को इस क्रीडा में आनन्द ही नहीं है—'**वृषभानु सुता प्रकट भई जबते, तबते रसकेलि कलानिधि पाई**" आह्लादिनीशक्ति श्रीराधा और प्रियतम श्रीकृष्ण—दो देह एक प्राण हैं, दोनों की तादात्म्यता, एक-रसरूपता विलक्षण है, देखिये, श्रीगदाधर भट्टजी क्या कहते हैं—

जयति श्रीराधिके, सकल सुख साधिके, तरुनि-मनि नित्य नव तन किशोरी।
कृष्ण तनु लीन मन रूप की चातकी, कृष्ण - मुख - हिम - किरिन की चकोरी॥
कृष्ण दृग - भृङ्ग विश्राम हित पद्मिनी, कृष्ण दृग - मृगज बधन सुडोरी।
कृष्ण अनुराग मकरन्द की मधुकरी, कृष्ण - गुन - गान - रस - सिंधु बोरी॥
विमुख परचित में चित्त जाकौ सदा, करत निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै, अमित महिमा इत बुद्धि थोरी॥

मूल श्लोक शिखरिणी छन्दः—

गलद्व्रीडा लीला मदनविनतागोपवनिता,
मदस्फीतं वीतं किमपि मधुरा चापलधुरा।
समुज्जृम्भा गुम्फा मधुरिमकिरां माद्दशगिरां,
त्वयिस्थाने याते दधतिचपलं जन्मसफलम्॥१०१॥

पद्यार्थ— **एक चपल वह रागवती मधुराती रमणी गोप लली।**
लोक-लाज को दे तिलाञ्जली जो कि आपकी ओर चली॥
और दूसरा मेरी चपल गिरा का यह सविलास सृजन।
पाकर तुम्हें कृतार्थ हो गया दोनों का चञ्चल जीवन॥

भावार्थ—तुम-जैसे आश्रय को प्राप्त करके माधुर्यवर्षिणी मेरी वाणी का उत्फुल्ल सृजन अपने जन्म को सफल बना रहा है और आपको पाकर ही अतिशय चपल, लोल, माधुर्यमयी, अनुरागवती और लोक-लाज को तिलाञ्जलि देने वाली ये गोप-ललनाएँ भी अपने मदोल्लासित तथा किमपि वीत (स्वल्पांश व्यतीत हुआ है जिसका, ऐसे) अपने चञ्चल जीवन को सफल बना रही हैं।

रसिका टीका—लीलाशुक की युक्तियुक्त बातों को सुनकर मानो श्रीकृष्ण मौन हो गये, उनके इस मौन को अपनी बात का अनुमोदन समझ कर विल्वमङ्गल अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण की ओर इङ्गित करते हुए बोले—हे नाथ! हे श्रीकृष्ण! आपके आश्रय को प्राप्त करके ही मेरी वाणी का चञ्चल-जन्म सफल हुआ है, साथ ही गोपियों का चञ्चल-जन्म भी सफल हो गया है। और हे प्रभो! आपका भी चञ्चल कैशोर एवं माधुर्य सफल हो गया है, साथ ही आपका चापल्य भी सफल हो गया है, इन चारों को पृथक्-पृथक् सुन लीजिये—

(१) प्रथम—"**मधुरिम किरां-मादृशगिरां**"—हे नाथ! मेरी वाणी ने पूर्वकाल में भी बहुत कुछ रचनायें की हैं, और उनमें आपका वर्णन भी किया था, परन्तु मेरी कविता भी आज ही सफल हुई है, क्यों हुई है? (क) "**त्वयियाते प्राप्ते सति, तत् स्थाने युक्तम्**"—क्योंकि आपको साक्षात् प्राप्त करके मेरी वाणी का सफल होना उचित ही है, (ख) "**त्वयिस्थाने आश्रये याते प्राप्ते सति**"—तुम जैसे सर्वोत्कृष्ट आश्रय को प्राप्त करके मेरी वाणी भी कृतार्थ हो गई है, अथवा (ग) "**त्वयि क्रीडास्थाने वृन्दावने याते सति**"—आपके क्रीडास्थल वृन्दावन की प्राप्ति होने पर ही मेरी वाणी द्वारा किया गया आज पर्यन्त का गुणानुवाद-कीर्त्तन सार्थक हुआ है। आज तक तो मेरी वाणी की रचना संकुचित थी, पर आज ही आपको अथवा आपके धाम को प्राप्त कर यह मेरी रचना विकसित हो रही है, आपके अनन्त गुणों का वर्णन करते-करते मेरी वाणी प्रफुल्लित हो रही है, क्योंकि वह आपके माधुर्य का अनुभव कर उसका विस्तार कर रही है, अतएव इसका

चञ्चलतापूर्ण व्यर्थ-जन्म आज सफल हो गया है, मेरी रचना का सौभाग्य है जो आपको प्राप्तकर सार्थक हुई है क्योंकि आपको श्रवण कराये बिना कोई भी कृतार्थ हो नहीं सकता।

रटत-रटत राधा मनमोहन रसना जो ना फलका फलकाई।
लिखत-लिखत लीलारस छंदनि अँगुरिन पौर जो ना घिसि जाई॥
'ललितकिशोरी' धृग यह देही ऐसो जीवन जन्म वृथाई।
जुगलविहारी को मग जोवत जो न परै नैंनन में झाईं॥

विल्वमङ्गल की वाणी, देह तथा नयनों की यही दशा हो रही थी, अतः आज अभीष्ट को प्राप्त कर परमानन्द में निमग्न हो गये हैं, अतः आज अपनी सफलता समझकर वे कृतार्थ हो रहे हैं।

(२) द्वितीय—केवल मेरी ही ये तुच्छ वाक्य-रचना सफल नहीं हुई है, अपितु आज इन रूपवती, गुणवती, अनुरागवती व्रज-वनिताओं का भी चञ्चल-जन्म सफल हो गया है, क्योंकि ये सब 'मदन-विनता' हैं। (क) आज मदन को भी इन्होंने विनम्र बना दिया है, अर्थात् कामदेव भी इनके रूप से लज्जित तथा प्रीति से पराजित हो गया है। अथवा (ख) मदन के भार से जो स्वयं विनम्र हो गई हैं, अर्थात् अतिशय अनुरागवती हैं, अतएव आपको प्राप्त करने के लिये गलद्व्रीडा-लीला इनके चञ्चल नेत्र सतृष्ण हो रहे हैं, अतएव लोक-लज्जा, धर्म-प्रभृति का परित्याग कर रासलीला में आपके समीप प्राप्त हुई है। अतः आज इनका भी जन्म सफल हुआ है, महारास-लीला में श्रीकृष्ण ने जब गोपियों को घर लौट जाने को कहा था, तब उन व्रजबालाओं ने भी यही उत्तर दिया था कि--नाथ! तुम्हारे दर्शन पाकर ही तो आज हमारा जन्म सफल हुआ है, संसार के सम्बन्ध तो सभी धिक्कारने योग्य हैं, भाग्यवान तो वही है जो आपके सम्मुख आता है—

धृग बे लाज विमुखन की संगति, धृग जीवन बिन हेत।
धृग माता धृग पिता गेह धृग, धृग सुत पति हैं जेत॥
सोइ कुलीन सोई बड़भागी जो तुम सन्मुख रहत सदाई।
वे धनि पुरुष नारि धनि तेही, पङ्कज चरन रहैं दृढ़ताई॥ —सूरदास

अतएव श्रीकृष्ण के सामीप्य को प्राप्त होकर आज ही गोपियों का जन्म सफल हुआ है।

(३) तृतीय—रासलीला में श्रीकृष्ण के कैशोर, माधुर्य तथा चपलता-

पूर्ण नृत्य का अवलोकन कर विल्वमङ्गल के नेत्रों से आनन्दोल्लास के प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे, तब वे प्रेम-विह्वल होकर बोले कि--हे श्रीकृष्ण ! आपका यह "मदस्फीतं वीतं किमपि"-- अर्थात् आपका किशोरवय जो तरुणता के मद से विकसित हो रहा है, यह भी आज ही विशुद्ध अनुरागवती व्रजाङ्गनाओं के साथ विलास के द्वारा सफल हुआ है। किशोरवय तो अन्यान्य देवताओं में भी है, परन्तु यह महा उज्ज्वल माधुर्यधाम की रास-लीला उनके पास कहाँ है ? अतएव उनका कैशोरवय सफल नहीं है, उनका किशोरवय तो भोग की अतृप्ति में दाहकता प्रदान करता है, अतः आपका किशोरवय ही सफल है।

विष्णु तथा हरिवंशपुराण में लिखा है कि- श्रीकृष्ण ने किशोरवय को सन्मान देकर उसे सफल बनाने के लिये ही शरद् की महारात्रि में व्रज-गोपियों के साथ रासलीला का विहार किया था—

सोपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः ।
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपता हितः ।। —विष्णुपुराण

युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सङ्कल्पकालवित् ।
कैशोरकं मानयानः सह ताभिर्मुमोदह ।। —हरिवंश

(४) चतुर्थः —प्रभो ! आपकी चपलता भी आज ही सफल हुई है, क्योंकि केवल एक ही विग्रह के द्वारा एक ही काल में असंख्य गोपाङ्गनाओं के साथ रमण कर रासविलास में आपने जो चपलता की पराकाष्ठा दिखाई है, वह अतिशय मनोहर, मधुर एवं अतुलनीय है, यथा--

अघहर कुरु युग्मीभूय नृत्यं मयैव, त्वमिति निखिल गोपी प्रार्थना पूर्ति कामः ।
अतनुत गतिलीला लाघवोर्मि तथासौ, ददृशुरधिकमेतास्तं यथा स्वस्वपार्श्वे ।।
—भक्ति-रसामृतसिन्धु २-१-४७

"हे अघहर ! मेरे ही साथ युगल होकर के नृत्य करो"--इस प्रकार सब गोपियों के प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण ने उनकी कामना-पूर्त्ति के लिये अपनी गति की ऐसी लाघवता, (शीघ्रता) का विस्तार किया था कि-- जिससे समस्त गोपियों ने अपने-अपने समीप ही उनका दर्शन किया था ।

इस श्लोक पर विशेष विचार ७४ वें श्लोक में "**चापल्यसीम**" की व्याख्या में हो चुका है, इस प्रकार श्रीकृष्ण की चपलता भी आज ही रास लीला के समय में ही धन्य हुई है।

'कृष्णवल्लभा' तथा 'सुबोधिनी' टीका में केवल विल्वमङ्गल की वाक्य-रचना तथा गोपीजनों की चपलता--ये दो ही सफल हुए हैं- ऐसा अर्थ किया गया है।

"सारंग रंगदा" टीका में 'वीत' शब्द से विगत प्राय: श्रीकृष्ण का शैशव अर्थ किया है, इसी प्रकार 'किमपि' से कैशोर का अर्थ किया गया है, तथा **'मधुराचापलधुरा'** से श्रीकृष्ण की चपलता का अर्थ किया गया है।

'कृष्णवल्लभा' टीका के अर्थ के अनुसार यह है कि--हे कृष्ण! तुम्हारे स्थान वृन्दावन के निकुञ्जों को प्राप्त होकर गोपियों की गति की चञ्चलता सफल ही है तथा मेरी वाक्यावली की रचना भी सफल हो गई है।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः —

भवनं भुवनं विलासिनी श्रीस्तनयस्तामरसासनः स्मरश्च।
परिचार परम्पराः सुरेन्द्रास्तदपि त्वच्चरितं विभो विचित्रम् ॥१०२

पद्यार्थ— **वही आप त्रिभुवन-व्यापी हैं, वही पद्मनी प्राणाधार।**
ब्रह्मा जैसा पुत्र आपका, वैसा ही विचित्र है मार॥
देव और देवेश आपके ही, परिवार कहे जाते।
फिर भी रास-रसिक की लीलाएँ भी, हम अद्भुत पाते॥

भावार्थ—किसी रूप से आप समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर व्याप्त रहते हैं, किसी रूप में श्रीलक्ष्मीजी आपके साथ विलास करती हैं, किसी रूप में आप ब्रह्मा और कामदेव-जैसे पुत्रों के पिता हैं और किसी रूप में आपकी सेवा में इन्द्रादि देव संलग्न रहते हैं—ये सभी आपके ही चरित्र हैं, किन्तु हे विभो! इस रूप में व्रजांगनाओं के साथ रास-विलास करते हुए आपने जो रसमयी लीलाएँ प्रकट की हैं—वे तो असाधारण और विचित्र हैं।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल की विचित्र सरस वाक्यावली को श्रवण करने के लिये उत्कण्ठित श्रीकृष्ण पुनः कौतुक करते हुए मानो बोले--विल्वमङ्गल! मैंने जो गीता में उपदेश दिया है कि- **"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"** (१८-६१) ईश्वर सर्व प्राणियों के हृदय में निवास करता है- **"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"** (६२) अतः सर्वभाव से उसी की शरण ग्रहण करो, फिर तुम ऐसे भजनीय ईश्वर का परित्याग कर मुझ

गोपीनन्दन को क्यों भजते हो ? तुमने मुझको ही क्यों सर्वोत्तम मान लिया है ?

श्रीकृष्ण के इन वचनों को श्रवणकर आनन्द-विह्वल विल्वमङ्गल हस्त-सञ्चालन करते हुए बोले—हे विभो ! त्रिभुवन आपका भवन है, लक्ष्मी आपकी स्त्री है, पद्मासीन ब्रह्मा तथा कामदेव आपके पुत्र हैं, इन्द्रादि देवगण आपके सेवकगण हैं, तथापि आपके चरित्र परम अद्भुत हैं, जगत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय और अविचिन्त्य हैं, क्योंकि मैं देखता हूँ कि इतना सब कुछ होने पर भी व्रजवासी गोपी-ग्वाल आपको इशारे पर नचाते हैं, इसलिये व्रज में आपकी लीला अद्भुत है—

व्रज में अद्भुत लीला तिहारी।
गावत सुर नर मुनि ईश्वर हू, समुझत नहिं पचिहारी॥
वास करो जग भीतर बाहर, यह नहिं अचरज भारी।
रास करो गोपिन सँग थेई थेई, यहि अचरज है बिहारी॥
दास तिहारे सुर-गण सारे, रवि शशि आज्ञाकारी।
दासी रमासी खवासी करत सो, तुम व्रज दास महारी॥
एक पुत्र विधि जगत बनावै, एक नचावै भारी।
सोई पिता के पिता—पिता कूँ, 'प्रेम' नचावै नारी॥

परन्तु प्रभो ! आप तो बड़े ही लीलाधारी हैं, क्योंकि आप विभु हैं, "**विविध रूपो भवतीति विभु**" आप विविध रूपों द्वारा जगत् का तथा अपने जन का हित करते रहते हैं, और अनन्तरूप से सदा वर्तमान रहकर विभिन्न अवतारों का प्रकाश करते हैं।

"**भवनं भुवनं**"—आप व्यापक तथा सर्वान्तर्यामी होने के कारण समस्त भुवन के आश्रय हैं। "**तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्**"—श्रुति। ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रवेश कर उसको धारण भी करते हैं और उससे पृथक् भी रहते हैं।

इस प्रकार की सृष्टि लीला, आपका एक अद्भुत चरित्र अवश्य है, परन्तु प्रभो ! यह मन, बुद्धि के सर्वथा अगोचर है, केवल अनुमानमात्र ही है, और यह आपका गोपाल-चरित्र तो प्रत्यक्ष ही है, यह तो सदा-सर्वदा नेत्र, मन और हृदय के लिये रसायन है, अतएव अद्भुत-सर्वाद्भुत है।

अच्छा, विल्वमङ्गल ! यदि तुम प्रत्यक्ष ऐश्वर्य के ही दर्शन करना

चाहते हो तो मेरे विष्णु, वामन, नृसिंह आदि के ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रों का दर्शन करो, उन्हीं का भजन करो।

तब विल्वमङ्गल मुस्कराते हुए कहने लगे—महाराज! वहाँ मेरी गति कहाँ है? वहाँ तो देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, चन्द्र आदि देवगण आपके सेवक हैं, आपके आस-पास, आगे-पीछे, आपको घेरकर क्षण-क्षण में स्तुति-प्रणति करते रहते हैं, और आपको भी उनकी रक्षा के लिये दैत्यों से लड़ना-भिड़ना पड़ता है। आप उनके बीच में विराजमान होकर तो मेरी ओर तनिक भी दृष्टि नहीं डालोगे? इसलिये मुझे वह दर्शन नहीं चाहिये, मैं तो यह कहता हूँ कि—आपका यह व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल स्वरूप ही समस्त ऐश्वर्य का धाम है, साथ ही माधुर्य का सिन्धु भी है, अतः मुझे तो यही रूप प्यारा लगता है।

श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—विल्वमङ्गल! तुम मेरे एकान्त शान्त-स्वरूप की आराधना करना चाहते हो, तो शेष शय्या पर अहर्निशविश्राम करने वाले मेरे अभिन्न स्वरूप विष्णु का ही भजन करो, उस दर्शन से तुमको परम शान्ति मिलेगी।

इस पर विल्वमङ्गल सिर हिलाते हुए बोले कि—प्रभो! आपका यह दर्शन तो मेरे लिये और भी कठिन है, क्योंकि वहाँ तो आपका कमलासनी पुत्र ब्रह्मा हर समय बैठा रहता है, जो कि आपके द्वारा जगत् की सृष्टि तथा पालन की व्यवस्था के सम्बन्ध में नाना प्रकार के चरित्र करता रहता है, वहाँ तो प्रभो! मेरी कोई आवाज भी नहीं सुनेगा, वहाँ सृष्टि की ऊहा-पोह में मेरा चित्त घबड़ा जायेगा। दूसरी बात यह है कि मैं तो आपकी मधुर लीलाओं का उपासक हूँ, वहाँ व्रज के जैसे विचित्र मधुर-रसमय चरित्र कहाँ हैं?

अच्छा, तो तुम मधुर-रस के इच्छुक हो तो चलो! तुमको वैकुण्ठ में प्रवेश दिलवा देता हूँ, वहाँ वैकुण्ठधाम में लक्ष्मीनारायण की उपासना करते रहना, क्योंकि वहाँ लक्ष्मीजी नारायण भगवान् की मधुर भावना से उपासना करती हैं।

इस पर फिर विल्वमङ्गल भौंह मटका कर कहने लगे कि—ओ हो! नारायण के एक तो लक्ष्मी है, और वह भी दासी की भाँति अहर्निश चरण-सेवा ही करती रहती है, वहाँ यह विचित्र मधुर रास-विलास कहाँ?

रासोत्सव के समय श्रीकृष्ण ने व्रजसुन्दरियों के गले में अपनी विशाल भुजाओं को डालकर अर्थात् गलबाहीं लगाकर जो रासलीला का प्रेमोन्माद प्रकट किया था, वह श्रीलक्ष्मीजी तथा अन्य कमलगन्धा तथा दिव्य-कान्ति वाली वैकुण्ठ की स्त्रियों को भी प्राप्त नहीं है—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत कण्ठ,
लब्धाशिषां य उद्गाद् व्रजवल्लवीनाम् ।।

—भागवत १०-४७-६०

वास्तव में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य का जो सुख-आनन्द व्रजवासियों ने लूटा, वह वैकुण्ठवासियों को भी प्राप्त नहीं हुआ। यहाँ तो मानो सुख-राशि की खुली लूट हुई है, श्रीकृष्ण व्रजवासियों के घर के खिलौना बन गये हैं—

जो सुख लेत सदा व्रजवासी ।
सो सुख सपने हूं नहिं पावत, जे जन हैं वैकुण्ठ निवासी ।।
ह्याँ घर-घर ह्वै रह्यो खिलोना, जगत कहत जाकों अविनासी ।
'नागरिदास' विश्व ते न्यारी, लगि गई हाथ, लूट सुखरासी ।।

भक्त कहने में नहीं चूकते, नागरीदासजी ने तो और भी स्पष्ट रूप में कह दिया—महाराज ! वहाँ वैकुण्ठ में अकेली एक रमा से चरण-सेवा करा लेते होंगे, यहाँ तो गोपियों के साथ गलबाही देकर घूमने की स्वतंत्रता मिली है—

"इहाँ गोपवधूवृन्द माँझ गरवाहीं दिये, वहाँ एक रमा तापै पांय पलुटावहीं"

भगवान् फिर कहने लगे—अच्छा तो विल्वमङ्गल ! यदि तुम सहस्रों रमणियों के साथ मेरे विहार का दर्शन करना चाहते हो तो मेरा ही दूसरा रूप द्वारिकाधीश रुक्मिणीकान्त—श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करो, वहाँ तुमको हृदयस्पर्शी माधुर्य का आनन्द प्राप्त होगा, अतः मुझ गोपालकृष्ण का पीछा छोड़कर इन महाराजाधिराज द्वारिकाधीश का आश्रय ग्रहण करो।

यह सुनकर विल्वमङ्गल सिर हिलाते हुए बोले—राम ! राम ! यह द्वारिका का ठिकाना आपने कहाँ से बता दिया, महाराज ! मैं तो वहाँ भूलकर भी नहीं जाऊँगा ! ये वही द्वारिकाधीश हैं न ? जिनके यहाँ कामदेव

पुत्र बनकर प्रकट हुआ है, एक-एक रानी को दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए हैं, नहीं-नहीं महाराज ! उन १६,१०८ पटरानियों की भीड़ में मुझ जैसे दीन-दुखी अकिंचन की कौन सुनवाई करेगा ? अतएव महाराज ! वे एक लाख इकसठ हजार अस्सी पुत्रों के लालन-पालन में व्यस्त द्वारिकाधीश मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे, और सबसे अधिक चित्त को खटकने वाली बात यह है कि—कहाँ यह गार्हस्थ्य-जीवन का विलास- और कहाँ यह महाभाववती व्रज-वनिताओं के साथ आपका विशुद्ध प्रेम-विलास ? व्रज में काम का जन्म तो दूर—उसकी गन्ध भी नहीं है, अतएव यहाँ सन्तति-परम्परा भी नहीं है, काम का अर्थ है—'लेना'। पर व्रज-गोपियों को तो केवल देना ही आता है, लेना तो इन्हें आता ही नहीं। इन्हें न पुत्र चाहिये, न परिवार चाहिये, न धर्म चाहिये, न लोक चाहिये, न परलोक चाहिये—इन्हें तो चाहिये केवल आप ! अतएव इन विशुद्ध-प्रेमोन्मादिनी व्रज-वनिताओं के सहित आपका अपूर्व मधुर-रसमय रास-विलास अन्यत्र कहाँ है ? प्रभो ! बस मेरे लिये तो यह रास-विलास ही एकमात्र सेव्य है।

बहूनि त्वच्चरितानि चित्राण्येव तथाप्यदः।
मत्सेव्यं मधुरैश्वर्यं रूपकेलिभिरुत्तनम् ॥

—सारंगरंगदा

हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारे अनेकानेक अद्भुत मनोहर चरित्र हैं, तथापि मेरा सेव्य तो मधुरैश्वर्यमय सर्वोत्तम रास-विलास ही है।

'भुवनं भवनं' – के टीकाकारों ने तीन अर्थ किये हैं—

(१) भुवनमेव भवनं–कृष्णवल्लभा।

(२) भुवनं-जलंसदनं तन्मध्ये गृहं, कारणार्णवं, गर्भोदकं, क्षीरोदकमिति।

(३) यद्वा द्वारवत्याख्यम्—सुबोध सारङ्ग

मूल श्लोक अनुष्टुप् छन्दः —

देवस्त्रिलोकी - सौभाग्य कस्तूरी - मकरांकुरः।
जीयाद् व्रजाङ्गनानङ्ग केलिलालित विभ्रमः ॥१०३॥

पद्यार्थ— जय देव ! तुम्हारी आभा से भर रहा भुवन।
तुम त्रिभुवन के सौभाग्य-तिलक सौन्दर्य-सदन ॥
जब व्रजांगना रतिरङ्ग-घटा उमड़ी आती।
तब विभ्रम-लता तुम्हारे मुख पर लहराती ॥

भावार्थ—व्रजांगनाओं की अनंग-केलियों द्वारा लालित यह दिव्य और तीनों लोकों का सौभाग्य-सूचक तिलक—आपका यह रूप ही मेरे लिए तो सर्वोपरि विराजमान रहे।

रसिका-टीका—पूर्व श्लोक में वर्णित **'विचित्र चरितम्'** के स्वरूप को इस श्लोक में और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। विल्वमङ्गल की उक्ति श्रवण कर मानो श्रीकृष्ण पुनः बोले—ठीक है, विल्वमङ्गल ! तुम्हारा सिद्धान्त सत्य है, तुम्हारे दृढ़भाव और परिपक्व आस्था से मैं प्रसन्न हूँ। वास्तव में मेरी अनेक अन्य अद्भुत लीलाएँ होने पर भी व्रज के गोपाल-स्वरूप की लीलाएँ सबसे अधिक मनोहर हैं—

चरितं कृष्णदेवस्य सर्वमेवाद्भुतं भवेत् ।
गोपाललीलास्तथापि सर्वतोऽति मनोहराः ।। —पद्मपुराण

अर्थात् मेरे गोपाल-स्वरूप की लीला में बाल्य, पौगण्ड, किशोरलीला आदि सभी मनोहर हैं। श्रीकृष्ण के इतना कहते ही विल्वमङ्गल बोल उठे—प्रभो ! आपके सभी रूप मनोहरता से भरे हैं, परन्तु मैं तो आपके सर्वोपरि विराजमान रसिकशेखर रासविलासी किशोररूप का ही उपासक हूँ।

परन्तु विल्वमङ्गल ! मेरे किशोर-स्वरूप में भी तो गोचारणादि लीला सम्मिलित हैं। नाथ ! वे भले ही होवें, उनसे मेरा कोई विरोध नहीं, पर मुझे तो आपका यह किशोर स्वरूप ही अभीष्ट है, यह मधुर स्वरूप जो व्रजाङ्गनाओं की विशुद्ध अनङ्ग-केलि के द्वारा लालित, पालित, मधुरीकृत तथा कस्तूरी पत्रांकुर द्वारा चित्रित है। बस, यही स्वरूप मुझको अभीष्ट है।

यह स्वरूप केवल मेरे ही लिये क्यों, यह तो त्रिलोक-सुन्दरी के सौभाग्य का कस्तूरीरचित तिलकस्वरूप है, सौन्दर्य-सुन्दरी के सुहाग की श्याम बिन्दी है, अथवा तुम्हारा यह मधुरोज्ज्वल रासविलास ही त्रिलोकी के सौभाग्य का अलङ्कार है।

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृत तृप्तस्य नान्यत्रस्याद्रतिः क्वचित् ।।

—भागवत १२-१३-१५

"श्रीमद्भागवत को सर्ववेदान्त का सार कहा जाता है—उस भागवत के रसामृत से तृप्त जन की अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं होती है।" इस सूत

वाक्य के अनुसार सर्व वेदान्त का साररस श्रीमद्भागवत है और श्रीमद्-भागवत का सार-हृदय दशम स्कन्ध है, उसका भी सार पञ्चप्राण स्वरूप रासपञ्चाध्यायी है, अतएव रासविलास ही लीला-मुकुटमणि तथा माधुर्य-मुकुटमणि है, और त्रिलोक-सौभाग्य का मुकुटमणि भी है, अतः—**'पिबत भागवतं रसमालयं'**—रस की निधि श्रीभागवत का अन्तिम समय तक पान करने का उपदेश है। इस रस-सरिता में जो जिस रस का अधिकारी हो, वह उसको भले ही पान करे, परन्तु श्रीमद्भागवत में रस की पराकाष्ठा कहाँ है? कहाँ उसकी सीमा है—इसका विचार करने पर तो महा-रासोत्सव में ही रस की परम चरम-स्थिति रसिकजन मानते हैं, अतएव यह रास-विलासी श्रीकृष्ण-स्वरूप ही त्रिलोकी के सौभाग्य का कस्तूरी-पत्रांकुर स्वरूप अलङ्कार है।

प्रसङ्गवशतः हमको अपना अधिकार भी समझ लेना आवश्यक है, रासलीला सर्वोत्तम अवश्य है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिये पात्र भी सर्वोत्तम ही चाहिये, तभी रासलीला का रस ठहर सकेगा, अन्यथा यह रास नहीं, जीव के लिये सर्वनाश है।

व्रज-रस के तत्ववेत्ताओं ने स्पष्ट कह दिया है—

लीलाशुकस्य लीलेयं लीलान्याश्चोपवर्णिताः।
कल्लोलिनी स्वरूपेण रासं कूप जलोपमम्॥

अर्थात् लीलाशुक बादरायणी ने श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं को तो नदी-स्वरूप से वर्णन किया है और रासलीला को कूप के जल के समान बताया है। तात्पर्य यह है कि—सख्य, वात्सल्य आदि रसमयी लीलाएँ तो नदी के समान हैं अतः कोई भी व्यक्ति उसके जल का उपयोग कर सकता है, पात्र न भी हो तो हाथ से ही जल पिया जा सकता है, हाथ भी न हों तो पशु की भाँति मुंह लगाकर भी पी सकता है, उसमें कोई अधिकारी भेद नहीं है, क्योंकि वे सबको सुलभ हैं, परन्तु रासलीला तो कूप-जल के समान है, कूप का जल पीने के लिये तो पात्र और डोरी चाहिये, निष्ठारूप डोर तथा प्रेमरूप पात्र के बिना रासपञ्चाध्यायी कूप में से एक भी बूंद जल प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

निष्ठारूप डोर से यहां तात्पर्य यह है कि-भावुक प्रेमी को अपने हृदय में यह दृढ़तापूर्वक निश्चय रखना चाहिये कि-यही सर्वोत्तम रस है,

और यही हमको चाहिये, हम लेंगे तो इसे ही लेंगे, इस जन्म में नहीं तो सौ जन्म में लेंगे—पर इसके अतिरिक्त अन्य वस्तु हम नहीं लेंगे—

जनम जनम लगि रगर हमारी । बरौं शम्भु नतु रहौं कुँवारी ।।

इस प्रकार की अनन्य प्रयोजन बुद्धि का नाम ही निष्ठा-डोर है, इसका विस्तृत विवेचन "**अपास्य वृन्दावन पादलास्यमुपास्यमन्यं न विलोकयामः**" श्लोक २२ की व्याख्या में हो चुका है।

प्रेम की परिभाषा है—कामशून्य हृदय। परन्तु स्त्री-पुरुष में भेदभाव के ज्ञान से परिपूर्ण जीव का हृदय कामशून्य होना सर्वथा असम्भव है और कामशून्य हुए बिना गोपीभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती, और योगीस्वरूप हुए बिना रासलीला में प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता।

भावो यावादहं योषित्पुमान् षण्डस्तनोर्भ्रमात् ।
तावत्तु गोपीभावस्य कथमभ्युदयो भवेत् ।।

अर्थात् जब तक देह दृष्टि के भ्रम से मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ—ऐसा ज्ञान है, तब तक गोपी भाव का उदय कैसे हो सकता है ? गोपियों की दृष्टि में तो सेव्य पुरुष एक मात्र श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य समस्त स्त्री-पुरुष तो उनकी दासी-प्रकृति हैं।

इसी प्राकृत दृष्टि के कारण ही तो हम सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण को अपने सदृश प्राकृत पुरुष तथा महाभाववती गोपियों को प्राकृत स्तनवती नारी के सदृश मानते हैं, तथा उनके दिव्य-परमोज्ज्वल प्रेम-विलास में अपने काम-विलास की भ्रष्टभावना करने लगते हैं, जब तक हम श्रीराधा-कृष्ण तथा गोपीजनों को एक ही सच्चिदानन्द रसब्रह्म की विविधलीला मूर्त्ति के रूप में अनुभव नहीं करेंगे, तब तक यह मांस-दृष्टि हमारी लोप ही नहीं हो सकती, और जब तक यह मांस-दृष्टि रहेगी तब तक प्रेम का स्वरूप तथा रास-विलास के स्वरूप का ज्ञान होना असम्भव है, अतः कामशून्य प्रेम-पात्र की प्राप्ति भी असम्भव ही रहेगी, तो फिर प्रेम-पात्र के बिना रास-कूप से जल प्राप्त होना नितान्त कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि—निष्ठारूप डोर तो प्राप्त हो चुकी है, परन्तु प्रेम-पात्र प्राप्त नहीं है,-तो क्या करें ?

भाई ! जिसके पास डोर आचुकी होगी—वह पात्र भी अवश्य ढूँढ़ लेगा। निष्ठा अपने आप ही पात्रता उत्पन्न कर देगी। "**लौल्यमेकमलं मूल्यं**"—रस प्राप्ति की लोलुपता, चाह-चटपटी ही, सब संयोग बना देगी, चाह से ही

सत्संग, सत्संग से कृपा, कृपा से पात्रता अवश्य प्राप्त होगी, तथापि साधारणतः साधन-क्रम का निर्देश भी रसिक महानुभावों ने इस प्रकार किया है—

प्रथम सुनै भागवत भक्त मुख भगवत बानी ।
द्वितीय आराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी ।।
तृतीय करै गुरु समुझि दक्ष मर्मज्ञ रसीलो ।
चौथे होय विरक्त बसे वनराज जसीलो ।।
पाँचे भूलै देह सुधि तब छठे भावना रास की ।
सातैं पावै रीति रस श्री 'स्वामी हरिदास' की ।।

१—श्रीभागवत-श्रवण, २—नवधा भक्ति का आचरण, ३—चतुर-रसिकगुरु की शरणागति, ४—विषयों का त्याग और श्री वृन्दावन-वास। इस प्रकार रसमय वृन्दावन में रसिक गुरू से रसमयी-दीक्षा ग्रहण कर रसमय भजन की सिद्धि होने पर ही पांचवी दशा देह-दृष्टि का लोप होगा, और तब ही प्रेम-दृष्टि या प्रेम पात्र की प्राप्ति होगी। तब छठवीं स्थिति में रास की भावना (चिन्तन स्मरण) का अधिकारी होता है, और अन्त में सातवीं स्थिति में रासलीला में प्रवेश कर श्रीराधाकृष्ण की सेवा का अधिकारी बनता है।

मूल में यदि निष्ठा-डोर है, "**लौल्यमेकमलं मूल्यं**"—है, चाह-चटपटी है तो सब साधन अपने आप बनते चले जायेंगे, किन्तु यदि अनन्य निष्ठा ही नहीं होगी तो "**मूलंनास्ति कुतो शाखाः**" कुछ भी नहीं होगा, अतः साधक को निम्न बातों पर ध्यान देना ही होगा—

खेलत जहाँ जुगल कुंजन में चित्त न तहाँ चलायो ।
सतसंगति करि हीन पंगु रस घाटी पंथ न पायो ।।
श्यामा श्याम कमल पद संगी तिन सों मन न मिलायो ।
वृन्दावन हित रूप न परच्यौ वाद विवाद मचायो ।।
हित दातार देहिं रस अनुभव, ढाहि कपट के कोटा ।
वह रस अविकारी जिनि देह बिकारी जग रस ओटा ।।
महत जनन के बिना अनुग्रह बिना प्रेम उर चोटा ।
वृन्दावन हित रूप दूर है गौर श्याम को जोटा ।।

श्रीराधा सुधानिधि में साधनक्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ध्यायंस्तं शिखिपिच्छ मौलिमनिशं तन्नाम सङ्कीर्तय-
न्नित्यं तच्चरणाम्बुजंपरिचरंस्तन्मंत्रवर्यं जपन् ।

श्रीराधा पद दास्यमेव परमाभीष्टं हृदा धारयन्,
कर्हिस्यां तदनुग्रहेण परमोद्भूतानुरागोत्सवः ॥

अर्थात् अहर्निश श्रीकृष्ण के रूप का ध्यान करते हुए, कृष्ण नाम का संकीर्तन करते हुए, कृष्ण की सेवा पूजा करते हुए कृष्ण नाम को जपते हुए, श्रीराधापददास्य को ही परम प्रयोजन समझता हुआ—मैं कब उनके अनुग्रह से उनके "परम अद्भुत-अनुराग-उत्सव" को प्राप्त होऊँगा ? इस भावना से चिन्तन करता रहे।

तात्पर्य यह है कि साधक को क्रम से चलना चाहिये, साधन में सावधानी बरतना बहुत आवश्यक है, अन्यथा फल विपरीत होने की आशंका रहती है—

१—प्रथम तो प्रयोजन स्थिर करले कि—युगलमाधुर्य स्वरूप को रसास्वादन के लिये गोपी भाव ही परम अभीष्ट है, फिर—

२—पवित्र मन से केवल युगल रूप का ध्यान करे—केलिविलास का ध्यान प्रारम्भ में न करे, अन्यथा हानि हो सकती है।

३—इन्द्रिय निग्रह पूर्वक जिह्वा से निरन्तर युगल-नाम-सङ्कीर्त्तन करता रहे।

४—अपने शरीर तथा समस्त इन्द्रियों को युगलचरणों की सेवा-पूजा में अर्पण करदे।

५—गुरुप्रदत्त मंत्र का जाप बड़ी सावधानी से करे, चित्त को चलायमान नहीं होने दे।

और यह सब साधन करे—भावपूर्वक, उत्कण्ठा के साथ, सेवा की मधुर-मधुर अभिलाषाओं की भावना को सँजोता हुआ उस सेवा की प्राप्ति के हेतु आर्त्तभाव से निवेदन, और करुणक्रन्दन करता रहे।

और इतना करते हुए कभी भूलकर भी यह अहंकार या आशा न करे कि—हम इस साधन के बल पर युगल-सरकार से उनका "**परमाद्भुत प्रेमोत्सव**" प्राप्त कर ही लेंगे ! नहीं वह तो केवल "**तदनुग्रहेण**"—से ही प्राप्त होगा—साधन के पुरस्कार में नहीं, आनन्द की बधाई में, करुणा के उपहार में प्राप्त होगा।

साधन का कार्य तो केवल इतना ही है कि हम अपने प्रभु को जना दें

कि—"नाथ ! हम जैसे भी हैं, तुम्हारे ही हैं—तुम्हारे ही होना चाहते हैं,—क्या हमको भी कभी अपना बना लोगे ? साधन की सिद्धि प्रभु के चरणों तक यह सम्वाद पहुँचा देती है, आगे तो जब कभी उन परम प्रेमास्पद को यह निश्चय हो जायेगा, कि—"यह जीव, मन-वाणी और शरीर से हमारा ही है, तब फिर एक दिन उनकी करुणासागर में लहर आ ही जायेगी, तब-वे हमको भी अपने "प्रेमोत्सव" में बुला ही लेंगे, उनका निमन्त्रण आने पर ही आनन्द-रस-रास के अधिकारी बन सकेंगे। इससे पूर्व देह सुधि रहते तक तो कुछ भी नहीं मिलता, तभी तो यह कहा कि—

"पाँचै भूलै देह सुधि छठे भावना रास की।"

परन्तु यह देह-गेह की सुधि-बुधि की 'भूल' मिलेगी—'तदनुग्रहेण'—उनके अनुग्रह से ही, किसी को भी अपने साधन-बल से आज तक नहीं मिली तथापि यह ध्यान रहे कि यहाँ—"अनुग्रह" शब्द है, "पूर्वग्रह"—नहीं है। (अर्थात् अनु—पश्चात् ग्रह पकड़ है) अर्थात् हमारे साधन के पूर्व में नहीं, पीछे ही चलने वाला, साथ लगे रहने वाला उनका ग्रहण (पकड़) है, अतः दो हाथ तो हमें उठाने ही पड़ेंगे, दो पग तो हमें चलना ही होगा, तभी तो उनके सहस्र हाथ उठेंगे और तभी उनके सहस्र पग भी दौड़ेंगे।

वृन्दावनधाम के रसस्वरूप की, दर्शन की अभिलाषा से श्रीवृन्दावन का सेवन करने वाले साधकों को श्रीवृन्दावन महिमामृत-शतक के रचयिता श्री श्री गौराङ्ग महाप्रभु के कृपापात्र श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती महोदय की यह चेतावनी सतत स्मरण रखनी चाहिए—

स्वानन्द सच्चिद्घनरूपतामतिर्यावन्न वृन्दावनवासि जन्तुषु।
तावत्प्रविष्टोऽपि न तत्र विन्दते ततोऽपराधात् पदवीं परात्परम् ॥

अर्थात् केवल श्रीवृन्दावनविहारी एवं श्रीविहारिणी में ही नहीं, अपितु वृन्दावनवासीमात्र—पशु-पक्षी, स्थावर, जङ्गम, जड़-चेतन समस्त में जब तक सच्चिदानन्दघन बुद्धि न होकर प्राकृत बुद्धि ही बनी रहेगी, तब तक यह जीव महापराधों का संचय ही करता रहेगा। जिसके कारण वृन्दावन में प्रवेश प्राप्त होने पर भी वह वृन्दावन के परात्पररसतत्त्व के स्वरूप से वंचित ही रह जायेगा, और वृन्दावनवास की योग्यता से भी वंचित हो जायेगा।

यदैव सच्चिद्रसरूप बुद्धिर्वृन्दावनस्थ स्थिरजङ्गमेषु।
स्याच्चिर्व्यलोकं पुरुषस्तदैव चकास्ति राधाप्रिय सेवि रूपः ॥

और जब वृन्दावनवासी चराचर—प्राणिमात्र में सच्चिदानन्दरसमय बुद्धि हो

जायेगी, तभी वह पुरुष श्रीराधाकृष्ण की प्रियसेवा के योग्य सखी रूप को धारण कर प्रकाशित होने लगेगा।

तात्पर्य यह है कि श्रीराधा-कृष्ण का नाम सतत रटता रहे और अपराधों से बचता रहे तभी व्रज-रस के अधिकार को प्राप्त हो सकता है।

मूल श्लोक—

प्रेमदं च मे कामदं च मे वेदनं च मे वैभवं च मे।
जीवनं च मे जीवितं च मे दैवतं च मे देव नापरम् ॥१०४॥

पद्यार्थ— **तू ने मुझको प्रेम दिया है, काम दिया है।**
ज्ञान दिया है, वैभव का विश्राम दिया है॥
तू जीवन है, तू जीवन का एक सहारा।
जीवन के अधिदेव! न कोई और सहारा॥

भावार्थ—मुझे प्रेम प्रदान करने वाला, मेरी कामनाओं का सम्पूरक, मेरे ज्ञान और ऐश्वर्य मेरे जीवन और जीवन के आलम्ब तथा मेरी आत्मा के अधिदैव—आप ही मेरे सर्वस्व हैं—आपके अतिरिक्त मेरा अपना और कोई नहीं है।

रसिका-टीका—पूर्वश्लोक में रासलीलाविहारी श्रीकृष्ण के लिये त्रिलोकी के सौभाग्य-मुकुटमणि के रूप में सम्बोधित किया गया था, अब उसी रूप को अपना अनन्य साधन तथा साध्य बताते हुए इस श्लोक में वर्णन करते हैं—

"**दैवतं च मे देव नापरम्**"—हे रासलीलापरायण देव! तुम ही मेरे परम दैवत-अर्थात् (१) इष्टदेव हो—भक्तिपूर्वक सेवन करने योग्य हो, एकमात्र आश्रय के स्थान तुम्हीं हो, (२) तुम्हारा यह मधुर रसविलास ही मेरा अभीष्ट है, अथवा (३) तुम ही मेरे देव हो—सर्व देवमय हो, तुम्हारी आराधना में ही सबकी सेवा-पूजा है। तुम्हारे इस किशोर रसिकशेखर स्वरूप के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई भी इष्टदेव नहीं है। मेरे सब कुछ तुम्हीं हो—

मम वीणा के सब तार तुम्हीं, करतार तुम्हीं सरकार तुम्हीं।
सरकार तुम्हीं, स्वरकार तुम्हीं, टंकार तुम्हीं झंकार तुम्हीं॥
मेरे प्रेम काम के धाम तुम्हीं, मेरे हृदयज्योति के ज्ञान तुम्हीं।
मेरे सुख-संपद के धाम तुम्हीं, इस पार तुम्हीं उस पार तुम्हीं॥
तुम सों ही प्राण हैं प्राण तुम्हीं, तुम सों ही काम है काम तुम्हीं।
तुम में सब देव हैं देव तुम्हीं, आधार तुम्हीं प्रेमाधार तुम्हीं॥

"**प्रेमदं च मे नापरम्**"—तुमही मेरे प्रेमदाता हो, तुमने ही मुझको अपना दिव्य अद्भुत प्रेम प्रदान किया है। आपने ही—"**तद्विलासश्रवणादेरेव प्रेमोत्पादकत्वात्**"—अपने लीलाविलास का श्रवण-दर्शन कराया, फिर मेरे हृदय में प्रेम—'लौल्य अर्थात् चाह उत्पन्न कर दी, अतएव हे नाथ ! तुम ही मेरे प्रेमदाता हो, तुम्हारे अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी मेरे प्रेम का ग्राहक नहीं है।

"**कामदं च मे नापरम्**"—मेरे काम—दाता भी तो तुम ही हो, अर्थात् मेरी मधुर रति की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला तो तुम्हारा यही एक किशोर स्वरूप है, अन्य बाल, कौमारादि स्वरूप इसकी पूर्त्ति नहीं कर सकते, इतना ही नहीं—

"**वेदनं च मे नापरम्**—१—और प्रभो ! तुम ही मेरे प्रेम के शिक्षक हो, अतः शिक्षा गुरू भी हो, इसीलिये प्रथम श्लोक में कह चुके हैं कि—"**शिक्षा गुरुश्च भगवान् शिखिपिच्छ मौलिः**"। यदि कहो कि मुक्ति तो ज्ञान से होती है, प्रेम से नहीं तो प्रभो ! २—तुम ही मेरे सुनिश्चित ज्ञान हो-तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान दाता भी नहीं है—'**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**"—गीता १५-१५। आपके ही द्वारा स्मृति, ज्ञान तथा संशय, भ्रमआदि का नाश होता है, और यदि कहो कि—"निश्चय ज्ञान तो बहुशास्त्रावलोकन, तथा पाण्डित्यपूर्ण विचार के द्वारा ही प्राप्त होता है, तो सुनिये —

"**वैभवं च मे नापरम्**"—(१) मेरी पांडित्यपूर्ण विचार सम्पत्ति भी तुम ही हो, तुम्हारे अतिरिक्त मेरी कोई विचार सम्पत्ति भी नहीं है। अथवा तो "तू प्रेम को ही ज्ञान मान कर मुक्ति का निरादर करता है—सो तो ठीक ही है, क्योंकि शुद्ध भक्त का यही स्वभाव होता है, यदि कहो कि - वैकुण्ठ की इच्छा तो वह भी करता है तो (२) "वैभवं च मे-नापरम्"—तुम ही मेरी वैकुण्ठ की सम्पत्ति भी हो, तथा अन्य सर्व-सम्पत्ति भी तुम ही हो, तुम्हारे अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है।

"**जीवनञ्च च मे जीवितञ्च मे नापरम्**"—अन्य कोई सम्पत्ति न भी प्राप्त हो तो प्राण छटपटाते नहीं, परन्तु तुम्हारे बिना तो मेरे प्राण रह ही नहीं सकते अतः तुम ही मेरे जीवन भी हो, और तुम ही मेरे "**जीवितं**"—जीवन में हेतु भी हो अर्थात् तुम्हारे रासविलास के आस्वादन के लिये ही मैंने प्राण धारण किया है, अन्य किसी प्रकार की सुखेच्छा मुझे नहीं है।

परन्तु प्रभो ! आप यह भी कहते होंगे कि—हे विल्वमङ्गल ! तुम तो 'प्रेम' के पीछे पागल होगये हो, केवल प्रेम से जीवन का निर्वाह कैसे चल सकेगा ?" तो, सुनिये—**जीवनं च मे नापरम्**"—तुम ही मेरे जीवन निर्वाह के एक मात्र उपाय भी हो,—**'जीव्यते येनोपायेन तज्जीवनं त्वमेव**"—

फिर नाथ ! आप तो गीता में वचन बद्ध हैं, आपने ही तो कहा है न ?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाःपर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।—गीता ९-२२

अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करने वाले तथा मुझमें ही नित्य संलग्न जनों के योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ, तो प्रभो ! मेरे जीवन का निर्वाह भी आपको ही करना पड़ेगा ।

अच्छा तो तुमको अपना प्राण ही अति प्रिय है । इसलिये तुम जीवन धारण करना चाहते हो, क्यों ?" नहीं, नहीं देव ! "**जीवितं च मे नापरम्**'—**त्वदर्थमेव प्राणधारणमपि, न स्वतः, त्वत्सेवाद्यभावे तदैव गच्छन्तु प्राणाः—श्री गोपाल भट्ट** । अर्थात् आपके सुख के लिये ही यह प्राण-धारण भी है, मेरी तो कोई सुखेच्छा नहीं है, यह देह आपकी कोई तुच्छ सेवा करके, यह वाणी भी आपकी लीला—श्रवण कराके, आपका यत्किञ्चित सुख-साधन कर सके—केवल इसीलिये यह प्राण धारण है, अन्यथा तुम्हारी सेवा जिस क्षण भी इसे प्राप्त न हो, उसी क्षण ये प्राण निकल जाँय ? यही उत्तम है—क्योंकि जीवन-धारण करने की सार्थकता यही है—

प्राण वही रीझैं वा ऊपर, रूप वही जिहि वाहि रिझायो ।
शीश वही जेहि वे परसें पद, देह वही जिन वा परसायो ।।
दूध वही जु दुहायो री वाहिने, सोई दही जु वही ढरकायो ।
और कहाँ लौं कहौं 'रसखान' सुभाव वही जु वही मन भायो ।।

बैन वही उनको गुन गावैं, औ कान वही उन बैन सों सानी ।
हाथ वही उन गात सरैं, अरू पाइ वही जु वही अनुजानी ।।
जान वही उन आन के संग, औ मान वही जु करै मनमानी ।
त्यों 'रसखान' वही रस-खानि, जु है रसखान सो हों रसखानी ।।

रुचि लैन बनाये अंग अंग श्याम श्यामा के,
परै धिक्कार जगत नाना कर्म कीबै पै ।
पाँयन को धोय-धोय निज कर सों न पान कियो,
आली ! अंगार परै शीतल जल पीबै पै ।

विहरे न वृन्दावन कुंजन लतान तरै,
गाज परै आन फुलवारी रस लीबै पै।
'ललितकिशोरी' बीते बरष अनेक हाय,
देखे नहिं प्राण प्यारे छार ऐसे जीवै पै।

इसलिये नाथ! मैं तो तुमसे तुम्हीं को माँगता हूँ—

हर सुबह उठ कर मांगूँ हूं तुझसे तुझी को।
तेरे सिवा और कोई मेरा मुद्दआ नहीं है॥

और हम तो अब अपनी मस्ती में मस्त रहते हैं, न स्वर्ग की इच्छा है और न मोक्ष की ही कामना है—

पी पी के माधुरी सरस मगन रहते हैं। नहिं स्वर्ग और अपवर्ग चाह करते हैं।
हम नाम सुधा से मधुर चखा करते हैं। इक तेरे भरोसे निडर रहा करते हैं॥
कभी विरह ताप की तपन जला करते हैं। कभी पादपद्म-युग निरख मुदित होते हैं।
'बलवंत' संत इस ढंग जिया करते हैं। सब आयु समर्पण श्रीहरि को करते हैं॥

अतएव हे मेरे देव! प्रसन्न होओ, मेरी परीक्षा मत लो! मुझे ऐसे—ऐसे उपदेशों से अब और अधिक भुलाओ नहीं, बहकाओ मत! मेरे तो देह, मन, प्राण, जीवन, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, भक्ति-मुक्ति, प्रेम, कर्म, पुरुषार्थ, हे देव! —सब आप ही हैं।

भजौं तो गुपाल ही को, सेवौं तो गुपाल एक,
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नन्दलाल सौं।
मेरे देव, देवी, गुरु, मात, पिता, बन्धु, इष्ट,
मित्र, सखा, नातो सब, एकै गोप बाल सौं॥
"हरिश्चन्द" और सों न मेरो सम्बन्ध कछु,
आसरो सदैव एक लोचन विशाल सौं।
मांगौं तो गुपाल सों, न मांगौं तो गोपाल ही सों,
रीझौं तो गोपाल ही पै, खीजौं तो गुपाल सौं॥

मूल श्लोक अनुष्टुप् छन्दः —

माधुर्येण विवर्द्धन्तां वाचो नस्तव वैभवे।
चापल्येन विवर्द्धन्तां चिन्ता नस्तव शैशवे॥१०५॥

पद्यार्थ— तेरे वैभव के वर्णन में मेरी वाणी का विकास हो।
शब्द-शब्द में वर्ण-वर्ण में महा मधुरता का विलास हो॥

अनुदिन और गहन हो जाये तेरे शैशव का परिचिन्तन ।
चंचलतामय मंजुलता करती समोद जिसका आलिंगन ।।

भावार्थ—आपके विलास-वैभव के माधुर्यपूर्ण वर्णन में ही मेरी वाणी का विकास हो और आपके चापल्यपूर्ण ललित शैशव के चिन्तन में ही मेरी चिन्ता अभिवृद्ध हो ।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल के. प्रीतिनिष्ठापूर्ण वचनों को सुनकर मानो श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर कहने लगे—साधु ! लीलाशुक ! साधु ! तुम्हारी ऐसी प्रगाढ़ दृढ़ता से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, मेरा दर्शन कभी भी व्यर्थ नहीं होता, अतः तुम स्वेच्छा से जो चाहो—वर माँग लो ।

इस पर विल्वमङ्गल भगवान् से दो वरों की प्रार्थना करते हुए बोले कि—हे विभो ! हे श्रीकृष्ण ! मेरी वाणी में तो इतनी शक्ति कहाँ ? कि वह तुम्हारे रूप, लावण्य, सौन्दर्य-विलास और ऐश्वर्यादि समस्त सम्पत्ति का विशद् वर्णन कर सके ? क्योंकि चतुर्दश भुवनों की सुन्दरता आपके इस श्याम-वपु में तथा तप्त-काञ्चन गौराङ्गी श्रीराधा के विग्रह में समाई हुई है, इस सुन्दरता का वर्णन तो लाख करोड़ वाणियों के द्वारा भी नहीं हो सकता, फिर मेरे पास तो एक ही वाणी है—

भुवन चतुर्दश की सुन्दरता सुन्दर श्याम राधिका गोरी ।
जय 'श्रीभट्ट' कहाँ लौं वरनौं रसना एक न लाख करोरी ।।

अतः प्रभो ! यदि आप प्रसन्न हैं तो—प्रथम वर तो यह दीजिये कि—तुम्हारे रस-लावण्य से पूर्ण विलास-माधुर्य आदि वैभव के सम्बन्ध में मेरी वाणी की शक्ति निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होवे, परन्तु वह—"**माधुर्येण सह विवर्द्धताम्**"—माधुर्य के साथ ही वृद्धि को प्राप्त हो, क्योंकि आप तो समग्र ऐश्वर्यशाली भगवान् भी हैं, कहीं आपने ऐश्वर्य के प्रति मेरे हृदय को आकर्षित कर लिया तो मेरा सर्वनाश हो जायेगा, अतः मैं आपके गुण तो अवश्य गाना चाहता हूँ, परन्तु—"त्रिभुवन ईश्वर" कहकर नहीं, अपितु "त्रिभुवन सुन्दर" के मधुर गुणों का गान करना चाहता हूँ, क्योंकि आपके 'जगन्नायक' रूप की स्तुति-स्तवन में मेरी प्रीति नहीं है, मेरी रसना तो 'राधानायक' 'गोपीनायक' की मञ्जु-महिमा का गान करने में रुचि रखती है, अतएव हे सौन्दर्य माधुर्य-विलास-निधि विभो ! मैं तुम्हारी लीला के माधुर्य को ही माधुर्यमयी भावना से प्राण भर कर, जीवन-भर वर्णन करने में समर्थ हो सकूँ—यही मुझे प्रथम वरदान दीजिये, बस—मुझे यही चाहिये—

वृन्दावन आनन्द विहार चारु दंपति के,
ताकी दिन रात बात सुनि-सुनि जियो करूँ।
ललित हिंडोरा सांझी रास रंग दीपमाला,
फूलनि की कुञ्ज रुचि रचना कियो करूँ॥
नित ही वसन्त यहाँ होरी चित चोरी चाव,
'नागरिया' केलि ये सकेलि के लियो करूँ।
दियो करूँ येई और येई सुख लियो करूँ,
ये ही दिन रैंन रस-रसिकों का पिया करूँ॥

और हे प्राणनिधि श्याम! दूसरा वरदान यह प्रदान करो कि आपकी किशोरावस्थापूर्ण-लीला के चिन्तन, स्मरण की शक्ति निरन्तर अधिकाधिक रूप से अहर्निश बढ़ती रहे, अर्थात् आपकी लीला का मैं नित्य-निरन्तर अतिशय रूप से सतृष्ण होकर चिन्तन करने में समर्थ हो सकूं, अथवा आपको प्राप्त करने की मेरी उत्कण्ठा—'चापल्येन विवर्द्धताम्" अतिशय चञ्चलता के साथ अनुक्षण बढ़ती रहे। क्योंकि इस उत्कण्ठा-लालसा की वृद्धि होने से ज्यों-ज्यों आपकी कैशोर-चापल्यपूर्ण माधुरी का श्रवण-कीर्त्तन अधिकाधिक होगा-त्यों-त्यों श्रवण-कीर्त्तन की सार्थकता होगी, फिर आपकी प्राप्ति के लिये मेरे मन, प्राण और अधिक चञ्चल होते चले जायेंगे। बस, प्रभो! मैं इतना ही चाहता हूँ-यही वरदान दीजिये—

अब विलंब जिनि करौ लाड़िले, कृपा दृष्टि टुक हेरो।
जमुनापुलिन गलिन गहवर की, विचरूँ साँझ-सबेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी, रसिकन तें भटभेरो।
'ललितकिशोरी' तन-मन आकुल, श्रीवन चहल बसेरो॥

× × ×

रसिक पारखी प्रेम दिवाना राधावल्लभ छवि भीना है।
चित्त चारु चामीकर भीतर जडित सनेह नगीना है॥
पलपल प्यास परसन की लागी कीमत अजब नगीना है।
'युगलानन्य' दशा बिन ऐसी ज्यों नकटों का जीना है॥

इस श्लोक में विल्वमङ्गल ने दो वरदानों की प्रार्थना की है—(१) मुख से सदा कृष्ण-कीर्त्तन तथा (२) मन से सदा कृष्ण-लीला स्मरण।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः—

यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां,
ये वा शैशव चापल व्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः ।
या वा भावितवेणुगीतगतयो लीलामुखाम्भोरुहे—
धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे ॥१०६॥

पद्यार्थ— रसिक-भक्त करते हैं तेरे जिस चरितामृत-रस का पान ।
बाल-केलि वे अतिशय चञ्चल युवा-केलि राधा-रस दान ॥
वेणुगीत से मधुरीकृत मुख-पङ्कज के माधुर्य-विलास ।
करें निरन्तर इस अन्तर में वे सब केलि-कदम्बक रास ॥

भावार्थ—जिन आपके चरितामृतों को धन्यातिधन्य महात्मा अपनी रसना से पान करते हैं, जो-जो आपकी बाल-चापल्य से परिपूर्ण तथा दान-ग्रहण के व्याज से श्रीकिशोरी आदि को एकान्त स्थान में रोक लेने की रसमयी लीलाएँ हैं और जो-जो आपके मुखारविन्द पर होने वाले वेणुगीत की लय से मधुरीकृत हाव-भावपूर्ण-विलास हैं, वे सभी धारावाहिक रूप से मेरे हृदय में आविर्भूत होते रहें ।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल की पूर्वोक्त प्रार्थना को श्रवण कर मन्द-मन्द मुसकराते हुए श्रीकृष्ण बोले कि—हे लीलाशुक ! यह मेरा माधुर्य-कीर्त्तन तथा लीला-स्मरण तो तुम्हारे लिये सहज स्वभाव से प्राप्त है ही—इसके अतिरिक्त भी तुम्हारे हृदय में अन्य किसी प्रकार की इच्छा हो तो तुम उसकी प्रार्थना भी कर सकते हो । श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुन कर विल्वमङ्गल के हृदय में श्रीकृष्ण के भावी-अदर्शन की आशंका उत्पन्न हो आई है, तभी वे अदर्शन-जन्य विरह-व्यथा से निस्तार पाने के लिये श्रीकृष्ण के लीला-नाम-रसामृत की अखण्ड-स्फूर्त्ति की प्रार्थना करते हुए कहने लगे—

हे श्रीकृष्ण ! मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरी प्रार्थना तो यही है कि—मेरे हृदय में आपकी वे समस्त मधुमयी लीलाएँ अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहें, अर्थात् निरन्तर उनकी स्फूर्ति मेरे हृदय में भरी रहे—जिनकी मैं पूर्व-चर्चा कर चुका हूँ—

"**तानि प्राग्वर्णितानि**"—वे ही सब लीलाएँ जो मैंने प्रारम्भ से लेकर यहाँ तक वर्णन की हैं, केवल वे ही नहीं, उनके अतिरिक्त भी आपके

साक्षात्कार प्राप्त आत्माराम–शुक नारदादि महानुभावों ने अपनी रसना के द्वारा जिस चरितामृत का पान किया है—वह दिव्य धारा भी मेरे हृदय में नित्य प्रवाहित होती रहे। इतना ही नहीं, अपितु आपके कैशोर चापल्य सम्बन्धी लीलाएँ, यथा—श्रीराधिका मार्ग में दान-ग्रहण के छल से अवरोध करना, वृन्दावन में पुष्प-चयन के समय गोपियों के साथ श्रीराधा को रोकना, यमुना के मार्ग में गोपियों के साथ छेड़-छाड़ करना, और भी आपके मधुर वेणुनाद के द्वारा विभावित, मधुरीकृत मुखारविन्द के दर्शन से उत्पन्न लीलाएँ—अर्थात् मधुर मृदुहास्य, भ्रू-भङ्गी, नेत्र-भङ्गी प्रभृति हाव-भाव मेरे हृदय में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते रहें।

तात्पर्य मेरा यह है, प्रभो! कि—दुर्भाग्यवश कभी मेरा आपसे बाह्य वियोग भी हो तो अन्तर-वियोग कदापि नहीं होना चाहिये, अर्थात् आपकी ये समस्त लीलाएँ मेरे हृदय में अखण्डरूप से उदित होती रहें, हे नाथ! आपका यह दर्शन सदा इसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से मुझे होता रहेगा—यह सौभाग्य तो मेरा कहाँ है? अतएव लीला-स्फूर्ति ही मेरे हृदय में सर्वदा होती रहे, बस यह वरदान मुझे दीजिये।

इस श्लोक के द्वारा विल्वमङ्गल ने अपना हार्द प्रकट कर दिया है, वे चाहते हैं कि—श्रीवृन्दावन में आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला मेरे हृदय में सदा प्रकट रूप से नृत्य करती रहे, अर्थात् रास-विहारी व्रजविहारी नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण ही मेरी प्रार्थनीय वस्तु हैं। इनके अतिरिक्त मैं किसी के प्रति दृष्टिपात भी नहीं करूँगा—विल्वमङ्गल का यही अभिप्राय है। यही आपने–"**अपास्य वृन्दावन पादलास्यम्**" (श्लोक २२) में भी घोषित किया है।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन्यदि स्या—
द्देवेन नः फलति दिव्य किशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मा—
न्धर्मार्थ कामगतयः समय प्रतीक्षा ॥१०७॥

पद्यार्थ— **हे भगवन्! तेरे प्रति जन में जब होती है दृढ़-भक्ति उदय।**
तो दिव्य किशोर मूर्ति-फल को वह पा ही लेता है निश्चय॥

अञ्जलि बाँधे यह मुक्ति स्वयं ही रहती तत्पर सेवा में।
धर्मार्थ-काम भी सदा-सर्वदा रहते खड़े प्रतीक्षा में॥

भावार्थ—हे भगवन्! यदि आपमें दृढ़-भक्ति है, तो दिव्य किशोरमूर्त्ति-रूप फल सहज ही मिल जाता है और तदनन्तर मुक्ति तो हाथ जोड़कर सामने खड़ी ही रहती है, साथ ही धर्म, अर्थ और काम भी ऐसे भक्ति-हृदय की सेवा के अवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल की प्रार्थना को श्रवण कर श्रीकृष्ण मानो फिर कहने लगे कि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—रूप पुरुषार्थ चतुष्टय तथा पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम के फलस्वरूप साक्षात् मुझको अपने सन्मुख प्राप्त करके भी तुम मुझको त्याग कर मेरी लीला-स्फूर्ति की प्रार्थना क्यों कर रहे हो?

श्रीकृष्ण के इस वाक्य को श्रवण कर विल्वमङ्गल भक्ति-सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए चतुरता पूर्वक बोले कि—भगवन्! यदि आप में भक्ति सुदृढ़ हो जाय, तो सहज-स्वभाव से ही आपकी यह दिव्य किशोर-रास-रसिक-मूर्त्ति मुझको प्राप्त हो जायेगी, उसके लिए मुझे पृथक् से प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, आपके चरणों में भक्ति दृढ़ होने पर मुक्ति तो स्वयं बद्धाञ्जलि होकर सेवा की याचना करेगी, तथा धर्म, अर्थ, काम भी सेवा की लालसा लिये अवसर की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे।

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण की लीलाएँ यदि निरन्तर हृदय में स्फूर्ति को प्राप्त होती रहें, तो लीलाधीन—रसिकशेखर श्रीकृष्ण स्वयं ही आविर्भूत होकर हृदयरूप मन्दिर में विराजमान रहेंगे। श्रीमद्भागवत में श्रेष्ठ भागवतपुरुष का लक्षण बताते हुए हरियोगेश्वर ने कहा है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरि र वशाभिहितोऽप्यघौघ नाशः।
प्रणय रसनया धृताङ्घ्रि पद्मः स भवति भागवत प्रधान मुक्तः॥

—भागवत ११-२-५५

अर्थात् विवशता से नामोच्चारण करने पर भी सम्पूर्ण अघराशि को नष्ट कर देने वाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदय को एक क्षणभर के लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेम की रस्सी से उनके चरणकमलों को बाँध रक्खा है, वास्तव में ऐसा पुरुष ही भक्तों में प्रधान—भागवत कहाता है। विल्वमङ्गल का तात्पर्य यह है कि ऐसे भागवत् प्रधान के हृदय

को एक क्षण के लिये भी त्याग कर भगवान् अन्यत्र गमन नहीं करते हैं, कारण कि भक्त की प्रीति रूप रज्जु के द्वारा उनके चरण कमल हृदय में आवद्ध हो जाते हैं—भागवत प्रधान श्रीगदाधर भट्ट जी कहते हैं कि—मेरे हृदय में तो हृदयविहारी खेल रहा है, फिर यह आँखों में घुस जाने वाला, सौन्दर्य लावण्य से पूर्ण श्याम सलौना कौन है ? और वह गौचारण को जाने वाला कन्हैया कोई और है ? सखि ! मैं किससे कहूँ और कौन मेरी बात पर विश्वास करेगा, लोग मुझे पागल बतायेंगे, अतः मैं तो मौन धारण कर चुप हूँ, क्योंकि यह तो गूँगे का गुड़ है—

एक जु मेरी अँखियनि में निशि द्योस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि ! सोंधौं कन्हैया कौन ।।
कासों कहौं कौन पतियावै कौन करे वकवाद।
कैसे कै कहि जात 'गदाधर' गूँगे को गुड़ स्वाद ।।

अक्रूर-आगमन के प्रसङ्ग की बात है—कल प्रातःकाल श्रीकृष्ण मथुरा को गमन करेंगे- व्रज में यह बात घर-घर में फैल गई, ललिता आदि सखियों ने विह्वल अवस्था में श्रीराधाजी को जैसे-तैसे यह दुःसम्बाद सुना कर प्रार्थना की कि—हे सखि राधे ! अब तो व्रज का जीवन-प्राण तुम्हारे ही हाथ में है। तुम चाहो तो श्रीकृष्ण को बाँधकर रख सकती हो ! अब यहाँ व्रज में और किसी की भी सामर्थ्य नहीं है, जो उनको रोक कर रख सके।

महाभावस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी समाचार सुनते ही स्तब्ध रह गयीं और मूर्च्छित अवस्था में ही दिव्योन्माद की एक हँसी हँसकर कहने लगी हैं- बँगला के प्रसिद्ध भक्तकवि चण्डीदास के शब्दों में सुनिये—

ललितार कथा सुनि हाँसि विनोदिनी, कहि ते लागिलो धनि राई।
आमार छाँडिये श्याम मधुपुरी जाइबे, ए कथा तो कभू सुनि नाई ।।
हियार माँझारे मोर ए घर मन्दिर गो, रतन पालंग बिछा आछे।
अनुरागेर तुलिकाय, बिछान होये छे ताय, श्याम चाँद घुमाय रहे छे।।

अर्थात् मेरे हृदय-मन्दिर में प्रेम की शय्या पर वह श्याम सलौना सो रहा है, हृदय की गुफा में प्रेम के दरवाजे में वह बन्द है, फिर वह मुझे छोड़कर अक्रूर के साथ मथुरा कैसे जा सकता है ?

तोमरा जे बोलो श्याम मधुपुरी जाइवे, कौन पथे बन्धु पलाइवे।
ए बुक चिरिया जाबे बाहिर करिया दिवो, तबे तो श्याम मधुपुरी जाइवे ।।

सखियो ! तुम सब कहती हो कि श्याम मथुरा जायेंगे तो वे कौन-से मार्ग से भाग कर निकलेंगे ? मैं जब अपने हृदय को चीर कर उनको बाहर निकालूंगी, तभी तो वे श्याम मधुपुरी जा सकेंगे !

शुनिया राइर कथा, ललिता चम्पकलता, मने मने भाविला विस्मय ।
चण्डीदासेर मने हरस होइलो गो, घुचे गेलो मथुरार भय ॥

उन्मादिनी श्रीराधा की बात सुनकर ललिता आदि सखियों को सान्त्वना मिली, मन-ही-मन वे श्रीराधा के दिव्यभाव को देखकर आश्चर्य-चकित रह गयीं, श्रीराधा की यह प्रगाढ़ भावना कि श्रीकृष्ण तो हृदय में अवरुद्ध हैं, निकलकर जा ही नहीं सकते ! महाभाव का यह उज्वल रूप है ।

लीलाशुक विल्वमङ्गल ने भी यही कहा है कि—प्रभो ! आप शक्ति-शाली हैं, बलवान हैं, इसलिये दुर्बल का हाथ छुड़ाकर भाग सकते हो, परन्तु आपके पौरुष का पता तो तब चलेगा—जब मेरे हृदय-मन्दिर के सिंहासन से उठकर भाग जाओगे—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण ! किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि, पौरुषं गणयामि ते ॥

× × ×

हाथ छुड़ाये जात हो, निबल जान के मोहि ।
हृदय ते जब जाहुगे, सबल गिनोंगो तोहि ॥

परन्तु यह स्मरण रहना चाहिये, कि जिस प्रेमाभक्ति में बँधकर भगवान् हृदय में रमण करते हैं, वह भक्ति साधारणी विधि-भक्ति नहीं है । भाव-भक्ति भी नहीं है, यह तो भाव-भक्ति की परिपाकदशा–'प्रेमाभक्ति' है । अनर्थ-निवृत्ति होने पर विशुद्ध निर्मल चित्त में निष्ठा, रुचि तथा आसक्ति के अनन्तर 'प्रेमाभक्ति' की पूर्वावस्था भाव या रति का उदय होता है, जब वह रति गाढ़भाव को प्राप्त होती है, तब वही 'प्रेम' कहलाता है, उस समय हृदय अत्यन्त कोमल नवनीत के समान हो जाता है तथा श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ ममता उत्पन्न हो जाती है, ऐसे नवनीत-हृदय में नवनीत-चोर अपने आप ही घुस आते हैं, उनको बुलाने के लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता, घर में केवल प्रेमाभक्ति का नवनीत होना चाहिये ।

भक्ति-रसामृतसिन्धु में भक्ति के छः गुणों में एक अन्तिम सर्वश्रेष्ठगुण श्रीकृष्णाकर्षिणी बतलाया है, जो श्रीकृष्ण को खींचकर लाती है और हृदय-कन्दरा में बन्द कर देती है—

क्लेशघ्नी सुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द विशेषात्मा, श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

—भक्तिरसामृत-सिंधु पूर्व वि० १-१३

इनमें प्रथम दो गुण विधिभक्ति के हैं, मध्य के दो गुण भावभक्ति के अधिक हैं, तथा शेष के दो गुण प्रेमाभक्ति के अधिक हैं।

(१) विधिभक्ति में दो गुण—क्लेशघ्नी अर्थात् पाप, पाप का बीज-वासना तथा वासना का मूल और अविद्या—ये त्रिविध क्लेश हैं, विधिभक्ति इनका मूलोच्छेद कर देती है, तथा शुभदा जो शुभ को प्रदान करती है, शुभ से तात्पर्य जगत्प्रियता सद्गुण तथा वैकुण्ठ पर्यन्त के सुखों को सुलभ बना देती है।

(२) भावभक्ति में दो गुण हैं—मोक्षलघुताकृत- निर्वाणमुक्ति पर्यन्त समस्त पुरुषार्थ को तुच्छ कर देती है तथा 'सुदुर्लभा'—दुर्लभ प्रेम को प्राप्त कराती है। ज्ञान से मुक्ति, पुण्य से स्वर्ग का सुख प्राप्त हो जाता है, परन्तु सहस्रों साधनों से भी भक्ति प्राप्त होना सुदुर्लभ है। भगवान् भी मुक्ति प्रदान करते हैं, परन्तु भक्ति सहसा नहीं प्रदान करते-"**मुक्तिं ददाति कर्हिचित् न तु भक्तियोगम्**"—भागवत।

(३) प्रेमाभक्ति के दो गुण इस प्रकार हैं—सान्द्रानन्द विशेषात्मा-यह घनीभूतपरमानन्दस्वरूपा है, अतएव ब्रह्मानन्द सुख को भी तुच्छ कर देती है, और यह—श्रीकृष्णाकर्षिणी है। बीहड़ जङ्गलों में खिले सुगन्धित पुष्प के पास भ्रमर पहुंच ही जाता है, इसी प्रकार प्रेम-भक्ति जहाँ कहीं भी नीच-ऊँच, नर-नारी, मूर्ख-पण्डित—जिस किसी के हृदय में भी उदय क्यों न हो? श्रीकृष्ण उसकी सुगन्धि से आकर्षित होकर स्वयं ही हृदय-कमल पर पहुँच जाते हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धव के प्रति स्वयं कहा है कि-उद्धव! अतिशय वृद्धि को प्राप्त भक्ति जिस प्रकार मुझको वशीभूत कर लेती है, उस तरह योग, ज्ञान, कर्म, वेदपाठ, तप, त्याग-वैराग्य आदि कोई भी वश में नहीं कर सकता है—

न साधयति मां योगो नं सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता॥

—भागवत ११-२४-२०

श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—अच्छा, विल्वमङ्गल! यदि तुम्हें समस्त

विषयों से वैराग्य हो गया है, तो तुम आत्मसुखरूप मुक्ति को ग्रहण करो, और यदि वैराग्य नहीं है—तो धर्माचरण करो, उसके पश्चात् अर्थ और काम का भोग करो, केवल मेरी भक्ति के पीछे क्यों पड़े हो ? इसमें कोई सुख नहीं है।

इसके उत्तर में विल्वमङ्गल कहते हैं—भगवन् ! मुक्ति तो आपके नामोच्चारण-मात्र से ही अञ्जलिबद्ध होकर सेवा करने के लिये प्रार्थना करती रहती है, और धर्म, अर्थ, काम असहाय की भाँति मुक्ति के पीछे हाथ जोड़े खड़े देखते रहते हैं कि—कदाचित् भक्त हमारी ओर भी दृष्टि उठाकर देख ले, तो हम भी कृतार्थ हो जायेंगे, परन्तु आपका भक्त आपके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी दृष्टि डालना नहीं चाहता। अतएव प्रभो ! मुझे तो आपकी भक्ति ही प्रार्थनीय है।

पद्मपुराण में श्रीमद्भागवत-माहात्म्य के प्रसङ्ग में नारदजी ने भक्तिदेवी को सान्त्वना देते हुए कहा है कि—हे देवी ! तुम श्रीकृष्ण की प्राणाधिका-प्रिया हो, तुम्हारे आह्वान पर भगवान् नीच के गृह में भी तत्क्षण प्रवेश करते हैं। सत्य, त्रेता तथा द्वापर युगों में ज्ञान-वैराग्य, मुक्ति के साधन थे, परन्तु—"**कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी**" कलियुग में विशुद्ध भक्ति ही ब्रह्मसाक्षात्कार कराने वाली है। भगवान् श्रीकृष्ण ने सच्चिदानन्दमयी सुन्दरी प्रिया के रूप में तुम्हारी सृष्टि की थी, तब तुमने हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की, कि—मुझे क्या आज्ञा होती है ? तब श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा कि—तुम मेरे भक्तों का पालन-पोषण करो। इस कार्य में मुक्ति तुम्हारी सहायता करेगी—"**मुक्ति दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञान वैराग्य काविमौ**" मुक्ति को दासी के रूप में और ज्ञान-वैराग्य को पुत्र-रूप में प्रदान किया था।

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों में यह स्पष्ट कहा है कि—भगवान् में भक्ति होने पर ज्ञान, वैराग्य, मुक्ति स्वयं ही सेवा में उपस्थित हो जाते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

—भागवत १-२-७

भक्ति भगवान् की निःस्वार्थ सेविका है, अतः भक्ति धर्म को निष्कपट (निःस्वार्थ) कहा है, और धर्म, अर्थ, काम तो कपट (स्वार्थ) के स्वरूप हैं,

अतः भागवत आदि भक्ति शास्त्रों में मोक्ष पर्यन्त को भी कपट कहा है, श्रीधर स्वामीपाद श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही—"**धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमः**" की टीका में लिखते हैं कि—**प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं फलाभिसन्धि लक्षणं कपटं यस्मिन् सः, प्र शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपिनिरस्ताः ' केवलमीश्वराराधन लक्षणो धर्मः**"

अर्थात् कैतवनाम कपट का है, यहाँ परमार्थ में कपट है ?—मोक्ष की इच्छा। यह मोक्ष की इच्छा जिस धर्म के मूल से निकल जाती है, वह धर्म शुद्ध होकर केवल श्रीहरि की सेवामात्र रह जाता है, वह भागवत धर्म है—

अज्ञान तमेर नाम कहि जे कैतव। धर्म अर्थ काम मोक्ष वाञ्छा एइ सब।
तार मध्य मोक्ष वाञ्छा कैतव प्रधान। जाहा होइते कृष्ण प्रेम होय अन्तर्द्धान॥

—चैतन्यचरितामृत

अतएव भक्तिशास्त्रों में ठीक ही कहा है—

भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावत्प्रेम सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

भुक्ति (धर्म, अर्थ. काम) तथा मुक्ति की इच्छा—यह पिशाचिनी जब तक हृदय में रहती है, तब तक प्रेम-भक्ति का निष्कपट निर्मल सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसी कारण भक्त इन पुरुषार्थ—चतुष्टय में से किसी को भी नहीं चाहता, भगवान् कपिलदेव भी कहते हैं कि—भक्त मेरी सेवा के बिना सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य आदि पाँचों मुक्तियों को भी नहीं चाहता, क्योंकि वहाँ सेवा सुख नहीं है –

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

—भागवत ३-२९-१३

तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण की सेवा एवं उनकी मधुर लीलाओं का चिन्तन, श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि के अतिरिक्त अन्य समस्त पुरुषार्थ भक्त के लिये अत्यन्त तुच्छ हैं, अतएव विल्वमङ्गल भी उसी कृष्णलीलादि चिन्तन की निरन्तर स्फूर्ति के लिये वरदान की याचना कर रहे हैं।

मूल श्लोक अनुष्टुप् छन्दः —

जय जय जय देव देव देव त्रिभुवन मङ्गल दिव्य नाम धेय।
जय जय जय देव कृष्णदेव श्रवण मनोनयनामृतावतार॥१०८॥

पद्यार्थ— **हे देव ! आप तीनों लोकों के मङ्गलकारी हैं।**
हे देव ! आपके दिव्य नाम की हम बलिहारी हैं।।
हे देव ! नयन, मन और श्रवण के आप सुधारक हैं।
ये देव देव, ये कृष्णदेव प्राणों के पारस हैं।।

भावार्थ—हे तीनों लोकों का मंगल करने वाले, हे दिव्य नामधारी, हे कृष्ण ज्योतिपुञ्ज ! हे श्रवण, मन और नयनों को आनन्दित करने वाले अमृतावतार ! आपकी जय हो ! जय हो !! जय हो !!!

रसिका टीका—आनन्द-सौन्दर्य-सिन्धु श्रीकृष्ण को विल्वमङ्गल के साथ मधुर रसमयी वार्त्ता करने में आनन्द आरहा है। अतः वे पुनः मन्द-स्मित से युक्त अपने कृपाकटाक्ष को बखेरते हुए विल्वमङ्गल से बोले—लीला शुक ! तुमने वृन्दावन की यात्रा प्रारम्भ करते समय "**चिन्तामणि-र्जयति**"–इस प्रथम श्लोक से प्रारम्भ कर--"**केयं कान्तिः**"--इस (९५ श्लोक) पर्यन्त मेरे लीला-माधुर्य का गान किया है, इसके अनन्तर तुम--"**भूयो भूयो भूयशस्त्वां नमामि**"--कह कर वर्णन से विरत होगये ! अतएव मैंने पुनः तुम्हारी मधुरवाक्य रचना को श्रवण करने के लिये ही अनेक भाँति के प्रश्न किये हैं, और तुमने भी अपने वाक्यामृत द्वारा मुझे अत्यन्त तृप्त किया है, अतएव तुम्हारी इस रस-सिञ्चित-वाक्य रचना ने मेरे लिये कर्णामृत का कार्य किया है, अर्थात् कर्ण के द्वारा मेरे हृदय को रससिंधु से भर दिया है। अतः यह रचना–'कर्णामृत'-नाम से प्रसिद्ध होवे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के स्नेहपूर्ण मधुरवाक्यों को श्रवण कर विल्व-मङ्गल का हृदय उल्लास से भर गया और वे आनन्द सागर में गोते लगाते हुए श्रीकृष्ण के परम माधुर्यमय अनन्त लीला गुणों के उत्कर्ष का जयगान करने लगे--प्रगाढ़ भक्ति एवं सम्भ्रम के सहित श्रीकृष्ण का परमोत्कर्ष गान करते हुए विल्वमङ्गल बोले—

जय कृष्ण ! कर्णामृत-अवतारा, जय कृष्ण ! मनो-ऽमृत अवतारा।
जय कृष्ण ! नैनामृत-अवतारा, जय देव, जय देव, जय जय देव ।।

जय-गान के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीला की सर्वोत्कर्षता की घोषणा करते हुए कहते हैं--

(१) श्रीकृष्ण स्वरूप का सर्वोत्कर्ष--

श्रीकृष्ण देव हैं--त्रिभुवन को प्रकाश करने वाले हैं–**द्योतति** त्रिभुवन

में क्रीड़ा करने वाले हैं—**क्रीडति** । त्रिभुवन की क्रीड़ा से प्रमुदित होने वाले हैं—**मोदति** । त्रिभुवन को आनन्दित करने वाले हैं--**मादयति** ।

श्रीनन्ददासजी के मुख से नन्दनंदन श्रीकृष्ण के उत्कर्ष का वर्णन सुनिये--

नंद भवन को भूषन माई ।
यशोदा को लाल वीर हलधर को राधारमण परम सुखदाई ॥
शिव को धन, संतन को सर्वस, महिमा वेद पुरानन गाई ।
इन्द्र को इन्द्र देव देवन को, ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई ॥
काल को काल, ईश ईशन को, अति ही अतुल तुलौ नहीं जाई ।
'नंददास' को जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव को कुंवर कन्हाई ॥

'श्री हरिराम व्यास' भी तो यही कहते हैं, उनकी दृष्टि में तो सर्वोपरि ठाकुर यही है, सब अवतारों का अवतारी भी यही है—

राधाबल्लभ मेरो प्यारो ।
सर्वोपरि सबही को ठाकुर, सब सुखदानी हमारो ॥
श्याम कमल दल लोचन मोचन, दुख नैननि को तारो ।
अवतारी सब अवतारन को, महतारी महतारो ॥
मूरतिवंत काम गोपिन को, गाय गोप को प्यारो ।
'व्यास दास' को प्राण जीवन सम, छिन भर हृदय न टारो ॥

अतएव श्रीकृष्ण ही एकमात्र "देव" हैं—श्रीविल्वमङ्गल ने भी इसी देव को सत्यदेव कहा है-इसी ग्रन्थ के श्लोक ५५ में—"**सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि**"—कहा गया है, श्रीकृष्ण ही परदेवता हैं, उन्हीं का ध्यान धरो, उन्हीं की पूजा करो और उन्हीं की उपासना करो—"**कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत् यजेदिति**"—**गोपालतापिनी उपनिषद्**—अतएव जयदेव ! जयदेव ! जयदेव !

(२) श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण के नाम का सर्वोत्कर्ष गान करते हुए लीलाशुक विल्वमङ्गल कहने लगे—"**त्रिभुवनमंगलदिव्य "नामधेय**"—त्रिभुवन के मङ्गलस्वरूप आप दिव्यनामधारी हैं, अर्थात् आपका यह "कृष्ण" नाम समस्त भुवनों का मङ्गल करता है अतः यह दिव्य है, अद्भुत है (श्री गोपाल-भट्ट) असाधारण एवं सर्वोपरि है—(श्री चैतन्यदास) तथा अत्यन्त रुचिर एवं मनोहर है—(श्रीकृष्णदास कविराज) ।

"कृष्णनाम ही सर्व नामों में मुख्य नाम है, पद्मपुराण के प्रभास खण्ड में नारद-कुशध्वज सम्वाद में श्रीभगवान स्वयं अर्जुन के प्रति कहते हैं कि—"हे अर्जुन ! भूमण्डल के समस्त नामों में मुख्यतम नाम मेरा-'कृष्ण'—नाम ही है—"**नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप**"—श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी भी कहते है—

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥

—भागवत ११-३०-४६

जैसे भौंरा सार-सार मधु संग्रह करता है, वैसे ही वेदों का सार संग्रह कर श्रीकृष्ण ने भक्तों को संसार से मुक्त करने के लिये ज्ञान-विज्ञान का सार निकाला तथा क्षीर समुद्र से अमृत निकाल कर भक्तों को पिलाया, ऐसे पुरुषोत्तम 'कृष्ण' नामक आदि कारण अनादि पुरुष श्रेष्ठ को नमस्कार है। ब्रह्माण्ड पुराण के श्रीकृष्णोत्तरशत नाम में कहा गया है—

सहस्र नाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्यास्तु यत्फलम् ।
एकावृत्या तु कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति ॥

तीनबार पुण्यमय सहस्र नामों का पाठ करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल श्रीकृष्ण के एक नाम उच्चारण मात्र से प्राप्त होता है,-"कृष्ण" शब्द ही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का वाचक है—

कृषिर्भू वाचकः शब्दोणश्चानन्दस्वरूपकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

"कृषि" का अर्थ है सत्ता, अर्थात् जो सत् है तथा 'ण' का अर्थ है—आनन्दस्वरूप, अर्थात् जो रस का सागर है, दोनों को योग करने पर सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म 'कृष्ण' इस नाम की संज्ञा होती है।

जैसे 'राम' नाम के अनेक अर्थ होने पर भी 'राम' शब्द का मुख्य प्रचलित अर्थ—"दशरथनन्दन राम" ही होता है—'कृष्ण' नाम का भी मुख्य प्रचलित अर्थ—"नन्दनन्दन कृष्ण" ही है।

यशोदानन्दन कृष्ण ही 'कृष्ण' शब्द से ग्राह्य होते हैं, इसका एक और उदाहरण देखिये,—श्रीचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथधाम में निवास कर रहे थे, उन्हीं दिनों श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलने आये, एक दिन जब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण का नाम जप कर रहे थे,

उसी समय श्रीवल्लभाचार्यजी ने आकर कहा—प्रभो ! मैंने 'कृष्ण' नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी है, आप उसे श्रवण करें, इस पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जो उत्तर दिया था, वह ध्यान देने योग्य है, उन्होंने कहा—वल्लभ ! 'कृष्ण' शब्द के बहुत से अर्थ हो सकते हैं—यह मैं नहीं जानता, मैं तो केवल श्यामसुन्दर यशोदानन्दन श्रीकृष्ण को ही जानता हूँ—

कृष्ण नामे बहु अर्थ आमि नाहिमानी ।
श्यामसुन्दर यशोदानन्दन एइ मात्र जानि ।।
तमाल श्यामल त्विषि श्रीयशोदास्तनन्धये ।
कृष्ण नाम्नो रूढिरिति सर्वशास्त्र विनिर्णयः ।।

—चैतन्यचरितामृत अन्त्य खण्ड

अर्थात् तमाल के सदृश श्यामवर्ण वाले, यशोदानन्दन में ही श्रीकृष्ण नाम की रूढ़ि है, समस्त शास्त्रों का यही निर्णय है ।

यह 'कृष्ण' नाम, नामी—कृष्ण से अभिन्न है, एवं तादृश गुण सम्पन्न है, इसी कारण श्रीकृष्ण विग्रह के समान ही दिव्य अद्भुत, असाधारण, अप्राकृतिक, चिन्मय, आनन्दमय, रसमय तथा परम मंगल स्वरूप है ।

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य रसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्य मुक्तोऽभिन्नत्वन्नाम नामिनो ।।

—पद्मपुराण विष्णुधर्नोत्तर

नाम, विग्रह, स्वरूप, तिन एक रूप । तीने भेद नाहिं, तीन चिदानन्द रूप ।।
कृष्ण नाम, कृष्ण गुण, कृष्ण लीला वृन्द ।
कृष्णेर स्वरूप हय सब चिदानन्द ।।

—चैतन्यचरितामृत मध्य खण्ड

श्रीकृष्णनाम त्रिभुवन का मङ्गल करने वाला और मधुर से भी मधुर है—

मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां, सकलनिगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ।।

साधक के लिये तो यह नाम मधुर है ही, सिद्ध एवं मुक्तपुरुष भी कृष्ण नाम का गान करते हैं, क्योंकि मधुर से भी मधुरतर है । बड़े-बड़े आत्माराम शुक आदि मुनि भी जिनकी समस्त तृषायें निवृत्त हो गई हैं, वे भी 'कृष्ण' नाम के रस में अवगाहन करते हैं, संसार रूप रोग की यह 'कृष्ण' नाम महौषधि है, कर्णरसिकों के लिये यह 'कृष्ण' नाम रसायन है—

निवृत्ततर्षैरूपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्र मनोऽभिरामात् ।
क उत्तम श्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येतविना पशुघ्नात् ।।

—भागवत १०-१-४

सिद्धों से भी अधिक, सबसे अधिक 'कृष्ण' 'कृष्ण' इन दो अक्षरों की मधुरिमा और महिमा को सर्वाधिक रूप में एक मात्र जानती हैं—श्रीराधा। और 'राधा' इन दो अक्षरों की मधुरिमा और उसके सार्वभौम स्वाराज्य पद के स्वरूप को एक मात्र श्रीकृष्ण ही जानते हैं—

"राधामाधुर्य वेत्ता मधुपति रथतन्माधुरीं वेत्ति राधा"—राधारस सुधानिधि

और 'कृष्ण' इस वर्णद्वयी में न जाने कितना रस भरा हुआ है—

तुण्डे ताण्डविनी रति वितनुते तुण्डावली लब्धये ।
कर्ण क्रोड कडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृति,
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ।।—विदग्ध माधव

'कृष्ण'-रस का पान करते समय इन्द्रियों की दशा विचित्र है—

नाम जब नृत्य करै रसना पै थेई-थेई,
रसना अकुलाय कोटि-रसना होनो चाहै है ।
ओछे द्वय पात्रनि सों अघावै ना पान करत,
ताते अब श्रवण अरब-खरब होनो चाहै है ।।
हिरदै अजिर में खेल जब करत नाम,
जीति सब इन्द्रिन कूँ अपनो रंग लावै है ।
कौन रस अमृत के सागर कूँ मथि-मथि,
विधना तू अक्षर द्वै 'कृष्ण' ये बनावै है ।।

श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के नाम में कितना मधु है, इसकी कल्पना श्रीराधा के अतिरिक्त किसी को नहीं है, वे एक सखी से कहती हैं- सखी ! उसके नाम का जब इतना प्रताप है तो कहीं उसका अङ्ग-स्पर्श हो गया तो क्या होगा ?

ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो, वदन छाड़िते ना पारे ।
नाम परताप जार ऐछन करि लो गो, अंगेर परश कि वा तारे ।।

—चैतन्य-चरितामृत

और अब नन्ददासजी की बात भी सुन लीजिये, कृष्णनाम के माधुर्य-सिन्धु में डूबी सखी अपनी सहेली से कहती है—

कृष्ण नाम जब सों श्रवण सुन्यो री आली,
भूली री भवन मैं तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवत नैंन चित हू न पावै चैन,
तन की दशा कछु और ही भई री॥
जेतिक नेम धर्म कीने री मैं सब,
रोम-रोम होऊँ मैं तो श्रवण मई री।
'नन्ददास' जाके नाम सुने ते यह गति,
माधुरी मूरति किधौं कैसी दई री॥

श्रीकृष्ण-नाम संकीर्त्तन ही मन्त्रोच्चारण के दोष को निवृत करता है, मन्त्र-विधि की त्रुटि तथा देशकाल की अशुद्धि का मार्जन करता है और वस्तु के अभाव की पूर्ति कर क्रियानुष्ठान को मङ्गलमय बनाता है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्ह वस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम सङ्कीर्तनं हरेः॥

—भागवत ८-२३-१६

मङ्गलदायिनी पुराण-कथाओं को भी मङ्गल बनाने वाला श्रीकृष्ण-नाम ही है। वेद, रामायण, भागवत आदि पुराणों के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र ही हरि का नाम-कीर्त्तन है, इसी कारण श्रेष्ठ समाज में पुराण तथा इतिहास आदि का आदर है, हरि-नाम के अतिरिक्त अन्य समस्त वार्ताओं को श्रीभागवत में "काक-तीर्थ" कहा है—"**तद्वायसंतीर्थमुशन्ति मानसा**"—(भागवत १-५-१०-११) जिसका सेवन सज्जन-हंसगण नहीं करते।

श्रीभगवान् का नाम नामी की भाँति सर्वतीर्थमय, सर्वदेवमय, सर्ववेदमय तथा सर्वधर्ममय होने के कारण त्रिलोकी का मङ्गल करता है, तथा समस्त जगत के पाप-ताप का शमन करता है, क्योंकि धर्म के मूल में भगवान् विराजमान रहते हैं—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥

—भागवत ७-११-७

अतः हे त्रिभुवन-मङ्गलस्वरूप दिव्यनामधारी कृष्णदेव! आपकी जय हो।

(३) श्रीकृष्ण-लीला का सर्वोत्कर्ष भी देखिये—

"**श्रवणमनोनयनामृतावतार**"—श्रीकृष्ण के जन्म, रूप, गुण-लीला,

चरित आदि सभी श्रवण, मन तथा नयन के लिये अमृतस्वरूप हैं, अर्थात् इनका पान करने से अमृत की भाँति तृप्ति होती है, परन्तु स्वर्ग के अमृत में और लीलामृत में यह अन्तर है कि–उसको पान करने से भोग-लिप्सा की तृप्ति होती है और दाहकता पैदा होती है, किन्तु श्रीकृष्ण-लीलामृत के पान से समस्त दाह, त्रिताप आदि शान्त होते हैं, और एक अनिर्वचनीय आनन्द की तृप्ति का अनुभव होता है। स्वर्ग का अमृत मृत्यु का दाता है, और श्रीकृष्ण-नामामृत सदा-सदा के लिये अमर-पद देता है।

अतः यह श्रीकृष्ण-लीला आत्माराम मुक्त पुरुषों को तो आनन्दित करती है और मुमुक्षु पुरुषों के लिये यह भवरोग की महौषधि है, तथा विषयीजनों के लिये यह 'श्रोत्रमनोभिराम' है, श्रवणसुखकर तथा मनहर है। अतः हे कृष्णदेव ! आपके नाम, रूप, लीला से समस्त ब्रह्माण्ड आकर्षित हैं, आपकी जय हो, जय हो, जय हो।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः —

तुभ्यं निर्भर-हर्ष-वर्ष-विवशा वेशस्फुटाविर्भवद्–
भूयश्चापलभूषितेषु सुकृतां भावेषु निर्भासिने।
श्रीमद्गोकुलमण्डनाय मनसां वाचां च दूरेस्फुरत्–
माधुर्यैकमहार्णवाय महसे कस्मैचिदस्मै नमः ॥१०९॥

पद्यार्थ— **शुभकृत् - हर्षवृष्टिका जो आवेश उसी से आविर्भूत।**
अतिशय चापल से आभूषित भावों में भासित प्राभूत॥
गोकुल का सौभाग्य-तिलक मन का वाणी का अगम अपार।
तेज-पुञ्ज, माधुर्य-सिन्धु है नमस्कार तुमको सौ-बार॥

भावार्थ—पुण्यशाली मनुष्य आपके दर्शन की अभिलाषा से परमानन्द के वशीभूत होने के कारण एक अनिर्वचनीय आवेश के साक्षात् प्रकट होने से चित्त की अलौकिक चञ्चलता से विभूषित भावों में आपके जिस रूप के दर्शन करते हैं, जो परमैश्वर्य-सम्पन्न गोकुल के विभूषण-मणि हैं तथा जो मन और वाणी के अगोचर एवं अनन्त माधुर्य के महासागर हैं—ऐसे अचिन्त्य तेज-पुञ्ज के लिये मेरा नमस्कार है।

रसिका-टीका—श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार का अनुभव अब तक प्राप्त हुआ है, उसका संक्षेप में वर्णन करते हुए विल्वमङ्गल भक्ति-पूर्ण हृदय से प्रणाम करते हैं—"**कस्मै चिदस्मै महसे तुभ्यं**

नमः"—इस अनिर्वचनीय ज्योतिःपुञ्ज को नमस्कार है, यह जो मेरे सन्मुख प्रकाशमान है, यह अनिर्वचनीय है, क्योंकि यह—"**माधुर्यैक महार्णवं**"–माधुर्य का महान सागर है, अर्थात् यह अपार असीम माधुर्यशाली है, अतएव यह—"**वाचां दूरे एव स्फुरन्**"–वाणी के अगोचर है, वाणी तो केवल—"**मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं**" (श्लोक ६२) ही कह कर वहाँ शान्त हो जाती है।

अच्छा, वाणी से नहीं तो मन से ही इसकी भावना करो। मन से भी कैसे करें? क्योंकि यह माधुर्य का सिन्धु तो—"**मनसामपि दूरे एव स्फुरन्ति**" मन से भी दूर है, मनसा भी अगोचर है।

यदि ऐसा है तो यह किसी के भी मन-वाणी के गोचर नहीं हो सकता, फिर तुमको ही इसका अनुभव कैसे हो गया—जो तुम इसका वर्णन कर रहे हो? इस पर लीलाशुक विल्वमङ्गल कहने लगे—"**सुकृतां भावेषु निर्भासिने**"– वह सुकृतिशालियों के भाव में अवश्य प्रकाशित होता है, सुकृति कौन है, यहाँ इसका विचार करना है, सुकृति शब्द के दो अर्थ होते हैं—

(१) सुन्दर ढङ्ग से परिचर्या अर्थात् सेवा का भाव,—क्योंकि सेवा से ही सौन्दर्य प्रकट होता है, निःस्वार्थ और अनन्यभाव की सेवा ही सौन्दर्य-माधुर्य की जननी है, अतः निष्कामभाव से अनन्यतापूर्वक श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ स्वधर्म का पालन करना ही यथार्थ-सुकृति है, केवल यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रतादिक श्रेयस्कर कर्म करना ही सुकृति नहीं है, अपितु प्रेयस्कर कर्म ही सुकृति होता है।

(२) दूसरा तात्पर्य सुकृति का यह है कि—भक्तियुक्त प्रीतिपूर्वक श्रेष्ठ कर्मों का पालन, जिससे भगवान् की प्रसन्नता होती हो—"**तत्कर्म यत्हरेर्तोषं**"—भागवत। कर्म वही है जिससे श्रीहरि को संतोष प्राप्त होता है–"**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्**"—(भागवत १-२-१३) अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अनुष्ठान की गई सम्यक्-सिद्धि ही श्रीहरि के संतोष में कारण हैं।

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं कोवार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

—भागवत १-५-१७

अर्थात् जो मनुष्य स्वधर्म का त्याग कर भगवान के चरण-कमलों का भजन करता है, उसका भजन परिपक्व हो जाने पर तो बात ही क्या है,

किन्तु कहीं इससे पूर्व ही उसका भजन छूट जाय तो क्या उसका कोई अमङ्गल हो सकता है ? परन्तु जो भजन नहीं करता और केवल स्वधर्म का पालन करता है—तो उसे कौन-सा लाभ मिलेगा ? अर्थात् वह निष्फल है। इसीलिये कहा है—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्चध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।

— भागवत १-२-१४

अतएव एकाग्रचित्त से भगवान् श्रीकृष्ण ही मनुष्यों के लिये नित्य श्रवणीय, नित्य कीर्त्तनीय, नित्य ध्यानीय तथा नित्य पूजा करने योग्य हैं, इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वेन्द्रियों से चित्त लगाने वाला मनुष्य ही सुन्दर कर्म करने वाला यथार्थ 'सुकृति'–कहा जाता है, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होय।
दुई महँ रुचै सुगम तोहि, कीजै 'तुलसी' सोय ।।

इस दोहा में दोनों प्रकार के 'सुकृतिजनों' के प्रति निर्देश है, यथा—(१) भगवान स्वयं जिनको प्रिय लगें—यह तो शुद्ध भक्तियोग है, तथा (२) भगवान को जो प्रिय लगें—अर्थात् भगवान के आज्ञारूप स्वधर्म का पालन करें—यह कर्म-ज्ञान मिश्रित भक्तियोग है—दोनों ही 'सुकृति' हैं। कारण कि- दोनों में ही भक्ति का योग है, तथापि प्रथम शुद्ध भक्तियोग वाले का झुकाव माधुर्य के प्रति विशेष है, और द्वितीय–जहाँ ज्ञान-कर्म मिश्रित भक्तियोग है, उसका झुकाव ऐश्वर्य के प्रति विशेष है। प्रथम भक्तियोग में हृदय की प्रेरणा प्रधान है और द्वितीय में बुद्धि की प्रधानता है, उक्त दोनों को ही 'सुकृति' होने पर भी इस श्लोक के **"माधुर्यमहार्णव ज्योतिपुञ्ज"**–के माधुर्य का आस्वादन तो व्रजवासियों की भाँति विशुद्ध प्रीति वाले सुकृतिजनों को ही मिलता है, देखिये श्रीशुकदेवजी क्या कहते हैं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिका सुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ।।

यह षडैश्वर्यपूर्ण भगवान जिस रूप में श्रीयशोदाजी को प्राप्त हुआ है, उस रूप में तो यह आत्मज्ञानियों को भी नहीं मिलता। हाँ, जो उसके अनुरागी भावुक-प्रेमी हैं, उनको सुखपूर्वक मिलता है। अतएव ब्रह्माजी ने

भी यही कहा है—"**प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषुविलोकयन्ति**"—**ब्रह्मसंहिता**। प्रेमाञ्जन से भरे हुए भक्तिरूपी नेत्रों के द्वारा ही सन्तजन सदैव श्रीगोविन्द का हृदय में अवलोकन करते हैं। विल्वमङ्गल भी यही कहते हैं—"**सुकृतां भावेषु निर्भासिने**"–यह माधुर्यमहार्णव ज्योतिपुञ्ज श्रीकृष्ण तो भाग्यवान प्रेमीजनों के भाव-विभावित हृदय में ही प्रकाशित होता है, भाव के अतिरिक्त अन्यान्य समस्त साधनों के द्वारा यह अगोचर है, अगम्य ही है।

सुकृतिशालियों का यह भाव कैसा होता है, इसका स्वरूप क्या है ? यह जिज्ञासा होने पर कहा गया है—"**निर्भर हर्ष ..... भूषितेषु**"—अर्थात् श्रीकृष्ण-दर्शन की अभिलाषा से हृदय के उल्लसित होने पर तथा आवेशपूर्ण हो जाने के कारण—उसमें एक अनिर्वचनीय तीव्रतम उत्कण्ठा की धारा प्रवाहित होने लगती है, जिससे चित्त अतिशय क्षुब्ध होकर चञ्चल हो उठता है। यही वह भाव है, ऐसे भाव से विभूषित, दर्शनोत्कण्ठा से उद्वेलित, तरङ्गायित हृदय में ही इस माधुर्यमय किशोरमूर्त्ति का 'निर्भासन' नित्य प्रकाश होता है।

भाव-दशा के सम्बन्ध में श्रीवृन्दावन के रसिक महानुभाव श्रीहित ध्रुवदासजी की वाणी सुनिये—

भाव बढ़्यो तब जानिये, यह गति होय अनूप।
भूल भूख अरु सैंन सुख, नैंन भरे रहैं रूप॥
जेहि उर उपज्यो प्रेम रस, सो नित रहत उदास।
भूल्यो हँसिबो-खेलिबो, खान पान सुख वास॥
रूप छटा अद्भुत निरखि, थकित भये मुख बैन।
प्राण तहाँ पहले गये, रोवत छोड़ नैंन॥
रूप धसक हिय धँसिगयो, शिथिल भये सब अंग।
मुख पियराई फिरि गई, बदलि गयो तन रंग॥
प्रेम बेलि जेहि उर चढ़ी, गयो सबै सुधि भूल।
एक कमल 'ध्रुव' चाह को, ताके उर रह्यो फूल॥

कोई यह शङ्का न करे कि—यह माधुर्य-सिन्धु तो ज्योतिपुञ्ज है, अतः यह निराकार होगा ? नहीं, यह तो साकार है, केवल साकार ही नहीं, "**श्रीमद्गोकुलमंडन**"—है, अर्थात् गोकुल की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। गोकुल का

नीलमणिस्वरूप भूषण है, यह भूषण वृन्दावन, गोकुल अथवा सम्पूर्ण व्रज-मण्डल में दो रूपों से प्रकाशित हो रहा है—गोकुल में श्रीयशोदारानी की गोद में, तथा बरसाने में श्रीकीर्त्तिदारानी की गोद में खेल रहा है। गोकुल में तो यह नन्दभवन का भूषण ही बना हुआ है—एक सखी अभी-अभी नन्द-भवन में होकर आई है, वह कहती है कि—आज यशोदा के उदर से इन्द्रनीलमणि ने जन्म लिया है—

शोभा सिंधु न अन्त रही री।
नन्दभवन भरपूरि उमँगि चलि, व्रज की वीथिन फिरत बही री॥
देखी जाइ आज गोकुल में, घर-घर बेचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत विधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री॥
जसुमति उदर अगाध उदधि तें, उपजी ऐसी सबनि कही री।
'सूरश्याम' प्रभु इन्द्रनीलमनि, व्रज-वनिता उर लाइ गुही री॥

और श्रीराधारानी की महिमा कौन कह सकता है? रसिकसन्त ऐसा कहते हैं कि—यदि आह्लादिनीशक्ति श्रीकृष्णप्रेयसी महाभावस्वरूपा श्रीराधा का व्रज में प्राकट्य नहीं होता तो व्रज की मधुर-लीलाओं का आस्वादन ही नहीं होता, अतः यह आह्लाद को भी आह्लादित करने वाली श्रीराधिकारानी की महिमा अकथनीय है, श्रीहठीजी ने यह ठीक ही कहा है—

जाकी कृपा सुक ज्ञानी भये अति दानी औ ध्यानी भये त्रिपुरारी।
जाकी कृपा विधि वेद रचे भये व्यास पुरानन के अधिकारी॥
जाकी कृपा ते त्रिलोकी धनी सुकहावत श्रीव्रजचन्द विहारी।
लोक घटा ते हठी को बचाउ कृपा करि श्रीवृषभानु दुलारी॥

अतः श्रीकृष्ण श्रीमद्गोकुल के मण्डन हैं, विल्वमङ्गल उन्हीं गोकुल के शिरोभूषण को बार-बार नमस्कार कर रहे हैं।

इस श्लोक में ग्रंथ के प्रतिपाद्य वस्तुविषय का उपसंहार किया गया है, ग्रन्थ का दूसरा श्लोक—"**अस्ति स्वस्तरुणी कराग्र विलगत्**" में जिस वस्तु का निर्देश किया था, उसका वर्णन एक-सौ-आठ श्लोकों के द्वारा इस श्लोक पर्यन्त हुआ है। प्रतिपाद्य वस्तु (श्रीकृष्ण) के विषय में अपनी अनुभूति का सार-सार इस श्लोक में संक्षेप से ग्रन्थकार श्रीविल्वमङ्गल ने वर्णन किया है। ग्रंथ का सार यही है कि—नीलज्योतिपुञ्ज भगवान श्रीकृष्ण ही माधुर्य-

धाम एवं किशोराकृति हैं, तथा वे ही श्रीवृन्दावन गोकुल के भूषण हैं, और उनमें महान गुण यह है कि-वे प्रियजनों के अधीन रहते है।

इस प्रकार ग्रन्थकार श्रीविल्वमङ्गल अन्त में ग्रन्थ का उपसंहार करके अब ग्रन्थ की महिमा का वर्णन करते हैं।

मूल श्लोक वसन्त तिलकं छन्दः—

ईशान देव चरणाभरणेन नीवी—
दामोदरस्थिर यशः स्तवकोद्भवेन।
लीलाशुकेन रचितं तव कृष्णदेव,
कर्णामृतं वहतु कल्प शतान्तरेऽपि ॥११०॥

पद्यार्थ— **नीवी-दामोदर यशस्तोम का जाया।**
ईशानदेव के चरणों में पद पाया॥
लीलाशुक मेरा नाम रचा 'कर्णामृत'।
हो युग-युग तक इसका प्रवाह निर्बाधित॥

भावार्थ—ईशानदेव (श्रीराधाकृष्ण) के चरण-चञ्चरीक तथा नीवी-दामोदर के अमर यशोगुच्छ से उत्पन्न लीलाशुक विल्वमङ्गल द्वारा रचित यह श्रीकृष्ण-कर्णामृत नामक ग्रन्थ कल्प-कल्प तक भक्तों के लिए आनन्द की सरिता प्रवाहित करता रहे।

रसिका टीका—विल्वमङ्गल के मधुर वाक्यों को श्रवण कर श्रीकृष्ण कहने लगे—हे लीलाशुक! मेरे कर्णों के लिये तुम्हारी वाणी अमृत के समान सुखद एवं हृदयग्राही है, तुम्हारी मधुर रचनाओं से मुझे विशेष तृप्ति हुई है अतः तुम स्वेच्छानुसार कोई भी वरदान माँग लो?

तब विल्वमङ्गल कहने लगे—हे कृष्णदेव! मैं आपके इस अपूर्व-साक्षाद्दर्शन से कृतार्थ हो गया हूँ, मेरी कोई कामना नहीं है, अब तो मैं पूर्णकाम हो गया हूँ, मेरे लिये संसार में अब कुछ भी वाञ्छनीय नहीं रहा, तथापि आपके आदेशानुसार मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा यह 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रंथ आपके माधुर्य-रस की धारा से पूर्ण है, अतः मैं चाहता हूँ कि वर्त्तमान से लेकर शत-शत कल्पों तक इस रस-ग्रंथ की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहे। (यहाँ टीकाकारों के भाव देखिये)—

१—जिस भाव से, जिस रूप में मैंने यह वर्णन किया है—उसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई ग्रंथ की रस-धारा आपके कर्णामृत के रूप में सदा वर्त्तमान रहे—(श्रीकृष्णदास कविराज)

२—आपके कर्णों के लिये सदैव अमृत के समान यह रस-ग्रंथ आस्वाद्य वस्तु की पदवी को प्राप्त कर आपके हृदय को आनन्दित करता रहे।

३—माधुर्य रस के उपासक भावुक-रसिक जनों के चित्त को भाव से आप्लावित करती हुई कृष्णकर्णामृत की रसधारा नित्य निरन्तर रूप से रसज्ञों के हृदय में प्रवाहित होती रहे।

तात्पर्य यह है कि—"मेरा यह ग्रंथ संसार में नित्य अमर रहे—बस यही मेरी एक अन्तिम प्रार्थना है।

इसके आगे विल्वमङ्गल अपने सम्बन्ध में कुछ परिचय देते हुए कहते हैं—

(१) "**ईशान देव चरणाभरण**"—अर्थात् ईशान देव के चरण ही मेरे अलंकार स्वरूप हैं, यहाँ "ईशान देव"—पद के विभिन्न अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार किये हैं—

श्रीगोपाल भट्ट—(क) 'ईशान'-शिव जी के आराध्य देव श्रीकृष्ण।

(ख) समस्त के ईश्वर—अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि जिसके द्वारा प्रकाशमान हैं—वह श्रीकृष्ण।

श्रीचैतन्यदास—'ईशान" शब्द से प्रथम श्लोक के अनुसार "मदीश"—श्रीगुरु तथा "देव" शब्द से मम इष्ट देव तथा शिक्षा गुरु भगवान श्रीकृष्ण।

श्रीकृष्णदास कविराज—ईशा राधा, सा चाननमानः, तस्या, मम वा नः—अननं प्राणस्वरूपं देवश्च। ईशा-राधा, उनके अथवा मेरे प्राण स्वरूप, उनके संग क्रीड़ारत यह देव श्रीकृष्ण। अतएव ईशान देव का अर्थ हुआ-सम्मिलित विग्रह श्रीराधाकृष्ण।

ऐसे ईशान देव श्रीकृष्ण के अथवा राधाकृष्ण के चरणारविन्द ही मेरे आभूषण स्वरूप हैं, अर्थात् मैं उनका सेवक हूँ—नित्य दास हूँ।

(२) "**नीवीदामोदर स्थिर यशः स्तवकोद्भवः**"—नीवी दामोदर का अम्लान नित्ययशरूप—कुसुम-गुच्छ ही मेरा वैभव है, अथवा उस कुसुम गुच्छ का आविर्भाव जिसमें हुआ है—वह मैं लीलाशुक, अथवा उस कुसुम गुच्छ से उत्पन्न फलरूप मैं लीलाशुक। इस प्रकार ये तीन अर्थ होते हैं—

'नीवी दामोदर' पद के भी तीन अर्थ होते हैं—

(क) यह नीवी है मूल धन जिसका—वह प्रेम। और यह प्रेम ही दाम

(रज्जु) है, जिसमें इस दाम से—"**उच्चैर्यातिवशतांप्राप्नोतीति नीवी दामोदरः**"—जो उत्तम रूप से प्रेमियों के वशीभूत हो जाते हैं,—वह हैं—"नीवी दामोदर कृष्ण"—अर्थात् प्रेमैकलभ्य श्रीकृष्ण ।

(ख) "**नीवी दामोदर**"—ये 'नीवी' अर्थात्—डोर—कटिकांची, वह जिनके उदर में है, अर्थात् महाभावस्वरूपा राधा की नीवी—डोर से बँधे हुए दामोदर श्रीकृष्ण । इस लीला का एक उदाहरण देखिये—

कार्त्तिक माहात्म्य में उल्लेख मिलता है कि एक दिन श्रीकृष्ण के रासेश्वरी श्रीराधा के द्वारा बताये गये संकेत स्थान पर ठीक समय पर न पहुंच सकने के कारण प्रणय-कुपिता श्रीराधा ने श्रीकृष्ण को अपनी कांचनमयी कटि कांची—मेखला से बाँध लिया था, तब अपराधी की भाँति श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के चाटुकार वचनों द्वारा श्रीराधा से क्षमा माँगते हुए अनुनय विनय किया, किन्तु मान और मानिनियों की आराध्य देवता श्रीराधा प्रसन्न नहीं हुईं, तब श्रीकृष्ण ने एक बहाना ढूंढ़ा और वे कहने लगे—प्राणप्रिये राधिके ! आज घर में मेरी माता ने "कार्त्तिक मास का एक विशेष उत्सव मनाया था, वह उत्सव मेरी मङ्गल कामना के लिये अनुष्ठान स्वरूप हुआ था । इसी कारण उसमें मुझे समीप में उपस्थित रहना ही पड़ा, अतएव मैं समय पर नहीं आ सका, राधे ! मैं अन्यत्र कहीं भी नहीं गया, मैं तो तुम्हारे पास पहुँचने के लिये आतुर हो रहा था, परन्तु माता ने उत्सव अनुष्ठान में से मुझे निकलने नहीं दिया, बताओ ! राधे ! फिर मैं क्या करता ?—इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अनेक युक्ति-प्रस्ताव पेश किये, परन्तु श्रीकृष्ण को मुक्ति नहीं मिली—वे 'दामोदर' बने ही रहे ।

परन्तु श्रीकृष्ण को इस बन्धन में दुःख अथवा ग्लानि किञ्चित् मात्र भी नहीं थी, अपितु श्रीकृष्ण का अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा रोम रोम आनन्द से पुलकायमान हो रहा था, क्योंकि आज ही तो यह महान् अलभ्य अवसर मिला है, रसिकशेखर तो इस मान-मनौती के प्रसङ्ग के लिये लालायित रहते थे, वे ऊपर से मानिनी की मनौती कर रहे थे, हृदय में वह नीवी बन्धन उनको आह्लादकारक हो रहा था—क्योंकि उनका सर्वप्रथम नाम—"नीवी दामोदर"—अर्थात् प्रेम की डोरी में बँधने वाला है, ऐसे दामोदर का हम ध्यान करते हैं, देखिये—इस भाव का श्लोक में कैसा अद्भुत वर्णन हुआ है—

संकेतावसरे च्युते प्रणयतः संरब्धया राधया,
प्रारभ्य भ्रुकुटिं हिरण्यरसनादाम्नानिबद्धोदरम् ।

कार्तिक्यां जननी कृतोत्सववर प्रस्तावना पूर्वकं,
चाटूनि प्रथयन्तमात्तपुलकं ध्यायेम दामोदरम् ।।

(३) नीवी दामोदर का एक काल्पनिक अर्थ और भी कई महानुभावों ने किया है, वे अनुमान से ही यह कहते हैं कि—विल्वमङ्गल की माता का नाम नीवी तथा पिता का नाम दामोदर था, उनके ही विमल यश से मेरा उद्भव हुआ है किन्तु यह कल्पना कष्ट साध्य है।

मूल श्लोक शार्दूल विक्रीडितं छन्दः—

धन्यानां सरसानुलाप सरणी सौरभ्यमभ्यस्यतां,
कर्णानां विवरेषु कामपि सुधावृष्टिं दुहानं मुहुः ।
वन्यानां सुदृशां मनोनयनयोर्मग्नस्य देवस्य नः,
कर्णानां वचसां विजृम्भितमहो कृष्णस्य कर्णामृतम् ।। १११।।

पद्यार्थ— **कृष्ण-कथा-रस-सौरभ-संग्रह के जो हैं अभ्यासी।**
भाग्यवन्त उन कर्णकुहर के हेतु सुधा की रासी ।।
व्रजवनिताओं के मन में, नयनों में जो हैं छाये।
उसी कृष्ण के कर्णामृत को आज बहाकर लाये ।।

भावार्थ—वन्य गोपियों के मन और नयनों में समाए हुए हमारे आराध्यदेव श्रीकृष्ण का यह कर्णामृत काव्य हमारी वाणी और कर्णों का विकास है और महा-पुरुषों के उन सौभाग्यशाली कर्ण कुहरों के लिए सुधा की वर्षा के समान है, जिन्हें श्रीनिकुञ्जमोहन की सरस कथा-परम्परा के सौरभ लाभ का व्यसन लगा हुआ है।

रसिका टीका—श्रीकृष्ण विल्वमङ्गल की माधुरी वाणी को सुनकर प्रसन्न हुए और मन्द मन्द मुसकराते हुए मानो लीलाशुक की प्रार्थना को 'तथास्तु' कहकर स्वीकार कर रहे हैं—ऐसा अनुभव कर विल्वमङ्गल अपनी वाणी के सौभाग्य पर आश्चर्य प्रकट करते हुए बोले- "अहो ! कैसा आश्चर्य है ? कैसा मेरा सौभाग्य है ? कि—मेरी रचना की वाक्यावली श्रीकृष्ण के लिये कर्णामृत स्वरूप हुई है, अहो ! जिसका नाम ही "कृष्ण" है—ये सर्वा-कर्षक, सर्वानन्ददाता, सर्वकेलिकलानिधि रसिकशेखर हैं फिर भी उनको मेरी यह वाणी आकर्षित कर सुख प्रदान कर रही है, हाँ ! हाँ ! तभी तो इनका मन और नेत्र उसमें निमग्न हो रहे हैं, यह इनकी उल्लासपूर्ण मुखा-कृति से स्पष्ट हो रहा है, अहो मेरा सौभाग्य ! अहो मेरी वाणी !!

यह कर्णामृत की वाणी केवल श्रीकृष्ण को ही आनन्दित नहीं कर रही, अपितु, केलि-कला-निधान-चातुर्यैकसीम जो वृन्दावन की गोपरामागण हैं—व्रजललनायें हैं; उनके भी कर्णों में यह वाणी अमृत की वर्षा कर रही है ! अहो ! कितना आश्चर्य है !

और भी, यह वाणी श्रीकृष्ण भाव के रस-मर्मज्ञ प्रेमीजनों के कर्णों में भी एक विलक्षण असाधारण सुधा की वर्षा कर रही है, वे रसिक प्रेमीजन धन्यात्मा हैं, जो श्रीकृष्ण की अपनी परम प्रिया परमाह्लादिनी श्रीराधा के साथ हुए मधुररसालापपूर्ण सौरभ-लहरी के सुख का सदा अनुभव करते हैं अर्थात् वे रसिकजन परस्पर रसगोष्ठी में बैठकर प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्ण के माधुर्यपूर्ण चरित्रों का कथोपकथन करते हुए रसास्वादन करते हैं—उन महान प्रेमियों के लिये भी सुखदायक होगी, अहो ! यह श्रीकृष्ण की ही अद्भुत कृपा का फल है, अन्यथा इस अयोग्यजन में यह शक्ति कहाँ ? अहो मेरा आश्चर्यमय सौभाग्य !!

इस श्लोक में तीन अर्थ अभिव्यक्त हुए हैं :—(१) ग्रन्थ का नामकरण "कृष्णकर्णामृत" (२) ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन कि—यह भक्त और भगवान् दोनों को ही मधुर रसप्रद है, तथा (३) मधुर रस के उपासक-साधकों के लिये यह कण्ठ का हार एवं प्राणों का आहार स्वरूप है।

मूल श्लोक रुचिरा छन्दः —

अनुग्रह द्विगुण विशाल लोचनै—
रनुस्मरन्मृदु मुरलीरवामृतैः।
यतो यतः प्रसरति मे विलोचनं,
ततस्ततः स्फुरतु तवैव वैभवम् ॥११२॥

पद्यार्थ— **अनुकम्पा से दुगुने विकसित लोचन युग्म तुम्हारे।**
और तुम्हारी वंशीध्वनि को कर-कर याद मुरारे॥
जब - जब मेरी प्यासी आँखें जहाँ कहीं भी जावें।
वहाँ आपके ही वैभव के भव्य रूप को पावें॥

भावार्थ—आपके इस अनुग्रह के कारण द्विगुण—विकसित नयनों का और मधुर मुरलिका के नादामृत का स्मरण करते हुए मेरे ये नेत्र जिधर भी प्रसारित हों उधर इनके समक्ष आपके वैभव का विलास ही प्रस्फुरित हो।

रसिका-टीका—विल्वमङ्गल के दैन्यपूर्ण, भाव विगलित वचनों को श्रवण कर, श्रीकृष्ण पुनः कहने लगे—"हे लीलाशुक ! तुम्हारा यह वाणी-विलास वास्तव में विशुद्ध प्रगाढ़-प्रेम का विलास है, मैं तुम्हारी इस अनुराग पूर्ण भावनामयी रचना के वशीभूत होगया हूँ, अब तुम वृन्दावन में ही कुछ काल तक इसी साधकदेह से निवास करो, और मेरे रास-विलास की मधु-मयी लीलाओं का नित्य निरन्तर आस्वादन करो, अनन्तर कुछ समय के बाद शीघ्र ही तुम अपने सिद्ध सखी स्वरूप को प्राप्त होकर मेरी नित्य-लीला में प्रवेश करोगे" ?

लीलाशुक नेत्रों के सन्मुख उपस्थित दिव्य युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्ण के स्वरूप को टकटकी लगाकर स्तब्ध दृष्टि से देख रहे थे।

विल्वमङ्गल को इस प्रकार आदेश देकर उन "रसो वै सः" रसस्वरूप गौर श्याम श्रीराधाकृष्ण ने स्नेहभरी तथा कृपा-पूर्ण दृष्टि से विल्वमङ्गल की ओर अवलोकन किया, उस दृष्टि के अभिप्राय को विल्वमङ्गल समझ गये, उनका हृदय व्याकुल हो उठा कि अब ये मेरे- "**श्रवण मनो नयना मूतावतार**" मुझको त्याग कर अन्तर्द्धान होने वाले हैं ? हाय ! अब मेरा जीवन इनके बिना कैसे रहेगा ? ये ही तो मेरे जीवन हैं।"

मेरा जीवन मेरे पास बना रहे, इसका एक उपाय निर्धारित करते हुए लीलाशुक अत्यन्त विनम्रभाव से कहने लगे—"हे करुणासिन्धो ! मेरी एक अन्तिम प्रार्थना यह और है कि—जिस जिस स्थान पर मेरी दृष्टि पड़े, उस उस स्थान पर आपके वैभव की अर्थात् आपके वय-रूप-लावण्य-माधुर्य-विलासादि युक्त युगल विग्रह की स्फूर्त्ति होती रहे।

यद्यपि आपके उस वैभव की मैं कई बार कथा कर चुका हूँ, फिर भी स्मरण दिलाता हूँ—"**अनुग्रह द्विगुण विशाल लोचनैरनुस्मृतः**"—हे श्रीकृष्ण ! यद्यपि आपके कमलदललोचन सदा ही करुणापूर्ण रहते हैं, तथापि जब जब, जहाँ-जहाँ भी मुझे आपकी स्फूर्त्ति हो, वहाँ मुझको यही दर्शन हो कि—आपके नेत्र एक दीन-हीन-जन के ऊपर कृपा दृष्टि करने के लिये व्याकुल हो रहे हैं और उस स्नेहमयी कृपा के कारण आपके सहज विशाल नेत्र द्विगुणित होकर विशाल हो रहे हैं। बस, दर्शन में मुझे कृपा-दृष्टि का यही वैभव चाहिये।

दूसरी कृपा—"**मृदुमुरलीरवामृतैरनुस्मरन**"—आप मन्द-मन्द मधुर

मुरली बजाते हुए और उसमें अपने प्रिय नाम–"राधा–राधा" का निरन्तर स्मरण करते हुए दर्शन दें तो उस ध्वनि में मुझ अकिञ्चन राधापद–दासी का भी स्मरण करलें—"**अनुस्मरन् राधिकां माम् च**"—यह न कहना नाथ! कि—मुरली में श्रीराधा का स्मरण करते समय तुम्हारा स्मरण कैसे कर सकता हूँ? तो—प्रभो! पहले भी तो आपने रास–विलास के समय मुरली बजाते हुए ही उस मृदु-ध्वनि के बीच में मेरी क्षीण पुकार को श्रवण कर लिया था—'**मुरलीमृदुलस्वनान्तरे०**"—श्लोक ६२। तभी तो आपने मुझे दर्शन दिया था, इसी प्रकार अब आगे भी कृपा कर मेरा स्मरण कर लिया करना? बस, नाथ! वह मुरलीनादामृतवैभव मेरे नेत्रों के आगे नाचता रहे–

पुरोऽभीक्ष्णे स्थितौ सार्धगमनेऽयोग्यतात्मनः।
नेति लीला शुकः स्फूर्ति हृदि दैन्यादयाचत॥

—श्रीचैतन्यदास टीकाकार

हे मेरे पुण्यपुञ्ज की मूर्त्ति! युगलकिशोर! आपके चारु–चरणारविन्दों का अनुसरण करता हुआ मैं भी साथ ही साथ पीछे-पीछे गमन करता रहूँ—यह सौभाग्य तो मेरा कहाँ है? पर, आपकी मधुर–स्फूर्त्ति ही मेरे हृदय में सदा प्रकट रहे—बस यही चाहता हूँ।

अक्ष्णे ऽग्रे सदा तिष्ठ, नय वा मां पदान्तिकम्।
इति दीनः कथं ब्रूयां, नेत्राग्रे स्फुरतात्सदा॥

—कृष्णदास कविराज टीकाकार

हे मेरे नयन–रसायन–युगलकिशोर! बस ऐसे ही आप मेरे नेत्रों के सन्मुख विराजमान रहें और मैं—"**ऐसे ही निरखत रहौं, जन्म सफल कर मानौं**"—**श्रीहरिदास**। अथवा नाथ! मुझे अभी इसी क्षण अपने श्रीचरणारविन्दों के समीप लेलो—यह प्रार्थना तो मैं इस छोटे मुंह से कैसे करूँ? और आप स्वीकार भी तो नहीं करेंगे? अतः प्रभो! आपके गौर-श्याम धाम की स्फूर्ति ही सदा मेरे नेत्रों के सन्मुख होती रहे, यही मेरी अन्तिम भिक्षा–याचना है, इस प्रकार सौन्दर्य–लावण्य सिंधु श्रीयुगलसरकार विल्वमङ्गल को दर्शन देते हुए–"एवमस्तु"—कहकर अन्तर्हित होगये, और लीलाशुक विल्वमङ्गल उस अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु श्रीश्यामाश्याम के स्वरूप में अवगाहन करने लगे।

❀ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ❀

ग्रन्थ-समाप्ति पर प्रशस्ति

यत्नेन चैतन्यमहोदयेन प्रचारितोऽयं प्रतिसद्म ग्रंथः ।
अद्यापि स सिंचति चित्तवली-मानन्द-सन्दोह्-रस-प्रवर्षी ।।

श्रुत्वा लीलाशुक कृत, कर्णामृतमीश्वरो व्रजस्त्रीणाम् ।
नृत्यन्विलसति हृदये, भक्तानां भाव-भूषिते सततम् ।।

टीका कृष्णामृतस्येयं गुरुपर्वदिने शुभे ।
द्विसहस्रोत्तरे वर्षे षड् विंशे च व्यपूर्यत ।।

श्रीराधा-रसिकेश्वराङ्घ्रि - विकसद्वक्त्रारविन्दालिना,
वृन्दारण्यनिवासिना विरचिता श्री रामदासेन या ।
टीका सा 'रसिका' रसामृतभरा श्रीकृष्ण कर्णामृते,
भूयाद्गोपसुतानुभाव–विभवाऽऽस्वादाय रासात्मनाम् ।।

भाषायां छन्दसां बन्धः सूर्यकान्तेन धीमता ।
राधाकान्तकृपाधरदर्पिणा प्रणिधीयते ।।

टीका रसिका रसभरी, रसिकन की सौगात,
दासराम ने रुचिकरी, करी हिए हुलसात ।।
कर्णा-ऽमृत यह कृण कौ, राधा विरह-विलास ।
लीलाशुक गायन कियौ, पायो प्रेम प्रकास ।।

धन्य धन्य चैतन्य प्रभु, लाये ग्रंथ अमोल ।
रस वरषा पावन करी, दियौ सुधारस घोल ।।
गुरु पूनो संवत सहस-दो ऊपर छब्बीस ।
पूर्ण भई टीका सुखद, करी कृपा गोपीश ।।

दास राम के सखा कृष्ण के, कृष्णानन्द चरण उर धार ।
सम्प्रदाय श्री गौड़ेश्वर के, वास वृन्दावन आश्रमचार ।।

❋❋❋

दक्षिण भारतीय संस्करणों के अनुसार

श्रीकृष्णकर्णामृत

द्वितीय शतक

अभिनव नवनीत स्निग्धमापीत दुग्धं,
दधिकणपरिदिग्धं मुग्धमङ्गं मुरारेः ।
दिशतु भुवन कृच्छ्रच्छेदि तापिञ्छ गुच्छ-
च्छवि नव शिखिपिञ्छ लाञ्छितं वाञ्छितं नः ॥१॥

यां दृष्ट्वा यमुनां पिपासुरनिशंव्यूहोगवां गाहते,
विद्युत्वानिति नील कण्ठ निवहो यांद्रष्टुमुक्तकण्ठते ।
उत्तंसाय तमालपल्लवमितिच्छिन्दन्ति यां गोपिकाः,
कान्तिः कालियशासनस्य वपुषः सा पावनी पातु नः ॥२॥

देवः पायात्पयसि विमवे यामुने मज्जतीनां,
याचन्तीनामनुनय पदैर्वञ्चितान्यं शुकानि ।
लज्जा लोलैरलस विलसैरुन्मिषत्पञ्चवाणै-
र्गोपस्त्रीणां नयनकुसुमैरर्चितः केशवो नः ॥३॥

मात र्नातः परमनुचितं यत्खलानां पुरस्ता—
दस्ना शङ्कं जठर पिठरी पूर्तये र्नातितासि ।
तत्क्षन्तव्यं सहज सरले वत्सले वाणिकुर्या
प्रायश्चित्तं गुणगणनया गोप वेशस्य विष्णोः ॥४॥

अङ्गुल्यग्रैररुण किरणैर्मुक्त संरुद्धरन्ध्रं—
वारं वारं वदनमरुता वेणुमापूरयन्तम् ।
व्यत्यस्ताङ्घ्रि विकचकमलच्छाय विस्तार नेत्रं,
वन्दे वृन्दावन सुचरितं नन्द गोपाल सूनुम् ॥५॥

मन्दं मन्दं मधुर निनदैर्वेणुमापूरयन्तं,
वृन्दं वृन्दावनभुवि गवां चारयन्तं चरन्तम् ।
छन्दो भागे शतमख–मुखध्वंसिनां दानवानां
हन्तारं तं कथय रसने गोप कन्या भुजङ्गम् ॥६॥
वेणी मूले विरचित घनश्याम पिञ्छावचूडो,
विद्युल्लेखावलयित इव स्निग्ध पीताम्बरेण ।
मामालिङ्गन्मरकत मणि स्तम्भ गम्भीर वाहुः–
स्वप्ने दृष्टस्तरुण तुलसी भूषणे नील मेघः ॥७॥
कृष्णे हृत्वा सिचय निचय कूल कुञ्जाधिरूढ़े,
मुग्धा काचिन्मुहुरनुनयैः किंन्विति व्याहरन्ती ।
सभ्रू भङ्ग सदर हसितं सत्रपं सानुरागं–
छाया शौरेः करतल गतान्यं शुकान्या चकर्ष ॥८॥
अयि जनुसि परस्मिन्नात्त पुण्यो भवेयं
तट भुवि यमुनायास्तादृशो वंशनालः ।
अनुभवति यदेष श्रीमदाभीरसूनी–
रधरमणि समीप न्यास धन्यामवस्थाम् ॥९॥
अपि परिचिनु चेतः प्रातरम्भोज नेत्रं
कवर कलित चञ्चत् पिञ्छदामाभिरामम् ।
बलभिदुपल नील वल्लभी भाग धेयं,
निखिल निगम वल्ली मूल कन्दं मुकुन्दम् ॥१०॥
अयि मुरलि मुकुन्द स्मेर वक्त्रारविन्द
श्वसन मधु रसज्ञे त्वा प्रणम्याद्य याचे ।
अधर मणि समीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां
कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्द सूनोः ॥११॥
सजल जलद नीलं बल्लवी केलि लोलं
श्रित सुरतरूमूलं विद्युदुल्लासिचेलम् ।

नत सुर मुनि जालं सन्मनो बिम्बलीलं
सुर रिपु कुल कालं नौमि गोपाल बालम् ॥१२॥
अधर विम्ब विडम्बित विद्रुमं मधुर वेणु निनाद विनोदिनम् ।
कमल कोमल कञ्ज मुखाम्बुजं कमपि गोप कुमारमुपास्महे ॥१३॥
अधरे विनिवेश्य वंश नालं विवराण्यस्य सलीलमङ्गुलीभिः ।
मुहरन्तरयन् मुहुर्विवृण्वन् मधुरं गायन्ति माधवो वनान्ते ॥१४॥
वदने नव नीत गन्धवाहं, वचने तस्कर चातुरी धुरीणम् ।
नयने कुहनाश्रुमाश्रयेथाश्चरणे कोमल ताण्डवं कुमारम् ॥१५॥
अमुना किल गोप गोपनार्थं, यमुना रोधसि नन्दनन्देन ।
दमुना वन संभवः पपे नः, किमुनासौ शरणार्थिनां शरण्यः ॥१६॥
जगदादरणीय जार भावं जलजापत्यवचो विचार गम्यम् ।
तनुतां तनुतां शिवेतराणां सुरनाथोपल सुन्दरं महो नः ॥१७॥
सा कापि सर्व जगतामभिराम सीमा
कामाय नो भवति गोप किशोर मूर्तिः ।
या शेखरे श्रुति गिरां हृदि योगभाजां
पादाम्बुजे च सुलभा व्रज सुन्दरीणाम् ॥१८॥
अत्यन्त बालमतसी कुसुम प्रकाशं
दिग्वाससं कनक भूषण भूषिताङ्गम् ।
विस्रस्त केश मरुणाधरमायताक्षं
कृष्णं नमामि शिरसा वसुदेव सूनुम् ॥१९॥
हस्ताङ्घ्रि निक्वणित कङ्कण किंकिणीकं-
मध्ये नितम्बमवलम्बित हेम सूत्रम् ।
मुक्ता कलाप मुकुलीकृत काक पक्षं
वन्दामहे व्रज चरं वसुदेव भाग्यम् ॥२०॥
वृन्दाबन द्रुमतलेषु गवां गणेषु
वेदावसान समयेषु च दृश्यते यत् ।

तद्वेणु वादनपरं शिखिपिच्छ चूडं
ब्रह्म स्मरामि कमले क्षणमभ्रनीलम् ॥२१॥
व्यत्यस्त पादमवतंसित बर्हिबर्हं
साची कृतानन निवेशित वेणु रन्ध्रम् ।
तेजः परं परम कारुणिकं पुरस्तात्
प्राण प्रयाण समये मम संनिधत्ताम् ॥२२॥
घोष प्रघोष प्रशमनाय मथो गुणेन
मध्ये बबन्ध जननी नवनीत चोरम् ।
तद्बन्धन त्रिजगतामुदराश्रयाणा—
माक्रोश कारणमहो नितरां बभूव ॥२३॥
शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं
पञ्चाक्षरी जप परा नितरां तथापि ।
चेतो मदीयमतसी कुसुमावभासं
स्मेराननं स्मरति गोप वधू किशोरम् ॥२४॥
राधा पुनातु जगदच्युत दत्त चित्ता
मन्थान माकलयती दधिरिक्त पात्रे ।
तस्याःस्तन स्तवक चञ्चल लोल दृष्टि—
र्देवोऽपि दोहनधिया वृषभं निरुन्धन् ॥२५॥
गोधूलि धूसरित कोमल कुन्तलाग्रं
गोवर्धनोद्धरण केलि कृत प्रयासम् ।
गोपी जनस्य कुच कुङ्कुम मुद्रिताङ्गं
गोविन्दमिन्दुवदनं शरणं भजामः ॥२६॥
यद्रोमरन्ध्र परिपूर्ति विधावदक्षा
वाराह जन्मनि बभूवुरमी समुद्राः ।
तं नाम नाथ मरविन्द दृशं यशोदा
पाणि द्वयान्तर जले स्नपयां बभूव ॥२७॥

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगम वनेषु नितान्त चार खिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना–मुपनिषदर्थ मुलूखले निबद्धम् ॥२८॥
देवकी तनय पूजन पूतः पूतनारि चरणोदक धौतः ।
यद्यहं स्मृत धनं जय सूतः किं करिष्यति स मे यमदूतः ॥२९॥
भासतां भवभयैकभेषजं, मानसे मम मुहुर्मुहुर्मुहुः ।
गोपवेष मुपसेदुषः स्वयं, यापि कापि रमणीयता विभोः ॥३०॥
कर्णालम्बित कदम्ब मञ्जरी केसरारुण कपोल मण्डलम् ।
निर्मलं निगम वागगोचरं, नीलिमानमवलोकयामहे ॥३१॥
साचि संवलित लोचनान्तरं, सामि कुट्मलित कोमलाधरम् ।
वेगवल्गितकराङ्गुलीमुखं वेणुनाद रसिकं भजामहे ॥३२॥
स्पन्दने गरुड मण्डित ध्वजे कुण्डिनेश तनयाधिरोपिता
केनचिन्नवतमाल पल्लव–श्यामलेन पुरुषेण नीयते ॥३३॥
मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमाल नीलः ।
विन्यस्त हस्तोऽपि नितम्ब बिम्बे, धूर्तः समाकर्षति चित्त वित्तम् ॥
अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना ।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥३५॥
केकि केकाहृतानेक पङ्केरुहा लीन हंसावली हृद्यता हृद्यता ।
कंस वंशाटवी दाह दावानलः संजगौ वेणुना देवकीनंदनः ॥३६॥

क्वापि वीणाभिराराविणा कम्पितः,
क्वापि वीणाभिरा किङ्किणी र्नर्तितः ।
क्वापि वीणाभिरामान्तरं गापितः,
संजगौ वेणुना देवकीनंदनः ॥३७॥

चारु चंद्रावली लोचनैश्चुम्बिता, गोपगोवृन्दगोपालिकावल्लभः ।
वल्लवी वृन्द वृन्दारकः, कामुकःसंजगौ वेणुना देवकीनंदनः ॥३८॥

मौलि माला लसन्मत्त भृङ्गीलता–
भीत भीत प्रिया विभ्रमालिङ्गितः ।

स्रस्त गोपी कुचाभोग संमेलितः,
संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥३९॥

चारु चामीकराभासभामाविभुर्वैजयन्तीलताभासितोरः स्थलः ।
नन्द वृन्दावने वासिता मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥४०
बालिका तालिका ताल लीलालया-सङ्ग संदर्शितभ्रूलता विभ्रमः ।
गोपिका गीत दत्तावधानः स्वयं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥४१
पारिजातं समुद्धृत्य राधावयो–रूपयामास भासा गुणैरङ्गने ।
शीत शीते वटे यामुनीये तटे संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥४२॥

अग्रे दीर्घतरोऽयमर्जुनतरुस्तस्याग्रतो बर्तनी,
सा घोषं समुपैति तत्परिसरे देशे कलिन्दात्मजा ।
तस्यास्तीर तमाल कानन तले चक्रं गवां चारयन्,
गोपः क्रीडति दर्शयिष्यति सखे पन्थानमव्याहतम् ॥४३॥

गोधूलि धूसरितकोमल गोप वेषं,
गोपाल बालक शतैरनुगम्यमानम् ।
सायं तने प्रति गृहं पशु बन्धनार्थं,
गच्छन्तमच्युत शिशुं प्रणतोऽस्मिनित्यम् ॥४४॥

निधिर्लावण्यानां निखिल जगदाश्चर्यनिलयं,
निजावासं भासां निरवधिक निःश्रेयसरसम् ।
सुधा धारा सारं सुकृतिपरिपाकं मृग दृशां,
प्रपद्ये माङ्गल्यं प्रथमधिदैवं कृतधियाम् ॥४५॥

आताम्र पाणि कमल प्रणय प्रतोद–
मालोल हार मणि कुण्डल हेमसूत्रम् ।
आविः श्रमाम्बु कणमम्बुद नीलमव्या–
दाद्यं धनञ्जय रथाभरणं महो नः ॥४६॥

नख नियमिति कण्डून्पाण्डव स्यन्दनाश्वा–
ननुदिनमभिषिञ्चन्नञ्जलिस्थैः पयोभिः ।

अवतु वितत गात्र स्तोत्र संस्यूत मौलि-
र्दशन बिधृत रश्मिर्देवकी पुण्य राशिः ॥४७॥
ब्रज युवती सहाये यौवनोल्लासि काये,
सकल शुभ विलासे कुन्दमन्दार हासे ।
निवसतु मम चित्तं तत्पदायत्त वृत्तं,
मुनि सरसिज भानौ नन्दगोपस्य सूनौ ॥४८॥
अरण्यानीमार्द्र स्मित मधुर विम्बाधर सुधा-
सरण्या संक्रान्तैः सपदि मदयन्वेणु निनदैः ।
धरण्या सानन्दोत्पुलकमुपगूढाङ्घ्रि कमलः,
शरण्यानामाद्यः स जयतु शरीरी मधुरिमा ॥४९॥
मुग्धं स्निग्धं मधुर मुरली माधुरी धीर नादैः,
कारं कारं करण विवशं गोकुलं व्याकुलत्वम् ।
श्यामं कामं युवजनमनो मोहनं मोहनत्वं
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवी वल्लभं नः ॥५०॥
विदग्ध गोपालविलासिनीनां संभोगचिह्नाङ्कित सर्वगात्रम् ।
पवित्रमाम्नाय गिरामगम्यं ब्रह्म प्रपद्ये नवनीत चोरम् ॥५१॥
आनन्देन यशोदया समदनं गोपाङ्गनाभिश्चिरं,
साशङ्कं बलविद्विषा सकुसुमैः सिद्धैः पथिव्याकुलम् ।
सेर्ष्यं गोपकुमारकैः सकरुणं पौरैर्जनैः सस्मितं,
यो दृष्टः स पुनातु नो मुररिपुः प्रोक्षिप्तगोवर्धनः ॥५२॥
अन्तर्गृहे कृष्णमवेक्ष्य चौरं, बद्ध्वा कपाटं जननीं गतैका ।
उलूखले दाम निवद्धमेनं, तत्रापि दृष्ट्वा स्तिमिता बभूव ॥५३॥
रत्नस्थले जानुचरः कुमारः संक्रान्तमात्मीय मुखारविन्दम् ।
आदातुकामस्तदलाभखेदाद्विलोक्य धात्री वदनं रुरोद ॥५४॥
उपासतामात्मविदः पुराणाः, परं परस्तान्निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदा शिशु बाल लीला-कथा सुधा सिन्धुषु लीलयामः ॥५५॥

विक्रेतुकामा किल गोपकन्या मुरारि पादार्पित चित्तवृत्तिः ।
दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति ॥५६॥
उलूखलं वा यमिनां मनो वा, गोपाङ्गनानां कुच कुट्मलं वा ।
मुरारि नाम्नः कलभस्य नून मालानमासीत् त्रयमेव भूमौ ॥५७॥
करारविन्देन पादारविन्दं, मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं, बालं मुकन्दं मनसा स्मरामि ॥५८॥

शम्भो स्वागतमास्यतामित इतो वामेन पद्मासनं,
क्रौञ्चारे कुशलं सुखं सुरपते वित्तेश नो दृश्यसे ।
इत्थं स्वप्न गतस्य कैटभजितः श्रुत्वा यशोदा गिरः
किं किं बालकजल्पसीति रचितं थू थू कृतं पातु नः ॥५९॥
मातः किं यदुनाथ देहि चषकं किं तेन पातुं पय—
स्तन्नास्त्यद्य कदास्ति वा निशा निशा का वान्धकारोदये ।
आमील्याक्षियुगं निशाप्युपगता देहीतिमातर्मुहु—
र्वक्षोजाम्बर कर्षणोद्यत करं कृष्णः स पुष्णातु नः ॥६०॥
कालिन्दी पुलिनोदरेषु मुसली यावद्गतःखेलितुं,
तावत्कर्बुरिकापयः पिव हरे वर्धिष्यते ते शिखा ।
इत्थं बाल तया प्रतारणपराः श्रुत्वा यशोदागिरः,
पायान्नः स्व शिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्ध पीते हरिः ॥६१
कैलासे नवनीतति क्षितितले प्राग्जग्ध मृल्लोष्टति,
क्षीरोदेऽपि निपीतदुग्धविलसत्स्मेरप्रफुल्ले मुखे ।
मात्रा जीर्णधिया दृढं चकितया नष्टास्मि दृष्टाकया,
थू थू वत्सक जीव जीव चिरमित्युक्तोऽवताद्वो हरिः ॥६२॥
किंचित्कुञ्चित लोचनस्य पिबतः पर्यायपीतं स्तनं,
सद्यः प्रस्नुत दुग्ध विन्दुमपरं हस्तेन संमार्जतः ।
मात्रैकाङ्गुलिलालितस्य चिबुकेस्मेराननस्याधरे,
शौरेः क्षीरकणान्विता निपतिता दन्त द्युतिः पातु नः ॥६३॥

उत्तुङ्ग स्तन मण्डलोपरिलसत्प्रालम्ब मुक्तामणे-
रन्तर्बिम्बितमिन्द्रनील निकरच्छायानुकारि द्युति ।
लज्जा व्याजमुपेत्य नम्रवदना स्पष्टं मुरारेर्वपुः,
पश्यन्ती मुदिता मुदेऽस्तु भवतां लक्ष्मीविवाहोत्सवे ॥६४॥

कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तमधुना मृद्भक्षितास्वेच्छया,
तथ्यं कृष्ण क एवमाह मुसलोमिथ्याम्बपश्याननम् ।
व्यादेहीति विदारिते च वदने दृष्ट्वासमस्तं जगत्,
माता यस्य जगाम विस्मय पदं पायात्स न केशवः ॥६५॥

स्वाती सपत्नी किल तारकाणां, मुक्ता फलानां जननीति रोषात् ।
सा रोहिणी नील मसूत रत्नं, कृता स्पदं गोपवधू कुचेषु ॥६६॥

नृत्यन्तमत्यन्त विलोकनीयं कृष्णं मणिस्तम्भगतं मृगाक्षी ।
निरीक्ष्य साक्षादिव कृष्णमग्रे, द्विधा वितेने नवनीतमेकम् ॥६७

वत्स जागृहि विभातमागतं, जीव कृष्ण शरदां शतं शतम् ।
इत्युदीर्य सुचिरं यशोदया, दृश्यमान वदनं भजामहे ॥६८॥

ओष्ठं जिघ्रञ्शिशुरितिधिया चुम्बितो वल्लवीभिः,
कण्ठं गृह्णन्नरुणितपदं गाढमालिङ्गिताङ्गः ।
दोष्णा लज्जापदमभिमृशन्नङ्कमारोपितान्मा,
धूर्तं स्वामी हरतु दुरितं दूरतो बालकृष्णः ॥६९॥

एते लक्ष्मण जानकी विरहितं मां खेदयन्त्यम्बुदा,
मर्माणीव च घट्टयन्त्यलममी क्रूराः कदम्बानिला ।
इत्थं व्याहृत पूर्वजन्म चरितो यो राधया वीक्षितः,
सेर्ष्यं शङ्कितया स नः सुखयतु स्वप्नायमानो हरिः ॥७०॥

ओष्ठं मुञ्च हरे विभेमि भवता पानैर्हता पूतना;
कण्ठाश्लेष ममुं जहीहि दलिता वालिङ्गनेनार्जुनौ ।
मा देहिच्छुरितं हिरण्यकशिपुर्नीतो नखैः पञ्चता-
मित्थं वारित रात्रि केलिरवताल्लक्ष्म्यापहासाद्धरिः ॥७१॥

रामो नाम बभूव हुँ तदबला सीतेति हुँ तौ पितु-
र्वाचा पञ्चवटी वने विहरतस्तामाहरद्रावणः ।
निद्रार्थं जननी कथामिति हरेर्हुंकारतः शृण्वतः,
सौमित्रे क्व धनुर्धनुर्धनुरिति व्यग्रा गिरः पातु नः ॥७२॥

बालोऽपि शैलोद्धरणाग्रपाणि नीलोऽपि नीरन्ध्रतमः प्रदीपः ।
धीरोऽपि राधानयनाववद्धो जारोऽपि संसारहरः कुतस्त्वम् ॥७३

बालाय नील वपुषे नव किङ्किणीक-
जालाभिरामजघनाय दिगम्बराय ।
शार्दूल दिव्य नखभूषणभूषिताय,
नन्दात्मजाय नवनीत मुषे नमस्ते ॥७४॥

सव्ये पायस भक्तमाहित रसं विभ्रन्मुदा दक्षिणे,
पाणौ शारदचन्द्रमण्डलनिभं हैयंगवीनं वहन् ।
कण्ठे कल्पित पुण्डरीक नखमप्युद्दामदीप्तं दध-
द्देवो दिव्य दिगम्बरो दिशतु नः सौख्यं यशोदा शिशुः ॥७५॥

किङ्किणी किणि किणिरभसै—रङ्गनभुवि रिङ्गणैः सदाटन्तम् ।
कुङ्कुणु कुणु पद युगलं कङ्कण कर भूषण हरिं बन्दे ॥७६॥

संबाधे सुरभीणामम्बा मायासंयन्त मनुयान्तीम् ।
लम्बालकमवलम्बे, तं बालं तनुविलग्नजम्बालम् ॥७७॥

अञ्चित पिच्छाचूडं, संचित सौजन्य वल्लवी वलयम् ।
अधर मणि निहित वेणुं, बालं गोपालमनिशमवलम्बे ॥७८॥

प्रह्लाद भाग धेयं, निगमान्त महा गुहान्तराधेयम् ।
नर हरि पदामिधेयं, बिबुध विधेयं ममानुसन्धेयम् ॥७९॥

संसारे किं सारं ? कंसारेश्चरण युगल परिवसनम् ।
ज्योति किमन्धकारे ? यदन्धकारेरनुस्मरणम् ॥८०॥

कलश नवनीतचोरे, कमलाद्दृक् कुमुद चन्द्रिका पूरे ।
विहरतु नन्दकुमारे चेतो मम गोपसुन्दरी जारे ॥८१॥

कस्त्वं बाल बलानुजः किमिह रे मन्मन्दिराशङ्क्या,
युक्तं तन्नवनीत पात्रविवरे हस्तं किमर्थं न्यसेः ।
मातः कंचन वत्सकं मृगयितुं मा गा विषादंक्षणा,
दित्येवं वरवल्लवी प्रति वचः कृष्णस्य पुष्णातु नः ॥८२॥
गोपालाजिर कर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे,
ब्रूषे गोधनहुँकृतैःस्तुति शतैर्मौनं विधत्से सताम् ।
दास्यं गोकुल पुंश्चलीषुकुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु,
ज्ञातं कृष्ण तवांघ्रिपङ्कजयुगं "प्रेमाचलं मञ्जुलम्" ॥८३॥

नमस्तस्मै यशोदाया दायादास्तु तेजसे ।
यद्धि राधामुखाम्भोजं भोजंभोजं व्यवर्धत ॥८४॥

अवताराः सन्त्वन्ये सरसिज नयनस्य सर्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा "प्रभवति गोपगोपिकामुक्त्यै" ॥८५॥
मध्ये गोकुलमण्डलं प्रतिदिशंचाम्भारवैर्जृम्भिते,
प्रातर्दोह महोत्सवे नवघनश्यामं रणन्नूपुरम् ।
भाले बालविभूषणं कटिरणत्सत् किंकिणिमेखलं,
कण्ठेव्याघ्रनखं च शैशवकला कल्याणकात्स्न्यं भजे ॥८६॥

सजलजलदनीलं दर्शितोदारलीलं,
करतलधृत शैलं वेणुवाद्येरसालम् ।
व्रजजन कुलपालं कामिनी केलि लोलं,
कलित ललितमालं नौमि गोपाल बालम् ॥८७॥
स्मित ललित कपोलं स्निग्धसंगीत लोलं,
ललित चिकुरजालं चौर्यचातुर्य लीलम् ।
शतमखरिपुकालं शात कुम्भाभ चैलं,
कुवलयदलनीलं नौमि गोपाल बालम् ॥८८॥
मुरलीनिनदलोलं मुग्धमायूर बालं,
दलितदनुज जालं धन्य सौजन्य लीलम् ।

परहित नवहेला पद्म सद्मानुकूलं,
नवजल धरनीलं नौमि गोपाल बालम् ॥८९॥
सरस गुणनिकायं सच्चिदानन्द कायं,
शमित सकलमायं सत्यलक्ष्मी सहायम् ।
शमदम समुदायं शान्त सर्वान्तरायं,
सुहृदयजनदायं नौमि गोपाल रायम् ॥९०॥

लक्ष्मीकलत्रं ललिताब्जनेत्रं पूर्णेन्दुवक्त्रं पुरुहूतमित्रम् ।
कारुण्य पात्रं कमनीयगोत्रं वन्दे पवित्रं वसुदेव पुत्रम् ॥९१॥
मदमयमदमय दुरगं यमुनामवतीर्य वीर्यशालीयः ।
मम रति ममर तिरस्कृति शमनपरः सक्रियात्कृष्णः ॥९२॥
मौलौ मायूरवर्हं मृगमदतिलकं चारुलालाटपट्टे,
कर्णद्वन्दे च तालीदलमति मृदुलं मौक्तिकं नासिकायाम् ।
हारो मन्दारमालापरिमलभरिते कौस्तुभस्योपकण्ठे,
पाणौ वेणुश्च यस्य व्रजयुवतियुतः पातु पीताम्बरो नः ॥९३॥
मुरारिणा वारिविहारकाले मृगेक्षणानां मुषितांशुकानाम् ।
करद्वयं वा कच संहतिर्वा प्रमीलनं वा परिधानमासीत् ॥९४॥

यासां गोपाङ्गनानां लसदसिततरा लोललीला कटाक्षा,
यन्नासाचारुमुक्तामणि रुचिनिकर व्योमगङ्गा प्रवाहे ।
मीनायन्तेऽपि तासामतिरभसचलच्चारुलीलालकान्ता,
भृङ्गायन्ते यदङ्घ्रिद्वय सरसिरुहे पातु पीताम्बरो नः ॥९५॥
यद्वेणु श्रेणिरूप स्थित सुषिर मुखोद्गीर्ण नादप्रभिन्ना,
एणाक्ष्यस्तत्क्षणेन त्रुटित निजपति प्रेमबन्धाबभूवुः ।
अस्त व्यस्तालकान्ताः स्फुरदधरकुचद्वन्द्व नाभिप्रदेशाः,
कामावेश प्रकल्प्यप्रकटित पुलकाः पातु पीताम्बरो नः ॥९६॥

देवक्या जठराकरे समुदितः क्रीतोगवां पालिना,
नन्देनानक दुन्दुभिर्निजसुतापण्येन पुण्यात्मना ।

गोपालावलिमुग्धहारतरलो गोपीजनालंकृतिः,
स्थीयाद्वो हृदि संततं स मधुरः कोऽपीन्द्रनीलोमणिः ॥९७॥

पीठे पीठ निषण्ण बालक गले तिष्ठन्स गोपालको,
यन्त्रान्तः स्थित दुग्धभाण्डमवभिद्याच्छाद्य घण्टारवम् ।
वक्त्रोपान्त कृताञ्जलिः कृतशिरः कम्पं पिबन्यः पयः,
पायादागत गोपिकानयनयोर्गण्डूषफूत्कार कृत ॥९८॥

यज्ञैरोजिमहे धनं ददीमहे पात्रेषु नूनं वयं,
वृद्धान्भेजिमहे तपश्चकृमहे जन्मान्तरे दुश्चरम् ।
येनास्माकमभूदनन्य सुलभाभक्तिर्भवद्वेषिणी,
चाणूरद्विषिभक्तकल्मषमुषि श्रेयः पुषि श्रीजुषि ॥९९॥

त्वयि प्रसन्न मम किं गुणेन त्वय्यप्रसन्न मम किं गुणेन ।
रक्ते विरक्ते च वरे वधूनां निरर्थकः कुंकुम पत्र भङ्गः ॥१००

गायन्ति क्षणदावसानसमये सानन्दमिन्दुप्रभा,
रुन्धन्त्यो निजदन्त कान्ति निवहैर्गोपाङ्गनागोकुले ।
मथ्नन्त्यो दधि पाणिकंकण झणत्कारानुकारंजवा-
द्व्यलगद्वसनाञ्चला यमनिशं पीताम्बराऽव्यात्स नः ॥१०१

अंसालम्बित वाम कुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं,
किंचित कुंचित कोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम् ।
आलोलांगुलिपल्लवैर्मुरलिका मापूरयन्तं मुदा,
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्ग ललितं ध्यायेत् जगन्मोहनम् ॥१०२

मल्लैःशैलेन्द्रकल्पः शिशुरितरजनैः पुष्प चापोऽङ्गनाभि,
र्गोपैस्तु प्राकृतात्मा दिवि कुलिशभृता विश्वकायोऽप्रमेयः ।
क्रुद्धः कंसेन कालो भयचकितदृशा योगिभिर्ध्येयमूर्ति,
र्दृष्टो रङ्गावतारे हरिरमरगणानन्दकृत् पातु युष्मान् ॥१०३

संविष्टो मणिविष्टरेऽङ्कतलमध्यासीनलक्ष्मी मुखे,
कस्तूरी तिलकं मुदाविरचयन् हर्षात्कुचौ संस्पृशन् ।

अन्योन्य स्मित चन्द्रिका किशलयैरारा धयन् मन्मथं,
गोपीगोपपरीवृतो यदुपतिः पायाज्जगन्मोहनः ॥१०४॥

आकृष्टे वसनाञ्चले कुवलय श्यामा त्रपाधःकृता,
दृष्टिः संवलिता रुचा कुचयुगे स्वर्णप्रभे श्रीमति ।
बालः कश्चन चूतपल्लव इति प्रान्तस्मितास्यश्रियं,
श्लिष्यंस्तामथ रुक्मिणीं नतमुखीं कृष्णः स पुष्णातु नः ॥१०५

उर्व्यां कोऽपि महीधरो लघुतरो दोर्भ्यां धृतो लीलया,
तेन त्वं दिवि भूतले च सततं गोवर्द्धनो गीयसे ।
त्वां त्रैलोक्यधुरं वहामि कुचयोरग्रेन तद्गण्यते,
किंवा केशव भाषणेन बहुना पुण्यैर्यशो लभ्यते ॥१०६॥

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भोः स्नान तुभ्यं नमो,
भो देवाः पितरश्चतर्पणविधौ नाहं क्षमःक्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादव कुलोत्तंसस्य कंसद्विषः,
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥१०७॥

हे गोपालक हे कृपाजलनिधे हे सिन्धु कन्यापते,
हे कंसान्तक हे गजेन्द्र करुणा पारीण हे माधव ।
हे रामानुज हे जगत्त्रय गुरो हे पुण्डरीकाक्ष मां,
हे गोपीजननाथ पालय परं जानामि न त्वां विना ॥१०८॥

कस्तूरी तिलकं ललाट पटले वक्षः स्थले कौस्तुभं,
नासाग्रे नव मौक्तिकं करतले वेणु करे कङ्कणम् ।
सर्वाङ्गे हरि चन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं,
गोपस्त्री परिवेष्टितो विजयते गोपाल चूडामणिः ॥१०९॥

कालिन्दी बहुल प्रवाहरभसं संस्तम्भयंस्तत्क्षणा—
च्छैलान्विद्रवयन् मृगाविवशयन् गो वृन्द मानन्दयन् ।
गोपान्सम्भ्रमयन् मुनीन्मुकुलयन् सप्त स्वराञ्जृम्भयन्
ओंकारार्थ मुदीरयन् विजयते वंशी निनादःशिशोः ॥११०॥

॥ इति द्वितीय शतकम् ॥

श्रीकृष्णकर्णामृत

तृतीय शतक

अस्ति स्वस्त्ययनं समस्तजगतामभ्यस्त लक्ष्मीस्तनं,
वस्तु ध्वस्तरजस्तमोभिरनिशं न्यस्तं पुरस्तादिव ।
हस्तोदस्तगिरीन्द्रमस्तकतरुप्रस्तार विस्तारित—
स्रस्त स्वस्तरुसूनु संस्तरलसत्प्रस्तावि राधास्तुतम् ॥१॥
राधाराधितविभ्रमाद्भुत रसं लालित्य रत्नाकरं,
सा धारण्यपदव्यतीत सहज स्मेराननाम्भोरुहम् ।
आलम्बे हरिनीलगर्वगरुतां सर्वस्व निर्वापणं,
बालं वैणविकं विमुग्धमधुरं मूर्धाभिषिक्तं महः ॥२॥
करिणामलङ्घ्य गतिवैभवं भजे करुणालम्बित किशोर विग्रहम् ।
यमिनामनारत विहारि मानसे यमुनावनान्त रसिकं परं महः ॥
अतन्त्रितं त्रिजगदपि व्रजाङ्गना नियन्त्रितं विपुल विलोचनाञ्चया ।
समन्ततः सरसतरं विजृम्भतां निरन्तरं मम हृदये परं महः ॥
कन्दर्पप्रतिमल्लकान्ति विभवं कादम्बिनी बान्धवं,
वृन्दारण्य विलासिनी व्यसनिनं वेषेण भूषामयम् ।
मन्द स्मेर मुखाम्बुजं मधुरिम व्यामृष्ट विम्बाधरं,
वन्दे कन्दलितार्द्रयौवन वनं कैशोरकं शार्ङ्गिणः ॥५॥
आमुक्त मानुषममुक्त निजानुभावमारूढ विग्रहमगूढ विदग्ध लीलम् ।
आमृष्ट यौवनममृष्ट किशोर भावमाद्यं महः किमपि माद्यति मानसं मे ॥
ते ते भावाः सकल जगती लोभनीय प्रभावा,
नाना तृष्णा सुहृदि हृदि मे काममाविर्भवन्तु ।
लीलावेणुक्वणितलसित स्मेरवक्त्रारविन्दा—
न्नाहं जाने मधुरमपरं नन्दपुण्याम्बुपूरात् ॥७॥

सुकृतिभिराहृते सरसवेणुनिनादसुधा
रसलहरी विहार निरवग्रह कर्ण पुटे ।
व्रजवर सुन्दरी मुख सरोरुह सारसिके
महसि कदानु मज्जति मदीयमिदं हृदयम् ॥८
तृष्णातुरे चेतसि जृम्भमाणे मुष्णन्मुहुर्मोह महान्धकारम् ।
पुष्णातु नः पुण्यदयैकसिन्धोः कृष्णस्य कारुण्य कटाक्षकेलिः ॥९
निखिल निगम मौलिलालितं पद कमलं परमस्य तेजसः ।
व्रजभुवि बहुमन्महेतरां सरस करीष विशेष रूषितम् ॥१०॥
उदारमृदुलस्मित व्यतिकराभिरामाननं
मुदा मुहुरुदीर्णया मुनिमनोम्बुजाभ्रेडितम् ।
मदालसविलोचन व्रजवधूमुखास्वादितं,
कदानु कमलेक्षणं कमपि बालमालोकये ॥११
व्रजजन मदयोषिल्लोचनोच्छिष्टशेषो–
कृतमपि चपलाभ्यां लोचनाभ्यामुभाभ्याम् ।
सकृदपि परिपातुं ते वयं पारयामः
कुवलयदलनीलं कान्तिपूरं कदानु ॥१२
घोष योषिदनुगीतयौवनं कोमलस्तनि वेणु निस्वनम् ।
सारभूत मभिरामसम्पदां धाम तामरस लोचनं भजे ॥१३॥
लीलया ललितयावलम्बितं मूलगेहमिव मूर्ति सम्पदाम् ।
नील नीरद विकास विभ्रमं बालमेव वयमाद्रियामहे ॥१४॥
वन्दे मुरारेश्चरणारविन्द द्वन्द्वं दयादर्शित शैशवस्य ।
वन्दारु वृन्दारक वृन्द मौलिमन्दार माला विनिमर्दभीरु ॥१५॥
यस्मिन् नृत्यति यस्य शेखरभरैः क्रोञ्च द्विष चन्द्रकी,
यस्मिन् दृप्यति यस्य घोष सुरभि जिघ्रन्वृषो धूर्जटेः ।
यस्मिन् सज्जति यस्य विभ्रम गतिं वाञ्छन् हरेः सिन्धुर-
स्तद्वृन्दावन कल्पकद्रुम वनं तं वा किशोरं भजे ॥१६॥

अरुणाधरामृत विशेषित स्मितं वरुणालयानुगत वर्ण वैभवम् ।
तरुणारविन्द दल दीर्घ लोचनं करुणामयं कमपि बालमाश्रये ॥१७
लावण्य वीची रचिताङ्गभूषां भूषापदारोपित पुण्यवर्हाम् ।
कारुण्यधारालकटाक्ष मालां बालां भजे वल्लव वंशलक्ष्मीम् ॥१८
मधुरैकरसं वपुविभोस्तन्मथुरा वीथीचरं भजामहे ।
नागरी मृग शाव लोचनानां नयनेन्दीवरवर्ष वर्षितम् ॥१९॥
पर्याकुलेन नयनान्त विजृम्भितेन
वक्त्रेण कोमलमद स्मित विभ्रमेण ।
मन्द्रेण मञ्जुलतरेण च जल्पितेन
नन्दस्य हन्त तनयो हृदयं धुनोति ॥२०॥
कन्दर्प कण्डूल कटाक्षवन्दीरिन्दीवराक्षी रभिलष्यमाणान् ।
मन्दस्मिता धारमुखारविन्दान् वन्दामहे वल्लव धूर्तपादान् ॥२१॥
लीलाटोप कटाक्षनिर्भर परिष्वङ्ग प्रसङ्गाधिक,
प्रीति रीति विभागसंगर लसद्वेणु प्रणादामृते ।
राधालोचन लालितस्य ललितस्मेरे मुरारेर्मुदा,
माधुर्यैकरसे मुखेन्दु कमले मग्नं मदीयं मनः ॥२२॥
शरणागत वज्र पञ्जरे शरणे शार्ङ्गधरस्य वैभवे ।
कृपयाधृत गोपविग्रहे कियदन्यमृगयामहे वयम् ॥२३॥
जगत् त्रयैकान्तमनोज्ञभूमिश्चेतस्यजस्रं मम संनिधत्ताम् ।
रामासमास्वादित सौकुमार्यं राधास्तनाभोग रसज्ञमोजः ॥२४॥
वयमेते विश्वसिमः करुणाकरकीर्तिं किंवदन्त्यङ्ग ।
अपि च विभो तवललिते चपलतरा मतिरियं बाल्ये ॥२५॥
मधुरिमभरिते मनोभिरामे मृदुलतरस्मित मुद्रिताननेन्दौ ।
त्रिभुवननयनैक लोभनीये महसि वयं व्रजभाजिलालसाःस्म ॥२६॥
मुखारविन्दे मकरन्द बिन्दु निष्यन्द लीला मुरली निनादे ।
व्रजाङ्गनापाङ्ग तरङ्गभङ्ग संग्रामभूमौ तव लालसाःस्मः ॥२७॥

आताम्रायतलोचनांशुलहरी लीला सुधाप्यायितै-
र्गीताम्रेडित दिव्यकेलिभरितैः स्फीतं व्रजस्त्रीजनैः ।
स्वेदाम्भः करण भूषितेन किमपि स्मेरेणवक्त्रेन्दुना,
पादाम्भोजमृदुप्रचारसुभगं पश्यामि दृश्यं महः ॥२८॥
पाणौ वेणुः प्रकृति सुकुमाराकृतौ वाल्यलक्ष्मीः,
पार्श्वे वालाः प्रणयसरसा लोकितापाङ्गलीलाः ।
मौलौ बर्हं मधुर वदनाम्भोरुहे मौग्ध्यमुद्रे-
त्यार्द्राकारं किमपि कितवं ज्योतिरन्वेषयामः ॥२९॥

आरूढवेणुतरुणाधरविभ्रमेण
माधुर्य शालिवदनाम्बुजमुद्वहन्ती ।
कैशोरके वयसि कापि च कान्तियष्टि
रालोवयतां किमनया वन देवता वः ॥३०॥

अनन्य साधारण कान्ति कान्तमाक्रान्त गोपी नयनारविन्दम् ।
पुंसः पुराणस्य नवं विलासं पुण्येन पूर्णेन विलोकयिष्ये ॥३१॥

साष्टाङ्गपातमभिवन्द्य समस्त भावैः
सर्वान्सुरेन्द्र निकरानिदमेव याचे ।
मन्द स्मितार्द्र मधुराननचन्द्र बिम्बे,
नन्दस्य पुण्यनिचये मम भक्तिरस्तु ॥३२॥

एष प्रवाहेषु स एव मन्ये क्षणोऽपि गण्यः पुरुषायुषेषु ।
आस्वाद्यते यत्र कयापि वृत्त्या नीलस्य बालस्य निजं चरित्रम् ॥३३॥

निसर्गसरसाधरं निज दयार्द्र दिव्ये क्षणं
मनोज्ञ मुख पङ्कजं मधुरसार्द्रमन्द स्मितम् ।
रसज्ञहृदयास्पदं रमितवल्लवी लोचनं
पुनः पुनरुपास्महे भुवन लोभनीयं महः ॥३४॥

स कोऽपि बालःसरसीरुहाक्षः सा च व्रजस्त्री जन पाद धूलिः ।
मुहुस्तदेतद्युगलं मदीये मोमुह्यमानेऽपि मनस्युदेतु ॥३५॥

मयि प्रयाणाभिमुखे च वल्लवीस्तनद्वयी दुर्ललितः स बालः ।
शनैः शनैः श्रावितवेणुनिस्वनो विलास वेषेण पुरः प्रतीयताम् ॥३६
अतिभूमिमभूमिमेव वा वचसां वासित वल्लवीस्तनम् ।
मनसामपरं रसायनं मधुराद्वैतमुपास्महे महः ॥३७॥
जनान्तरेऽपि जगदेक मण्डने कमनीय धाम्नि कमलायतेक्षणे ।
व्रज सुन्दरीजन विलोचनामृते चपलानि सन्तु सकलेन्द्रियाणि मे ॥

मुनि श्रेणी वन्द्यं मदभरलसद्वल्लववधू-
स्तन श्रोणी बिम्ब स्तिमित नयनाम्भोज सुभगम् ।
पुनः श्लाघाभूमिं पुलकित गिरां नैगम गिरां
घनश्यामं वन्दे किमपि महनीयाकृति महः ॥३९॥

अनुचुम्बतामपि चलेन चेतसा मनुजाकृते र्मधुरिम श्रियं विभोः ।
अयिदेव कृष्ण दयितेति जल्पतामपि नो भवेयुरपि नाम तादृशः ॥४०
किशोर वेषेण कृशोदरी दृशां विशेष दृश्येन विशाल लोचनम् ।
यशोदया लब्ध यशोनवाम्बुर्धेनिशामये नील निशा करं कदा ॥४१
प्रकृतिरवतु नो विलासलक्ष्म्याः प्रकृतिजडं प्रणतापराधवीथ्याम् ।
सुकृति कृतपदं किशोर भावे सुकृति कृत प्रणिधान पात्रमोजः ॥४२
अपहसित सुधा मदावलेपैरधिक मनोहर मार्द्रमन्द हासैः ।
व्रज युवति विलोचनावलेह्यं रमयतु धाम रमावरोधनं नः ॥४३॥
अंकुरित स्मेरदशा विशेषैरश्रान्त हर्षामृत वर्षमक्ष्णाम् ।
संक्रीडतां चेतसि गोप कन्या धन्य स्तनं स्वस्त्ययनं महो नः ॥४४

मृगमदपङ्क संकर विशेषित वन्यमहा-
गिरितट गण्डगैरिक घनद्रव विद्रुमितम् ।
अजित भुजान्तरं भजत गोप वधू पृथुल-
स्तन कलशस्थली घुसृण मर्दन कर्दमितम् ॥४५॥
आमूल पल्लवित लीलमपाङ्ग जालै-
रासिञ्चती भुवन माद्दत गोप वेषा ।

वाल्याकृतिर्मृदुल मुग्ध मुखेन्दु बिम्बा-
माधुर्य सिद्धिरवतान्मधु विद्विषो नः ॥४६॥
विरणन् मणिनूपुरं व्रजे चरणाम्भोजमुपास्व शार्ङ्गिणः ।
सरसे सरसि श्रियाश्रितं कमलं वा कलहंस नादितम् ॥४७॥
शरणमशरणानां शारदाम्भोज नेत्रं
निरवधि मधुरिम्णनील वेषेण रम्यम् ।
स्मेरशर परतन्त्र स्मेर नेत्राम्बुजाभि-
र्व्रज युवतिभिरव्याद् ब्रह्म संवेष्टितं नः ॥४८॥
सुव्यक्तकान्तिभरसौरभदिव्यगात्र—
मव्यक्तयौवनपरीत किशोर भावम् ।
गव्यानुपालन विधावनुशिष्टमव्या-
दव्याज रम्यमखिलेश्वर वैभवं नः ॥४९॥
अनुगतममरीणामम्बरालम्बिनीनां
नयन मधुरिमश्रीनर्म निर्माण सीम्नाम् ।
व्रज युवति विलास व्यापृतापाङ्गमव्यात्
त्रिभुवन सुकुमारं दैव कैशोरकं नः ॥५०॥
आपादमाचूडमतिप्रसक्तैरापीयमाना यमिनां मनोभिः ।
गोपीजनज्ञातरसावताद्वा गोपाल भूपाल कुमार मूर्तिः ॥५१॥
दृष्ट्वा वृन्दावन मृगदृशां विप्रयोगा कुलानां,
प्रत्यासन्नं प्रणयचपलापाङ्ग वीची तरङ्गैः ।
लक्ष्मी लीला कुवलयदल श्यामलं धाम कामान्,
पुष्णीयाद्वः पुलकमुकुला भोग भूषा विशेषम् ॥५२॥
जयति गुहशिखीन्द्रपिच्छमौलिः सुर गिरि गैरिक कल्पिताङ्ग रागः ।
सुर युवति विकीर्ण सून वर्षस्नपित विभूषित कुन्तलः कुमारः ॥
मधुरमन्द शुचिस्मित मञ्जुलं वदन पङ्कजमङ्गज वेल्लितम् ।
विजयतां व्रजबाल वधूजन स्तन तटी विलुठन्नयनं विभोः ॥५४॥

अलस विलसन् मुग्धस्निग्धस्मितं व्रजसुन्दरी,
मदनकदनखिन्नं धन्यं महद्वदनाम्बुजम् ।
तरुणमरुणज्योत्स्ना कात्स्न्र्यस्मितस्नपिताधरं,
जयति विजय श्रेणीमेणीदृशां मदयन् महः ॥५५॥
राधाकेलिकटाक्षवीक्षित महा वक्षःस्थली मण्डना,
जायासुः पुलकाङ्कुरास्त्रिभुवना स्वादीयसस्तेजसः ।
क्रीड़न्ति प्रति सुप्तदुग्ध तनया मुग्धावबोध क्षणे,
त्रासा रूढदृढोपगूहगहनाः साम्राज्य सान्द्रश्रियः ॥५६॥
स्मितस्नुतसुधा धारा मदशिखण्डिबर्हाङ्कुता,
विशाल नयनाम्बुजा व्रजविलासिनी वासिताः ।
मनोज्ञ मुखपङ्कजा मधुरवेणुनादद्रवा,
जयन्ति मम चेतश्चिरमुपासिता वासनाः ॥५७॥
जीयादसौ शिखिशिखण्ड कृतावतंसा,
सांसिद्धिको सरस कान्ति सुधा समृद्धिः ।
यद्विन्दुलेश कणिका परिणाम भाग्यात्,
सौभाग्य सोमपदमञ्चति पञ्चबाणः ॥५८॥
आयामेन दृशोर्विशाल तरयोरक्षय्यमार्द्रस्मित,
च्छायार्धाषित शारदेन्दु ललितं चापल्यमात्रं शिशोः ।
आयासंनपरान् विधूय रसिकैरास्वाद्यमानं मुहु,
र्जीयादुन्मदबल्लवीकुचभराधारं किशोरं महः ॥५९॥
स्कन्धावार पदं व्रजः कतिपये गोपाः सहायादयः,
स्कन्धालम्बिनि वत्सदाम्नि धनदा गोपाङ्गनाः स्वाङ्गनः ।
शृङ्गारागिरिगैरिकं शिव शिव श्रीमन्ति बर्हाणि वा,
शृङ्गग्राहिकया तथापि तदिदं प्राहुस्त्रिलोकेश्वरम् ॥६०॥
श्रीमद्बर्हिशिखण्डमण्डनजुषे श्यामाभिरामत्विषे,
लावण्यैकरसावसिक्तवपुषे लक्ष्मीसरःप्रावृषे ।

लीलाकृष्टरसज्ञधर्ममनसे लीलामृत स्रोतसे,
के वा न स्पृहयन्ति हन्त महसे गोपीजन प्रेयसे ॥६१॥
आपाटलाधरमधीर विलोल नेत्र,
मामोदनिर्भरितमद्भुतकान्ति पूरम्।
आविः स्मितामृतमनुस्मृति लोभनीय,
मामुद्रिताननमहो मधुरं मुरारेः ॥६२॥
जागृहि जागृहि चेतो नचिराय कृतार्थता भवतः।
अनुभूयतामिदमिदं पुरःस्थितं पूर्ण निर्वाणम् ॥६३॥
चरणयोररुणं करुणार्द्रयोः, कचमरे वहुलं विपुलं दृशोः।
वपुषिमञ्जुलमञ्जनमेचके, वयसि बाल महो मधुरं महः ॥६४॥
मालाबर्हं मनोज्ञकुन्तलभरां वन्य प्रसूनोक्षितां,
शैलेयद्रववलृप्त चित्रतिलकां शश्वन्मनोहारिणीम्।
लीलावेणुरवामृतैकरसिकां लावण्य लक्ष्मीमयीं,
वालां बालतमालनीलवपुषां वन्दे परां देवताम् ॥६५॥
गुरुमृदुपदे गूढ़ गुल्फे घनं जघनस्थले,
नलिनमुदरे वीरं बाहोर्विशालमुरःस्थले।
अधरमधुरे मुग्धं वक्त्रे विशाल विलोचने,
बहुकचभरे वन्यं वेषे मनोज्ञमहोमहः ॥६६॥
जिहानं जिहानं नु जानेन मौग्ध्यं, दुहानं दुहानं सुधां वेणुनादैः।
लिहानं लिहानं सुदीर्घैरपाङ्गैर्महानन्द सर्वस्वमेकं नमेत्तम् ॥६७॥
लसद्बर्हापीडं ललित ललितस्मेर वदनं
भ्रमत्क्रीडापाङ्गं प्रणतजनतानिर्वृतिपदम्।
नवाम्भोदश्यामं निजमधुरिमाभोगभरितं,
परं देवं वन्दे परिमिलित कैशोरकरसम् ॥६८॥
सारस्य सामग्रमिवाननेन, माधुर्य चातुर्यमिवस्मितेन।
तारुण्य कारुण्यमिवेक्षणेन, चापल्य साफल्यमिदं दृशोर्मे ॥६९॥

रागान्ध गोपीजन वन्दिताभ्यां, योगीन्द्रभृङ्गेन्द्रनिषेविताभ्याम् ।
आताम्रपङ्केरुह विभ्रमाभ्यां, स्वामिपदाभ्यामयमञ्जलिस्ते ॥७०॥
अर्धानुलीपान्व्रजसुन्दरीणामकृत्रिमाणां च सरस्वतीनाम् ।
आर्द्राशयेन श्रवणाञ्चलेन संभावयन्तस्तरुणं गृणीमः ॥७१॥

मनसि मम संनिधत्तां मधुरमुखामन्थरापाङ्गा ।
करकलितललितवंशी कापि किशोरी कृपालहरी ॥७२॥

रक्षन्तु नः शिक्षित पाशुपाल्या, बाल्या वृता वर्हि शिखावतंसाः ।
प्राण प्रिय प्रस्तुत वेणु गीताः शीता दृशोः शीतल गोपकन्याः ॥७३

स्मितस्तबकिताधरं शिशिरवेणुनादामृतं,
मुहुस्तरल लोचनं मदकटाक्ष मालाकुलम् ।
उरस्तटविलीनया कमलया समालिङ्गितं
भुवः स्थलमुपागतं भुवन दैवतं पातु नः ॥७४॥

नयनाम्बुजे भजत कामदुघं हृदयाम्बुजे किमपि कारुणिकम् ।
चरणाम्बुजे मुनिकुलैकधनं वदनाम्बुजे व्रजवधूविभवम् ॥७५॥
निर्वासनं हन्त रसान्तराणां निर्वाण साम्राज्यमिवावतीर्णम् ।
अव्याज माधुर्य महानिधानमव्याद् व्रजानामधि दैवतं नः ॥७६॥

खेलतां मनसि खेचराङ्गना माननीयमृदुवेणुनिस्वनैः ।
काममेघकलहोद्वहं महः कानने किमपि नः कृपास्पदम् ॥७७॥
गोपीनामभिमतगीतवेषहर्षादापीनस्तनभर निर्भरोपगूढम् ।
केलीनामवतु रसैरुपास्यमानं कालिन्दी पुलिनचरं परं महो नः ॥७८

एणीशावविलोचनाभिरलसश्रौणीभरप्रौढिभि,
र्वेणीभूतरसक्रमाभिरभितःश्रेणी कृताभिर्वृताः ।
पाणीनामविनोदयत् रतिपतेस्तूणीशयैः साधकै,
र्वाणीनामपदं परं व्रजजनक्षोणीपतिः पातु नः ॥७९॥

कालिन्दीपुलिनेतमालनिविडच्छाये पुरः संचर–
तोये तोयजपत्रपात्रनिहितं दध्यन्नमश्नाति यः ।

वामे पाणितले निधाय मधुरं वेणुं विषाणं कटि-
प्रान्तेगाश्चविलोकयन् प्रतिकलं तं बालमालोकये ॥८०॥
यद्गोपीवदनेन्दुमण्डनमभूत्कस्तूरिकापत्रकं,
यल्लक्ष्मीकुचशातकुम्भकलशे व्याकोचमिन्दीवरम् ।
यन्निर्वाण निधानसाधनविधौ सिद्धाञ्जनं योगिनां,
तन्नः श्यामलमाभिरस्तु हृदये कृष्णाभिधानं महः ॥८१॥
फुल्लेन्दीवरमिन्दुकान्ति वदनं बर्हावतंसप्रियं,
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोप संघावृतं,
गोविन्दं कलवेणुवादन परं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥८२॥
रक्षन्तु त्वामसितजलजैरञ्जलिः पादमूले,
मीना नाभी सरसि हृदये नारवाणामुरारेः ।
हाराः कण्ठे हरिमणिमया वक्त्रपद्मे द्विरेफाः,
पिच्छचूडाश्रिकुरनिचये घोषयोषित्कटाक्षाः ॥८३॥
दधिमथननिनादैस्त्यक्तनिद्रः प्रभाते
निभृतपदमगारं वल्लवीनां प्रविष्टः ।
मुखकमलसमीरैराशु निर्वाप्य दीपान्
कवलित नवनीतः पातु गोपाल बालः ॥८४॥
प्रातः स्मरामि दधिघोषविधूतनिद्रं
निद्रावसान रमणीय मुखारविन्दम् ।
हृद्यानवद्यवपुषं नयनाभिराम
मुन्निद्रपद्मनयनं नवनीत चौरम् ॥८५॥
फुल्लहल्लकवतंसकोज्ज्वलद्गल्लमागमगवीगवेषितम् ।
वल्लवीचिकुर वासितांगुलीपल्लवं कमपि वल्लवं भजे ॥८६॥
स्तेयं हरेर्हरति यन्नवनीत चौर्यं जारत्वमस्यगुरुतल्पकृतापराधम् ।
हत्यां दशाननहतिर्मधुपानगोष्ठीं यत्पूतनास्तनपयः सपुनातु कृष्णः॥८७

मार मा रम मदीयमानसे माधवैक निलये यदृच्छया ।
हे रमारमण वार्यतामसौ कः सहेत् निजवेश्मलङ्घनम् ॥८८॥

आकुञ्चितजानु करं च वामं न्यस्यावनौ दक्षिणहस्तपद्मे ।
आलोकयन्तं नवनीत भाण्डं बालं भजे कृष्णमुपानताङ्गम् ॥८९॥

मन्दारमूले मदनाभिरामं विम्बाधरापूरित वेणुनादम् ।
गो गोप गोपीजन मध्य संस्थं गोपं भजे गोकुल पूर्णचन्द्रम् ॥९०॥

जानुभ्यामभिधावन्तं बाहुभ्यामपि सुन्दरम् ।
सकुण्डलालकं बालं गोपालं चिन्तयेदुषः ॥९१॥

विहायकोदण्ड शशं मुहूर्तं गृहाण पाणौ मणि चारुवेणुनादम् ।
मयूर वर्हं च निजोत्तमाङ्गे सीतापते राघव रामचन्द्र ॥९२॥

अक्षं क्षीराम्भोधेः पतिरिति गवां पालक इति,
श्रितोऽस्माभिः क्षीरोपनयनधिया गोपतनयः ।
अनेन प्रत्यूहो व्यरचि सततं येन जननी-
स्तनादप्यस्माकं सकृदपि पयो दुर्लभमभूत ॥९३॥

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥९४॥

तमसि रविरिवोद्यन्मज्जतामम्बुराशौ
प्लव इव तृषितानां स्वादुवर्षीव मेघः ।
निधिरिव निधनानां दीर्घतीव्रामयानां
भिषगिव कुशलं नो दातुमायाति शौरिः ॥९५॥

कोदण्डमसृणं सुगन्धि विशिखं चक्राब्ज पाशांकुशं,
हैमी वेणुलतां करैश्च दधतं सिन्दूरपुञ्जारुणम् ।
कन्दर्पाधिक सुन्दरं स्मितमुखं गोपाङ्गनावेष्टितं,
गोपालं मदनाधिपं तमभजं त्रैलोक्यरक्षामणिम् ॥९६॥

सायंकाले वनान्तेकुसुमित समये सैकते चन्द्रिकायां,
त्रैलोक्याकर्षणाङ्गं सुरनरगणिका मोहनापाङ्गमूर्तिम् ।
सेव्यं शृंगारभावैर्नवरसभरितैर्गोपकन्यासहस्रै-
र्वन्देऽहं रास केलीरतमतिसुभगं वश्य गोपाल कृष्णम् ॥९७॥

बालं नीलाम्बुदाभं नवमणि विलसत्किङ्किणी जालवद्ध-
श्रोणीजङ्घस्तयुग्म वितुलरुरुनख प्रोल्लसत् कण्ठ भूषम् ।
फुल्लाम्भोजाभवक्त्रं हत शकटपतन्पूतनाद्यं प्रसन्नं,
गोविन्दं वन्दितेन्द्राद्यमरवरमजं पूजयेद् वासरादौ ॥९८॥

वन्द्यं देवमुकुन्दं विकशित कुरु विन्दाभमिन्दी वराक्षम्,
गोपी गोवृन्दवीतं जितरिपुनिवहं कुन्दमन्दार हासम्
नीलग्रीवाग्न्यपिच्छाकलन सुविलसत्कुन्तलं भानुमन्तं,
देवं पीताम्बराढ्यं यज यज दिनशस्तं रमायै मुकुन्दम् ॥९९॥

चक्रान्तध्वस्त वैरिव्रजमजितमपास्तावनी भारमाद्यं,
रावीतं नारदाद्यैर्मुनिभिरभिनुतंतत्त्व निर्णीतिहेतोः ।
मन्त्री तं निर्मलाङ्गं निरूपमरुचिरं चिन्तयन्नीलभासं,
सायं विश्वोदयस्थित्यपहरणपदं मुक्तिदं वासुदेवम् ॥१००॥

कोदण्डमेक्षवमखण्डमिषुं च पौष्पं,
चक्राब्ज पाशसृणिकाञ्चन वंशनालम् ।
विभ्राणमष्टविध बाहुभिरर्कवर्णं
ध्यायेद्धरिं मदन गोपविलासवेषम् ॥१०१

या प्रीतिर्विदुरार्पिते मुररिपो कुन्त्यर्पिते यादृशी,
या गोवर्धनमूर्ध्नि या च पृथुके स्तन्ये यशोदार्पिते ।
भारद्वाज समर्पिते शबरिकादत्तेऽधरे योषितां,
या प्रीतिमुनिपत्निभक्ति रचितेऽप्यत्रापि तां तां कुरुः ॥१०२

॥ इति तृतीय शतकम् ॥

'विल्वमंगल कोषकाव्य' तथा 'श्रीकृष्णस्तोत्र' में से चुने हुए कुछ श्लोक–

यं वेद वेदविदपि प्रियमिन्दिराया यन्नाभिनीरुहगर्भगृहो न धाता।
गोपालबाललालना वनमालिनं तं गोधूलिधूसरशरीरमरीरमंस्ताः ॥१

कनककमलमालः केशिकंसादिकालः
समरभुवि करालः प्रेमवापीमरालः।
अखिलभुवनपालः पुण्यवल्लीप्रवाल
स्तव भवतु विभूत्यै नन्दगोपालबालः ॥२॥

हे कृष्ण कृष्ण कृतवृष्णिकुलावतार
संसारवारणविदारणसिंह विष्णो।
गोपीजनोपहृत लोचनपद्ममाल
गोपाल पालय कृपालय मामपायात् ॥३॥

यश्चिन्तितोऽपि विनिहन्त्यशुभानि पुंसां
यो योगिनामपि मनोविषयादपेतः।
ज्ञानात्मने सकलवेदमयाय तस्मै
नारायणाय भवबन्धभिदे नमोऽस्तु ॥४॥

रागाङ्कुरश्चेतसि गोपिकानां पुण्य द्रुमश्चेतसि भक्ति भाजाम्।
आनन्द पुष्पं हृदि मुक्ति भाजां विश्वस्य बीजं फलितं श्रियेऽस्तु ॥५॥

या शेखेरे श्रुतिगिरां हृदि योगभाजां
पादाम्बुजेषु सुलभा व्रजसुन्दरीणाम्।
सा कापि सर्वजगतामभिरामसीमा
क्षेमाय वो भवतु गोपकिशोरमूर्तिः ॥६॥

गोपिकानयनचातकावली पारणोत्सवपरंपरापिका।
कापि दीप्यति विभूषणप्रभा चञ्चला जलदराजिरञ्जिका ॥७॥

विन्यस्य वेणुमधरे विवरांस्तदीया-
ञ्चव्यग्रमङ्गुलिभिरन्तरयन्विवृण्वन् ।
गायन्कलं शिखिशिखण्डकृतावतंसो
मध्ये गवां विजयते विचरन्मुकुन्दः ॥८॥
निरर्थकंतीर्थकदर्थनाभिःक्रियेतगात्रंकिमपायपत्रम् ।
सुखं शयानः शरणे शरण्यं श्रये श्रियः कान्तमनन्तमन्तः ॥९॥
मन्थानमुज्झ मथितुं दधि न क्षमस्त्वं,
बालोऽसि वत्स विरमेति यशोदयोक्तिः ।
क्षीराब्धिमन्थनविधिस्मृतिजातहासो
वाञ्छास्पदं दिशतु नो वसुदेवसूनुः ॥१०॥
अखिलभुवनबन्धोर्वैरमिन्दोः सरौजै-
रनुचितमिति मत्वा यः स्वपादारविन्दम् ।
घटयितुमिव मायो योजयत्याननेन्दौ
वटदलपुटशायी मङ्गलं वः कृषीष्ट ॥११॥
स पाञ्चजन्यः करपङ्कजाभ्यां निवेशितः कृष्णमुखारविन्दे ।
रराज गोक्षीरमृणालपाण्डुः सरोजमध्यस्थ इवैकहंसः ॥१२॥
अहं परं वेद्मि न वेत्ति मत्परा स्मरोत्सुकानामपि गोपसुभ्रुवाम् ।
अभूदहंपूर्विकया महान्कलिर्बलिद्विषः केशकलापगुम्फने ॥१३॥
अस्तु नित्यमरविन्दलोचनः श्रेयसे मम सुरार्चिताकृतिः ।
यस्य पादसरसीरुहामृतं सेव्यते भ्रमरवन्मुनीश्वरैः ॥१४॥
कन्दर्पप्रतिमल्लकान्तिविभवं कादम्बिनीबान्धवं,
वृन्दारण्यविलासिनीव्यवसितावेशेन भूषामयम् ।
मन्दस्मेरमुखाम्बुजं मधुरिमव्यामृष्टविम्बाधरं,
वन्दे कन्दलितार्द्रयौवनभरं कैशोरकं शार्ङ्गिणः ॥१५॥
एषु प्रवाहेषु स एव मन्ये क्षणोऽपि गण्यः पुरुषायुषेषु ।
आसाद्यते यत्र कयापि वृत्त्या नीलस्य बालस्य निजं चरित्रम् ॥१६

संवाधे सुरभीणामम्बामायासयन्तमनुयान्तीम् ।
लम्बालकमवलम्बे तं बालं तनुविलग्न जम्बालम् ॥१७॥

पर्याकुलेन नयनान्त विजृम्भितेन
कम्रेण कोमलमृदुस्मित विभ्रमेण ।
मन्द्रेण मञ्जुलतरेण च जल्पितेन
नन्दस्य हन्त तनयो हृदयं जहार ॥१८॥

मन्दस्मितस्नपितमुग्धमुखारविन्दे
मन्दानिलाकुलितकोमलकाकपक्षें ।
गोगोपगोपवनिताजनपुण्यपूरे
गोपालबालतिलके रमतां मनो मे ॥१९॥

आयते सुविपुले परिलोले कोमले विलुलितारुणलेखे,
शीतले शतपलाशदलाभे लोचने मुररिपो रुरुचाते ।
पद्ममस्तु भवतां विभूतये सूतिकाभवनमादिवेधसः,
श्यामलाभुजगभोगशायिनी देवता भवति यस्य दीर्घिका ॥२०

श्यामलं विपिनकेलिलम्पटं कोमलं कमलपत्रलोचनम् ।
दोहदं व्रजविलासिनीदृशां शीतलं मनसि जृम्भतां महः ॥२१॥

नयनाम्बुजे भजत कामदुधं हृदयाम्बुजे किमपिकारुणिकम् ।
चरणाम्बुजे कुलधनं यमिनां वदनाम्बुजे व्रजवधू विभवम् ॥२२॥

कष्टादृष्टाङ्गयोगेन यं नापुर्मुनयोऽपि ये ।
एकाङ्गयोगेनाभीर भीरवस्तमरीरमन् ॥२३॥

निन्दन्तं दनुसूनुसैरिभविनिस्पन्दं दधानं परि-
स्पन्दं मन्दतरंमुखेन्दुगुरुतामिन्दिन्दिरान्दोलितम् ।
निन्दन्मन्दरवालसुन्दरदृशा कन्दर्पकान्ति श्रियः,
कन्दं नन्दकुलोद्भवं मम दृशोर्द्वन्द्वस्य वन्दे मुदं ॥२४॥

नवतीलमेघरुचिरः परः पुमानवनीतले विधृतगोपविग्रहः ।
नमनीयमूर्तिरमरैरपि स्वयं नवनीतभिक्षुरधुना स चिन्त्यताम् ॥२५॥

आमूलपल्लवितजीवमपाङ्गवर्यैरासिञ्चती भुवनमादृतगोपवेषा ।
बालाकृतिर्मधुरमुग्धमुखेन्दुबिम्बमाधुर्यसिद्धि रवतान्मधुविद्विषो नः ॥

यो योगभाजां हृदयैकवश्यः सुरासुराणामपि यो नमस्यः ।
यो गोपकान्ताचरणेषु दृश्यः स पातु मां सीरभृतो वयस्यः ॥२७॥

अन्ते सहायमभिवाञ्छसि चेत्प्रयाणे,
तं पुण्डरीकनयनं भज साधु चेतः ।
यः प्रत्यपद्यत पुरा शरणागतानां
दौत्यं दयार्द्रहृदयो भुवि पाण्डवानाम् ॥२८॥

स कोपि गोपःसरसीरुहाक्षः सा च व्रजस्त्री जन पाद धूलिः ।
महस्तदेतद्विमलं मदीये मुमुक्षमाणेऽपि मनस्युदेतु ॥२९॥

श्रीमद्बर्हि शिखण्डमण्डलजुषे श्यामाभिराम त्विषे,
लावण्यैकरसावसिक्तवपुषे लक्ष्मी रस प्रावृषे ।
लीलाकृष्ट रसज्ञ रङ्ग मनसे लीलामृत स्रोतसे,
के वा न स्पृहयन्ति सर्व रहसे गोपीस्तनप्रेयसे ॥३०॥

इति श्रीलीलाशुक बिल्वमङ्गलकृत श्रीकृष्णकर्णामृतस्य
तृतीयशतकं सम्पूर्णम् ।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

卐